

अर्पण पत्रिका



“ ज्यार्चे

त्याला

निवेदन । ”

| | त्रिपय | | पृष्ठ संख्या |
|----|----------------------------|---------------------|--------------|
| ३७ | 'विभावा जसि' | सू. २२५ वरील मनोरमा | १५२-१५३ |
| ३८ | " | " शब्दरत्न | १५३-१५४ |
| ३९ | 'जराया जरस' | सू. २२७ " मनोरमा | १५४-१६२ |
| ४० | " | " शब्दरत्न | १६२ |
| ४१ | 'पद्मोमास' | सू. २२८ " मनोरमा | १६३-१६५ |
| ४२ | " | " शब्दरत्न | १६५-१६७ |
| ४३ | 'अल्लोपोजः' | सू. २३४ " मनोरमा | १६७-१७१ |
| ४४ | " | " शब्दरत्न | १७१-१८४ |
| ४५ | 'रपाम्यां नो णः' | सू. २३५ " मनोरमा | १८४-१९४ |
| ४६ | " | " शब्दरत्न | १९४-२१८ |
| ४७ | " | " मनोरमा | २१८-२२० |
| ४८ | " | " शब्दरत्न | २२०-२२८ |
| ४९ | " | " मनोरमा | २२८-२३२ |
| ५० | " | " शब्दरत्न | २३२ |
| ५१ | 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' | सू. २३६ " मनोरमा | २३२-२३६ |
| ५२ | " | " शब्दरत्न | २३६-२३८ |
| ५३ | 'विभावा जिघ्र्याः' | सू. २३७ " मनोरमा | २३८-२४१ |
| ५४ | " | " शब्दरत्न | २४१-२४३ |
| ५५ | " | " मनोरमा | २४४ |
| ५६ | 'ननुदाविगामपूर्वस्य' | सू. २३८ " " | २४४-२४६ |
| ५७ | " | " शब्दरत्न | २४६ |
| ५८ | 'जानो जानोः' | सू. २४० " मनोरमा | २४६-२४७ |
| ५९ | " | " शब्दरत्न | २४७-२४८ |
| ६० | 'जानो जानोः' | सू. २४८ " मनोरमा | २४८-२५० |

विषय

पृष्ठ सत्या

| | | | |
|--------------------------|---------|---------------|---------|
| ६१ 'आडो नाऽस्त्रियाम्' | सू. २४४ | वरील शब्दरत्न | २५०-२५६ |
| ६२ 'अच्च घेः' | सू. २४७ | „ मनोरमा | २५६-२६३ |
| ६३ „ | | „ शब्दरत्न | २६३-२७२ |
| ६४ 'अनङ् सौ' | सू. २४८ | „ मनोरमा | २७२-२७५ |
| ६५ „ | | „ शब्दरत्न | २७५-२७६ |
| ६६ 'हल्ङ्याब्भ्यः' | सू. २५२ | „ मनोरमा | २७६-२८३ |
| ६७ „ | | „ शब्दरत्न | २८३-२९० |
| ६८ „ | | „ मनोरमा | २९०-२९७ |
| ६९ „ | | „ शब्दरत्न | २९७-३०१ |
| ७० „ | | „ मनोरमा | ३०१-३०९ |
| ७१ „ | | „ शब्दरत्न | ३०९-३१५ |
| ७२ „ | | „ मनोरमा | ३१५-३१८ |
| ७३ „ | | „ शब्दरत्न | ३१८-३२२ |
| ७४ „ | | „ मनोरमा | ३२२-३३० |
| ७५ „ | | „ शब्दरत्न | ३३०-३३५ |
| ७६ „ | | „ मनोरमा | ३३५-३४३ |
| ७७ „ | | „ शब्दरत्न | ३४३-३६० |
| ७८ 'सह्युरसम्बुद्धौ' | सू. २५३ | „ मनोरमा | ३६० |
| ७९ „ | | „ शब्दरत्न | ३६०-३६२ |
| ८० 'ह्यत्पात्परस्य' | सू. २५५ | „ मनोरमा | ३६२-३६४ |
| ८१ 'औत्' | सू. २५६ | „ „ | ३६४-३७० |
| ८२ „ | | „ शब्दरत्न | ३७०-३७४ |
| ८३ 'पतिः समास एव' | सू. २५७ | „ मनोरमा | ३७४-३७६ |
| ८४ 'बहुगणवतुङ्गति सख्या' | सू. २५८ | „ मनोरमा | ३७६-३७७ |

| विषय | पृष्ठ संख्या |
|---|--------------|
| ८५ 'बहुगणवतुडति संख्या' सू. २५८ वरील शब्दरत्न | ३७७-३७९ |
| ८६ 'पड्म्यो लुक्' सू. २६१ ,, मनोरमा | ३७९ |
| ८७ ,, ,, शब्दरत्न | ३७९-३८४ |
| ८८ 'प्रत्ययलोपे | |
| प्रत्ययलक्षणम्' सू. २६२ ,, मनोरमा | ३८४-३८७ |
| ८९ ,, ,, शब्दरत्न | ३८७-३९९ |
| ९० 'न लुमताङ्गस्य' सू. २६३ मनोरमा | ३९९-४०० |
| ९१ ,, ,, शब्दरत्न | ४०० |
| ९२ 'अस्त्रयः' सू. २६४ ,, मनोरमा | ४००-४०१ |
| ९३ ,, ,, शब्दरत्न | ४०१-४०४ |
| ९४ 'त्यदादीनामः' सू. २६५ ,, मनोरमा | ४०४-४०५ |
| ९५ ,, ,, शब्दरत्न | ४०६ |
| ९६ ,, या सूत्रापुढील ईदन्तप्रकरण | ४०६-४१० |
| ९७ ,, ,, शब्दरत्न | ४१०-४१४ |
| ९८ 'यूस्थ्याख्यी नदी' सू. २६६ ,, मनोरमा | ४१५-४१८ |
| ९९ ,, ,, शब्दरत्न | ४१८-४२५ |
| १०० 'अचि इनुधातु' सू. २७१ ,, मनोरमा | ४२५-४२८ |
| १०१ ,, ,, शब्दरत्न | ४२८-४३२ |
| १०२ 'एरुनेकाचः' सू. २७२ ,, मनोरमा | ४३२-४३७ |
| १०३ ,, ,, शब्दरत्न | ४३७-४४५ |
| १०४ 'न भूनुघियोः' सू. २७३ ,, मनोरमा | ४४५-४५३ |
| १०५ ,, ,, शब्दरत्न | ४५३-४५८ |
| १०६ 'तृज्यत् प्रोष्टुः' सू. २७४ ,, मनोरमा | ४५८-४६० |
| १०७ ,, ,, शब्दरत्न | ४६०-४६८ |

| विषय | | पृष्ठ संख्या |
|-----------------------------------|---|--------------|
| १०८ 'अप्तृन्तृच्' | सू. २७७ वरील मनोरमा | ४६८-४६९ |
| १०९ ,, | ,, शब्दरत्न | ४६९-४७० |
| ११० 'रात्सस्य' | सू. २८० ,, मनोरमा | ४७१-४७६ |
| १११ ,, | ,, शब्दरत्न | ४७६-४८० |
| ११२ 'रात्सस्य' | सू. २८० या सूत्रापुढील ऊदन्त प्रकरण मनोरमा | ४८० |
| ११३ 'वर्षाभ्रश्च' | सू. २८२ वरील मनोरमा | ४८०-४८८ |
| ११४ ,, | ,, शब्दरत्न | ४८९-४९३ |
| ११५ 'नृ च' | सू. २८३ ,, मनोरमा | ४९३-४९४ |
| ११६ 'औतोऽम्शसो' | सू. २८५ ,, ,, | ४९४-४९७ |
| ११७ ,, | ,, शब्दरत्न | ४९७-४९८ |
| ११८ 'रायो हलि' | सू. २८६ ,, मनोरमा | ४९८-४९९ |
| ११९ ,, | ,, शब्दरत्न | ४९९-५०० |
| १२० ,, या मूत्रापुढील औदन्तप्रकरण | ,, मनोरमा | ५०१ |

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

रा. रा. रावबहादुर ना. वा. वाडेगांवकर यांनी ' प्रीड मनोरमा व शब्दरत्न ' या ग्रंथाचें जें स्त्रीप्रत्ययान्त विवरण केलें आहे त्याचा बराचसा भाग मी वाचला. या ग्रंथांत प्रथम प्रत्येक पंक्तीचा अक्षरार्थ देऊन पुढें कंसांत त्या पंक्तीचें विस्तृत व मार्मिक विवरण केलें आहे व आवश्यक ठिकाणीं पूर्ण प्रक्रिया दिली आहे. त्यामुळें ग्रंथाचा बोध होण्यास साधारण बुद्धीच्या विद्यार्थ्याला देखील माझ्या मते कांही अडचण येऊं नये. या ग्रंथांत ठिकठिकाणीं भाष्य, प्रदीप, उद्योत, काशिका, पदमञ्जरी इत्यादि ग्रंथांतून समर्पक उतारे दिले असल्यामुळें हा ग्रंथ आदर्शभूत झाला आहे व युनिव्हर्सिटीसारख्या संस्थांनी हा माननीय ग्रंथ संग्रहीं ठेवण्यास अत्यंत लायक आहे. विद्यार्थीवर्गाच्या हिताकरितां हा ग्रंथ जितक्या लवकर छापला जाईल तितकें बरें व या ग्रंथाचें हिन्दींत भाषान्तर करून ते छापल्यास यू. पी., पंजाब, बंगाल वगैरे प्रांतांतील विद्यार्थ्यांना फार फायदा होईल. मी हा ग्रंथ वाचून फार प्रसन्न झालों आहे व एवढे कठिण व्याकरणशास्त्राचे ग्रंथ महाराष्ट्र भाषेंत उतरविणें दुष्कर असून देखील रा. व. वाडेगांवकर यांनीं हें जें काम सरळ व सुंदर भाषा लिहून प्रशंसनीय रीतीनें केलें आहे त्याबद्दल मी त्यांचें मनःपूर्वक अभिनन्दन करितों.

वनारस

ता. ६-१२-४४

गोपाल शास्त्री नेने

व्याकरणाध्यापक, ग. सं. कॉलेज, वनारस

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

संस्कृत भाषेंतील शास्त्रीय ग्रन्थांचे मराठी भाषेंत यथार्थ भाषान्तर करणे हे कार्य सगळ्यांनाच उत्तम रीतीने साधते असे, नाही प आचार्य भक्त विष्णुशास्त्री बापट, दीक्षित, भाऊशास्त्री लेले, म म प. वासुदेव शास्त्री अम्यकर प्रभृति दिवंगत व विद्यमान प धुण्ढिराज शास्त्री उर्फ बापू दीक्षित, बापट, पाचगावकर प्रभृति ग्रन्थकारांनी केलेली भाषांतरे वजा करिता बहुतेक भाषार्थानुवादात्मकच भाषांतरे आहेत म्हणावयास हरकत नाही भाषांतरित ग्रन्थात मुद्धा वेदान्तादि शास्त्रीय ग्रन्थांची भाषांतरे लोकांत प्रचलित असलेल्या दृष्टांतादिकानी गुरुचिर तरी करिता येतात परंतु सर्वथा नीरस व विलुप्त अशा व्याकरणशास्त्रातील विशिष्ट टीकाग्रन्थांचे भाषांतर सुव्यवस्थित व यथार्थ रीतीने करणे हे कार्य अति अवघड व फारच कष्टसाध्य असे आहे. म्हणूनच जेथे वेदान्त, धर्मशास्त्र वगैरे शास्त्रातील दहा दहा ग्रन्थांची भाषांतर झालेली मिळतात, तेथे व्याकरणशास्त्रातील दोन तीनच ग्रन्थांची भाषांतरे झाली आहेत याचे कारण उघडच आहे प्रस्तुत ग्रन्थकारांनी काही वर्षांपूर्वी श्री नागोजीभट्ट काळे यांनी केलेल्या परिभाषेन्दुशेखर नावाच्या ग्रन्थाचे मराठीत सुंदर भाषांतर केलेले प्रसिद्ध आहेच आता प्रकृत ग्रन्थकारांनी शब्दरत्न मनोरमेचे अव्ययान्त भागाचे मराठीत भाषान्तर केले आहे ते मी बरेच स्थळी आपातत व एकाच प्रकरण अक्षरशः संपूर्ण वाचून पाहिले आहे त्यामुळे मला निश्चयाने अस सांगता येते की सदरहू भाषांतर प्राचीन परंपरेला व मूळातील गंभीर अर्थाला कोठेंहि न सोडता उत्तम रीतीने केलेले आहे व्याकरणासारख्या नीरस, विलुप्त, शास्त्रातील अति कठीण टीकाग्रन्थाचे उत्कृष्ट भाषांतर करिता येते याकरिता हा ग्रन्थ सर्वदा उत्कृष्ट उदाहरण म्हणून दाखविता येण्यासारखा आहे अस्तु ज्यांना व्याकरणशास्त्राचे अध्ययन करण्याची आवड आहे परंतु गुरूकडे जाऊन अध्ययन करिता

येणें शक्य नाहीं; तसेंच गुरुजवळ अध्ययन करूनहि ग्रन्थ स्पष्ट होण्याकरितां पुनः चिंतनाची आवश्यकता आहे अशा उभयविध जिज्ञासूंना या ग्रन्थानें फार उपयोग होणार आहे.

७५ चें आंतबाहेर ब्रय, इंद्रियें एका काळीं आपलीं असूनहि आपलीं नाहींत अशी साक्ष पटवीत आहेत. या काळांतील सांसारिक सुख, अशा परिस्थितींत १५-१५ तास दिवसा तसेंच रात्रीहि व्याकरणशास्त्रासारख्या नीरस, विलुप्त विषयांत एकाग्रचित्तानें विचार करीत समाधि स्थितींत असलेल्या श्रीमान पंडित बाबासाहेब बाडेगांवकरांना पाहिलें म्हणजे प्राचीन विद्वानांची वर्णनें प्रत्यक्ष डोळ्यांसमोर उभीं राहतात. असो. हा ग्रन्थ लवकरच प्रसिद्ध होण्याचा योग यावा व मराठी भाषेंत एका उत्कृष्ट भाषांतराची भर पडावी अशी सदिच्छा प्रकट करितों.

पीप बद्य ६^{११}/_{११} वृषवार }
ता. ६-१२-४४, काशी

पं. अनंत शास्त्री फडके
व्याकरणाचार्य, मीमांसातीर्थ
प्रा. ग. स. कॉ., काशी

रा. व. श्री. ना. दा. वाडेगावकर यांनी 'प्रौढ-मनोरमा आणि शब्दरत्न' ह्या व्याकरणशास्त्रावरील जटिल दोन ग्रथांचे जे महाराष्ट्र भाषेत विस्तृत विवरण केले आहे त्याचा काही भाग मी वाचला हा ग्रंथ सर्वांगसुंदर जाहला आहे जसा एखादा वैयाकरणमूर्द्धन्य आपल्या प्रियतम विद्यार्थ्यास प्रत्येक पक्तीचे विशद विवरण करून ग्रथाचे गूढ ग्रन्थिरहस्य एकान्तात सांगतो तसे हे 'भाषान्तर' वाचकास चटकन ग्रंथ प्रमेय सांगते यात प्रत्येक पक्तीचा अक्षरार्थ प्रथम देऊन नंतर कसात त्याचे विस्तृत विवरण केले आहे व जेथे प्रक्रिया देणे आवश्यक आहे तेथे मूर्ते देऊन सविस्तर प्रक्रिया दिली आहे आणि ठिकठिकाणी भाष्य, काशिका, प्रदीप, उद्योत, शब्देन्दुशेखर, पदमजरी इत्यादि ग्रंथातील समर्पक उतारे दिले आहेत, त्यायोगे ग्रंथ समजण्यात अडचण जात नाही. माझी पूर्ण खात्री आहे की ज्याने कौमुदीचे अध्ययन केले आहे त्याला शिक्षकाच्या सहाय्याशिवाय हा ग्रंथ वाचल्याने मनोरमा व शब्दरत्न यातील पवित्र उत्तम रीतीने समजू शकते. असा सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ लिहिल्याबद्दल मी रावबहादुर याचे सप्रेम हार्दिक अभिनंदन करितो. महाराष्ट्र प्रान्तात व्याकरणशास्त्राचा विशेष प्रचार विरल आहे. उत्तर (हिंदुस्थानात) भारतात व्याकरणशास्त्राचा विशेष प्रचार असल्यामुळे या ग्रंथाचे हिन्दीत भाषान्तर होणे आवश्यक आहे. तसे भाषान्तर केल्यास व्याकरणशास्त्राध्ययन करणाऱ्या छात्रवर्गावर फार उपकार होतील.

बनारस
कार्तिक कृ. १३ सोमवार
ता. १३-११-४४

सदाशिव शास्त्री मुसलगावकर
माजी प्रिन्सिपाल, संस्कृत कॉलेज,
ग्वाल्हेर

श्री. रा. ना. दा. वाडेगांवकर 'यांनी प्रौढ मनोरमा व शब्द-
रत्न' या गहन ग्रन्थांचें महाराष्ट्र भाषेंत जें स्त्रीप्रत्ययान्त विवरण केलें
आहे त्याचीं तीन प्रकरणें मी वाचलीं. या विवरणांत प्रत्येक पंक्तीचा
प्रथम अक्षरार्थ देऊन पुढें कंसांत विस्तृत विवेचन केलें आहे व अवश्य
ठिकाणीं सूत्रें व सूत्राङ्क देऊन पूर्ण प्रक्रिया दिली आहे, आणि तसेंच
भाष्य, प्रदीप, उद्योत, शब्देन्दुशेखर, काशिका, पदमञ्जरी इत्यादि
ग्रंथांतून आवश्यक स्थलीं समर्पक उत्तारे दिले असून त्यांचा भावार्थहि
दिला आहे. त्यामुळें प्रत्येक पंक्तीचा उत्तम रीतीनें अर्थबोध होतो.
हा ग्रंथ सरल व सुंदर भाषेंत लिहिला असल्यामुळें सामान्य बुद्धीच्या
विद्यार्थ्याला देखील ग्रंथबोध होण्यांत कांही अडचण येऊं नये.
शब्दरत्नाची भाषा फार अवघड आहे व त्या ग्रंथाचा गूढार्थ मराठी
भाषेंत पूर्णपणें उतरविणें हें दुष्कर असून देखील या विवरणांत तें
उत्तम रीतीनें केलें. सारांश हें विवरण अत्यन्त सुंदर, बोधप्रद व
वादर्शभूत झालें आहे व या उतारवयांत शरीर रोगग्रस्त झालें
अमृत देखील वाडेगांवकर साहेबांनी जो एवढा प्रचण्ड व सुंदर ग्रन्थ
निर्माण केला आहे त्याबद्दल त्यांचें जितकें कौतुक व अभिनंदन केलें
तितकें कमीच आहे.

दिवाकर शास्त्री जोशी,

व्याकरणाचार्य,

ता. ६-१२-४४

व्याकरण शास्त्राध्यापक, गव्हर्नमेण्ट संस्कृत
कॉलेज व स्था. जैन विद्यालय, बनारस.

प्रस्तावना



कै रा व नारायणराव वाडेगावकर यांच्या प्रौढ मनोरमा व शब्दरत्न या व्याकरणशास्त्रावरील अनुवाद व विवरणाच्या प्रचंड ग्रथाचा हा पाचवा खंड होय या ग्रथाची महती व त्याच्या कै वाडेगावकर यांनी केलेल्या अनुवादाचे व विवरणाचे स्वरूप याचे स्पष्टीकरण भागच्या ४ व्या खंडाच्या प्रस्तावनेत केलेलेच असल्यामुळे त्याची पुनरुक्ति येथे करण्याचे कारण नाही

याहि खंडाच्या प्रकाशनाच्या बाबतीत महाराष्ट्र राज्य सरकारने उदार अत करणाने आर्थिक साह्य करून आम्हाला अत्यंत उपकृत केले आहे या साह्यावाचून ग्रंथ-प्रकाशनाचे हे कार्य दुर्घट ठरले असते त्यासंबंधी महाराष्ट्र राज्य सरकारला आम्ही अत करणपूर्वक धन्यवाद देतो

कै वाडेगावकर यांचे चिरजीव श्री ख ना वाडेगावकर यांनी या ग्रथाच्या प्रकाशनाचे सर्वाधिकार सस्थला देऊन सस्थला ऋषिऋण व व्यक्तिश भला गुरु-ऋण फडण्याची जी संधी दिली त्याबद्दल त्यांना आम्ही अत करणपूर्वक धन्यवाद देतो

या पांचव्या खंडाला उदार आश्रय देऊन सरकारी व अन्य ग्रंथालये आपली कर्तव्यपूर्ति करतील अशी आज्ञा आहे.

या ग्रंथाची मुद्रिते तपासण्याच्या कामी भोसला वेदशास्त्र महाविद्यालयाचे सहमंत्री श्री. शं. गो. चट्टे, एम्. ए. यांनी जे परिश्रम घेतले त्याबद्दलचे ऋण शब्दांनी फिटणारे नाही.

ग्रंथाच्या यापुढील खंडालाहि असेच सहकार्य लाभेल असा विश्वास आहे.

बाळशास्त्री हरदास,

अध्यक्ष

दि. २६ फेब्रुवारी }
१९६३ }

भोसला वेदशास्त्र महाविद्यालय
व

वेदशास्त्र महाविद्यालय संशोधन व
प्रकाशन मंडळ.



कं० रावबहादुर ना. वा. वाडेगांवकर, एम्. ए
सेवानिवृत्त डिस्ट्रिक्ट व मेजन्स जज, नागपूर

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ अथाजन्तुल्लिङ्गप्रकरणम् ॥

(भाग ४ वरून पुढे चालू)

मनोरमा—“सर्वादीनि सर्वनामानि” ॥ सर्वादीनि इति तद्गुणसर्वज्ञानो बहुव्रीहिः । “हलि सर्वेषाम्” इति निर्देशात् । द्वन्द्वे चेतीति । स हि समुदायस्य निषेधो न त्यज्यवानामिति वक्ष्यते । न च तदन्तर्विधिं विना समुदाये सज्ञाप्रसवितरस्तीति भावः । ननु तदन्तसञ्ज्ञाया किं फलम् । न च परमसर्वस्मायित्वादौ स्मायादयं फलम् । अङ्गाधिकारे तदन्तविधिनैव तत्सिद्धेरित्यत आह—तेनेति । न चेहापि “प्रातिपदिकात्” इत्यनुवृत्ते सर्वनाम्ना तद्विशेषणे तदन्तविधिर्भवतीति वाच्यम् । “समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” इत्युक्तेरिति भावः । अकच्चेति । चकारात्परमसर्वत इत्यत्र तसिल् ।

‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ सू २१३ या सूत्रातील ‘सर्वादीनि’ हा तद्गुणसर्वज्ञान बहुव्रीहि आहे व ‘हलि सर्वेषाम्’ सू १७१ या सूत्रातील ‘सर्वेषाम्’ या निर्देशावरून ४ सिद्ध होते (प्रवृत्त सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—‘सर्वादीनोति कोऽस्य समासः । बहुव्रीहिरित्याह । कोऽस्य विग्रहः ? । सर्वशब्द आदिर्येषा तानीमानोति । यजेय सर्वशब्दस्य सर्वनामसज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् ? । अन्यपदार्थत्वाद् बहुव्रीहे । बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थो वर्तते । तेन यदन्यत्सर्वशब्दात् तस्य सर्वनामसज्ञा प्राप्नोति । तद्यथा । चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावो भवन्ति स आनीयते, न गावः । नैव दोषः । भवन्ति बहुव्रीही तद्गुणसर्वज्ञानमपि । तद्यथा । चित्रवाससमानय, कात्तोष्णाया ऋत्विज प्रवरन्ति । तद्गुण आनीयते तद्गुणाश्च प्रवरन्ति ।’

‘बहुव्रीही तद्गुणसंविज्ञानमपि’—परि. ७८—या परिभाषेत ‘अपि’ हा शब्द घातला असल्यामुळे या परिभाषेचा असा अर्थ होतो कीं, बहुव्रीहि हा तद्गुणसंविज्ञान व अतद्गुणसंविज्ञान असा दोन प्रकारचा असतो. ‘तेषां गुणानामवयवपदार्थानां संविज्ञानं विशेष्यान्वयित्वम्’ असा ‘तद्गुणसंविज्ञान’ या पदाचा परिभाषेन्दुशेखरांत अर्थ दिला आहे व याचा अर्थ असा आहे कीं, जेथें अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासाचे अवयव अन्यपदार्थांशीं विशेषणरूपानें अन्वित होत असतात त्याला तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि म्हणतात व जेथें ते अवयव अन्यपदार्थांशीं विशेषणरूपानें अन्वित होत नसून उपलक्षणरूपानें अन्वित होतात त्याला अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि म्हणतात. ‘सर्वः आदिः येषां तानि सर्वादीनि’ या बहुव्रीहिसमासांत ‘सर्वनाम’ हा अन्यपदार्थ प्रधान आहे व या अन्यपदार्थामध्ये ‘सर्व’ या शब्दाचा विशेषणरूपानें अन्वय होत असल्यामुळे, म्हणजे ज्या शब्दांना सर्वनामसंज्ञा होणें सांगितलें आहे त्यांत ‘सर्व’ हा शब्द अन्तर्भूत होत असल्यामुळे, ‘सर्वादीनि’ हा तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ठरतो. जर ‘सर्व’ हा शब्द त्या संज्ञेत अन्तर्भूत झाला नसता तर ‘सर्वादीनि’ हा अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ठरला असता. ‘सर्व’ या शब्दाला देखील सर्वनामसंज्ञा होते याला ‘हलि सर्वेषाम्’ इत्यादि सूत्रांनील ‘सर्वेषाम्’ हा निर्देश प्रमाण आहे; कारण या निर्देशांत ‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ सू. २१७ या सूत्रानें अकारान्त सर्वनामाहून होणाऱ्या ‘आम्’ प्रत्ययाला जें सुडागमकार्य होणें सांगितलें आहे तें कार्य केलें आहे. जर ‘सर्व’ हा शब्द सर्वनामसंज्ञक नसता तर, ‘ऋस्वनद्यापी नुट्’ सू. २०८ या सूत्रानें ‘सर्व’ शब्दाहून होणाऱ्या ‘आम्’ प्रत्ययाला नुडागम करून पाणिनीने ‘सर्वाणाम्’ असा निर्देश केला असता.) ‘तदन्तश्चापीयं संज्ञा । द्वन्द्वे च इति ज्ञापयत्’ अने जें प्रकृत सूत्रावरील कीमुदीत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ‘द्वन्द्वे च’ सू. २२४ या सूत्रानें होणारा सर्वनामसंज्ञानिवेध सर्वनाम्न द्वन्द्वसमासक समुदायालाच लागू

पडतो व त्या समासातील सर्वनामसज्ञक अवयवाना तो निषेध लागू पडत नाही हे पुढे ('द्वन्द्वे च' या सूत्रावरील कोमुदीत) सांगण्यात येणार आहे तदन्तविधि केल्याशिवाय समुदायाला सर्वनामसज्ञेची प्राप्ति होत नाही ह उघड आहे ('सर्वं, विश्व' इत्यादि शब्द सर्वादिगणात पठित असून 'परमसर्वं' इत्यादि सर्वादिशब्दान्त शब्द त्या गणात पठित नसल्यामुळे, केवळ 'सर्वं' इत्यादि शब्दानाच सर्वनामसज्ञा होऊ शकते व सर्वादिशब्दान्त समुदायाला ती सज्ञा होऊ शकत नाही असे कोणी म्हटल्यास त्यावर दीक्षित असे उत्तर देतात की, 'द्वन्द्वे च' या सूत्राने सर्वादिशब्दान्त द्वन्द्वसमासक समुदायाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला असल्यामुळे त्यावरूनच हे सिद्ध होत की तदन्त समुदायाला सर्वनामसज्ञा होते जर केवळ 'सर्वं' इत्यादि शब्दानाच ती सज्ञा होणे व तदन्तसमुदायाला ती सज्ञा होत नाही असे मानले तर, 'प्राप्तस्यैव निषेध' हा न्याय असल्यामुळे, 'द्वन्द्वे च' सू. २२४ हा निषेध व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते म्हणून तो निषेध चरितार्थ ठरण्याकरिता हे मानणे आवश्यक आहे की, सर्वादिशब्दान्त समुदायाला देखील तदन्तविधीने सर्वनामसज्ञा होते व त्यामुळेच 'परमसर्वंस्मै, परमसर्वत्र' इत्यादि रूपे सिद्ध होतात आता येथे शकाकार अशी शका करतो की, तदन्तविधि वरून) तदन्त समुदायाला सर्वनामसज्ञा केल्याने कोणते (अधिक) फल सिद्ध होणे? 'परमसर्वंस्मै' इत्यादि स्थली 'स्मै' इत्यादि आदेश प्रत्ययाचे जागी होणे हे तशा रीतीने—तदन्तविधीने—सर्वनामसज्ञा केल्याचे फल मानता येत नाही, कारण 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' — परि. २९—या परिभाषान्वयेच तदन्तविधीने 'परमसर्वंस्मै' इत्यादि स्थली 'स्मै' इत्यादि आदेश प्रत्ययाचे जागी होऊ शकतात ही शका मनात धरूनच या शकेपर प्रकृत सूत्रावरील कोमुदीत 'तेन परमसर्वत्र इति बल, परमभवकान् इत्यत्राकच्च मिध्यति' असे उत्तर दिले आहे ('जस शी, सर्वनाम्न स्मै, डिसिद्धो स्मात्स्मिनी, आमि सर्वनाम्न सुद्' सू. २१४, २१५,

२१६, २१७ इत्यादि सूत्रे अङ्गाधिकारांत पठित असल्यामुळे, 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' या परिभाषान्वये, त्या सूत्रांत सांगितलेलीं कार्ये सर्वनामान्त समुदायाला सर्वनामसंज्ञा न करितां तदन्तविधीनें करतां येऊं शकतात असें शंकाकारांचें म्हणणें आहे. यावर दीक्षित असें म्हणतात कीं, हें शंकाकाराचें म्हणणें जरी बरोबर मानलें तरी, 'सप्तम्यास्त्रल्' सू. १९५७ व 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्' सू. २०२६ हीं दोन्ही सूत्रे पदाधिकारांत किंवा अङ्गाधिकारांत पठित नसल्यामुळे, त्या सूत्रांनीं सर्वनामाला सांगितलेलीं कार्ये, सर्वनामान्त शब्दांना तदन्तविधीनें सर्वनामसंज्ञा होते हें मानल्याशिवाय, कशीं होऊं शकणार? सारांश अङ्गाधिकारांत पठित नसलेले 'त्रल्, अकच्, तसिल्' इत्यादि सर्वनामाहून होणारे प्रत्यय सर्वनामान्त समुदायाहून होण्याकरितां तथा समुदायाला तदन्तविधीनें सर्वनामसंज्ञा होणें आवश्यक आहे.) 'सप्तम्यास्त्रल्' व 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्' (हीं सूत्रे 'ङ्घाप्-प्रातिपदिकात्' या अधिकारांत पठित असल्यामुळे) या सवें सूत्रांत 'प्रातिपदिकात्' या पदाची अनुवृत्ति होते व त्या सूत्रांत निर्दिष्ट किंवा अनुवृत्त असलेले 'सर्वनाम' हें पद 'प्रातिपदिकात्' याचें विशेषण होत असल्यामुळे 'येन विधिस्तदन्तस्य' सू. २६ या सुत्रान्वये येथें देखील तदन्तविधि होऊं शकतोच (च सर्वादिशब्दान्त-समुदायरूप प्रातिपदिकाहून 'त्रल्, अकच्' इत्यादि प्रत्यय होऊं शकतातच) असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण 'समासप्रत्ययविधी प्रतिषेधः'—सू. २६ वरील वातिक—हें निषेधक वातिक असल्यामुळे, 'त्रल्, अकच्' इत्यादि प्रत्यय करतेवेळीं 'येन विधिस्तदन्तस्य' या सूत्रानें तदन्तविधि करतां येत नाही; (कारण हा प्रत्ययविधि असल्यामुळे 'येन विधिः' या सूत्राची बरीच निषेधक वातिकान्वये प्रवृत्ति होऊं शकत नाही.) 'अकच्च गिघ्यति' असें जें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत म्हटलें आहे त्यातील 'च' या पदानें 'पञ्चम्यान्तसिल्' सू. १९५३ या सूत्रानें होणाऱ्या

‘तसिल्’ प्रत्ययाचे ग्रहण होतें व त्यामुळे ‘परममर्धंतः’ हें रूप सिद्ध होते.

शब्दरत्न—तद्गुणसंविज्ञान इति । तस्य अन्यपदार्थस्य गुणा=विशेषणानि संविज्ञायन्ते कारित्वादिना यत्रेत्यर्थः । प्रायः संयोग-समवायान्तरसम्बन्धेन सम्बन्धी यत्रान्यपदार्थस्तत्र तद्गुणत्वम् । तदतिरिक्तस्वस्वामिभावादिसम्बन्धेन सम्बन्धितस्तत्त्वेऽतद्गुणत्वम् । नागयज्ञोपवीतो भोज्यतामित्यादौ यज्ञोपवीतस्य कारित्वाभावेऽपि तत्संनिहितत्वमत्येवेति तद्गुणत्वमेवेति हरिप्रंथे स्पष्टम् । तत्सिद्धेरिति । न च सर्वनाम्नो विहितत्वाभावः । तदन्तसंज्ञाभावे “द्वन्द्वे च” इत्यादीनामवयवसंज्ञानिषेधकत्वेन विहितविशेषणे फलाभावादिति भावः । तसिलिति । अवयवसर्वनामत्वेन तु न निर्व्याहः, सर्वनामप्रकृतिकसप्तम्याद्यन्तत्वाभावादिति भावः ॥

‘तद्गुणसंविज्ञानः’ या सामासिक पदाचा ‘तस्य अन्यपदार्थस्य गुणाः विशेषणानि, संविज्ञायन्ते कारित्वादिना यत्र’ असा विग्रह आहे ज्या बहुव्रीहिसमासात त्या समासातील अवयवाचा अन्यपदार्थाशी समवायरूप किंवा संयोगरूप संबध असतो तशा स्थली बहुधा तद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि होत असतो. ज्या बहुव्रीहिसमासातील अवयवाचा अन्यपदार्थाशी समवायसंबध किंवा संयोगसंबध नसून स्वस्वामिभाव इत्यादि प्रकारचा संबध असतो तशा स्थली बहुधा अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहि होत असतो. (‘अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहि.’ या वचनान्वये बहुव्रीहिसमासात अन्यपदार्थ प्रधान असता व त्या समासातील अवयव-घटक पदें—त्या अन्यपदार्थाची विशेषणे असतात. उदाहरणार्थ ‘महाबाहु’ या बहुव्रीहिसमासात ज्याचे बाहु मोठे आहेत असा अन्यपदार्थ पुरुष प्रधान असून त्या समासातील ‘महान्’ व ‘बाहु’ हे अवयव त्याची विशेषणे आहेत. जेथें अन्यपदार्थातह त्याची विशेषणे वाक्या-तील क्रियेशी अन्वित असतात तेथें बहुधा तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि होत असतो. जेथें ती विशेषणे तशी अन्वित नसतात तेथें बहुधा अतद्गुणस-

विज्ञानबहुव्रीहि होत असतो. बरील दोन्ही वाक्यांत 'बहुधा' असें जें म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, वर जो नियम सांगितला आहे तो सामान्य नियम असून त्याचे क्वचित् स्थलीं अपवाद आढळतात.) 'नागयज्ञोपवीती भोज्यताम्' इत्यादि उदाहरणांत जरी यज्ञोपवीत कायि नाही, म्हणजे यज्ञोपवीताचा भोजनक्रियेत अन्वय नाही, तरी भोजन करतेवेळीं यज्ञोपवीताचें साक्षिष्य राहत असल्यामुळें, म्हणजे जो भोजन करतो त्याचे गळ्यांत तें यज्ञोपवीत राहत असल्यामुळें, अशा ठिकाणीं तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि मानला जातो असें हरीच्या ग्रन्थांत स्पष्ट म्हटलें आहे. (प्रकृत विषयाचें विस्तृत विवरण परिभाषेन्दुशेखराच्या मराठी भाषांतरांत पान ३७४-७५ मध्यें केले आहे व तें वाचल्यास संपूर्ण विषय नीट व्याप्तांत येईल. 'नागयज्ञोपवीती' या स्थलीं 'नागयज्ञोपवीत' या कर्मधारयाहून 'अत इनिठनी' सू. १९२२ या सूत्रानें मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय झाला आहे, व 'अनेकमन्यपदार्थ' सू. २-२-२४ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं 'अर्थनियमे मत्वर्थग्रहणम्' हें वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकाचें व्याख्यान करितांना 'अर्थनियमे मत्वर्थग्रहणं कर्तव्यम् । मत्वर्थे यः स बहुव्रीहिरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । कण्ठं ध्रितमनेनेति ।' असें म्हटलें आहे. त्यामुळें 'नाग-यज्ञोपवीती' हा मत्वर्थीय इनिप्रत्ययान्त शब्द बहुव्रीहि ठरतो. या उदाहरणांत अन्यपदार्थाचा अवयवाशीं संयोगसंबंध आहे हें खरें. पण जसा अन्यपदार्थ यज्ञोपवीती हा भोजनक्रियेचा कर्ता आहे तसें त्याचें यज्ञोपवीतरूप अवयव नाही. तरी पण दोहोंमध्ये संयोग-संबन्ध असल्यामुळें हा तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि ठरतो.) 'तदन्त-विधिर्नैव तत्सिद्धेः' असें जें मनोरमंतील शंकाग्रन्थांत शंकाकारानें म्हटलें आहे त्याच्या म्हणण्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ('परमसर्वं हे' या स्थली 'परमसर्वं' हा समुदाय सर्वनामसंज्ञक न मानल्यास 'हे' हा) प्रत्यय सर्वनामाहून झाला आहे असें जरी मानतां येत नाही (तरी काहीं हरकत नाही; कारण) सर्वनामान्त समुदायाला

सर्वनामसज्ञा होत नाही असे मानले असता, 'द्वन्द्वे च' इत्यादि निषेधक सूत्रे समासातील सर्वनामरूप अवयवाना प्राप्त होणाऱ्या सर्वनामसज्ञेचे निषेधक ठरतील व त्यामुळे विहितविशेषणपक्ष मानल्याने कोणतेहि (अधिक) फल सिद्ध होऊ शकत नाही ('परमसर्वं डे' या स्थली 'परमसर्वं' या सर्वनामान्त समुदायाला सर्वनामसज्ञा न केल्यास, 'डे' हा प्रत्यय समुदायातील अवयव जो सर्वनामसज्ञक 'सर्व' शब्द त्याहून झाला नसून 'परमसर्वं' या समुदायाहून झाला असल्यामुळे व त्या समुदायाला शकाकाराच्या पक्षामध्ये सर्वनामसज्ञा नसल्यामुळे, 'सर्वनाम्न स्मै' सू. २१५ या सूत्राने सर्वनामाहून होणाऱ्या 'डे' प्रत्ययाचे जागी होणारा 'स्मै' हा आदेश कसा होऊ शकणार; कारण 'सर्वनाम्न स्मै' या सूत्राचा 'सर्वनाम्नो विहितस्य डे' इत्यस्य स्थाने स्मै इत्यादेश स्यात्' असा अर्थ आहे प्रकृत स्थली 'सर्व' हे जे सर्वनाम आहे त्याहून 'डे' प्रत्यय झाला नाही व जो समुदाय शकाकाराच्या मते सर्वनामसज्ञक नाही त्याहून 'डे' प्रत्यय झाला आहे अशा स्थितीत 'डे' चे जागी 'स्मै' आदेश कसा होऊ शकणार व 'परमसर्वस्मै' इत्यादि इष्ट रूपाची सिद्धि कशी होऊ शकणार? यावर शकाकार असे उत्तर देतो की, आम्ही विहित विशेषणपक्ष मानत नाही, कारण तो पक्ष न मानला तरी सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होण्यात काही अडचण येत नाही 'परमसर्वं डे' या स्थली जरी 'डे' हा प्रत्यय सर्वनामाहून झाला नाही तरी तो प्रत्यय 'सर्व' या सर्वनामाहून पर आहे आणि 'सर्वनाम्न स्मै' या सूत्राचा 'सर्वनाम्ना विहितस्य' असा अर्थ न करिता 'सर्वनाम्न परस्य डे' इत्यस्य स्थाने स्मै आदेश स्यात्' असा अर्थ केल्याने 'परमसर्वस्मै' हे रूप सिद्ध होऊ शकते 'द्वन्द्वे च' इत्यादि निषेधक सूत्रे सर्वनामान्त समुदायाला हाणाऱ्या सर्वनामसज्ञेची निषेधक सूत्रे आहेत असे न मानता त्या समुदायातील सर्वनामरूप अवयवाना प्राप्त होणाऱ्या सर्वनामसज्ञेची निषेधक सूत्रे आहेत असे मानले

असतां, 'वर्णाश्रमेतर' या द्वन्द्वसमासांतील 'इतर' या सर्वनामरूप चरमावयवाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध झाल्याने त्याहून पर जो 'आम्' प्रत्यय त्याला 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' सू. २१७ या सूत्राने सुडागम न होता 'न्हस्वनद्यापो नुट्' या सूत्राने सुडागम होऊन 'वर्णाश्रमेतराणाम्' हे रूप सिद्ध होण्यांत काहीं अडचण येत नाही. परंतु हे शंकाकाराचे म्हणणे बरोबर मानल्यास 'येन विधिस्तदन्तस्य' १-१-७२ या सूत्राची प्रयोजने सांगतांना त्या सूत्रावरील भाष्यांत 'प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्' हे वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकाचे व्याख्यान करितांना 'सर्वनामाव्ययसंज्ञायां प्रयोजनम् । सर्वे परमसर्वे । विश्वे परमविश्वे । उच्चैः परमोच्चैः । नीचैः परमनीचैः' असे जे भाष्यकारांनी म्हटले आहे त्याशीं विरोध येतो. या शिवाय 'परमसर्वतः, परमसर्वत्र, परमभवकान्' इत्यादि रूपे मनोरमेत सांगितल्याप्रमाणे सिद्ध होऊं शकणार नाहीत. म्हणून शंकाकाराचे म्हणणे बरोबर मानतां येत नाही.) 'परमसर्वत इत्यत्र तसिल्' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'परमसर्व' या समुदायांतील अन्त्य अवयव 'सर्व' हा शब्द जरी सर्वनामसंज्ञक आहे तरी ('परमसर्व' या समुदायाला सर्वनामसंज्ञक मानल्याशिवाय) या स्वर्ली 'तसिल्' प्रत्यय होऊं शकत नाही; कारण येथें सप्तम्यादि-विभक्त्यन्त सर्वनामप्रकृतीचा अभाव आहे. ('पञ्चम्यास्तसिल्' सू. १९५३ या सूत्राने पञ्चम्यन्त सर्वनामप्रकृतीहून 'तसिल्' प्रत्यय होणे सांगितले आहे. तसेंच 'सप्तम्यास्त्रल्' सू. १९५७ या सूत्राने सप्तम्यन्त सर्वनामप्रकृतीहून 'त्रल्' प्रत्यय होणे सांगितले आहे. 'परमसर्व' या सर्वनामान्त समुदायाला सर्वनामसंज्ञा न केल्यास त्याहून होणाऱ्या 'तसिल्, त्रल्' इत्यादि प्रत्ययांची सर्वनामसंज्ञक प्रकृति नाहून नसल्यामुळे, 'परमसर्व' या पदवाहून ते प्रत्यय होऊं शकणार नाहीत. म्हणून 'परमसर्व' इत्यादि सर्वनामान्त समुदायाला नष्टगविपत्ते सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होणे आवश्यक आहे.)

मनोरमा-“जसः शी” अनेकाल्त्वादिति । न तु शित्वा-
दिति भावः ।

‘जसः शी’ सू. २१४ या सूत्रावरील कौमुदीत ‘अनेकाल्त्वात्
सर्वदेशः’ असे जें म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, शित्वा-
मुळें ‘शी’ हा सर्वदेश होत नाही (‘अनेकाल्शित्सर्वस्य’ सू. ४५
या सूत्रानें जसा अनेकाल् आदेश सर्वदेश होणे सांगितले आहे त्याच-
प्रमाणे शित् आदेश देखील सर्वदेश होणे सांगितले आहे. प्रकृत
सूत्रानें होणाऱ्या ‘शी’ या आदेशात शकार इत् आहे मग
‘शित्वात्सर्वदेश’ असे दीक्षितानी का म्हटले नाही ? या प्रश्नाचे
उत्तर हे आहे की, ‘शी’ या आदेशातील शकार इत्सज्ञक
होण्याकरिता त्याला प्रथम प्रत्ययसज्ञा झाली पाहिजे व तो
आदेश ‘जस्’ प्रत्ययाचे जागो झाल्यानंतरच त्याला
स्थानिवद्भावाणें प्रत्ययसज्ञा प्राप्त होते व ती सज्ञा त्याला प्राप्त
झाल्यानंतरच, प्रत्ययातील आद्य शकार इत्सज्ञक होतो हे विधान
करणाऱ्या ‘लघववतद्धिते’ सू. १९५ या सूत्राची प्रवृत्ति होऊ शकते.
सारास ‘शी’ या आदेशाला प्रत्ययसज्ञा झाल्याशिवाय तो शित्
ठरत नसल्यामुळें व तो आदेशरूपानें होतेवेळी प्रत्ययसज्ञक नसल्या-
मुळें, ‘अनेकाल्त्वात्सर्वदेशः’ असे दीक्षितानी कौमुदीत म्हटले आहे.)

मनोरमा- अवर्णान्तादिति । अवर्णान्तादङ्गात्परस्येत्यर्थः ।
अतो येषां तेषां तेषामित्यादी नाप्याप्तिः ।। सर्वनाम्नी विहितस्याम
इति । सर्वनाम्नः परस्येति तुनोश्चम् दक्षिणोत्तरपूर्वाणामित्यत्र
मुद्प्रसङ्गात् । “द्वन्द्वे च” इति निषेधो हि समुदायस्य न त्वयय-
वस्य । न च तस्मादप्यमाम् विहितः, किं तु समुदायादेवेति न मुद् ।
विहितविशेषणत्वस्याभयणे प्रमाणं तु “दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्”
इति भाष्यप्रयोग एव ।

‘आमि सर्वनाम्नः मुद्’ सू. २१७ या सूत्रावरील कौमुदीत
‘अवर्णान्तात्परस्य’ असे जें म्हटले आहे त्याचा ‘अवर्णान्तादङ्गात्पर-

रस्य' असा अर्थ आहे. (प्रकृत सूत्र अङ्गाधिकारांत पठित असल्यामुळे या सूत्रांत 'अङ्गस्य' या पदाची अनुवृत्ति होते व त्या अनुवृत्त पदाचा 'अङ्गात्' असा पञ्चमीविभक्तींत विपरिणाम केल्याने आणि 'आत् जसेरसुक्' या पूर्व सूत्रांतून 'आत् = अवर्णान्तात्' हें जें पद प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त होतें तें 'अङ्गात्' याचें विशेषण मानल्याने, 'अवर्णान्ता-दङ्गात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्य' असा अर्थ होतो.) तसा अर्थ होत असल्यामुळे 'येषाम्, केषाम्, तेषाम्' इत्यादि स्थलीं अव्याप्तिरूप दोष येत नाही, म्हणजे प्रकृत सूत्र त्यांना देखील लागू पडतें. ('अवर्णान्ता-त्सर्वनाम्नः विहितस्य' असें जर व्याख्यान केलें असतें तर, 'यद्, तद्, किम्' इत्यादि सर्वनामों अकारान्त नसल्यामुळे त्यांहून होणाऱ्या 'आम्' प्रत्ययाला सुडागम होऊं शकला नसता. पण 'अकारान्ता-दङ्गात्परस्य सर्वनाम्नोविहितस्य' असें म्हटलें असल्यामुळे व 'त्वदादीनामः' सू. २६५, 'किमः कः' सू. ३४२ या सूत्रान्वये अकारान्त आदेश होऊन अङ्ग अकारान्त होत असल्यामुळे, 'आम्' प्रत्ययाला सुडागम होतो.) कौमुदीतील बरील पंक्तींत ('सर्वनाम्नः परस्यामः' असें न म्हणतां) 'सर्वनाम्नो विहितस्यामः' असें जें म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, 'सर्वनाम्नः परस्यामः' असें म्हटलें असतें तर, 'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' या उदाहरणांत सुडागम होणाऱ्याची आपत्ति आली असती. 'द्वन्द्वे च' सू. २२४ या सूत्रानें होणाऱ्या सर्वनामसंज्ञानिषेध द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला लागू पडतो व तो निषेध त्या समासांतील सर्वनामरूप अवयवांना लागू पडत नाही. 'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' या द्वन्द्वसमासस्थलीं जी 'आम्' प्रत्यय झाला आहे तो 'पूर्व' या अन्त्य सर्वनामरूप अवयवाहून झाला नसून 'दक्षिणोत्तरपूर्व' या समुदायाहून झाला आहे (य हा समुदाय 'द्वन्द्वे च' या निषेधान्वये सर्वनामसंज्ञक ठरत नसल्या-मुळे, त्याहून झालेल्या 'आम्' प्रत्ययाला) सुडागम झाला नाही. 'सर्वनाम्नः विहितः आम्' असें विहितविशेषणरूपानें उच्चारण करून तें कौमुदीन व्याख्यान केलें आहे त्याला 'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्'

हा भाष्यप्रयोगच प्रमाण आहे (‘सर्वनाम्न परस्य’ असे जर व्याख्यान केले असतें तर ‘पूर्वापरावर’ या गणसूत्रान्वये ‘पूर्व’ हा शब्द सर्वनामसज्ञक असल्यामुळे व वरील उदाहरणात ‘पूर्व’ शब्दाच्या लगेच पुढे ‘आम्’ प्रत्यय आला असल्यामुळे, त्या प्रत्ययाला सुडागम होण्याची व वरील भाष्यप्रयोग चूक ठरण्याची आपत्ति आली असती परंतु तो प्रत्यय ‘पूर्व’ या सर्वनामरूप अवयवाहून झाला नसून ‘दक्षिणोत्तरपूर्व’ या द्वन्द्वसमासरूप समुदायाहून झाला असल्यामुळे व ‘द्वन्द्वे च’ या निषेधान्वये त्या समुदायाला सर्वनाम-सज्ञा होत नसल्यामुळे, ‘आम्’ प्रत्ययाला सुडागम झाला नाही)

शब्दरत्न-भाष्यप्रयोग इति । “दिङ्नामान्यन्तराले” “दक्षि-
णोत्तराम्याम्” इति सूत्रस्य इति शेष ।

‘दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इति भाष्यप्रयोग’ असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्यापूर्वी ‘दिङ् नामान्यन्तराले, दक्षिणोत्तराम्याम् इति सूत्रस्य’ ही पदे अध्याहृत आहेत, म्हणजे या दोन सूत्रावरील भाष्यात हा प्रयोग आढळतो (‘दिङ्नामान्यन्तराले’ सू २-२-२६ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकारानी ‘सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुनर्द्वावा वक्तव्यो दक्षिणोत्तरपूर्वाणामित्येवमर्थम्’ असे म्हटले असून ‘दक्षिणात्तराम्यामतमुच्’ सू ५-३-२८ या सूत्रावरील भाष्यात देखील तसेच म्हटले आहे या भाष्यप्रयोगावरून हे स्पष्ट होते की, ‘सर्वनाम्न परस्य आम् सुट्’ असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होऊ शकत नाही तसा त्या सूत्राचा अर्थ अभिप्रेत असता तर भाष्यकारानी ‘दक्षिणोत्तरपूर्वेषाम्’ असा वरील भाष्यात प्रयोग केला असता)

मनोरमा-पञ्चत्रिंशदिति । पञ्च च त्रिंशच्चेति द्वन्द्वः ।
पञ्चाधिकास्त्रिंशदिति तत्पुरुषो वा । यत्तु प्रत्याहारा एकचत्वारिं-
शदिति प्राचोऽग्न्य व्याचक्षार्णदक्तम् । नाय मध्यमपदलोपो तत्पुरुषः ।
तथा सति “राजन्ययदुयचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु” “सह्या” इति

विधीयमानः पूर्वपदप्रकृतिस्वरौ न स्यात् । तस्मात्समाहारद्वन्द्व
एवायम् । एकविंशतिरित्यादौ नपुंसकत्वं तु न भवति । लोकाश्रय-
त्वालिङ्गस्येति । तच्चिन्त्यम् । समासभेदेन स्वरभेदे इष्टापत्तेः । तथा
च “बहुव्रीहौ संख्येये” इति सूत्रे “संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं
निस्त्रिंशदर्थमन्यत्राधिकलोपात्” इति वातिकं व्याचक्षाणो भाष्य-
कार आह एकाधिका विंशतिरेकविंशतिः द्वाविंशतिरिति ।

‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ सू. २१७ या सूत्रावरील कीमुदीत
‘सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत्’ असें जें म्हटलें आहे त्यांतील ‘पञ्च-
त्रिंशत्’ हा शब्द ‘पञ्च च त्रिंशच्चेति’ असा द्वन्द्वसमास किंवा
‘पञ्चाधिका त्रिंशदिति’ असा मध्यमपदलोपितपुरुषसमास आहे.
प्रक्रियाकीमुदीकारांनी ‘प्रत्याहारा एकचत्वारिंशत्’ असें जें म्हटलें
आहे त्यातील ‘एकचत्वारिंशत्’ या पदाचें व्याख्यान करितांना
प्रकाशकारांनीं असें म्हटलें आहे कीं, ‘एकत्रत्वारिंशत्’ हा मध्यम-
पदलोपितपुरुषसमास नव्हें. तो मध्यमपदलोपी समास मानल्यास,
‘राज्यवद्वचनद्वन्द्वे ऽधकवृण्णिषु’, ‘सङ्ख्या’ सू. ३७६८, ३७६९
या सूत्रांनीं होणारा पूर्वपदप्रकृतिस्वर होणार नाहीं आणि म्हणून
हा समास समाहारद्वन्द्वच मानला पाहिजे. ‘एकविंशतिः’ इत्यादि स्थलीं
(समाहारद्वन्द्व असून देखील ‘स नपुंसकम्’ सू. ८२१ या सूत्रानें
प्राप्त होणारें) नपुंसकलिङ्ग होत नाहीं याचें कारण हें कीं, लिङ्ग
हें लौकिकप्रयोगावर अवलंबून असतें. (‘राज्यवद्वचनद्वन्द्वे’ या
पूर्व सूत्रांतून ‘सङ्ख्या’ या उत्तरसूत्रांत ‘द्वन्द्वे’ या पदाची अनुवृत्ति
होत असून या उत्तर सूत्राचा ‘द्वन्द्वसमासे सङ्ख्यावाचि पूर्वपदं
प्रकृत्या स्यात्’, म्हणजे द्वन्द्वसमासांतील संख्यावाचक पूर्वपदाला
प्रकृतिस्वर होतो, असा अर्थ होतो. ‘एकाधिका चत्वारिंशत् एकच-
त्वारिंशत्’ असा मध्यमपदलोपितपुरुषसमास केल्यास, ‘एकचत्वा-
रिंशत्’ हा शब्द ‘समासस्य’ सू. ३७३४ या सूत्रानें अन्तादोत्त होतो.
परंतु समाहारद्वन्द्व केल्यास, ‘एक’ या संख्यावाचक पूर्वपदाचा,
‘सङ्ख्या’ या सूत्रान्वयें, प्रकृतिस्वर कायम राहतो. अशा रीतीनें

तत्पुरुष समास केला असता एक प्रकारचा स्वर होत असून समाहार-
द्वन्द्व केल्याने भिन्न प्रकारचा स्वर होत असल्यामुळे, 'सख्या' या
विशेष मूत्राने पूर्वपदाचा प्रकृतिस्वर कायम राखण्याकरिता येथे
समाहारद्वन्द्व करणेच इष्ट आहे असा प्रकाशकाराच्या म्हणण्याचा
आशय आहे. यावर दीक्षित असे उत्तर देतात की, प्रकाशकाराचे
हे म्हणणे बरोबर नाही. भिन्न प्रकारे समास केला असता स्वरात
फरक होणे ही इष्टापत्तीच आहे, म्हणजे भिन्न प्रकारे समास केला
असता भिन्न स्वरयुक्त रूपे सिद्ध झाली तरी काही बिघडत नाही.
'बहुव्रीही सङ्ख्येये' सू. ५-४-७३ या सूत्रावरील भाष्यात
'सङ्ख्यायास्तत्पुरुषस्योपसङ्ख्यानं निस्त्रिंशद्व्यर्थमन्यत्राधिकलोपात्'
हे वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकाचे व्याख्यान करिताना भाष्यकार
म्हणतात- 'एकाधिका विंशतिः एकविंशतिः, द्व्यधिका विंशतिः
द्वाविंशतिः' (व 'पञ्चत्रिंशत्' या स्थलीं जो मध्यमपदलोपित-
तपुरुषसमाम केला आहे त्याला हे भाष्य प्रमाण आहे या भाष्यात
भाष्यकाराने 'एकविंशतिः द्वाविंशतिः' इत्यादि शब्दांचा समाहार-
द्वन्द्व केला असून मध्यमपदलोपितमासच केला आहे. म्हणून प्रकाश-
काराचे व्याख्यान बरोबर आहे असे मानता येत नाही.)

मनोरमा-अत एवेति । द्वयोर्द्विवचनस्यैव न्याय्यत्वादिति
भावः । नन्वेवं सर्वादिषु पाठो व्यर्थः । सर्वनामकार्पाणां स्मायादीनां
द्विवचनेऽभावात् । न च उभाभ्यां हेतुभ्यामुभयोर्हेत्वोरित्यत्र
"सर्वनाम्नस्तृतीया च" इति पक्षिकृतृतीयां तत्फलमिति युक्तम्,
"निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रापदर्शनम्" इति वार्तिकेन गतार्थ-
त्वात् । न च वृत्तिकृता "सर्वनाम्नस्तृतीया च" इति सूत्रे पठित-
त्वादित्वात् वार्तिकं सर्वनामसंज्ञासापेक्षमिति वाच्यम्, भाष्ये "हेतौ"
इति सूत्रे तस्य पठितत्वात् । अत एवाग्नेन कारणेन यस्मिन्, अग्नस्य
कारणस्येत्युदाहृतं हरदत्तेनेत्याशङ्क्याह-तस्येह पाठस्त्विनि ।
अप्यत्रसङ्गादिति । अयं भावः । "उभादुदात्तो नित्यम्" इत्यत्र
"उभादुदात्त" इति योगो विभज्यते । अवयवयुक्तेः संख्यावाचिन

उभयशब्दादवयवविन्ययस्य स्यात् । उभयो मणिः । ततो "नित्यम्" ।
 उभयशब्दादवृत्तिविषये नित्यमयम् स्यात् स्वार्थे । तेनोभयपक्षवित्तीत-
 निद्रा इत्यादौ अयम् यथा नित्य एवं कप्रत्ययेऽपि स्यादिति ।
 नन्वेवं अकचि कृतेऽपि अयम् दुर्बार इति चेन्मैवम् । योगविभाग-
 स्पेण्डसिद्धयर्थतया "उभौ साम्यासस्य" इति निर्देशेन च यत्र
 द्विवचनं न श्रूयते तत्रैवायमिति व्याख्यायताम् । तथा च वार्तिकम् ।
 "अन्याभावो द्विवचनटाद्विषयत्वात्" इति । अकचि हि सति
 "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इति न्यायेनोभयशब्दस्य द्विवचन-
 विषयत्वं न विहन्यते कप्रत्यये तु विहन्येतैव । तदुक्तमिति । वार्तिक-
 कृतेति शेषः । यद्यपि पूर्ववार्तिके टावप्युक्तस्तथा ऽपि नासौ विवक्षितः ।
 टाद्विषयत्वमपि द्विवचनपरत्व एव बोद्धव्यमिति कैयटादिभिर्व्या-
 ख्यातत्वादित्याशयेन व्याचष्टे—द्विवचनपरत्वाभावे इति । टावैकदेश-
 स्यापि पूर्वान्तित्वेन ग्रहणाद् द्विवचनपरत्वमस्तीति भावः । यद्यप्युभा-
 वित्यादौ द्विवचनपरत्वं द्रुपपादमुभयत्र आश्रयणे अन्तादिबद्धाव-
 विरहात् तवाप्युभयशब्दादुत्पन्नं द्विवचनं लुका नापहतं यत्र
 ततोऽन्यप्रायम् इतीह विवक्षितोर्थः । यद्यपि भाष्ये कप्रत्ययस्यापि
 स्वाधिकत्वेनोभयशब्दात् परस्य द्विवचनत्वमस्तीत्याश्रित्योभयशब्दपाठः
 प्रत्याख्यातः । तथा ऽपि प्रौढ्यादमात्रं तत् । कृत्रिमस्यैव द्विवचन-
 स्येह ग्रहोत्तुमुचिततत्वात् । अन्यथा यत्तसिलादावतिप्रसवतत्वात् ।
 ननु कारकविभक्त्यन्ताद्विहिता यत्तसिलौ स्वाधिकत्वे ऽपि द्विवचमात्रं
 नाभिदत्त इति चेद् न । कप्रत्ययस्याप्यज्ञाताद्यर्थबोधकत्वात्,
 पञ्चमपदोऽधिकबोधकत्वध्रौव्याच्चेति दिक् ।

('यानि सर्वनामनः मुट्' गू. २१७ या मूलावरील
 कोमुर्दात 'तत्र उभयशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः । अत एव
 निम्नं द्विवचनान्तः', म्हणजे नव्यादिगणांत पठित असलेला
 'उभ' हा शब्द द्वित्वसंग्याविशिष्ट—दोघे—या अर्थाचा वाचक
 असल्यामुळे तो निम्न द्विवचनान्त असतो, असे म्हटले
 आहे. या पंक्तीत) 'अत एव' असे जे म्हटले आहे त्याचा

भावार्थ हा आहे की, (व्येकयोद्विवचनैकवचने' सू. १८६ या सूत्रान्वयें) दोन या संस्थेनें युक्त 'दोघे' या अर्थाचा वाचक 'उभ' हा शब्द नित्य द्विवचनान्त असणे हेच न्याय्य-योग्य-आहे. (यावर शकाकार असे म्हणतो की, सर्वादिगणात पठित असलेल्या 'उभ' या शब्दाचा नित्य द्विवचनान्त प्रयोग होतो असे मानल्यास) 'उभ' या शब्दाचा सर्वादिगणात जो पाठ केला आहे तो व्यर्थ ठरतो, कारण 'स्मै' इत्यादि सर्वनामकायें (एकवचनात किंवा बहुवचनातच होत असून) द्विवचनात मुळीच होत नाहीत. 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' सू. ६०८ या सूत्रानें विकल्पें करून तृतीया होऊन 'उभाम्या हेतुम्याम्, उभयोर्हेत्वोः' असे पाक्षिक प्रयोग व्हावे याकरिता 'उभ' या शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ केला आहे असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर शकाकार असे उत्तर देतो की, हें म्हणणे बरोबर नाही; कारण 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा प्रायदर्शनम्'-सू. ६०८ बरील वातिक-या वातिकान्वयें तसे वैकल्पिक प्रयोग सिद्ध होऊ शकनात काशिकाकाराने बरील वातिक 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' या सूत्रात पठित केले असल्यामुळें ते वातिक सर्वनामसंज्ञासापेक्ष आहे, म्हणजे ज्या शब्दाना सर्वनामसंज्ञा आहे तशाच शब्दाना लागू पडणारे ते वातिक आहे, हे सिद्ध होणे असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर शकाकार असे उत्तर देतो की, हें म्हणणे देखील बरोबर नाही; कारण बरील वातिक 'हेतो' २-३-२३ या सूत्राबरील भाष्यात पठित केले आहे आणि म्हणूनच 'अग्नेन कारणेन वसति, अग्नस्य कारणस्य वसति' अशी त्या वाटिकाची हरदत्तानें उदाहरणे दिली आहेत. (सारांश तें वातिक केवळ सर्वनामाना लागू पडणारे नसून नामाना देखील लागू पडणारे वातिक आहे आणि त्या वातिकामवधानें कैपटानें 'हेतो' या सूत्राबरील भाष्याच्या टीकेत 'असर्वनाम्नोऽपि विधानार्थमत्र सूत्रे इदं पठितम्, न तु सर्वनाम्नस्तृतीया च इत्यत्र' असे स्पष्ट म्हटलें आहे) पर जो शका केली आहे ती मानात धरूनच तिचे उत्तर देण्याकरितां

प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत 'तस्येह पाठस्तु उभकी इत्यकर्थः', म्हणजे 'उभ' शब्दाचा जो सर्वादिगणांत पाठ केला आहे तो 'अवयवसर्वनाम्नामकच्' सू. २०२६ या सूत्रानें 'उभ' शब्दाला 'अकच्' प्रत्यय होऊन 'उभकी' हें रूप सिद्ध व्हावें याकरितां केला आहे, असें म्हटलें आहे. प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत 'अयच्प्रसङ्गात्' असें जें म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'उभादुदात्तो नित्यम्' सू. १८४५ या सूत्राचा 'उभादुदात्तः' व 'नित्यम्' असा योगविभाग केला असतां, प्रथम भागाचा असा अर्थ होतो कीं, संख्यावाचक 'उभ' हा शब्द अवयवाचा वाचक असतांना, त्या शब्दानें अवयवीचा बोध करणें असल्यास, तथा 'उभ' शब्दाहून (अवयवार्थक) 'अयच्' प्रत्यय होतो; उदाहरणार्थ 'उभयो मणिः' ('उभौ अवयवौ यस्य सः उभयो मणिः' या उदाहरणांत 'उभ' हा शब्द संख्यावाचक असून अवयवाचाहि वाचक आहे व 'उभय' हा शब्द 'मणि' या अवयवीचा विशेषणरूपानें बोध करून देणारा आहे. म्हणून या स्थळीं 'उभ' शब्दाहून अवयवार्थक 'अयच्' प्रत्यय होऊन 'उभयः' असें अयच् प्रत्ययान्त रूप झालें आहे.) 'नित्यम्' या द्वितीय भागाचा असा अर्थ होतो कीं, 'उभ' या शब्दाहून तद्धितादि वृत्ति करतेवेळीं नित्य स्वार्थे 'अयच्' प्रत्यय होतो. त्यामुळे 'उभयपक्षयिनीतनिद्राः' (रघुवंश पञ्चमसर्ग श्लोक ७२) इत्यादि उदाहरणांत ज्याप्रमाणे नित्य 'अयच्' प्रत्यय होतो त्याचप्रमाणे 'उभ' शब्दाहून तद्धित 'क' प्रत्यय करतेवेळीं देखील प्रथम स्वार्थे 'अयच्' प्रत्यय होईल. (सारांश 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय येण्यानें जसें 'उभकी' हें रूप सिद्ध होतें तसें तद्धित 'क' प्रत्यय येण्यानें 'उभकी' असें रूप सिद्ध न होतां, प्रथम 'अयच्' प्रत्यय होऊन व नंतर 'क' प्रत्यय होऊन 'उभप्रकी' हें रूप होईल. अशा 'उभ' शब्दाहून कोणताहि तद्धित प्रत्यय करणें शक्य असत नाहीं स्वार्थे 'अयच्' प्रत्यय करावा लागतो असें मान-
वयात.) 'उभ' शब्दाहून 'अकच्' हा तद्धितप्रत्यय करणें शक्य नाहीं

देखील प्रथम स्वार्थे 'अयच्' प्रत्यय करणे भाग पडेल असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणजे बरोबर नाही, कारण इष्ट रूपाची सिद्धि होण्याकरिता योगविभाग केला जात असल्यामुळे व 'उभौ साम्यासस्य' सू. २६०६ या सूत्रात 'उभौ' यासा निर्देश असल्यामुळे, जेथे 'उभ' शब्दापुढे द्विवचनाचा प्रत्यय विद्यमान नाही तशाच ठिकाणी 'उभ' शब्दाहून स्वार्थे 'अयच्' प्रत्यय होत असतो असे ('सर्वादीनि सर्वनामानि' १ १ २७ या सूत्रावरील भाष्यात) जे व्याख्यान केले आहे त्यावरून सिद्ध होते, आणि हाच अर्थ सांगणारे 'अन्याभावो द्विवचनटाविवपयत्वात्' हे वार्तिक आहे (या वार्तिकाचा असा अर्थ आहे की, 'उभ' या शब्दाहून केवळ द्विवचनाचा प्रत्यय होत असतो व स्त्रीत्वाचा बोध करणे झाल्यास 'टाप्' प्रत्यय होत असतो व त्या शब्दाहून इतर कोणतीही सर्वनामकायें होत नाहीत) 'उभ' शब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय केल्यास, 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'—परि. ९०—या परिभाषान्वये (अकच्प्रत्ययसहित 'उभक' हा शब्द 'उभ' च आहे असे मानता येत असल्यामुळे) 'उभक' या शब्दाहून द्विवचनाचा प्रत्यय होण्यात काही अडचण येत नाही परंतु 'उभ' शब्दाहून तद्धित 'क' प्रत्यय केल्यास, ('उभ' व 'ओ' प्रत्यय या दोहोच्यामध्ये 'व' प्रत्ययाचे व्यवधान होत असल्यामुळे) 'उभ' शब्दापुढे द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असे मुळीच म्हणता येत नाही (त्यामुळे 'उभ' शब्दाहून तद्धित 'क' प्रत्यय करण्यापूर्वी 'अयच्' प्रत्ययाची प्राप्ति होतेच आणि यर मागितल्याप्रमाणे 'उभयकौ' असे रूप होईल) प्रकृत सूत्रावरील 'कौमुदीत 'तदुक्तामुभयोज्यत्र' असे जे म्हटले आहे त्यातील 'तदुक्ताम्' या पदापुढे 'वानिश्चरता' हे पद अध्याहृत आटे (सारास 'उभयोज्यत्र' हे वानिश्चरताने पठित केलेल वानिश्च होय) या वार्तिकापूर्वी पठित केलेल्या पूर्ववार्तिगात, म्हणजे 'अन्याभावो द्विवचनटाविवपयत्वात्' या पूर्ववार्तिगात, जरी 'टाप्' प्रत्ययाचे देखील ग्रहण केले आहे तरी ने 'टाप्' ग्रहण विवक्षित नाही, म्हणजे त्या पूर्ववार्तिगांत 'टाप्'

ग्रहण करण्याची कांहीं आवश्यकता नव्हती व तें ग्रहण निरर्थक आहे. कॅयटादिकांनीं स्पष्ट म्हटलें आहे कीं, द्विवचनाचा प्रत्यय पुढें असतांनाच 'उभ' शब्दाहून 'टाप्' प्रत्यय देखील होत असतो. ('टाव्विषय-स्वमपि न द्विवचनादन्यत्र बोद्धव्यम्' असें कॅयटानें आपल्या टीकेंत म्हटलें आहे. सारांश 'उभ' शब्दाचा जसा द्विवचनांतच प्रयोग होत असतो त्याचप्रमाणें 'उभा' या टावन्त स्त्रीलिङ्गी शब्दाचा देखील द्विवचनांतच प्रयोग होतो.) हा वरील आशय मनांत धरूनच प्रकृत - सूत्रावरील कौमुदींत 'उभयोऽन्यत्र' या वार्तिकांतील 'अन्यत्र' या पदाचा ('द्विवचनटाप्परत्वाभावे' असा अर्थ न करितां) 'द्विवचनपरत्वाभावे' असा अर्थ केला आहे. ('उभ टाप् = उभ आ = उभा' या स्थलीं 'अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें 'उभ' यांतील अन्त्य 'अ' व त्यापुढील 'आ' यांचे जागीं 'आ' असा जो एकादेश होतो तो ('अन्तादिवच्च' सू. ७५ या सूत्रान्वये) पूर्वान्तवद्भावानें 'उभ' या प्रकृतीचा अन्त आहे असें मानतां येत असल्यामुळें ('उभा' या टाप्प्रत्ययान्त शब्दापुढें जरी द्विवचनाचा प्रत्यय आला असला तरी) तो द्विवचनाचा प्रत्यय 'उभ' याच शब्दापुढें आहे असें मानतां येतें. ('उभ टाप् औ = उभ आ औ = उभा औ' या स्थलीं 'अ' व 'आ' यांचे जागीं झालेला 'आ' हा एकादेश 'उभ' या प्रकृतीचा अन्त आहे असें पूर्वान्तवद्भावानें मानतां येत असल्यामुळें, 'उभा' ही प्रकृति 'उभ'च आहे असें मानतां येतें व या शब्दापुढें 'औ' हा द्विवचनाचा प्रत्यय असल्यामुळें या स्थलीं 'अयच्' प्रत्यय होऊं शकत नाही.) 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' हा सिद्धान्त असल्यामुळें, 'उभौ' इत्यादि स्थलीं 'उभ' या शब्दापुढें द्विवचनाचा 'औ' प्रत्यय आहे असें मानतां येत नाही तरी, 'उभ' शब्दाहून झालेल्या द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा जेथे लुक्ने अपहार - नाश - झाला नाही तें स्थळ सोडून इतर सर्व स्थलीं 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होतो असा 'उभयोऽन्यत्र' या वार्तिकाचा अर्थ विवक्षित - अभिप्रेत - आहे. ('उभ औ = उभौ' या स्थलीं 'बृद्धि-

रेचि' सू ७२ या सूत्रान्वयें वृद्धिरूप एकादेश होऊन 'उभौ' असे
 रूप झाले असता 'औ' या प्रत्ययाचा एकादेशानें अपहार होत
 असल्यामुळें 'उभ' शब्दापुढें 'औ' हा द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असे
 मानता येत नाही. 'औ' या वृद्धिरूप एकादेशाला परादिवद्भावांन
 तो 'औ' प्रत्ययच आहे असे मानल्यास, 'उभ' अशी सर्वनामसज्ञक
 प्रकृति न राहता 'उभ्' अशी प्रकृति होते ही प्रकृति जरी एकदेश-
 विकृतन्यायानें 'उभ च आहे असे मानता येते तरी, अगास्त्रीय
 विकाराच्या विषयात अतिदेश करता येत नाही असे गृहीत धरून
 वरप्रमाणे म्हटले आहे पूर्वान्तवद्भावांन 'औ' या एकादेशाला
 'उभ' या प्रकृतीचा अन्त मानल्यास, 'उभ' या प्रकृतीपुढें द्विवचनाचा
 'औ' प्रत्यय आहे असे मानता येत नाही 'उभयत आश्रयणे
 नान्तादिवत्' हा सिद्धान्त असल्यामुळें, 'औ' या वृद्धिरूप एका-
 देशाला एकेच वेळी प्रकृतीचा अन्त व प्रत्ययाचा आदि आहे असे
 मानता येत नाही व अशा रीतीने 'उभौ' हा शब्द द्विवचनप्रत्ययपरक
 'उभ' शब्द आहे असे म्हणता येत नसल्यामुळें, येथें 'उभयोज्यत्र'
 या वातिकान्वयें 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय का होऊ नये
 अशी शकाकाराची शका आहे या शकेवर दीक्षित असे उत्तर देतात
 की, जेथें 'उभ' शब्दाहून झालेल्या द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुक्
 झाला नाही तसे स्थल सोडून इतर सर्व स्थली 'उभ' शब्दाहून
 'अयच्' प्रत्यय होतो असा 'उभयोज्यत्र' या वातिकाचा अर्थ
 असल्यामुळें व 'उभौ' या स्थली जो द्विवचनाचा 'औ' प्रत्यय
 झाला आहे त्याचा लुक् झाला नसल्यामुळें, या स्थली वरील
 वातिक लागू पडत नाही व 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होऊ
 शकत नाही परंतु 'उभ' शब्दाहून पञ्चमीच्या किंवा सप्तमीच्या
 द्विवचनाचा प्रत्यय बरून तशा द्विवचनप्रत्ययपरक 'उभ' शब्दाहून
 'तसिल्' किंवा 'यल्' प्रत्यय येत्यास तो सिद्धान्त समुदाय
 'वृत्तद्विनसमासाश्च' सू १७९ या सूत्रानें प्रातिपदिकसज्ञक ठरून
 'मुपो धातुप्रातिपदिकयो' सू ६५० या सूत्रानें 'उभ' शब्दा-

पुढील अन्तर्वर्ति द्विवचनप्रत्ययाचा लुक् होत असल्यामुळे, अशा ठिकाणी 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होतोच व 'उभयतः, उभयत्र' अशीं इष्ट रूपें सिद्ध होतात. हा सर्व विषय 'सर्वादीनि' १-१-२७ या सूत्रावरील भाष्यांत दिला आहे. या भाष्यांत 'अथोभस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः', म्हणजे 'उभ' या शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ करून त्या शब्दाला सर्वनामसंज्ञा करण्याचें प्रयोजन काय आहे, असा प्रश्न करून त्या प्रश्नाचें उत्तर देतांना भाष्यकारांनीं 'उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः' हें वार्तिक पठित केलें आहे व त्या वार्तिकाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात—'उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः पाठः क्रियते । उभकौ । किमुच्यतेऽकजर्थ इति, न पुनरन्यान्यपि सर्वनामकार्याणि ।' या भाष्याचा अर्थ असा आहे कीं, सर्वनामाहून 'अकच्' प्रत्यय होणें सांगितलें असल्यामुळे, 'उभ' या शब्दाला सर्वनामसंज्ञा होऊन त्याहून 'अव्ययसर्वनाम्ना-मकच्' सू. २०२६ या सूत्रानें 'अकच्' प्रत्यय व्हावा व 'उभकौ' असें रूप सिद्ध व्हावें याकरितां 'उभ' या शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ केला आहे पण 'अकच्' प्रत्यय व्हावा एवढेंच कां म्हटलें आहे व सर्वनामाहून होणारीं इतर कार्ये देखील व्हावीं असें बरील वार्तिकांत कां म्हटलें नाहीं? या प्रश्नाचें उत्तर देतांना भाष्यकार 'अन्याभावो द्विवचनटाविविपयत्वात्' हें वार्तिक पठित करून त्याचें व्याख्यान करितांना म्हणतात—'अन्येषां सर्वनामकार्याणामभावः । किं कारणम् ? । द्विवचनटाविविपयत्वात् । उभशब्दोऽयं द्विवचनटाविविपयोऽन्यानि च सर्वनामकार्याण्येव द्विवचनबहुवचनेषूच्यन्ते । यदा पुनरयमुभशब्दो द्विवचनटाविविपयः क इदानीमस्यान्यत्र भवति ।' या बरील भाष्याचा अर्थ हा आहे कीं, 'उभ' शब्दाहून केवळ द्विवचनाचा व 'टाप्' प्रत्यय होत असल्यामुळे व पाणिनीय सूत्रांत जीं सर्वनामकार्ये होणें सांगितलीं आहेत तीं सर्व एकवचनोच्या व बहुवचनाच्या प्रत्ययांचे ठिकाणीं होणें सांगितलीं असल्यामुळे, द्विवचनपरक 'उभ' शब्दाच्या विषयांत इतर सर्वनामकार्यांची

प्राप्ति होत नाही पण जेथे 'उभ' शब्दापुढे द्विवचनाचा प्रत्यय
 किंवा 'टाप्' प्रत्यय दिसत नाही तेथे काय होते असा प्रश्न केला
 असता, भाष्यकार त्या प्रश्नाचे उत्तर देताना 'उभयोज्यत्र' ह
 वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकाचे व्याख्यान करिताना म्हणतात-
 'उभयशब्दोऽस्यान्यत्र भवति । उभये देवमनुष्या । उभयो मणि-
 रिति । किं च स्याद्यद्यत्राकृज्ज्ज स्यात् । क प्रसज्येत । कश्चेदानी
 वाकचाविशेष । उभयशब्दोऽय द्विवचनटाव्विषय इत्युक्तम् । तत्रा-
 कचि सत्यकचस्नमध्यपतितत्वाच्छक्यत एतद्वक्तु द्विवचनपरोऽयमिति ।
 वे पुन सति नाय द्विवचनपर स्यात् । तत्र द्विवचनपरता
 वक्तव्या । यथैव तर्हि के सति नाय द्विवचनपर एवमाप्यपि सति
 नाय द्विवचनपर स्यात् । तत्रापि द्विवचनपरता वक्तव्या ।
 अवचनादापि तत्परविज्ञानम् । अन्तरेणापि वचनमापि द्विवचन-
 परोऽय भविष्यति । किं वक्तव्यमेतत् ? । न हि । कथम-
 नुच्यमान गस्यते ? । एकादेशे कृते द्विवचनपराऽयमन्तादिवद्भावेन ।
 या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, जेथे 'उभ' शब्दाहून द्विवच-
 नाचा प्रत्यय किंवा 'टाप्' होत नाही तेथे 'उभ' शब्दाहून 'अयच्'
 प्रत्यय होऊन 'उभय' अस रूप होत उदाहरणार्थ 'उभये देव-
 मनुष्या, उभयो मणि ।' पण 'उभ' शब्दाहून 'अकच' प्रत्यय
 न झाला तर काय होईल ? 'क' प्रत्यय होईल पण 'क'
 प्रत्यय झाला काय किंवा 'अकच' प्रत्यय झाला काय रूप तर
 एवच प्रकारचे होणार मग फरक तो कोणता ? 'उभ' शब्दाहून
 'अयच्' प्रत्यय वेत्यास, 'तन्मध्यपतित' या न्यायाने
 'अयच्' प्रत्यययुक्त 'उभ' शब्द 'उभ'च आहे अस म्हणता
 येत, कारण 'अकच' प्रत्यय 'टि' च्या पूर्वी शब्दस्वरूपाच्या
 आंत होत असतो आणि त्याहून द्विवचनाचा प्रत्यय केला
 असता, तो प्रत्यय 'उभ' शब्दापुढेच आहू अने मानता येने पण
 'उभ' शब्दाहून 'क' प्रत्यय वेत्यास व नंतर द्विवचनाचा प्रत्यय
 वेत्यास, 'उभ' शब्दापुढे द्विवचनाचा प्रत्यय आहू अने म्हणता येत

नाहीं; कारण 'उभ' शब्द व द्विवचनाचा प्रत्यय या दोहोंमध्ये 'क' प्रत्ययाचें व्यवधान होतें. तेव्हां 'क' प्रत्ययाचें व्यवधान होत असून देखील 'उभ' शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असें समजण्याकरितां स्वतंत्र वचन पठित करावें लागेल. पण 'क' प्रत्यय केला असतां, ज्याप्रमाणें 'उभ' शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असें म्हणतां येत नाहीं त्याचप्रमाणें 'उभ' शब्दाहून 'टाप्' प्रत्यय केला असतां व नंतर द्विवचनाचा प्रत्यय केला असतां, 'उभ' व द्विवचनाचा प्रत्यय या दोहोंमध्ये 'टाप्' प्रत्ययाचें व्यवधान होत असल्यामुळे, 'उभ' शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असें म्हणतां येऊं शकत नाहीं. तेव्हां त्या स्थलींहि 'उभ' शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असें समजण्याकरितां स्वतंत्र वचन पठित करावें लागेलच. पण भाष्यकार म्हणतात कीं, या द्वितीय स्थलीं स्वतंत्र वचन पठित करण्याची कांहीं गरज नाहीं; कारण 'उभ' या अदन्त शब्दाहून 'टाप् = आ' प्रत्यय केल्यावर एकादेश केला असतां 'उभा' असा जो शब्द होतो तो पूर्वान्तबद्धावातें 'उभ' शब्दच आहे असें मानतां येऊं शकत असल्यामुळे, 'उभ' शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असें म्हणतां येतें. असें व्याख्यान करून भाष्यकार पुढें 'अवचनादापि तत्परविज्ञानमपि चेत्केऽपि तुल्यम्' असें वार्तिक पठित करतात व त्या वार्तिकाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात— 'अवचनादापि तत्परविज्ञानमिति चेत्केऽप्यन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति । कथम् ? । स्वाधिकः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वाधिकानामपिग्रहणं भवति ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'उभ' शब्दाहून 'टाप्' प्रत्यय केला असतां स्वतंत्र वचन पठित न करितां 'उभ' शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आहे असें वर सांगितल्याप्रमाणें जर मानतां येऊं शकतें तर, त्याचप्रमाणें 'उभ' शब्दाहून 'क' प्रत्यय केला असतां देखील, स्वतंत्र वचन पठित न करितां, 'उभ' शब्दापुढें द्विवचन आहे असें मानतां येऊं शकतें; कारण 'क' हा प्रत्यय स्वाधिक असल्यामुळे व 'स्वाधिकः प्रत्ययाः प्रकृ-

नितः अविशिष्टा भवन्ति' असा न्याय असल्यामुळे, प्रकृतिबोधक 'द्विवचन' या शब्दाने त्या प्रकृतीहून झालेल्या स्वाधिक प्रत्ययाचे देखील ग्रहण करता येते. साराश 'द्विवचन' शब्दाने द्विवचनाचा प्रत्ययच घ्यावयाचा असे नसून त्या सख्येला दाखविणारा शब्दहि घेता येतो. म्हणून 'क' प्रत्ययाची प्रकृति जो द्वित्वसख्याबोधक 'उभ' शब्द त्याला 'द्विवचन' म्हणता येते व त्याच अर्थामध्ये झालेल्या 'क' प्रत्ययाला देखील 'द्विवचन' म्हणता येते. त्यामुळे 'उभयोज्यत्र' म्हणजे येथे 'उभय' हा शब्द घालावा लागेल, हा दोष येत नाही. अशा रीतीने 'क' प्रत्यय झाला तरी काही दोष येत नसल्यामुळे 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ करण्याची काही आवश्यकता नाही हे सिद्ध होते. असे सांगून भाष्यकारानी सर्वादिगणातून 'उभ' शब्दाचे प्रत्याख्यान केले आहे या भाष्यावर टीका करिताना कैयटाने 'द्विवचनविषयत्वादित्यत्र द्विवचनशब्देन प्रत्ययो न गृह्यते। किं तर्हि। द्वयर्थाभिधानसमर्थ इत्यर्थः। उभयत उभयत्रेति त्रतसोरव्ययत्वाद् द्वित्वाभिधानसामर्थ्य नास्तीति अभेदविषयः-वृत्तिविषयः-उभयशब्द एव प्रयुज्यते, न तूभशब्दः। एवं प्रत्याख्यातोऽकजर्थ उभशब्दस्य पाठः। सर्वनाम्नस्तृतीया चेति पठ्ठीतृतीयार्थः पाठ इति केचित्। निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा प्रायदर्शनमिति वचनात्तदर्थोऽपि पाठो न कर्तव्य इत्यन्ये।' असे म्हटले आहे. त्याचप्रमाणे 'प्रकृतिग्रहणेन स्वाधिकानामपि ग्रहण भवति' या भाष्यवचनावर टीका करिताना उद्योतकारानी 'यतः स्वाधिकाः प्रकृतितोऽविशिष्टा अन्यार्थविशेष्यकबोधाजनका, अतः प्रकृतिग्रहणेन, प्रकृतिगृह्यने अनेनेति प्रकृतिग्रहण तेन, प्रकृतिभूतोभशब्दग्राहकेण द्विवचनशब्देन तत्प्रकृतिकाना स्वाधिकाना कादीनामपि ग्रहणमित्यर्थः।' असे म्हटले आहे. या व्याख्यानावरून हे स्पष्ट होते की, 'द्विवचन' या शब्दाची 'द्वौ उच्येते अनेनेति' अशा प्रकारे व्युत्पत्ति करून भाष्यकारानी त्या शब्दाचा 'व्ययर्थाभिधानसमर्थः' असा अर्थ केला आहे व 'द्विवचनप्रत्यय.' असा अर्थ केला नाही.

‘उभ’ ही प्रकृति ‘दोन’ या अर्थाची वाचक असल्यामुळे तीहून होणारा स्वार्थिक ‘क’ प्रत्यय त्याच अर्थाचा वाचक होतो. त्यामुळे- ‘उभ’ शब्दाहून ‘क’ प्रत्यय केला असता, ‘उभ’ हा शब्द ‘द्विवचन’-परक आहे असे म्हणता येते व त्यामुळे ‘उभ’ शब्दाहून ‘अयच्’ प्रत्यय, ‘क’ प्रत्यय होण्यापूर्वी करता येत नाही आणि अशा रीतीने ‘उभकी’ असे ‘क’ प्रत्ययान्त रूपा सिद्ध होऊ शकत असल्यामुळे, ‘उभ’ शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ असण्याची काही आवश्यकता नाही असा भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. ‘उभ’ शब्दाचे सर्वादिगणांतून भाष्यकारांनी अशा रीतीने जे प्रत्याख्यान केले आहे त्या संबंधाने दीक्षित पुढील पंक्तींत असे म्हणतात की, ‘क’ हा प्रत्यय देखील स्वार्थिक असल्यामुळे, ‘उभ’ शब्दाहून तो प्रत्यय केला असता, ‘उभ’ हा शब्द द्विवचनपरक आहे असे मानता येऊ शकते या मताचा आश्रय करून भाष्यकारांनी सर्वादिगणांतून ‘उभ’ शब्दाच्या पाठाचे जरी प्रत्याख्यान केले आहे तरी, ते प्रत्याख्यान केवळ ग्रीडिवाद असून सिद्धान्तभाष्य नव्हे; कारण (‘अन्याभावो द्विवचनटाविषयत्वात्’ या वार्तिकांतील) ‘द्विवचन’ या शब्दाने (‘व्यर्थाभिधानसमर्थ’ असा जो त्या शब्दाचा कृत्रिम अर्थ होतो त्या अर्थाने ग्रहण करणे योग्य नसून, ‘कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्’ या ध्वनान्वये) ‘द्विवचनप्रत्यय’ असा जो त्याचा कृत्रिम अर्थ होतो त्याच अर्थाने ग्रहण करणे योग्य आहे. (सारांश जरी ‘उभ’ या प्रकृतीचा ‘दोन’ असा अर्थ होतो व त्याहून स्वार्थे ‘क’ प्रत्यय केला असता तो प्रत्यय देखील ‘दोन’ असा जो प्रकृतीचा अर्थ आहे त्या अर्थाचा वाचक होतो आणि अशा रीतीने ‘उभ’ शब्दाहून स्वार्थे ‘क’ प्रत्यय केला असता, ‘उभ’ हा शब्द ‘द्विवचन’परक आहे असे मानता येते तरी, वार्तिकांतील ‘द्विवचन’ या शब्दाचा ‘द्विवचनाचा प्रत्यय’ असा वास्तविक अर्थ असल्यामुळे, ‘क’ प्रत्ययान्त ‘उभक’ शब्दांतील ‘उभ’ हा शब्द ‘द्विवचन’परक आहे असे जे भाष्यकारांनी मानले आहे तो केवळ

प्रौढिवाद होय, व 'उभयस्य सयं नामत्वे अकजर्थः' हेच यास्तविक सिद्धान्तभाष्य आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे. बरोल वार्तिकातील 'द्विवचन' या शब्दाचा 'द्विवचनाचा प्रत्यय' असा जो कृत्रिम अर्थ आहे तसा अर्थ न करिता वृथ्वाभिधानसमर्थ असा अकृत्रिम अर्थ केल्यास दीक्षित म्हणतात की) 'उभ' शब्दाहून 'प्र, तसिल्' इत्यादि स्वाधिक प्रत्यय केले असता ते प्रत्यय देखील ('क' प्रत्ययासारखेच) 'द्विवचन' या अर्थाचे बोधक आहेत असे मानावे लागेल (व त्यामुळे 'उभ' शब्दापुढे 'प्र, तसिल्' हे स्वाधिक प्रत्यय आले असताना देखील 'उभ' हा शब्द 'द्विवचन' परक आहे असे मान. ण्याची आपत्ति येईल व तसे मानल्यास, 'उभ' या शब्दाचे 'उभयोऽन्यत्र' या वार्तिकान्वये होणारे 'उभय' हे रूप होणार नाही आणि 'उभयतः उभयत्र' ही इष्ट रूपे सिद्ध होऊ शकणार नाहीत. दीक्षितानी ही जी वर आपत्ति दाखविली आहे तिच्यासंबधाने शकावार असे म्हणतो की, 'पञ्चम्यास्तसिल्' सू. १९५३ या सूत्राने पञ्चम्यन्ताहून 'तसिल्' प्रत्यय होणे सांगितले असल्यामुळे व 'सप्तम्यास्त्रल्' सू. १९५७ या सूत्राने सप्तम्यन्ताहून 'त्रल्' प्रत्यय होणे सांगितले असल्यामुळे आणि अशा रीतीने) 'प्र, तसिल्' हे दोन्ही प्रत्यय कारकविभक्तीहूनच होणारे असल्यामुळे, जरी हे प्रत्यय स्वाधिक आहेत तरी 'उभ' शब्दाहून हे प्रत्यय होतेवेळी 'उभ' हा शब्द केवळ द्वित्व एवढ्याच अर्थाचा वाचक नसतो. (कारकविभक्तीच्या अर्थाचा देखील 'उभ' हा शब्द त्यावेळी बोधक असतो आणि अशा रीतीने 'प्र, तसिल्' हे प्रत्यय करतेवेळी 'उभ' हा शब्द केवळ द्वित्वाचा वाचक राहत नसल्यामुळे, 'उभयोऽन्यत्र' या वार्तिकान्वये 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होईलच आणि 'उभयत्र, उभयत' अशी इष्ट रूपे सिद्ध होऊ शकतीलच. म्हणून 'उभ' शब्दाहून 'प्र, तसिल्' प्रत्यय करतेवेळी 'अयच्' प्रत्यय न होण्याची आपत्ति येईल असे जे दीक्षितानी म्हटले आहे ते योग्य ठरत नाही. या शबेवर दीक्षित असे उत्तर देतात की,) ही सका बरोबर नाही,

कारण 'क' हा प्रत्यय देखील 'अज्ञात' इत्यादि अर्थाचा बोधक आहे आणि 'पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः' हा पक्ष मानल्यास, 'उभ' शब्दाहून 'क' प्रत्यय करतेवेळीं 'उभ' या प्रकृतीहून अधिक अर्थाचा निश्चय करून बोध होतो. (शंकाकाराचें म्हणणें असें आहे कीं, जेथें 'उभ' हा शब्द केवळ द्वित्वाचा वाचक असतो तशाच ठिकाणीं त्याहून 'अयच्' प्रत्यय होत नाही. पण जेथें तो शब्द 'द्वित्व' या अर्थाखेरीज इतर अर्थाचा देखील बोधक असतो तशा ठिकाणीं 'उभ' शब्दाहून 'उभयोऽन्यत्र' या वार्तिकान्वये 'अयच्' प्रत्यय होतोच. 'उभ' या शब्दाहून 'त्रल्, तसिल्' हे स्वाधिक प्रत्यय करतेवेळीं तो शब्द वर सांगितल्याप्रमाणें केवळ द्वित्वाचा बोधक नसून पञ्चमी, सप्तमी या कारक विभक्तीच्या अर्थाचा देखील वाचक असतो व त्यामुळें त्याहून 'अयच्' प्रत्यय होऊं शकतोच आणि दीक्षितांनीं दाखविलेली आपत्ति येत नाही. या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं, 'अज्ञाते' सू. २०२८, 'कुत्सिते' सू. २०२९, 'अनुकम्पायाम्' सू. २०३१ इत्यादि सूत्रान्वये होणारा स्वाधिक 'क' प्रत्यय 'कुत्सित' इत्यादि अर्थविशिष्ट प्रकृतीहून होणारा असल्यामुळें, जेव्हा 'उभ' शब्दाहून 'क' प्रत्यय होतो तेव्हा देखील 'उभ' ही प्रकृति केवळ द्वित्वाची—'द्विवचन' या अर्थाची—वाचक राहत नसून, 'कुत्सित' इत्यादि अधिक अर्थाची बोधक होते आणि जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या, कारक हे पांच प्रातिपदिकाचे अर्थ आहेत असा पक्ष मानला असतां, 'उभ' शब्दाहून 'क' प्रत्यय करतेवेळीं 'उभ' ही प्रकृति 'कुत्सित' वगैरे अधिक अर्थाची बोधक होतेच. असें असून देखील 'उभ' शब्दाहून 'क' प्रत्यय केला असतां तो प्रत्यय स्वाधिक असल्यामुळें त्याच्या 'उभ' या प्रकृतीचा 'द्विवचन' असा जो अर्थ आहे त्या अर्थाचा तो 'क' प्रत्यय देखील वाचक होतो व असा रीतीनें 'उभ' हा शब्द 'द्विवचन' परक ठरत असल्यामुळें त्याहून 'अयच्' प्रत्यय करतां येत नाहीं असें भाष्यकारांनीं ज्याअर्थी म्हटलें आहे त्या अर्थी हें स्पष्ट होतें कीं, 'उभ'

हा शब्द 'द्वित्व' याखेरीज अधिक अर्थाचा वाचक असला तरी त्याहून स्वाधिक प्रत्यय केला असता 'उभ' हा शब्द 'द्विवचन' परक आहे असे मानता येते व त्यामुळे 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय करता येऊ शकत नाही 'त्र, तसिल्' हे प्रत्यय स्वाधिक आहेत हे वर सांगितलेच आहे आणि 'उभ' या प्रकृतीहून हे प्रत्यय केले असता, जरी 'उभ' या प्रकृतीचा 'द्विवचन' या अर्थाखेरीज अधिक अर्थ असतो तरी, 'क' प्रत्ययासबधानें भाष्यकारानी जें वर म्हटले आहे त्याप्रमाणे, 'त्र, तसिल्' हे स्वाधिक प्रत्यय देखील 'द्विवचन' या अर्थाचे बोधक ठरतील व त्यामुळे 'उभ' हा शब्द 'द्विवचन' परक आहे असे मानणे भाग पडेल आणि त्यामुळे 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय न होण्याची व 'उभयत्र, उभयतः' ही इष्ट रूपे मिद्ध न होण्याची आपत्ति येईल. म्हणून ही आपत्ति टाळण्याकरिता वार्तिकातील 'द्विवचन' या शब्दाचा 'द्विवचनप्रत्यय' असा कृत्रिम अर्थ करणेच योग्य आहे तसा अर्थ केल्याने, म्हणजे 'उभ' हा शब्द द्विवचनप्रत्ययपरक असल्यास त्याहून 'अयच्' प्रत्यय होत नसून त्या 'उभ' शब्दापुढे इतर कोणताहि प्रत्यय असल्यास त्याहून प्रथम निश्चयेंकरून 'अयच्' प्रत्यय होतो असा अर्थ केल्याने, वरील आपत्ति टाळता येते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे सारास भाष्यकारानी वार्तिकातील 'द्विवचन' शब्दाचा 'व्यर्थभिधानसमर्थ' असा जो अर्थ केला आहे तो केवळ प्रीडिवाद असून त्या शब्दाचा 'द्विवचनाचा प्रत्यय' असाच सिद्धान्तमतान्वये अर्थ आहे असे दीक्षिताचे म्हणणे आहे)

मनोरमा- नास्तीति । अनभिधानादिति भावः । तथा चोभय-
शब्दस्य द्विवचनानुत्पादादसर्वविभक्तिवत्त्वेनाव्यपत्तये प्राप्ते "तद्धित-
श्चासर्वविभक्तिः" इति सूत्रे "कृतद्धिताना ग्रहण च पाठे" इति
भाष्य कंघटेनावतारितम् । अस्तीति । पक्षतिकल्पं पक्षतिरूपमित्यादि-
वारणेन पाठस्योपक्षीणत्वादनभिधाने प्रमाण नास्तीति भावः ।
तयप्रत्ययान्ततयेति । उभयशब्दस्येति भावः । नित्यंवेति । परे

ऽवरउभया अमित्रा इति तु च्छान्दसत्वाद् वोढवम् । अव्युत्पत्ताविति ।
एतच्च पस्पशायां कैयटे स्पष्टम् ।

‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ सू. २१७ या सूत्रावरील कौमुदीत
‘उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः’ असें जें म्हटलें आहे त्याचा
भावार्थ हा आहे कीं, ‘उभय’ या शब्दाच्या द्विवचनाचा प्रयोग भाषेत
आढळत नसल्यामुळे, त्या शब्दाहून द्विवचनाचे प्रत्यय करता येत नाहीत.
(कैयटाच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे कीं, ‘अन्याभावो द्विवचनटाट्वि-
पयत्वात्’ व ‘उभयोऽन्यत्र’ या वार्तिकावरून हें स्पष्ट होतें कीं, ‘उभ’
शब्दापुढें द्विवचनाचा प्रत्यय आला असता, त्याहून ‘अयच्’ प्रत्यय
होत समून, त्या शब्दापुढें इतर कोणताहि प्रत्यय आला असता त्याहून
प्रथम ‘अयच्’ प्रत्यय होतो आणि यावरून हें सिद्ध होतें कीं, ‘उभ’
शब्दाचीं केवळ द्विवचनाचींच रूपें होतात व ‘उभय’ या अयच्-
प्रत्ययान्त शब्दाचीं द्विवचनां रूपें न होतां एकवचनाचीं व बहुवचना-
चींच रूपें होतात.) अशा रीतीनें ‘उभय’ या शब्दाहून द्विवचनाचा
प्रत्यय होत नसल्यामुळे व तो शब्द असर्वविभक्ति, म्हणजे ज्याहून
सर्व विभक्तिप्रत्यय होत नाहीत असा, ठरत असल्यामुळे (‘तद्धित-
श्नासर्वविभक्तिः’ सू. ४४८ या सूत्रान्वये) ‘उभय’ या शब्दाला
अध्ययसंज्ञेची प्राप्ति झाली असता, ‘तद्धितश्चासर्वविभक्तिः’ सू.
१-१-३८ या सूत्रावरील भाष्यांत ‘कृतद्धितानां ग्रहणं च पाठे’ असें
जें प्लोकवार्तिक पठित केलें आहे त्या वार्तिकाचें अवतरण देऊन
कैयटानें ‘उभय’ शब्दाला अध्ययसंज्ञा होत नाही असें म्हटलें आहे.
(त्या सूत्रावरील भाष्याच्या टीकेंत कैयटानें ‘तनूभवशब्दस्य द्विव-
चनान्त्वादादसर्वविभक्तित्वं, तथा गोदी, वरणा इति, तत एवामपि
तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यध्ययनं जाग्रतम् इत्याह-कृतद्धितानामिति ।
प्रतिपदं तद्धिताः पठितव्याः येषामध्ययसंज्ञेत्येत इत्यर्थः । तस्माद्-
गमराट एवाश्रयितव्यः । प्रपञ्चार्थस्तु नृशारम्भः’ असें म्हटलें आहे.
कैयटाच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे कीं, ज्या तद्धितप्रत्ययान्त
शब्दांना अध्ययसंज्ञा होत नाही अशा तद्धित प्रत्ययानें भाष्यकारांनीं त्या

भाष्यात 'तसिलादयः प्राक् पाठप.' इत्यादि जें परिगणन केले आहे त्यात 'अयच्' या तद्धित प्रत्ययाचा अन्तर्भाव होत नसल्यामुळे, 'उभय' हा अयच्प्रत्ययान्त शब्द असर्वविभक्ति अगून देखील त्याला अव्ययसज्ञा होत नाही.) 'अस्तीति हरदत्तः' म्हणजे 'उभय' शब्दाचे द्विवचनाचे देखील प्रयोग होतात, असे जें हरदत्तानें म्हटले आहे त्या म्हणण्याचा भावायें हा आहे की, 'पचति-वल्पम्, पचतिरूपम्' इत्यादि तद्धितप्रत्ययान्त रुपाना जी अव्ययसंज्ञेची प्राप्ति होत होती तिचे निवारण करण्यामध्ये परिगणन उपशीण-चरितार्थ-ज्ञाले असल्यामुळे, 'उभय' शब्दाचा द्विवचनात प्रयोग होत नाही हे मानण्यास वाही प्रमाण नाही. (वर जी दोन वातिका दिली आहेत त्या वातिकाविरुद्ध व भाष्याविरुद्ध हरदत्ताचे म्हणणे असल्यामुळे ते स्वीकाराहें नसून कैयटाचेच म्हणणे स्वीकाराहें आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'तयप्-प्रत्ययान्ततया' असे जें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत म्हटले आहे त्याचा 'उभयशब्दस्य तयप्प्रत्ययान्ततया' असा अर्थ आहे. (प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीच्या ज्या पक्तीत ते पद आहे ती पक्ती 'तस्माज्जस्ययजादेशस्यस्थानिवद्भावेन तयप्प्रत्ययान्ततया प्रथमचरम इति विकल्पे प्राप्ते विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वान्नित्यैव सज्ञा भवति । उभये ।' अशी आहे. या पक्तीचा भावार्थ हा आहे की, 'उभय' या शब्दाहून 'जस्' प्रत्यय वेला असता, 'उभय' हा शब्द तयप्प्रत्ययान्त असल्यामुळे व 'प्रथमचरम' सू. २२६ या सूत्रात 'तय = तयप्प्रत्ययान्त' याचे ग्रहण केले असल्यामुळे, 'जस्' प्रत्ययाचे जागी 'जसःशी' सू. २१४ या सूत्राने होणाऱ्या 'शी = ई' या आदेशाची विकल्पेकरून प्राप्ति होते व त्यामुळे 'उभये उभया.' अशी पाक्षिक रूपे होऊ पाहतात, कारण 'उभय' हा शब्द सर्वादिगणात पठित असल्यामुळे जरी त्याला 'सर्वादीनि सर्वनामानि' या पूर्वं सूत्राने नित्य सर्वनामसज्ञा प्राप्त होते तरी त्या पूर्वं सूत्रानें प्राप्त होणाऱ्या नित्य सर्वनामसज्ञेचा 'प्रथमचरम' या विकल्पविधायक

पर सूत्राने, 'पूर्वात्परं बलवत्' या न्यायाने बाध होतो. या वरील विवेचनांत 'उभय' शब्द तयप्प्रत्ययान्त आहे असें जें दीक्षितांनीं म्हटलें आहे त्या म्हणण्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'सङ्ख्यायाः अवयवे तयप्' सू. १८४३ या सूत्राने संख्यावाचक 'उभ' या शब्दाहून 'तयप्' केला असतां, 'उभादुदात्तो नित्यम्' सू. १८४५ या सूत्राने त्या 'तयप्' प्रत्ययाचे जागीं 'अयच्' असा जो आदेश होतो तो 'स्थानिवदादेशः' सू. ४९ या सूत्रान्वये 'तयप्' प्रत्ययच आहे असें स्थानिवद्भावानें मानतां येत असल्यामुळे, 'उभय' हा शब्द तयप्प्रत्ययान्त ठरतो व त्यामुळे त्याहून केलेल्या 'जस्' प्रत्ययाचे जागीं, 'प्रथमचरम' या सूत्राने विकल्पेकहून 'क्षी' आदेश होऊं पाहतो. पण दीक्षित म्हणतात की 'प्रथमचरम' या परसूत्राने विकल्पेकहून सर्वनामसंज्ञा होणें हें कार्य पुढें असणाऱ्या 'जस्' प्रत्ययाच्या अपेक्षेनें होणारें असल्यामुळे, म्हणजे तें कार्य होण्याकरितां पुढें 'जस्' प्रत्यय असणें या निमित्ताची अपेक्षा असल्यामुळे, तें कार्य बहिरङ्ग ठरत असून, त्याच्या मानाने 'सर्वादीति सर्वनामानि' सू. २१३ या पूर्व सूत्राने होणारी नित्य सर्वनामसंज्ञा, पुढें असणाऱ्या कोणत्याहि निमित्ताने होणारी नसून विभक्तिनिरपेक्ष असल्यामुळे, अन्तरङ्ग ठरते आणि 'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः'—परि. ३८—या परिभाषान्वये अन्तरङ्गत्वास्तव परास्त्रापेक्षां बलवत्तर ठरत असल्यामुळे, 'जन्' प्रत्ययाचे जागीं विकल्पेकहून 'क्षी' आदेश न होतां 'जनःक्षी' सू. २१४ या सूत्राने होणारा नित्य 'क्षी' आदेश होतो व 'उभये' असेंच जस्प्रत्ययान्त रूप सिद्ध होतें आणि 'उभयाः' असें पाक्षिक रूप होत नाही.) 'उभय' या शब्दाला जरी नित्यसर्वनामसंज्ञा आहे तरी 'परेऽवरउभया वमियाः' या ध्रुतींतील 'उभयाः' हें रूप छान्दस-वैदिक-असल्यामुळे ('दृष्टानुविधिदृष्टन्तसि' वा ग्यागान्यये) तो प्रयोग साधु मानला पाहिजे. प्रकृत सूत्रावरील कोमुदीत 'अन्यतर, अन्यतम' हीं अव्युत्पन्न प्रातिपदिके आहेत असें जें सूत्रांनें आदेशें तें पश्यनाहितांतोळ फेकटवृत्तीवरून स्पष्ट होतें.

(‘अन्यतरोपदेशेन श्रुत स्यात्’ या पस्पशान्हिकातील भाष्याचे व्याख्यान करितांना कैयटाने ‘अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पत्ती स्वभावाद् द्विवहु-विषये निर्धारणे वर्तते’ असे म्हटले आहे. तसे म्हणण्याचे कारण हे की, ‘कियत्तदो निर्धारणे’ सू. २०४७ व ‘वा बहूना जातिपरिप्रश्ने’ सू. २०४८ या सूत्रानी ‘किम्, यद्, तद्’ या तीन सर्वनामाहूनच ‘उत्तर, उत्तम’ हे प्रत्यय होणे सांगितले आहे ‘अन्य’ या सर्वनामाहून ते प्रत्यय होणे सांगितले नाही म्हणून ‘अन्यतर, अन्यतम’ हे शब्द ‘अन्य’ या शब्दाहून ‘उत्तर, उत्तम’ प्रत्यय होऊन सिद्ध झालेले शब्द नसून प्रकृतिप्रत्ययविभागशून्य अव्युत्पन्न प्रातिपदिके आहेत असे मानणे भाग आहे असा कैयटाच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.)

शब्दरत्न-एवं-नित्यद्विवचनान्तत्वे । “स्वाङ्गशिष्टाम्” इत्याद्युदात्तत्वं च न फलम् । उभे भद्रे इत्यादावन्तोदात्तपाठेन गणे ऽन्तोदात्तनिपातनात् । वृषादित्वेन तत्सिद्धेऽचेति भावः ।

प्रायदर्शनमिति प्रायप्रहणादुभातिरिवतासर्वनाम्नः प्रथमा द्वितीये न स्त इत्यर्थकल्पनसम्भवाभ्रासर्वनामत्वे स दोषः । अयच् स्यादिति । अत्रापि स्थानियत्सूत्रस्थभाष्यरीत्या प्रत्ययान्तरत्वमिति भावः । निर्देशेन चेति । वृत्तिविषये इत्यनुक्ता इदमेव वक्तव्यमिति भावः । अन्याभाव इति । अन्येषा सर्वनामकार्याणामभाव इत्यर्थः । पूर्वपक्षिणान्तवद्भावविरहादिति वदतंकदेशविकृतन्यायो ऽज्ञास्त्रीय-विकारविषयोऽपीति नाभ्युपेतमिति तदनुसारेणैव समाधिं वक्तुमुप-क्रमते-तथापीत्यादि ।

‘नन्वेव सर्वादिषु पाठो व्यर्थ.’ या मनोरमेच्या पक्तीतील ‘एवम्’ या पदाचा ‘नित्यद्विवचनान्तत्वे’, म्हणजे ‘उभ’ हा शब्द नित्य द्विवचनान्त असल्यामुळे, असा अर्थ आहे ‘स्वाङ्गशिष्टामदन्तानाम्’ फिद् सू. २९ या सूत्रान्वये ‘उभ’ हा शब्द आद्युदात्त व्हावा हे तो शब्द सर्वादिगणात पठित केल्याचे फल आहे असे कोणी

म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही. 'उभे भद्रे' इत्यादि श्रुतींत 'उभे' हा शब्द अन्तोदात्त पठित असल्यामुळे, सर्वादिगणांत 'उभ' हा शब्द निपातनातें अन्तोदात्त पठित आहे असें मानलें पाहिजे व 'वृषादीनां च' सू. ३६९१ या सूत्रान्वये 'उभ' हा शब्द आद्युदात्त देखील सिद्ध होतो. (तसें मानल्यानें 'उभ' शब्दाची दोन्ही स्वरांचीं रूपें सिद्ध होतात. वृषादिगणांत पठित असलेले शब्द आद्युदात्त आहेत असा 'वृषादीनां च' या सूत्राचा अर्थ आहे. वृषादिगणांत 'उभ' हा शब्द साक्षात् पठित नाही. तरी पण तो आकृतिगण असल्यामुळे, आद्युदात्त 'उभ' शब्दाचा त्यांत अन्तर्भाव करता येतो.) 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्' या वार्तिकांत 'प्राय' या शब्दाचें ग्रहण केलें असल्यामुळे त्या वार्तिकाचा असा अर्थ करता येऊं शकतो कीं, 'उभ' हा शब्द खेरीज कळून इतर असर्वनामशब्दांचा, 'निमित्त' व त्याचे पर्यायवाचक शब्द पुढें असल्यास, प्रथमा व द्वितीया या विभक्तींत प्रयोग होत नाही व त्या वार्तिकाचा असा अर्थ केल्यानें, 'उभ' हा शब्द सर्वनाम न मानला, म्हणजे सर्वादिगणांत पठित न केला, तरी कांहीं दोष येत नाही. ('उभ' शब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय व्हावा एवढ्याकरितांच 'उभ' या शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ केला आहे असें जें सिद्धान्तीचें म्हणणें आहे त्यावर शंकाकार अशी शंका करतो कीं, 'प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न भवतः, अन्यास्तु यथादर्शनं भवन्ति' असें 'हेती' सू. २-३-२३ या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तींत कैयटानें म्हटलें असल्यामुळे, 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ नसल्यास 'उभ' शब्दापुढें निमित्तपर्यायवाचक शब्द आला असतां 'उभ' शब्दाचा प्रथमा व द्वितीया या विभक्तींत प्रयोग होऊं शकणार नाही व तसा प्रयोग होण्याकरितां 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ केला आहे आणि म्हणून 'उभ' शब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय व्हावा एवढ्याकरितांच तो पाठ केला आहे असें जें सिद्धान्तीचें म्हणणें आहे तें बरोबर मानतां येत नाही. या शंकेवर

शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ करण्याचे जें फल शकाकारानें वर सांगितले आहे ते फल, 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ नसला व तो शब्द सर्वनामशब्द नाही असे मानले तरी, सिद्ध होऊं शकते; कारण चरील वातिकात 'प्राय' शब्दाचे ग्रहण केले असल्यामुळें त्या वातिकाचा असा अर्थ करता येतो की, 'उभ' हा असर्वनामशब्द खेरीज करून इतर असर्वनामशब्दाहून प्रथमा व द्वितीया विभक्ति होत नाहीत, म्हणजे 'उभ' या असर्वनामशब्दाहून सर्व विभक्ति होतात, आणि असा अर्थ केल्यानें, शकाकारानें वर सांगितलेले फल अन्यथासिद्ध होत असल्यामुळें, त्या फलाच्या सिद्धीकरिता 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ केला आहे असे मानता येत नाही व तो पाठ 'उभ' शब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय व्हावा एवढ्याकरिताच केला आहे असे सिद्धान्तीचे म्हणणेच योग्य ठरते. आता 'उभादुदात्तो नित्यम्' या सूत्राचा योगविभाग करून दीक्षितानी 'उभादुदात्त.' या भागाचा 'अवयववृत्ते. सङ्ख्यावाचिनः उभशब्दादवयविन्यर्थेऽयच् स्यात्' असा अर्थ करिताना) 'अयच् स्यात्' असे जें म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, 'स्थानिवदादेश.' १-१-५६ या सूत्रावरील भाष्यात सांगिल्याप्रमाणे या योगविभागानें देखील 'उभ' शब्दाहून स्वतंत्र 'अयच्' प्रत्यय होतो (व 'उभ' शब्दाहून प्रथम 'तयप्' प्रत्यय होऊन त्या प्रत्ययाचे जागी 'अयच्' आदेश होतो असा त्या प्रथम भागाचा अर्थ करू नये. 'स्थानिवदादेशः' या सूत्रावरील भाष्यात 'तस्य दोषस्तथादेशे उभयप्रतिषेध.' हें वातिक पठित करून त्या वातिकाचे व्याख्यान करिताना भाष्यकार म्हणतात— 'तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः । तथादेशे उभयप्रतिषेधो वक्तव्यः । उभये देवमनुष्याः । तयपो ग्रहणेन ग्रहणाज्जसि विभाषा प्राप्नोति । नैव दोषः । अयच् प्रत्ययान्तरम् ।' या भाष्याचा अर्थ हा आहे की, स्थानिवद्भावाचे 'स्थानिवदादेशः' हे सूत्र मानल्यास दोष येत असल्यामुळें, 'उभय' या शब्दामध्ये 'तयप्' प्रत्ययाचे जागीं झालेला जो

‘अयच्’ आदेश त्याला स्थानिवद्भावाय होत नाही, म्हणजे तो आदेश स्थानिवद्भावात ‘तयप्’ प्रत्ययच आहे असें मानतां येत नाही, असें वचन पठित केलें पाहिजे. ‘उभये देवमनुष्याः’ या उदाहरणांत ‘उभये’ या स्थलीं ‘तयप्’ प्रत्ययाचे जागीं झालेला ‘अयच्’ आदेश स्थानिवद्भावात ‘तयप्’ प्रत्ययच आहे असें मानलें तर, ‘उभय’ या शब्दाहून ‘जस्’ प्रत्यय केला असतां, ‘प्रथमचरम’ या सूत्रानें सर्वनामसंज्ञा विकल्पानें होऊं लागेल व ‘उभयाः’ असें अनिष्ट पाक्षिक रूप होण्याची आपत्ति येईल. पण भाष्यकार म्हणतात कीं, ही आपत्ति येत नाही. ‘उभादुदात्तो नित्यम्’ या सूत्रानें ‘उभ’ शब्दाहून स्वतंत्र ‘अयच्’ प्रत्यय होतो व ‘तयप्’ प्रत्ययाचे जागीं त्या सूत्रानें ‘अयच्’ आदेश होत नाही असें मानलें असतां, वर दाखविलेल्या दोषाचा परिहार करतां येतो. शब्दरस्तरकार म्हणतात कीं, या भाष्यान्वये ‘अयच्’ हा स्वतंत्र प्रत्यय आहे असें मानणें इष्ट आहे व ‘उभादुदात्तो नित्यम्’ या सूत्राचा योगविभाग केला किंवा न केला तरी, ‘अयच्’ हा स्वतंत्र प्रत्यय आहे असेंच मानणें योग्य आहे. ‘नित्यम्’ या द्वितीय भागाचा ‘उभशब्दाद्वृत्तिविषये नित्यमयच् स्यात् स्वार्थे’ असा मनोरमेत अर्थ करितांना) ‘वृत्तिविषये’ असें जें म्हटलें आहे तसें न म्हणतां, ‘उभो साम्यासस्य’ सू. २६०६ या पाणिनीय सूत्रांत ‘उभो’ असा निर्देश असल्यामुळें, त्या निर्देशाच्या आधारे ‘यत्र द्विवचनं न श्रूयते तत्रैव अयच् स्यात्स्वार्थे’ असें जें पुढें मनोरमेत म्हटलें आहे तेंच म्हणणें योग्य आहे. (द्वितीय भागाचा असा अर्थ करितांना ‘न श्रूयते’ या पदाचें ग्रहण केलें असल्यामुळें व ‘उभयपक्षविनीतमिन्द्राः’ (रघुवंश सर्ग ५, श्लोक ७२) या उदाहरणांतून ‘उभयपक्ष’ हा सामासिक शब्द तयार करतेंथेळीं ‘उभ’ या शब्दापुढील द्विवचनाच्या अन्तर्गतविभक्तिप्रत्ययाचा ‘गुपोधातुप्रातिपदिकयोः’ सू. ६५० या सूत्रानें लुक् होऊन त्या द्विवचनाच्या प्रत्ययानें श्रयण होत नसेल्यामुळें, ‘उभ’ शब्दाहून ‘अयच्’ प्रत्यय होऊन ‘उभयपक्ष’ असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. परंतु ‘उभयोर्वासः’ या

अलुक्त्सनासातील 'ओस्' या द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा 'शयवासवासिप्व-
 कालात्' सू ९७६ या सूत्रान्वये लुक् होत नसून त्या प्रत्ययाचे
 'उभ' शब्दापुढे श्रवण होत असल्यामुळे, 'उभ' शब्दाहून 'अयच्'
 प्रत्यय होत नाही व 'उभययो' असे अनिष्ट रूप न होता, 'ओसि च'
 सू २०७ या सूत्राने 'उभ' यातील अन्त्य अकाराचे एत्व होऊन व
 नंतर एकाराचे जागी अयादेश होऊन 'उभयो' असे इष्ट रूप सिद्ध होते
 तसेच 'उभ औ = उभौ' या स्थली वृद्धिरूप एकादेशाने जरी 'औ'
 या द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा अपहार होतो तरी, पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे
 'औ' हा एकादेश 'औ' प्रत्ययच आहे व त्याचे श्रवण होते
 असे परादिवद्वावाने मानता येत असल्यामुळे, वरील वचनान्वये
 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होत नाही व 'उभौ' असे इष्ट
 रूप सिद्ध होते साराश 'यत्र द्विवचन न श्रूयते तत्रैव अयच्
 स्यात्स्वार्थे' असा अर्थ केल्याने सर्व इष्ट रूपांची सिद्धि होत
 असल्यामुळे, 'उभशब्दाद्वृत्तिविषये नित्यमयच् स्यात्' असे वेगळे
 व्याख्यान करण्याची काही गरज राहत नाही व तसे व्याख्यान
 करणे योग्यहि नाही असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय
 आहे) 'अन्याभावो द्विवचनटान्विषयत्वात्' या वाक्यातील
 'अन्याभाव' या पदाचा 'अन्येषा सर्वनामकार्याणामभाव' असा
 अर्थ आहे (याचे विवरण पूर्वी मनोरमेंत केलेच आहे 'यद्यप्यु-
 भावित्यादौ द्विवचनपरत्व दुरुपपादमुभयत आश्रयणेऽन्तादिवद्वाव-
 विरहात्' अशी मनोरमेंत शका उपस्थित करितांना) पूर्वपक्षीने
 'अन्तादिवद्वावविरहात्' असे म्हटले असल्यामुळे, एकादेशविकृत-
 न्याय अशास्त्रीय विकाराना देखील लागू पडतो हा पक्ष त्याने
 स्वीकारला नाही आणि म्हणून दीक्षितानी देखील (वादाकरिता)
 त्याच्याच मताचा स्वीकार करून त्याने केलेल्या शकेवर 'तथा-
 प्युभशब्दादुत्पन्नम्' इत्यादि पुढील पक्षीत उत्तर दिले आहे
 ('उभ औ = उभौ' या स्थली 'वृद्धिरेचि' सू ७२ या सूत्राने
 'औ' असा वृद्धिरूप एकादेश केल्यावर तो एकादेश परादिवद्वावाने

‘अी’ प्रत्ययच आहे असें मानलें असतां, ‘उभ्’ अशी जी एकदेश-
विकृत प्रकृति होते ती ‘एकदेशविकृतमन्यवत्’-परि. ३७-या
परिभाषान्वये ‘उभ’ अशी मूळची प्रकृति आहे असें मानतां येत
असल्यामुळे, शंकाकारानें केलेली शंका अयोग्य ठरते अशा प्रकारें
दीक्षितांना त्या शंकेचें निरसन करतां आलें असतें. पण शंकाकारानें
कोणत्याहि पाणिनीय सूत्रानें न होणाऱ्या ‘उभ्’ अशा अशास्त्रीय
एकदेशविकारांला एकदेशविकृतन्याय लागू पडत नाहीं असें मानून
शंका उपस्थित केली असल्यामुळे दीक्षितांनीं वादाकरितां त्याचेंच
मत स्वीकारून त्याच्या शंकेवर उत्तर दिलें आहे. वास्तविक
‘एकदेशविकृतमन्यवत्’ हा न्याय लौकिक आधारावर रचला
असल्यामुळे, तो आस्त्रीय व अशास्त्रीय या दोन्ही विकारांना
सारखाच लागू पडतो आणि म्हणून शंकाकारानें केलेली शंका
अनुपपन्न ठरते असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न—उभशब्दादिति । अत्यन्तस्वाधिकानां सुयुत्पत्तेः
पूर्वमेवान्तरङ्गत्वादुत्पत्तेरभघटिताच्छब्दादुभयशब्दादित्यर्थः । यत्र
लुकाऽपहृतं तत्रायजिति तु नोक्तं प्रातिपदिकप्रकृतिकाचारविवक्षते
यद्ययजिष्यते तदा तस्यानापत्तेस्तत्रोत्पत्तेरभावेन विशिष्टाभावाक्षतेः ।
लुका नापहृतमिति । लुक्कृतापहारसम्भावनाऽभाववदित्यर्थः । एते-
नोभशब्दस्य पाठाभावेऽस्यर्चनामत्वेन ततस्तसिलादिविवक्षायाः
कर्तृभयपक्षेन द्विवचनस्य लुकाऽनपहारस्यैव सत्त्वेन ततो अयजना-
पत्ताव्भयप्रेत्यसिद्धिरित्यपास्तम् । यद्ययच् स्यात्तदा त्रलादि स्यात्-
त्तिमश्च लुगपि स्यादिति लुकाऽपहारसम्भावनासत्त्वेन लुक्कृता-
पहारसम्भावनाभावतोऽन्यत्वात् ।

अत्यन्त स्वाधिकः प्रत्यय-अयच्-अन्तरङ्ग असल्याकारणानें
नुयुत्पत्ति श्रेण्यापूर्वी तो प्रत्यय होत असल्यामुळे, ‘उभशब्दादुत्पत्तम्’
या मनोरमेच्या पंक्तीतील ‘उभयब्दात्’ या पदाचा ‘उभघटितात्’
शब्दात् ‘उभयशब्दान्’ असा अर्थ करणें योग्य आहे. (सारांश

‘उभयशब्दात्’ हा अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि असून त्यांत ‘उभय’ हा शब्द अन्यपदार्थ असल्यामुळे, त्याचा ‘उभः’ शब्दो यस्मिन् उभयशब्दघटिते उभयशब्दरूपसमुदाये’ असा विग्रह आहे. असा अर्थ करण्याचें कारण हें की, ‘उभादुदात्तो नित्यम्’ सू. १८४५ या सूत्रानें होणारा ‘अयच्’ प्रत्यय अत्यन्तस्वाधिक असल्यामुळे तो अन्तरङ्ग ठरतो व विभक्तिप्रत्यय होण्यापूर्वीच ‘अयच्’ प्रत्यय होतो. तो प्रत्यय प्रथम झाल्यावर नंतर जो पञ्चमीच्या किंवा सप्तमीच्या द्विवचनाचा प्रत्यय, ‘य, तसिल्’ हे प्रत्यय करण्यापूर्वी, केला जातो त्या द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा ‘सुपो घातुप्रातिपदिकयोः’ सू. ६५० या सूत्रानें लुक् होऊन द्विवचनाच्या प्रत्ययाचें भ्रवण होत नसल्यामुळे, ‘अयच्’ प्रत्यय कायम राहून ‘उभयतः उभयत्र’ ही इष्ट रूपें सिद्ध होतात. ‘उभयतः, उभयत्र’ इत्यादि स्थली द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुक् होणार अशी सभावना असल्यामुळे, ‘अयच्’ हा अन्तरङ्ग प्रत्यय, विभक्तिप्रत्यय उत्पन्न होण्यापूर्वी, होतो हे लक्षात ठेवावे.) ‘यत्र लुका अपहृतं तत्र अयच्’ असें न म्हणतां दीक्षितानी मनोरमंत ‘लुका नापहृतं यत्र ततोऽन्यत्रायच्’ असा जो नञ्द्वयार्थघटित वाक्याचा उपयोग केला आहे त्याचे कारण हें की, (‘सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्वा ववतभ्यः’ सू. २६६५ वरील वातिक—या वातिकान्वयें) ‘उभ’ या प्रातिपदिकरूप प्रकृतीहून आचार क्विप् प्रत्यय केल्यास, जर तशा ठिकाणी ‘अयच्’ प्रत्यय होणें इष्ट असेल तर, ‘उभ’ शब्दाहून ‘अयच्’ प्रत्यय न होण्याची आपत्ति येईल; कारण या स्थली द्विवचनाच्या प्रत्ययाची उत्पत्तीच झाली नसल्यामुळे, येथें ‘उभ’ या शब्दाचे ठिकाणी द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा अभाव आहे व तो शब्द द्विवचनप्रत्यययुक्त नाही (व त्यामुळे येथें द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुकानें अपहार झाला आहे असे म्हणतां येत नाही. ‘उभो इव आचरति उभयति = उभ क्विप् शप् ति’ या स्थली झालेला आचार क्विप् प्रत्यय सुबन्ताहून उत्पन्न झालेला नसून वरील वातिकान्वयें ‘उभ’ या प्रातिपदिकाहूनच उत्पन्न झाला असल्यामुळे

आणि अशा रीतीने येथे द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा अभाव असल्यामुळे, द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुक् होण्याचा मुळीच संभव नाही. म्हणून 'यत्र लुका अपहृतं तत्र अयच्' असे जर म्हटले असते तर, या ठिकाणी द्विवचनप्रत्ययाचा लुक् झाला नसल्यामुळे, 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय न होण्याची व 'उभयति' असे रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति आली असती. ती आपत्ति टाळण्याकरिताच दीक्षितांनी मनोरमेत नव्द्वयघटित वाक्याचा उपयोग केला आहे, आणि जेथे द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुक् झाला नाही अशा स्थलाहून भिन्न हे स्थल असल्यामुळे, या स्थली 'अयच्' प्रत्यय होऊन 'उभयति' असे रूप सिद्ध होते. या पंक्तीत 'यद्ययजिष्यते' असे म्हटले असल्यामुळे शब्दरत्नकार हे ध्वनित करितात की, 'उभयति' असा आचार-विश्वन्त शब्द भाषेत मुळीच आढळत नाही व एवढ्याच रूपाच्या मिष्टिकरिता जर नव्द्वयघटित वाक्याचा मनोरमेत उपयोग केला असेल तर तसे करण्याची काही आवश्यकता नव्हती असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.) 'लुका नापहृतम्' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा 'लुक्कुतापहारसम्भावनाभाववत्', म्हणजे सरलेंत म्हटल्याप्रमाणे 'यद्युभयशब्दादयच् स्यात्तर्ह्युभय-शब्दस्य द्विवचनपरस्य स्यादिति यत्र सम्भाव्यते ततोऽयत्रायच् गानुः' = लुकाने अपहार होण्याचा ज्या स्थली संभव नाही ते स्थल; असा अर्थ आहे. असा अर्थ होत असल्यामुळे, जे कोणी म्हणतात की, 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणांत पाठ केला नसता तर त्याला सर्वनाम-गंगा घाली नमती व त्यामुळे सर्वनामाहून होणारे 'तसिल्' इत्यादि प्रत्यय त्या शब्दाहून उत्पन्न होऊ शकते नसे आणि त्यामुळे, द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुक् होण्याचा प्रसंगन आला नसता व 'अयच्' प्रत्यय न होण्याची आपत्ति आली अगती आणि 'उभयत्' हे रूप सिद्ध होऊ शकते नमने, ते त्यांचे म्हणणे चुक ठरेल. जर 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय झाला तर ('उभय' हा शब्द सर्वादिगणांत पाठित असल्यामुळे, अयच्प्रत्ययान्त 'उभय' या

शब्दाहून) 'त्रल्' इत्यादि प्रत्यय होऊं शकतील व ते प्रत्यय झाले असता (द्विवचनाच्या अन्तर्व्यतिविभक्तिप्रत्ययाचा) लुक् देखील होईल आणि अशा रीतीने लुक्ने (द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा) अपहार होण्याचा येथें समभव असल्यामुळे, जेथें लुक्ने द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा अपहार होण्याचा समभव नाही त्याहून हे स्थल भिन्न आहे हे स्पष्ट होते (आणि म्हणून 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होऊ शकतो 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ न केला तर 'उभशब्दा-
 दुत्पन्न द्विवचन लुका नापहृत यत्र' या मनोरमेंतील पक्तीचा जो अक्षरार्थ होतो त्या अर्थान्वये 'उभयतः, उभयत्र' ही रूपे सिद्ध होऊ शकणार नाहीत असे शकाकाराचे म्हणणे आहे; कारण 'त्र, तसिल्' हे प्रत्यय सर्वनामाहूनच होणारे प्रत्यय असल्यामुळे, 'उभ' हा शब्द सर्वनामसज्ञक न मानल्यास, त्या शब्दाहून ते प्रत्यय होऊच शकणार नाहीत व ते प्रत्यय न झाल्यास, 'उभ' हा शब्द तद्धितान्त न ठरल्या-
 कारणानें प्रातिपदिकसज्ञक होणार नाही व त्यामुळे 'उभ' शब्दापुढील द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा 'मुपो घातु' सू. ६५० या सूत्रानें होणारा लुक् होऊ शकणार नाही आणि 'अयच्' प्रत्यय न होण्याची आपत्ति येईल. या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, शकाकारानें जी आपत्ति वर दर्शविली आहे ती त्यानें मनोरमेंतील पक्तीचा अक्षरशः अर्थ केल्यामुळे उत्पन्न होते पण जेथें द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा लुकानें अपहार होण्याचा समभव नसेल त्याहून भिन्न स्थली 'अयच्' प्रत्यय होतो असा त्या पक्तीचा अर्थ केल्यानें ती आपत्ति सहज टाळता येते, कारण 'उभ' शब्द जरी सर्वादिगणात पठित नसला व सर्वनामसज्ञक नसला तरी, 'उभादुदात्तो नित्यम्' या सूत्रानें 'उभ' शब्दाहून अत्यन्त स्वाधिक 'अयच्' प्रत्यय झाला असता, 'उभय' असे जें रूप होते त्याचा सर्वादिगणात पाठ असल्यामुळे व तो सर्वनामसज्ञक होत असल्यामुळे, 'उभय' या सर्वनामाहून 'तसिल्, त्रल्' हे प्रत्यय होऊ शकनातच व हे स्थल असे आहे की, ते प्रत्यय लावते-

वेळीं 'उभ' शब्दाहून उत्पन्न झालेल्या द्विवचनाच्या प्रत्ययाचा अवश्य लुक् होणारच आणि अशा रीतीनें तसा लुक् होण्याची जेथें संभावना नाहीं त्याहून हें स्थल भिन्न ठरत असल्यामुळें, येथें 'अयच्' प्रत्यय कायम राहतो व 'उभयतः, उभयत्र' हीं इष्ट रूपें सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाहीं.)

शब्दरत्न—यद्यपि भाष्ये इति । स्वाधिकत्वेनोभशब्दात्परस्य कप्रत्ययस्यापि द्विवचनत्वमस्तीत्यन्वयः । अधिकेति । संख्यापेक्षया अधिकलिङ्गकारकेत्यर्थः । दिगिति । विगर्थस्तु भाष्यस्याप्रौढिवाद-त्वमपि समर्थयितुं शक्यमिति । तथा हि । कप्रत्ययस्य स्वाधिकत्वेन वद्यर्थाभिधानसमर्थत्वेन वार्तिके द्विवचनशब्देन तस्यापि ग्रहणम् । द्विवचनत्वं द्वित्वसंख्याप्रकारकसङ्ख्येयविशेष्यकबोधविषयार्थानुवादकत्वम् । अतसिलौ तु विभक्त्यन्तस्य स्वार्थे विहितौ इति तत्तत्कारक-शक्तिप्रधानावेवातो न तयोरुक्तं द्विवचनत्वम् । कस्य तु आज्ञाताद्यर्थ-विशिष्टोभार्थे विधानेन तत्त्वमक्षतमेवेति भाष्याशयः । कल्पाद्यन्ते ऽयज्जन्च भवति । तत्रोभयो मणिरित्पादौ अप्रवृत्तये अस्य “लिटच-म्यासंतस्योभयेषाम्” इति निर्देशेनानित्यत्वावश्यकत्वात् । कल्पवादे-स्तस्मादनभिधानमेवेत्यलम् ।

कंपडेनावतारितमिति । “उभयोऽन्यत्र” इति वार्तिके उभयो मणिरुभये देवमनुष्या इति भाष्यकृतौदाहरणात् स्वाधिकोपक्रमेण तत्प्रवृत्तेश्चोभयोरपि ग्रहणमिति तस्य द्विवचनाभावोऽनभिधाना-दावश्यक इति तद्भावः । इति भाव इति । इत्यभिमान इत्यर्थः । तद्वीजं तूषतम् ।

‘यद्यपि भाष्ये कप्रत्ययस्यापि स्वाधिकत्वेनोभशब्दात्परस्य द्विवचनत्वमस्ति’ या मनोरमेंतील पंक्तीचा ‘स्वाधिकत्वेनोभशब्दा-त्परस्य कप्रत्ययस्यापि द्विवचनत्वमस्ति’ असा अन्वय आहे. ‘अधिक-बोधकत्वध्रौव्याच्च’ या मनोरमेंतील पदांत असलेल्या ‘अधिक’ या शब्दाचा, ‘उभ’ हा शब्द संख्या या अर्थाखेरीज लिङ्ग व कारक

या अधिक अर्थाचा बोधक होतो, असा अर्थ आहे. (याचे विवरण पूर्वी मनोरमंत केलेच आहे.) 'इति दिक्' असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा अर्थ हा आहे की, ('अवचनादापि तत्परविज्ञानमिति चैत्केऽपि तुल्यम्' हे वातिक पठित करून व त्या वातिकाचे व्याख्यान करून भाष्यकारानी त्या वातिकाच्या आधारे सर्वादिगणातून 'उभ' या शब्दाच्या पाठाचे जें प्रत्याख्यान केले आहे) ते प्रत्याख्यान केवळ प्रौढिवाद नाही, म्हणजे ते एकदेशभाष्य नसून सिद्धान्तभाष्य आहे, असे देखील समर्थन करता येणे शक्य आहे, कारण 'क' हा प्रत्यय स्वाधिक असल्यामुळे, द्वित्वविशिष्टवाचक 'उभ' शब्दाहून तो प्रत्यय झाला असता, 'क' प्रत्यय देखील 'उभ' या शब्दाप्रमाणे व्यर्थाभिधानसमर्थ ठरतो व ('अन्याभावो द्विवचनटाव्विषयत्वात्' या वातिकातील 'द्विवचन' या शब्दाचा 'द्विवचनाचा प्रत्यय' असा कृत्रिम अर्थ न करिता 'व्यर्थाभिधानसमर्थ' असा अकृत्रिम अर्थ केल्याने, त्या वातिकातील) 'द्विवचन' या शब्दानें 'क' प्रत्ययाचे देखील ग्रहण होते (व अशा रीतीने 'उभ' शब्दाहून स्वाधिक 'क' प्रत्यय केला असता, व्यर्थाभिधानसमर्थ 'उभ' या शब्दापुढे 'क' हे व्यर्थाभिधानसमर्थ, म्हणजेच 'द्विवचन,' आहे असे मानल्याने, 'क' प्रत्ययान्त 'उभ' शब्दाहून, म्हणजे 'उभक' शब्दाहून, 'अयच्' प्रत्यय होत नाही व त्या 'उभक' शब्दाहून 'ओ' हा द्विवचनाचा प्रत्यय केल्याने, 'उभकी' असे द्विवचनाचे रूप सिद्ध होऊ शकते. म्हणून 'उभ' शब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय होऊन 'उभकी' असे रूप सिद्ध व्हावे याकरिता 'उभ' शब्दाचा सर्वादिगणात पाठ करण्याची काही आवश्यकता राहत नाही आणि अशा रीतीने त्या पाठाचे प्रत्याख्यान करता येते आणि ते प्रत्याख्यान केवळ प्रौढिवाद आहे असे म्हणता येऊ शकत नाही असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. वरील वातिकातील) 'द्विवचन' हा शब्द, ज्यात 'दोन' ही सख्या विशेषणरूपानें भासत असून द्वित्वविशिष्ट पदार्थ विशेष्यरूपानें भासतो, या अर्थाचा अनुवाद करणारा-बोधक-आहे.

‘त्र, तसिल्’ हे प्रत्यय विभक्त्यन्ताहून स्वार्थामध्ये होणारे असल्यामुळे, ज्या कारकविभक्तीहून ते प्रत्यय होतात त्या कारकविभक्तीच्या अर्थाचा ते प्राधान्येकरून बोध करितात आणि म्हणून ते प्रत्यय द्वित्वविशिष्टाचे वाचक ठरत नाहीत, म्हणजे त्यांना ‘द्विवचन’ असे म्हणता येत नाही. परंतु ‘क’ हा प्रत्यय ‘अज्ञात’ इत्यादि अर्थानीं विशिष्ट-युक्त-अशी जी द्वित्वविशिष्टबोधक ‘उभ’ ही प्रकृति तीहून स्वार्थामध्ये होणारा प्रत्यय असल्यामुळे, (ज्याप्रमाणे ‘उभ’ ही प्रकृति द्वित्वविशिष्टाची-द्विवचनाची-वाचक आहे त्याचप्रमाणे त्या प्रकृतीहून होणारा स्वार्थिक ‘क’ प्रत्यय देखील द्वित्वविशिष्टाचा-‘द्विवचन’ या अर्थाचा-वाचक ठरत असल्यामुळे) ‘क’ या प्रत्ययाला ‘द्विवचन’ असे म्हणता येतच असा त्या वास्तिकावरील भाष्याचा आशय आहे. ‘उभ’ शब्दाहून ‘कलपप्’ इत्यादि प्रत्यय केल्यास ‘अयच्’ प्रत्यय मुळींच होत नाही. (वरील वास्तिकांतील ‘द्विवचन’ या शब्दाचा ‘द्विवचनाचा प्रत्यय’ असा अर्थ न करिता ‘द्वित्वविशिष्टबोधक’ असा अर्थ केल्यास) ‘उभयो मणिः’ इत्यादि स्थलीवरील वास्तिकाची प्रवृत्ति न व्हावी याकरिता, ‘लिटयम्यासस्योभयेधाम्’- सू. २४०८ या सूत्रांतील ‘उभयेधाम्’ या निर्देशाच्या सामर्थ्याने ते वास्तिक अनित्य आहे हे मानणे आवश्यक आहे. म्हणून ‘उभ’ शब्दाहून ‘कलपप्’ इत्यादि प्रत्यय होण्याचे अनभिधानच आहे, म्हणजे तसा प्रयोग भाषेत कोठेहि होत नाही. या विषयासंबंधाने एवढे पुरे. (जसा ‘क’ प्रत्यय स्वार्थिक आहे त्याचप्रमाणे ‘ईपदसमाप्ती’ सू. २०२२ या सूत्राने होणारे ‘कलपप्’ इत्यादि प्रत्यय स्वार्थिकच आहेत. म्हणून कुत्सितादि अर्थाने युक्त व द्वित्वसंख्याविशिष्टबोधक ‘उभ’ या प्रकृतीहून ‘कुत्सिताद्यर्थक’ ‘क’ प्रत्यय केला असता. जसा तो प्रत्यय द्वित्वाभिधानसमर्थ ठरतो त्याचप्रमाणे ‘ईपदसमाप्त’ या अर्थाने युक्त व द्वित्वसंख्याविशिष्टबोधक ‘उभ’ या शब्दाहून स्वार्थिक ‘कलपप्’ प्रत्यय केला असता, तो प्रत्यय देखील द्वित्वाभिधानसमर्थ ठरत.

असल्यामुळे, तो प्रत्यय करतेवेळी द्विवचनाचा अभाव नसल्यामुळे, 'द्विवचनपरत्वाभावे उभशब्दादयच् प्रत्ययो भवति' या अर्थाच्या वाचक 'उभयोऽन्यत्र' या वातिकान्वयें 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्ययाची प्राप्तीच होत नाही. पण हे वरील म्हणणे, वातिकातील 'द्विवचन' या पदाचा 'व्यर्थाभिधानसमर्थ' असा जो भाष्यकारानी योगिक अर्थ केला आहे तो मानला असताच, योग्य ठरते. परंतु 'द्विवचन' या शब्दाचा 'द्विवचनाचा प्रत्यय' असा पारिभाषिक अर्थ मानला तर, 'कलप' हा तद्धित प्रत्यय असून द्विवचनाचा प्रत्यय नसल्यामुळे, 'उभ' शब्दाहून तो प्रत्यय केला असता, 'अयच्' प्रत्ययाची प्राप्ति होते आणि अशा रीतीने वरील दोन पक्षात दोन भिन्न रूपे होण्याची आपत्ति येते. 'उभयोऽन्यत्र' हे वातिक अनित्य मानल्यानेच ती आपत्ति टाळता येते आणि 'उभयो मणि.' हा भाष्यप्रयोग सिद्ध होण्याकरिता ते वातिक अनित्य मानणे आवश्यक आहे, कारण 'उभ' शब्दाहून 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' सू. १८४३ या सूत्राने अवयवार्थक 'तयप्' प्रत्यय करून 'उभाद्रुदात्तो नित्यम्' सू. १८४५ या सूत्राने 'तयप्' प्रत्ययाचे जागी 'अयच्' आदेश केला असता, 'अयच्' हा व्यर्थाभिधानसमर्थ ठरत नसून अवयवार्थक ठरत असल्यामुळे व तो द्विवचनाचा, देखील प्रत्यय नसल्यामुळे, तो प्रत्यय करतेवेळी 'उभयोऽन्यत्र' या वातिकान्वयें 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्ययाची प्राप्ति होते व अशा रीतीने 'उभ' शब्दाहून दोन 'अयच्' प्रत्यय केल्यास 'उभययः' असे अनिष्ट रूप होण्याची व 'उभयो मणि' हा भाष्यप्रयोग अशुद्ध ठरण्याची आपत्ति येते त्या आपत्तीचे निवारण करण्याकरिता 'उभयोऽन्यत्र' हे वातिक अनित्य मानणे आवश्यक आहे व 'लिटयम्यासस्योभयेषाम्' सू. २४०८ या सूत्रातील 'उभयेषाम्' हा निर्देश त्या वातिकाच्या अनित्यत्वाचा ज्ञापक आहे. ते वातिक अनित्य न मानल्यास, वर सांगितल्याप्रमाणे दोन 'अयच्' प्रत्यय होऊन 'उभययेषाम्' असा प्रयोग होऊ पाहतो. पण पाणिनीने तसा प्रयोग न करिता

‘उभयेषाम्’ असा प्रयोग केला असल्यामुळे, त्या वार्तिकाचें अनित्यत्व ज्ञापित होतें आणि तें वार्तिक अनित्य मानल्यानें जसें ‘उभयो मणिः’ या भाष्यप्रयोगाचें समर्थन करतां येतें तसेंच ‘उभ’ शब्दाहून ‘कलपप्’ प्रत्यय केला असतां ‘अयच्’ प्रत्यय होण्याची आपत्ति टाळतां येते. वास्तविक गोष्ट ही आहे कीं, ‘उभ’ शब्दाहून ‘कलपप्’ प्रत्यय होण्याचें अनभिधान आहे, म्हणजे ‘उभ’ शब्दाहून ‘कलपप्’ प्रत्यय करून सिद्ध होणारें रूप भाषेत मुळींच आढळत नाही व तसें मानल्यानें ‘उभ’ शब्दाहून ‘कलपप्’ प्रत्यय केला असतां दोन भिन्न प्रकारचीं रूपें सिद्ध होऊं पाहतात ही जी आपत्ति वर दर्शविली आहे ती मुळींच उद्भवत नाही असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) ‘उभयोऽन्यत्र’ या वार्तिकाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकारांनीं ‘उभयो मणिः, उभये देवमनुष्याः’ अशीं उदाहरणें दिलीं असल्यामुळे व स्वाधिक ‘अयच्’ प्रत्यय होतो असें सांगून त्या वार्तिकाची प्रवृत्ति केली असल्यामुळे, ‘उभ’ शब्दाहून अवयवीचा वाचक ‘अयच्’ प्रत्यय होऊन झालेला ‘उभय’ हा शब्द व तसेंच ‘उभ’ शब्दाहून अत्यन्त स्वाधिक ‘अयच्’ प्रत्यय होऊन झालेला ‘उभय’ हा शब्द या दोन्ही प्रकारच्या ‘उभय’ या शब्दांचे ‘उभयोऽन्यत्र’ या वार्तिकांतील ‘उभय’ या शब्दानें ग्रहण होतें. त्यामुळे ‘उभय’ या शब्दाचा भाषेत द्विवचनांत प्रयोग आढळत नाही हें सांगणें आवश्यक आहे असा ‘उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति’ या शीट्याच्या म्हणण्याचा आशय आहे. (भाष्यकारांनीं ‘उभयो’ असें द्विवचनाचें उदाहरण दिलें नाही व त्यांनीं जीं दोन उदाहरणें दिलीं आहेत त्यांपैकी प्रथम उदाहरण एकवचनाचें असून द्वितीय उदाहरण बहुवचनाचें आहे. ‘उभयो मणिः’ या प्रथम उदाहरणांत ‘उभ’ शब्दाहून जो ‘अयच्’ प्रत्यय झाला आहे तो अवयवीचा वाचक असून, ‘उभये देवमनुष्याः’ या द्वितीय उदाहरणांत ‘उभ’ या शब्दाहून झालेला ‘अयच्’ प्रत्यय अत्यन्त स्वाधिक आहे. यावरून हें सिद्ध होतें कीं, अवयवीचा वाचक ‘अयच्’ प्रत्यय असो किंवा अत्यन्त

स्वाधिक 'अयच्' प्रत्यय असो, तसा प्रत्यय 'उभ' शब्दाहून झाल्यास, अयच्प्रत्ययान्त 'उभ' या शब्दाची एकवचनाची किंवा बहुवचनाचीच रूपे होतात, द्विवचनाची रूपे मुळीच होत नाहीत. जेव्हा 'उभ' शब्दाच्या लगेच पुढे द्विवचनाचा प्रत्यय असतो व त्या प्रत्ययाचा लुक् होण्याचा संभव नाही तशाच ठिकाणी 'उभ' शब्दाची द्विवचनाची रूपे होतात व तशा ठिकाणी 'उभ' शब्दाहून 'अयच्' प्रत्यय होत नाही.) 'अनभिधाने प्रमाण नास्तीति भाव.' या मनोरमेच्या पक्तीतील 'इति भावः' या पदाचा 'इत्यभिमानः' असा अर्थ आहे दीक्षितानी हरदत्ताच्या मतासंबधाने जी अरुचि प्रदर्शित केली आहे तिचे कारण त्यांनी मनोरमेत सांगितलेच आहे. ('उभयोऽन्यत्र' या वार्तिकातील 'उभय' या शब्दाने, वर सांगितल्याप्रमाणे अत्यन्त स्वाधिक 'अयच्' प्रत्यय होऊन बनलेला 'उभय' हा शब्द व तसेच 'उभ' या शब्दाहून अवयवार्यक 'तयप्' प्रत्यय झाला असता त्याचे जागी 'अयच्' हा आदेश होऊन बनलेला 'उभय' हा शब्द या दोहोचेहि, ग्रहण होत असल्यामुळे व 'उभ' हा शब्द द्विवचन-प्रत्ययपरक नसला तरच त्याहून 'अयच्' होत असल्यामुळे हे सिद्ध होते की, अयच्प्रत्ययान्त 'उभ' शब्दाहून द्विवचनाचे प्रत्यय होत नाहीत. म्हणून 'उभय' या शब्दाहून द्विवचनाचे प्रत्यय होतात असे जे हरदत्ताचे म्हणणे आहे ते भाष्यविरुद्ध असल्यामुळे बरोबर मानता येत नाही व कंयटाचेच म्हणणे योग्य ठरते असा दीक्षितानेच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे असे शब्दरत्नकाराचे म्हणणे आहे)

मनोरमा-एके-काशिकाकाराः । "एतन्त्वं मन्ये" इत्युदात्तस्य, "उत त्वः पश्यन्" इत्यनुदात्तस्य च दर्शनादिति भावः । एकः-प्रथमः । सहितया पाठे तान्तस्वस्यास्फुटत्वेऽपि तान्तश्छेत्तव्योऽन्यथा एकश्रुत्या सकृदेव पठेत् । न च तान्ते विप्रतिपत्तव्यम् । "त्वत्-त्वसमसिमेत्यनुच्चाति" इति फिटसूत्रात् । तथा च ऋह्मन्त्रः । "स्तरीरुत्वद्भवति, सूत उत्वत्" इति । वेदभाष्यकाराश्चेत्यं व्याचक्षुः-त्वदिति सर्वनामसु पठितोऽनुदात्तोऽप्यमन्यपर्याय इति ।

जयदेवोऽपि प्रायुङ्क्त । “त्वदधरमधुरमधूनि पिवन्तम्” इति । त्वत्तोऽन्यस्या अधर इति विग्रहः । न तु तवा धर इति, “पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्” इति पूर्ववाक्येन सहानन्वयापत्तेः । नेम इति । श्रूयते च—“प्र नेमस्मिन् ददुशे सोम” इति । सम इति । तथा च श्रूयते “नभन्तामन्यके समे” । “मानो वृकाय वृक्ये समस्मै” । “उरुष्याणो अधायतः समस्मात्” । “उतो समस्मिन्ना” इत्यादि । “सिमः कृत्स्ने च शक्ते च स्थान्मर्यादावबद्धयोः” ॥ श्रूयते च—“आद्रात्री वासस्तनुतेसिमस्मै” । “उच्छुक्रमत्कमजते सिमस्मात्” । उभयत्रापि सिमशब्दः सर्वपर्याय इति वेदभाष्यम् ॥

(‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ सू. २१७ या सूत्रावरील कौमुदींत ‘त्व त्व इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायी, एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्त इत्येके’ असें जें म्हटलें आहे त्या पंक्तीतील) ‘एके’ या पदाचा ‘काशिकाकाराः’ असा अर्थ आहे. (‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ १-१-२७ या सूत्रावरील वृत्तींत ‘त्वशब्दोऽन्यवाची स्वरभेदाद् द्विः पठितः । एक उदात्तो द्वितीयोऽनुदात्तः । केचित् तकारान्तमेकं पठन्ति । त्वत्वदिति, द्वावपि चानुदात्ताविति स्मरन्ति’ असें काशिकाकारांनीं म्हटलें आहे, व तसें म्हणण्याचें कारण हें कीं,) ‘एतन्त्वं मन्थे’ हें उदात्ताचें उदाहरण वेदांत आढळत असून ‘उत त्वः पश्यन्’ हें अनुदात्ताचें देखील उदाहरण आढळतें. कौमुदीच्या वरील पंक्तींत ‘एक उदात्तः’ असें जें म्हटलें आहे त्यांतील ‘एकः’ या पदाचा ‘प्रथमः’ असा अर्थ आहे. (वास्तविक सर्वादिगणामध्ये ‘त्वत्, त्व’ असे, प्रथम तकारान्त व द्वितीय अकारान्त, शब्द पठित आहेत. गणपाठाच्या कित्येक प्रतींत ‘त्व, त्व’ असें दोन्ही अकारान्त शब्द पठित असावे असें दिसतें आणि म्हणूनच ‘एकस्तान्तः इत्यपरे’ असें कौमुदींत म्हटलें आहे.) ‘त्वत्, त्व’ या दोन शब्दांचा मिळून एकत्र संहितापाठ-दण्डपाठ-कैल्यास जरी प्रथम शब्द तकारान्त आहे हें स्पष्ट होत नाही तरी, ‘त्वत्’ असाच पदच्छेद केला पाहिजे. तसा पदच्छेद होतो असें न मानल्यास, पाणिनीनें स्वररहित

‘त्व’ हा शब्द एकदांच गणपाठात पठित केला असता (व तसा पाठ केला असता तर उदात्त ‘त्व’ आणि अनुदात्त ‘त्व’ या दोन्ही शब्दांचे त्या एकश्रुति ‘त्व’ शब्दानें ग्रहण झालेच असते. असे अमून पाणिनीनं दोन ‘त्व’ शब्द उच्चारले असल्यामुळें, दोहोचा दण्डपाठ करून प्रथम शब्द तकारान्त आहे हे मानणे उचित ठरते.) प्रथम ‘त्व’ शब्द तकारान्त नाही याबद्दल मनात सदेह उत्पन्न होऊं देऊ नये; कारण ‘त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि’ फिट्. सू. ७८ या फिट्सूत्रात ‘त्वत्’ या तान्त शब्दाचा व तसेच ‘त्व’ या अदन्त शब्दाचा निर्देश केला आहे. त्याचप्रमाणे ‘स्तरीर त्वद्भवति, सूत उ त्वत्’ या ऋग्वेदातील मन्त्रात ‘त्वत्’ या तकारान्त सर्वनामाचा प्रयोग आढळतो व त्या मन्त्राचे व्याख्यान करिताना वेदभाष्यकार असे म्हणतात की, सर्वादिगणात पठित असलेले ‘त्वत्’ हे सर्वनाम अनुदात्त असून ते ‘अन्य’ या अर्थाचे वाचक आहे. जयदेवानें देखील ‘त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्’ या श्लोकात ‘त्वत्’ या सर्वनामाचा प्रयोग केला आहे व या श्लोकातील ‘त्वदधर’ या शब्दाचा ‘त्वत्-अन्यस्या. अधरः’ असा विग्रह आहे. ‘तव अधरः’ असा विग्रह करता येत नाही, कारण तसा विग्रह केल्यास, पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्’ या पूर्वं वाक्याशी अन्वय न होण्याची आपत्ति येते (‘त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्’ हे कृष्णाचे विशेषण आहे. ‘तव अधरः’ असा विग्रह केल्यास, कृष्ण स्वतःच्या अधराचे पान करीत आहे असा अनिष्ट अर्थ होण्याची आपत्ति येईल व स्वकर्तृक स्वीयाधर-पान हे श्रृङ्गाराचे पोषक नसल्यामुळें, ‘त्वदधर’ या पदाचा ‘त्वत्’, अन्यस्या. गोप्या, अधरः’ असाच अर्थ करणे योग्य आहे) ‘नेम’ या सर्वनामाचा प्रयोग ‘प्र नेमस्मिन् ददूशे सोमः’ या श्रुतीत आढळतो. (या श्रुतीत ‘नेम’ या शब्दाचे ‘नेमे’ असे सप्तमीचे एववचन न करिता ‘नेमस्मिन्’ असे सप्तमीचे एकवचन केले आहे) ‘सम’ या सर्वनामाचा प्रयोग ‘नभन्तामन्यके समे, मातो वृकाय वृक्ये समस्मै, उरुध्याणो अघायत समस्मात्, उतो समस्मिन्ना’

इत्यादि श्रुतींत आढळतो. 'सिमः कृत्स्ने च शक्ते च स्यान्मर्यादाव-
वद्धयोः' असा कोश आहे आणि 'आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै,
उच्छुक्रामत्कमजते सिमस्मात्' या श्रुतींत 'सिम' या सर्वनामाचा
प्रयोग आढळतो. या दोन्ही श्रुतींतील 'सिम' हा शब्द 'सर्व' या
अर्थाचा वाचक आहे असें वेदभाष्यांत म्हटलें आहे.

शब्दरत्न-अनन्वयापत्तेरिति । तेन हि वाक्यशेषेण कृष्णस्य
संबोद्धचत्वावगत्या संबोद्धचस्य च युष्मदर्थत्वेनानन्वयः । पिवन्तं
भवन्तमिति चानन्वितमिति बोद्धचम् । अत्र पक्षे त्वं इत्येकश्रुत्योदा-
त्तानुदात्तयोर्निर्देश इति बोद्धचम् ।

'अनन्वयापत्तेः' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचें कारण
हें कीं, 'पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्' या अवशिष्ट वाक्या-
वरून 'कृष्ण' संबोध्य आहे हें जात होत असल्यामुळें ('त्वदधर'
यांतील 'त्वत्' हा शब्द 'युष्मद्' या अर्थाचा, म्हणजे 'तूं' या
अर्थाचा, वाचक मानल्यास,) संबोध्य कृष्णाचा 'त्वदधर' याशीं
अन्वय होऊं शकत नाही, म्हणजे 'पिवन्तं भवन्तम्' यांचा परस्परांशीं
अन्वय होऊं शकत नाही. (याचें विवरण मनोरमेंत केलेंच आहे.)
'त्वत् त्व' असा सर्वादिगणांत पाठ आहे असें मानल्यास, या पक्षांत
स्वररहित उच्चारलेला 'त्व' हा शब्द उदात्त व अनुदात्त असणान्या
दोन्ही प्रकारच्या 'त्व' या शब्दांचा निर्देश करणारा शब्द आहे हें
जाणावें. (वेदांत 'त्व' हा शब्द कोठें कोठें उदात्त व कोठें कोठें
अनुदात्त आढळतो. दोन्ही प्रकारच्या 'त्व' शब्दांचें ग्रहण व्हावें या-
करितां, सर्वादिगणांत पठित असलेला 'त्व' हा शब्द स्वररहित
पठित आहे असें मानल्यानें, त्या शब्दानें उदात्त व अनुदात्त अशा
दोन्ही प्रकारच्या 'त्व' शब्दांचें ग्रहण करतां येते.)

मनोरमा-गणसूत्र इति । यद्यपि भाष्ये अष्टाध्यायीस्थे सूत्रे
"अपुरि इति यथतथ्यम्" इति वार्तिकं पठितं तथापि तद्गणसूत्रस्य
शेषः, नतु जति विभाषापिपायकस्य । "अत" इत्यधिकृत्य जसः

श्रीविधानात् टाबन्तात्प्राप्त्यभावात् । अन्तराध्यामिति । प्राकाराद्वा-
ह्यायां तदन्तर्व्यतिग्यां येत्यर्थः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया एकादेशस्य
पूर्वान्तित्वेन ग्रहाणाद्वा शान्तिर्वोद्धृता । स्यद्, तद्, एतौ उक्तपराम-
र्शवौ । तत्राद्यश्छान्दस इति गणरत्नकारः । तत्र । “स्यश्छन्दसि
बहुलम्” इति सूत्रे छन्दोग्रहणवैयर्थ्यापत्तेः ।

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।

साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥

(‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ सू. २१७ या सूत्रावरील कौमुदीत
‘अपुरीति वक्तव्यम्’ हे जें वार्तिक पठित केले आहे त्या संबधानें
दीक्षित असे म्हणतात की) जरी ‘अपुरि इति वक्तव्यम्’ हे वार्तिक
‘अन्तरं बहिर्योगोपसव्यानयो’ १-१-३६ या अष्टाध्यायीत पठित
असलेल्या सूत्रावरील भाष्यात पठित केले आहे तरी, ‘अन्तरं
बहिर्योगोपसव्यानयोः’ असा जो सर्वादिगणात पाठ आहे त्या गण-
पाठाचा शेष या रूपानें ते वार्तिक पठित केले आहे. ‘जस्’ प्रत्यय
पुढें असतांना सर्वनामसज्ञा विकल्पें करून होते हे विधान करणाऱ्या
‘अन्तरं बहिर्योगोपसव्यानयोः’ सू. २२० या अष्टाध्यायीतील
सूत्राचा तें वार्तिक शेष नव्हे, म्हणजे त्या सूत्रावर ते वार्तिक आहे
असे मानू नये, कारण (‘अतो भिस ऐस्’ या पूर्वसूत्रातून
‘जसः शी’ या उत्तरसूत्रात ‘अतः’ या पदाची अनुवृत्ति होत
असल्यामुळें व) अदन्त सर्वनामप्रकृतीपुढें ‘जस्’ प्रत्यय आल्यास
त्या प्रत्ययाचे जागी ‘शी = ई’ हा आदेश होतो असे ते सूत्र विधान
करणारे असल्यामुळें, टाबन्त-आकारान्त स्त्रीलिङ्ग-सर्वनामप्रकृती-
पुढें ‘जस्’ प्रत्यय आला असता, त्या प्रत्ययाचे जागी ‘शी’ हा
आदेश होण्याची प्राप्तीच नाही. (‘पूः’ हा शब्द स्त्रीलिङ्ग असल्या-
मुळें ‘अन्तरा’ हा टाबन्त शब्दच त्याचे विशेषण होऊ शकतो व
‘अन्तरा’ या टाबन्त शब्दापुढें ‘जस्’ प्रत्यय आल्यास, तो शब्द
सर्वनामसज्ञक असो किंवा नसो, त्याचे ‘अन्तराः’ असेच जस्प्रत्य-

यान्त रूप होऊं शकतें आणि अष्टाध्यायींतील सूत्रावर 'अपुरि' हें वार्तिक पठित आहे असें मानल्यानें कांहींच फलनिष्पत्ति होत नाही; कारण वर सांगितल्याप्रमाणें 'अन्तर' या अदन्त शब्दाचीं जशीं 'अन्तराः अन्तरे' अशीं जसूप्रत्ययान्त पाक्षिक रूपें होऊं शकतात तशीं 'अन्तरा' या टावन्त शब्दाचीं जसूप्रत्ययान्त पाक्षिक रूपें न होतां 'अन्तराः' असें एकच रूप सिद्ध होऊं शकणार. परंतु तें गणसूत्रावर वार्तिक आहे असें मानल्यानें, जेव्हां 'अन्तरा' हा शब्द 'पुरि' या सप्तम्यन्त शब्दाचें विशेषण होतो तेव्हां त्याला त्या वार्तिकानें सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला असल्यामुळे, 'सर्वनामनः स्याद् न्हस्वश्च' सू. २९१ हें सूत्र प्रवृत्त न होतां व 'अन्तरस्याम्' असें सप्तमीच्या एकवचनाचें रूप न होतां 'अन्तरायाम्' असेंच रूप होतें.) 'अन्तरायां पुरि' याचा 'प्राकाराच्या बाहेर किंवा आंत असलेली वस्ती' असा अर्थ आहे. लिङ्गविशिष्टपरिभाषेनें, किंवा पूर्वान्तवद्भाषानें एकादेश हा अदन्त प्रकृतीचा अन्त्य अवयव आहे असें मानल्यानें, 'अन्तरा' या शब्दाला सर्वनामसंज्ञेची प्राप्ति होते हें जाणावें. (सर्वाविगणांत 'अन्तर' हा शब्द 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' या गणसूत्रांत पठित आहे व प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्—परि. ७२—या परिभाषान्वयें 'अन्तर' या शब्दानें स्त्रीत्वबोधक टावन्त 'अन्तरा' या शब्दाचें ग्रहण करतां येतें. तसेंच 'अन्तर' या शब्दाहून 'टाप् = आ' हा प्रत्यय केला असतां, 'अन्तर आ = अन्तरा' या स्थलीं 'अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें 'अ' व 'आ' या दोहोंचे जागी 'आ' असा जो एकादेश हातो त्याला पूर्वान्तवद्भाषानें 'अन्तर' या अदन्त प्रकृतीचा अन्त्यवयव—'अ'—आहे असें मानल्यास किंवा 'एकदेशविकृत-मन्त्ववत्'—परि. ३७—या परिभाषान्वयें 'अन्तरा' हा एकदेशविकृत शब्द 'अन्तर' शब्दच आहे असें मानल्यास, 'अन्तरा' या शब्दाला 'गर्वादीनि गर्यनामानि' या सूत्रान्वयें सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होते व त्या सर्वनामसंज्ञेचा निषेध करणारें 'अपुरि' हें वार्तिक असल्यामुळे,

‘अन्तरस्याम्’ असे सप्तमीच्या एकवचनाचे रूप न होतां ‘अन्तरा-
याम्’ असे रूप होऊन ‘अन्तराया पुरि’ असा प्रयोग सिद्ध होतो.)
‘त्यद्, तद्’ हीं जी दोन सर्वनामों सर्वादिगणात पठित आहेत ती
जें पूर्वी उक्त-सांगितले-आहे त्याचा परामर्श करणारी, म्हणजे बोध
करून देणारी, सर्वनामों होत. गणरत्नकाराचे असे म्हणणे आहे की,
या दोन सर्वनामांपैकी ‘त्यद्’ या प्रथम सर्वनामाचा वेदातच प्रयोग
होतो. पण हे म्हणणे बरोबर नाही; कारण ते म्हणणे बरोबर
मानल्यास, (‘स्य इत्थस्य सोर्लोपः स्याद् हलि बहुले छन्दसि’ या
अर्थाचा वाचक) ‘स्यश्छन्दसि बहुलम्’ सू. ३५२६ या सूत्रातील
‘छन्दसि’ या पदाचे ग्रहण व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. (‘त्यद्’
या सर्वनामाचा वेदातच प्रयोग होत असता तर, बरील सूत्रात
‘छन्दसि’ हे पद घालण्याची काहीच गरज नव्हती व पाणिनीने
‘स्यो बहुलम्’ एवढेंच सूत्र केले असते. पण त्या सूत्रात ‘छन्दसि’
हे पद घातले असल्यामुळे त्यावरून हें स्पष्ट होते की, ‘त्यद्’ या
सर्वनामाचा जसा वेदात प्रयोग होतो तसा भाषेत देखील प्रयोग
होतो, व सूत्रार्थ असा निष्पन्न होतो की, वेदात ‘त्यद् सु = स्य’
याहून झालेल्या ‘सु’ प्रत्ययापुढें हल् आला असता, ‘स्य’ पुढील
‘सु’ प्रत्ययाचा बाहुल्यानें लोप होतो, पण भाषेत तसे बहुलत्वानें
होणारे ‘सु’ लोपकार्य होत नाही.) सर्वादिगणात पठित असलेले
‘एक’ हे सर्वनाम ‘एकोऽन्यार्थे’ प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽप्ये सङ्ख्याया च प्रयुज्यते ॥’ या श्लोकान्वयें
‘अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान, अल्प’ व ‘एक-
संख्या’ या अर्थांचे वाचक आहे.

शब्दरत्न—प्राप्त्यभावादिति । पू.शब्देन स्त्रीत्वविशिष्टस्यैव
बोधनेन तादृशार्थस्य विशेष्यत्वे एव तत्प्रयुक्तेः । अत एव भाष्ये
“अन्तरायाम्” इति स्त्रिया सप्तम्यामेवोदाहृतमिति भावः । केवल
ति । असहाय इत्यर्थः ॥

‘टावन्तात् प्राप्त्यभावात्’ असें जें मनोरमेत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ‘पूः’ हा शब्द नित्य स्त्रीलिङ्गाचाच बोधक असल्यामुळें, तसा स्त्रीत्वविशिष्ट ‘पुरि’ हा सप्तम्यन्त शब्द विशेष्य असतानाच ‘अपुरि’ हें वातिक प्रवृत्त होतें; आणि म्हणूनच भाष्यांत ‘अन्तरायां पुरि’ असें केवळ सप्तमीचें स्त्रीलिङ्गाचें उदाहरण दिलें आहे. (‘अपुरः’ असें वातिक पठित न करितां ‘अपुरि’ असें वातिक पठित केलें असल्यामुळें व त्या वातिकाचें भाष्यकारांनीं जसप्रत्ययान्ताचें उदाहरण दिलें नसल्यामुळें, त्यावरूनच हें सिद्ध होतें कीं, तें वातिक अष्टाध्यायींत पठित केलेल्या सूत्रावर वातिक नसून गणपाठांत पठित केलेल्या त्या सूत्रावर वातिक आहे आणि म्हणूनच ‘यद्यष्टाध्यायी-स्यसूत्रस्य शेषः स्यात्तदा जसप्रत्ययपरकप्रयोगमेव कुर्यात्’ असें भैरवीकारांनीं म्हटलें आहे आणि त्या वातिकचा असा अर्थ होतो कीं, ‘पुरि’ या स्त्रीलिङ्ग सप्तम्यन्त रूपाचें ‘अन्तरा’ हें विशेषण असल्यास, ‘अन्तरा’ याला सर्वनामसंज्ञा होत नाही, परंतु इतर विभक्तींत ‘अन्तरा’ याला सर्वनामसंज्ञा होतेच आणि त्यामुळें ‘अन्तरस्थाः पुरः आगतः’ वसाच प्रयोग होऊं शकतो.) ‘एकोऽन्यार्थे प्रधाने च’ या श्लोकांतील ‘केवल’ या शब्दाचा असहाय-एकाकी-असा अर्थ आहे.

मनोरमा-स्वाभिधेयेति । स्वस्य पूर्वादिशब्दस्याभिधेयेनापेक्ष्यमाणस्यावधेयनियम इत्यर्थः । ‘दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्या’ इत्यादावपि व्यवस्थाअस्त्येव प्रसिद्धत्वात्तु नावधियाची शब्दः प्रयुज्यते । न च संज्ञात्वान्निषेधः । आधुनिकसंज्ञेता हि संज्ञा । न च दिक्षु सा ऽस्ति इति अस्तातिप्रकरणे कैयटहरदत्तादयः । अत्र दिक्षु चिरंतनः, कुरुषु तु आधुनिकः संज्ञेता इत्यत्र ज्याख्यातुध्वनमेव प्रमाणम् । एतेन “विश्येषां देवानाम्” इति व्याख्यातम् । वेदप्रसिद्धत्वात् । देवगणविशेषे विश्वशब्दस्याधुनिकसंज्ञेताभावात् । दक्षिणा गायका इति । इहामुक्त्वात् कुशला इति अवगम्यन्वेयस्तन्भवेऽपि तन्निवृत्तौ

नास्तीति भावः । अघरे ताम्बूलरागः । उत्तरे प्रत्युत्तरे च शश्वत इत्यपि प्रत्युदाहृतं व्यम् । कथं तर्हि “तथा परेषां युधि च” इति कालिदासः, “अपरे प्रत्यवतिष्ठन्ते” इत्यादि च । अत्राहुः—देश-वाचितया व्ययस्थायिपययोरेव परापरशब्दयोरुपचाराच्छत्री प्रति-वादिनि च प्रयोगः । न चैवमुपसर्जनता । न हि लाक्षणिकत्व-मुपसर्जनत्वम् । किं तु स्वायंविशिष्टार्थान्तरसंक्रमः । स च समा-सादिवृत्ताख्ये । अत एव भूवादिसूत्रे “एताग्यपीति—एतत्प्रतिपाद्यानि वस्तुनीत्यर्थ” इति कथंटीकितः सङ्गच्छते । यस्तुतस्तु परापरशब्द-योर्देशान्तरनिष्ठत्वादिकमेवायं । शत्रुत्वादिकं तु आधिकोऽयं । असंज्ञायां किम् । उत्तराः कुरवः । सुमेरुमवधिमपेक्ष्य कुरुषूत्तरशब्दो वर्तते इत्यस्तीह व्यवस्था । किं तु आधुनिकसङ्केतोऽयमित्याहुः ।

(‘पूर्वापर’ सू. २१८ या सूत्रावरील कौमुदीत) ‘स्वामिधे-यापेक्षावधिनियमो व्यवस्था’ असे जें म्हटले आहे त्याचा ‘स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य अभिधेयेन अपेक्ष्यमाणस्य अवधेनियमः’, म्हणजे ‘पूर्वापर’ या सूत्रात पठित असलेले ‘पूर्व, पर अवर’ इत्यादि जे शब्द त्या शब्दाचा जो अभिधेय—वाच्यार्थ—त्या वाच्यार्थाला ज्या अवधीची—मर्यादेची—नियमं करून अपेक्षा असते तो अवधि दर्शविणारी व्यवस्था, असा अर्थ आहे ‘दिश. सपत्नी भव दक्षिणस्याः’ इत्यादि स्थली देखील व्यवस्था आहेच. येथें प्रसिद्धत्वा-मुळे अवधिवाचक शब्दाचा उपयोग केला नाही. (या वरील उदा-हरणात ज्या स्थली विद्यमान असणाऱ्या पुरुषानें वरील आशिर्वाद-रूप श्लोक उच्चारला आहे ते स्थल जरूरी त्या श्लोकात निर्दिष्ट केले नाही तरी, ते अध्याहृत स्थल दक्षिणदिशेचा अवधि सांगणारे स्थल आहे असे मानता येते आणि अशा रीतीने वरील उदा-हरणात अवधि दर्शविणारी व्यवस्था आहे असे म्हणतां येते. ‘पूर्व, पर’ इत्यादि शब्द त्या त्या दिशेला असणाऱ्या देशविशेषाचे वाचक असल्यामुळे, ते शब्द सज्ञावाचक ठरतात आणि प्रकृत सूत्रात ‘असंज्ञा-याम्’ असा निषेध असल्यामुळे) त्या सज्ञावाचक शब्दाना सर्वनामसज्ञा

होऊ शकत नाही असे कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण आधुनिक पुरुषकृत संकेत याला संज्ञा म्हणतात. दिशांचे ठिकाणी 'संज्ञा' हा शब्द लागू पडत नाही, म्हणजे 'पूर्व, अपर' इत्यादि दिग्वाचक शब्द संज्ञावाचक ठरत नाहीत, असे 'अस्ताति' प्रकरणांत कैयट, हरदत्त इत्यादिकांनीं म्हटलें आहे. ('पूर्व, उत्तर, दक्षिण' इत्यादि जे शब्द दिशांचे वाचक आहेत ते अनादिसंकेतसिद्ध असून त्यांना आधुनिक पुरुषकृत संकेतान्वयें ती संज्ञा प्राप्त झालेली नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्रांतील 'असंज्ञायाम्' या निषेधानें तशा अनादिसंकेतसिद्ध शब्दांचें ग्रहण होत नाही. 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच' सू. ५-३-२८ या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तींत कैयटानें 'यद्येवं दिशः पूर्वादीनि नामधेयानीत्यसंज्ञायामिति सर्वनामसंज्ञानिषेधात् पूर्वस्यां दिशि वसतीत्यादि न सिध्यति । पौरुषेयसंज्ञाश्रयणादिह च तदभावाददोषः ।' असें म्हटलें आहे.) 'पूर्व, पर' इत्यादि शब्द अनादिसिद्धसंकेतानें दिशांचे वाचक असून, आधुनिकपुरुषसंकेतानें ते शब्द 'कुरु' इत्यादि देशांचे वाचक आहेत याला (कैयटादि) व्याख्यात्यांचें बचन प्रमाण आहे. या बरील व्याख्यानान्वयें 'विश्वेषां देवानाम्' या प्रयोगाची उपपत्ति लावतां येते. 'विश्व' हा शब्द देवगणविशेषाचा वाचक आहे हें वेदांत प्रसिद्ध आहे व आधुनिक संकेतानें तो शब्द तशा अर्थाचा वाचक नाही. (तो शब्द अनादिसिद्ध-संकेतानें तशा अर्थाचा वाचक असल्यामुळे, त्याला प्रकृत सूत्रां-तील 'असंज्ञायाम्' हा निषेध लागू पडत नाही व त्याला सर्वनाम-संज्ञा होण्यांत कांहीं बाध येत नाही आणि म्हणून 'विश्वेषां देवानाम्' या प्रयोगांतील 'विश्वेषाम्' याची सहज उपपत्ति लागू शकते.) 'दक्षिणः गाथकाः' या उदाहरणांत ('दक्षिण' हा शब्द 'कुशल' या अर्थाचा वाचक आहे आणि) हे गाथक अमुकापेक्षा अधिक कुशल आहेत असा जरी या स्थलीं अवधिरूप अन्वय संभवतो तरी, अशा स्थलीं नियमंकरून अवधीची आकांक्षा राहत नसल्यामुळे, येथें 'दक्षिण' या शब्दाला सर्वनामसंज्ञा होत नाही. (व त्यामुळे

‘दक्षिणे गायकाः’ असा प्रयोग करता येत नाही.) ‘अधरे ताम्बूल-
 रागः, उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्तः’ हे प्रयोग देखील प्रत्युदाहरणरूपाने
 देता येऊ शकतात (‘अधर’ हा शब्द आधुनिक सवेतःस्वयं
 खालच्या ओठाचा वाचक असल्यामुळे व अशा रीतीने तो शब्द
 सजावाचक ठरत असल्यामुळे, ‘असंज्ञायाम्’ या निषेधान्वयें त्याला
 सर्वनामसज्ञा होत नाही व ‘अधरस्मिन् ताम्बूलराग’ असा प्रयोग
 करता येत नाही ‘उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्त’, म्हणजे उत्तर व
 प्रत्युत्तर देण्यात समर्थ—हुशार—, या उदाहरणात ‘उत्तर’ हा शब्द
 आधुनिक सकेताने, काही प्रश्न केले असता जें उत्तर दिले जाते,
 त्या अर्थाचा वाचक असल्यामुळे, त्याला ‘असंज्ञायाम्’ या
 निषेधान्वयें सर्वनामसज्ञा होत नाही व या शब्दाला अवधीची
 आकाक्षा नाही हेहि उघड आहे.) मग ‘तथा परेपायुधि च’ यातील
 ‘परेपाम्’ या कालिदासाने केलेल्या प्रयोगाचे व तसेच ‘अपरे
 प्रत्यवतिष्ठन्ते’ यातील ‘अपरे’ या प्रयोगाचे समर्थन कसे करावे ?
 प्रकाशकार या प्रयोगाचे अशा रीतीने समर्थन करतात की, ‘पर,
 अपर’ हे शब्द देशवाचक असल्यामुळे व अशा रीतीने ते शब्द
 व्यवस्थेचा विषय, म्हणजे नियमंकरून अवधिसाक्षा, ठरत असल्या-
 मुळे, त्या शब्दाचा ‘शत्रु’ व ‘प्रतिवादी’ या अर्थामध्ये अनुक्रमे
 लक्षणेने प्रयोग होतो (व त्यामुळे त्यांना सर्वनामसज्ञा होते अशा
 रीतीने ‘पर, अपर’ या शब्दाचा जरी लाक्षणिक अर्थामध्ये प्रयोग
 केला जातो तरी, ‘उपसर्जनोभूता सर्वादयः सर्वनामसज्ञका न भवन्ति’
 हा निषेध लागू पडण्याकरिता ज्या प्रकारचे उपसर्जनत्व आवश्यक
 आहे ते) उपसर्जनत्व त्या शब्दात नाही, कारण लाक्षणिक अर्थ
 केल्याने उपसर्जनत्व प्राप्त होत नाही आपला अर्थ भिन्न अर्थामध्ये
 विशेषणरूपाने सक्रमित करून आपल्या अर्थाने युक्त अशा भिन्न
 अर्थाचा बोध करणे याला ‘उपसर्जन’ असे म्हणतात. हें उपसर्जनत्व
 समास इत्यादि घृतीमध्येच असते (‘पर, अपर’ हे शब्द जेव्हा
 लक्षणेने ‘शत्रु, प्रतिवादी’ या अर्थाने वाचक होतात तेव्हा त्यांचा

मूल अर्थ अर्थान्तरामध्ये संक्रमित होत नसल्यामुळे व त्यांच्या मूल अर्थापासूनच त्यांचा वरील लाक्षणिक अर्थ निष्पन्न होत असल्यामुळे, त्यांना 'उपसर्जन' ही संज्ञा होत नाही आणि अशा रीतीने ते शब्द वरील निषेधाच्या कक्षेत येत नसल्यामुळे, त्यांना सर्वनामसंज्ञा होण्यांत कांहीं बाध येत नाही.) सर्वादिगणांतील शब्द लाक्षणिक अर्थाचा बोधक असला तरी त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत नसल्यामुळेच, 'भूवादयो धातवः' सू. १-३-१ या सूत्रावरील भाष्यांतील 'एतान्यपि भवन्ति' या वाक्यांतील 'एतानि' या पदाचा 'एतत्प्रतिपाद्यवस्तुनि' असा जो कंयटानें लक्षणेनें अर्थ केला आहे तो योग्य ठरतो. (त्या भाष्यांत 'भावसाधनो धातुः' असें धातूचें लक्षण केलें असतां व त्यांतील 'भाव' या शब्दाची 'भवतीति भावः' अशी व्युत्पत्ति केली असतां, 'किं कृतं भवति', म्हणजे काय साधलें जातें, असा प्रश्न करून त्या प्रश्नाचें उत्तर देतांना भाष्यकार म्हणतातः— 'विप्रतिषिद्धानां धातुसंज्ञा सिद्धा भवति । भवेत् विप्रतिषिद्धानां धातुसंज्ञा सिद्धा स्यात् प्रातिपदिकानामपि प्राप्नोति । वृक्षः प्लक्ष इति । किं कारणम् ? । एतान्यपि हि भवन्ति । ' या भाष्याचा अर्थ असा आहे कीं, 'भवतीति भावः' अशी कर्तृप्रत्ययान्त व्युत्पत्ति केली असतां, भावाच्या विरुद्ध असणाऱ्या अशा अभावार्थाला दाखविणाऱ्या 'भिद्' वर्गरेता धातुसंज्ञा सिद्ध होते. पण असें करण्यांत जरी 'सिद्' वर्गरेता धातुसंज्ञा सिद्ध होते तरी, 'वृक्ष, प्लक्ष' इत्यादि प्रातिपदिकांना देखील धातुसंज्ञा प्राप्त होते; कारण या प्रातिपदिकांचा अर्थ झाड वर्गरे हे देखील उत्पन्न होणारेच पदार्थ आहेत. या भाष्यांत 'वृक्ष, प्लक्ष' हे पुल्लिङ्गी असून 'एतानि' असा जो नपुंसक सर्वनामाचा निर्देश केला आहे तो दिसण्यांत अयोग्य ठरत असल्यामुळे, कंयटानें 'एतानि' या पदाचें 'एतत्प्रतिपाद्यानि वस्तुनि' असें व्याख्यान केलें आहे. येथें 'एतानि' हा शब्द 'हीं' या मूल अर्थाचा बोधक नसून जरी लक्षणेनें प्रतिपाद्य वस्तूचा बोधक आहे तरी, त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत नाही. यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, सर्व-

नामाचा लाक्षणिक अर्थामध्ये उपयोग केला असला तरी, त्याची सर्वनामसज्ञा नाहीशी होत नसून कायम राहते. जेव्हा सर्वनामाचा अर्थ इतर पदाच्या अर्थामध्ये विशेषणरूपाने सक्रमित होऊन ते सर्वनाम स्वार्थाला धरून विशेष्यरूप अन्य पदार्थाचे बोधक होते तेव्हाच त्याची सर्वनामसज्ञा नष्ट होत असते. उदाहरणार्थ 'अतिसर्वाय देहि' या उदाहरणात 'सर्व' या शब्दाचा अर्थ 'अति' या पदाच्या अर्थामध्ये विशेषणरूपाने सक्रमित होऊन 'सर्वाचे अतिक्रमण करणारा विशेष्यरूप पुरुष' या अन्य पदार्थाचा बोधक होत असल्यामुळे, म्हणजेच 'सर्व' हा शब्द उपसर्जनीमूत होत असल्यामुळे, त्याची सर्वनामसज्ञा नष्ट होते व त्यामुळे 'अतिसर्वस्मै' असे चतुर्थीच्या एकवचनाचे रूप न होता 'अतिसर्वाय' असेन रूप होते.) वास्तविक 'पर, अपर' हे शब्द देशान्तर-अन्य देश-या अर्थाचेच वाचक आहेत. शत्रु इत्यादि जो त्याचा अर्थ होतो तो आधिक-मूळ अर्थातूनच निघणारा-अर्थ होय. (तसा अर्थ करण्याकरिता लक्षणावृत्ति मानण्याची काही गरज नाही त्या शब्दाचे दोन्ही प्रकारचे अर्थ, म्हणजे देशान्तर व शत्रु प्रतिवादी हे अर्थ, अभिधाशक्तीनेच बोधित होतात.) 'उत्तरा. कुरव' हे असर्जेचे कौमुदीत प्रत्युदाहरण दिले आहे या उदाहरणात सुमेरु पर्वत अवधि मानून कुरूचे ठिकाणी 'उत्तर' हा शब्द लावला आहे व अशा रीतीने येथे व्यवस्था मानता येते. परंतु कुरूचे ठिकाणी जो 'उत्तर' शब्द लावला जातो तो आधुनिक पुरुषकृत सकेतामुळे लावला जातो. (त्यामुळे 'उत्तर' हा शब्द सज्ञावाचक ठरून 'असज्ञायाम्' या निषेधामुळे त्याला सर्वनामसज्ञा होत नाही व 'उत्तरे कुरव.' असा प्रयोग होऊ शकत नाही) असे प्रकाशकाराचे म्हणणे आहे

शब्दरत्न-स्वाभिधेयापेक्षावधीति समस्तपाठं व्याचष्टे-स्वस्येत्यादि । अपेक्षेति कर्मणि घञ् । व्यवस्थास्त्येवेति । पूर्वादिशब्दरेकस्या एव दिश उपाधिभूतभेदस्य प्रतिपादनम् । (१) उपाधिश्च पृथ्वीमध्ये, तत्प्रान्तवर्तिनश्चत्वार. पर्वताश्च । रामायणे किङ्किण्याया

सुग्रीवेण मध्यदेशावधिकस्यैव दिग्बिभागस्योक्तेः । पृथ्वीमध्यं च मध्याह्नसूर्यसंयोगिदेशः । एवं च तन्मध्यभागावधिकोदयाचलादि-पर्यन्तदेशरूपोपाधिविशिष्टदिशि पूर्वादिशब्दानां तत्तच्छब्दं प्रवृत्ति-निमित्तीकृत्य प्रवृत्तिरित्युपाध्यन्तर्गततया व्यवस्थाऽस्त्येव । उदया-चलपर्यन्तरूपोपाधेस्तदभिधेयस्य तदाकाङ्क्षात्वं चास्त्येव । मध्याह्न-सूर्यसंयोगिदेशात्तत्संमुखदेश उदक् । तत्पृष्ठस्थदेशश्च दक्षिणा । मध्याह्ने सूर्यस्योदङ्मुखत्वात् । स्पष्टं चेदं हेलाराजीये । व्यवस्थाया-मिति च विषयसप्तमीति भावस्तदाह-प्रसिद्धत्वादिति । देशवृत्तीनां तत्तदवधिकोदयाचलसंनिहितत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तमित्यादि ब्रुद्धचम् आधुनिकसङ्केतो ह्येति । असंज्ञापदसामर्थ्यादन्यथा सर्वादीनां केवल-रुद्धत्वेनेन्द्रादिपदानामिव रुद्धत्वरूपसंज्ञात्वस्य सर्वत्र सत्त्वात्तदसङ्गतिः स्पष्टं वेति भावः । व्याख्यात्रिति । कैयटादीत्यर्थः आधुनिकसङ्केता-भावादिति । किं त्वैश्वर एवेति भावः । यदि तत्रोत्कर्षस्यावधिसा-पेक्षत्वाद्यवस्थास्तीत्याग्रहस्तदा प्रत्युदाहरणान्तरमाह-अधरे इत्यादि । अत्रापि संज्ञात्वं मत्वाऽऽह-उत्तरे इत्यादि । उपचारादिति । तत्त्वा-रोपादिति भावः । अर्थान्तरसंक्रम इति । (१) स्वार्थविशिष्टार्था-न्तरबोधकत्वमित्यर्थः । इदं च “ ज्ञितश्च तत्प्रत्ययाद् ” इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितम् । मेवार्थ इति । देशवदयमपि तच्छब्दइत्यर्थः । तुल्यग्यायादेतच्छब्दस्यापि कैयटोक्तार्थं शक्य इति ध्वनितम् । सुमेरु-मिति । हिमवानवधिरिति तु “ ये केचन परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा ” इति ऐतरेयब्राह्मणे श्रूयते । उत्तरा इत्यस्य तन्नामान् इत्यर्थस्तदा ऽऽह-आधुनिकेति । “ उत्तराः कुरवो दक्षिणान् कुरुनपेक्ष्योत्तरा उच्यन्ते ” इति तु कपिञ्जलाधिकरणे शाबरभाष्ये उपतम् ।

‘स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य ... इत्यर्थः’ या मनोरमेतील पंक्तीत
‘स्वामिधेयापेक्षावधिनियमः’ या (प्रकृत सूत्रानरील कीमुदीतील)
सामासिक शब्दाचें व्याख्यान केलें आहे. या सामासिक शब्दांतील
‘अपेक्ष’ हा शब्द (‘अपेक्ष्यते इति अपेक्षः = अपेक्ष्यमाणः’ असा)

कर्मणि धञ्प्रत्ययान्त शब्द आहे. 'व्यवस्थास्त्येव' असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, जरी वास्तविक दिक् (आकाशाप्रमाणे) एकच आहे तरी, उपाधिकृत भेदामुळे (ज्या-प्रमाणे घटाकाश मठाकाश इत्यादि व्यवहार होतात त्याचप्रमाणे) एकाच दिशेचे ठिकाणी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर हे व्यवहार केले जातात. पृथ्वीचा मध्यभाग व पृथ्वीच्या चार टोकास असलेले चार पर्वत हे उपाधि होत. रामायणामध्ये किष्किधाकाडात सुग्रीवाने मध्यदेशाला अवधि मानूनच दिग्बिभागाचे वर्णन केले आहे मध्यान्ह-कालीन सूर्याचा पृथ्वीच्या ज्या देशाशी सयोग होतो त्याला पृथ्वीचा मध्यभाग म्हणतात. अशा रीतीने पृथ्वीचा मध्यभाग अवधि मानून उदयाचल, अस्ताचल इत्यादि पर्वतापर्यंत असणाऱ्या त्या त्या पृथ्वीप्रदेशरूप उपाधीने युक्त अशा दिशांचे ठिकाणी पूर्व, पश्चिम इत्यादि शब्दाची प्रवृत्ति करून उपाधिगत भेदामुळे दिशांची व्यवस्था लावली जाऊ शकतेच. उदयाचलापर्यंत असणारा प्रदेश हा 'पूर्व' शब्दाचा अर्थ केला असता येथे देखील त्या अवधीची आकाशा आहेच. मध्यान्हकाली सूर्याचे तोड उत्तरेकडे राहत असल्यामुळे मध्यान्हकालीन सूर्याचा ज्या पृथ्वीच्या भागाशी सयोग होतो तो देश अवधि मानून सूर्याच्या तोडासमोर असलेल्या पृथ्वीच्या भागाला उत्तरदिशा म्हणतात व सूर्याच्या पाठीमागे असलेल्या भागाला दक्षिणदिशा म्हणतात. हेलाराजाच्या ग्रन्थात हे सर्व स्पष्टपणे सांगितले आहे. 'पूर्वापर' सू. २१८ या प्रकृत सूत्रातील 'व्यवस्थायाम्' ही विषयसप्तमी आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे आणि म्हणून त्यांनी मनोरमंत 'प्रसिद्धत्वात्' असे म्हटले आहे. 'पूर्व' इत्यादि शब्द जेव्हा देशाचे वाचक असतात तेव्हा त्या त्या दिशेकडे असणाऱ्या देशांचे ठिकाणी त्या 'पूर्व' इत्यादि शब्दाचा व्यवहार होण्याकरिता ते ते देश उदयाचलादि पर्वताचे जवळ असणे इत्यादि त्याचे प्रवृत्तिनिमित्त होणे, म्हणजे 'पूर्व' इत्यादि शब्दांची त्यांचे ठिकाणी प्रवृत्ति होण्यास कारणीभूत होणे, असे समजावे.

‘आधुनिकसङ्केतो हि संज्ञा’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे तें प्रकृत सूत्रांत ‘असंज्ञायाम्’ हें जें पद घातलें आहे त्याच्या सामर्थ्यामुळें म्हटलें आहे, म्हणजे ‘असंज्ञायाम्’ हें पद प्रकृत सूत्रांत घातलें असल्यामुळें ‘संज्ञा’ या शब्दाचा ‘आधुनिक संकेत’ असाच अर्थ होऊं शकतो. ‘संज्ञा’ या शब्दाचा तसा अर्थ न केल्यास, सर्वादिगणांत पठित असलेले सर्व शब्द आपापल्या अर्थामध्यें केवळ रूढ असल्यामुळें, ज्याप्रमाणें ‘इन्द्र’ इत्यादि आपापल्या अर्थामध्यें रूढ असलेले शब्द रूढत्वरूपसंज्ञावाचक म्हणविले जातात त्याचप्रमाणें सर्वादिगणांत पठित असलेले सर्व शब्द देखील रूढसंज्ञावाचक ठरतील व त्यामुळें प्रकृत सूत्रांतील ‘असंज्ञायाम्’ हें पद विसङ्गत ठरण्याची आपत्ति येईल (व ‘असंज्ञायाम्’ या शब्दानें आपापल्या अर्थांत रूढ असणाऱ्या ‘पूर्व’ इत्यादि शब्दांची व्यावृत्ति होईल व अशा रीतीनें त्या शब्दांना केव्हांहि सर्वनामसंज्ञा होऊं शकणार नाही.) ‘व्याख्यातृवचनमेव प्रमाणम्’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्यांतील ‘व्याख्यातृ’ या पदाचा ‘कैयटादि’ असा अर्थ आहे. ‘देवगणविशेषे विश्वशब्दस्याधुनिकसङ्केताभावात्’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ईश्वरकृतसंकेतामुळेंच ‘विश्व’ हा शब्द देवगणविशेषाचा वाचक आहे. ‘दक्षिणा गायकाः’ या उदाहरणांत हे गायक अमुकापेक्षां अधिक प्रवीण आहेत अशा अर्थामध्यें उत्कर्षाला अवधीची आकांक्षा असल्यामुळें, येथें देखील व्यवस्थारूप नियम आहे (व त्यामुळें हें योग्य प्रत्युदाहरण ठरत नाही) असा कोणी आग्रह धरल्यास, ‘अधरे ताम्बूलरागः’ हें मनोरमेंत दुसरें प्रत्युदाहरण दिलें आहे. या प्रत्युदाहरणांत देखील (‘अधर’ हा शब्द आधुनिक संकेतान्वयें खालचा ओठ या अर्थाचा वाचक आहे आणि म्हणून या स्थलीं) संज्ञात्व आहेच (व ‘असंज्ञायाम्’ हा निषेध असल्यामुळें ‘अधर’, या शब्दाला सर्वनामसंज्ञा होऊं शकत नाही) असें कोणी म्हटल्यास, ‘उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्तः’ असें मनोरमेंत तिसरें प्रत्युदाहरण दिलें आहे. ‘परापरशब्दयोः

ज्या प्रथम प्रत्ययान्त शब्दाहून पुन्हा प्रत्यय केला जातो तो शब्द उपसर्जन होईल व 'टिड्ढाणब्' सू. ४७० या सूत्रांत 'अनुपसर्जनात्' सू. ४६९ या अधिकारसूत्राची अनुवृत्ति असल्यामुळे, उपसर्जनीभूत झालेल्या जित्प्रत्ययान्त शब्दाहून 'डीप्' प्रत्यय होऊ शकणार नाही. म्हणून लुक्पक्ष न मानतां अनभिधानपक्षच मानणें योग्य आहे असें भाष्यकारांनीं म्हटलें आहे. या भाष्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, एखाद्या प्रकृतीहून प्रथम अवयवार्थक प्रत्यय केल्यावर तशा प्रत्ययान्त शब्दाहून पुन्हा अवयवार्थक प्रत्यय केल्यास, प्रथमप्रत्ययान्त शब्द आपला अर्थ द्वितीय प्रत्ययाच्या अर्थामध्यें संक्रमित करित असल्यामुळे व अशा रीतीनें स्वार्थानें युक्त अशा परार्थाचा बोधक होत असल्यामुळे, तो उपसर्जन होतो, आणि हें भाष्य 'उपसर्जन' या शब्दाचा 'स्वार्थविशिष्टांथन्तरसङ्क्रमः' असा अर्थ आहे याला प्रमाण आहे.) 'वस्तुतस्तु परापरशब्दयोर्देशान्तर... आधिकोऽर्थः' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'पर, अपर' या शब्दांचा असा अभिधाशक्तीनें देशरूप अर्थ होतो त्याचप्रमाणें त्या शब्दांचा 'शत्रु, प्रतिवादी' असा देखील अर्थ अभिधाशक्तीनेंच होतो आणि याच न्यायानें भाष्यांतील 'एतानि' या पदाचा कंयटानें जो अर्थ केला आहे तो अर्थ देखील शक्यार्थच होय, म्हणजे अभिधाशक्तीनें बोधित होणारा अर्थ होय, असें दीक्षितांनीं ध्वनित केलें आहे. दीक्षितांनीं सुमेरु पर्वत अवधि मानून 'उत्तराः कुरवः' या स्थलीं व्यवस्था मानली जाते असें म्हटलें आहे. परंतु ऐतरेयब्राम्हणांत 'ये केचन परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तर-कुरव उत्तरमद्राः' ही जी श्रुति आहे त्या श्रुतींत हिमालय पर्वत अवधि मानून 'उत्तरः कुरवः' या स्थलीं व्यवस्था दर्शविली आहे. या उदाहरणांतील 'उत्तराः' या शब्दाचा 'उत्तरनामानः' असा अर्थ आहे. 'उत्तराः कुरवः' हा आधुनिक पुरुषकृत संकेत आहे असें मनोरमंत म्हटलें आहे; व शाबरभाष्यांत कपिञ्जलाधिकरणांत 'उत्तरः कुरवो दक्षिणान् कुल्लुपेभ्योत्तरा उच्यन्ते' असें जें म्हटलें

आहे त्यावरून 'उत्तराः कुरवः' हा आधुनिक संकेत आहे हे सिद्ध होते.

मनोरमा—“स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्” । आत्मात्मीयज्ञातिधन-
वाची स्वशब्दः, तत्र ज्ञातिधनयोः पर्युदासात् आत्मात्मीयो परिशिष्टा-
वित्पाशयेन ध्याचष्टे—आत्मीया इत्यर्थः, आत्मान इति वेति ।
यत्याहुः—आत्मनि स्वशब्दो नपुंसकः । तेन स्वे, स्वा इत्युदाहरणं
तत्र न सम्भवतीति । तच्चिन्त्यम् । आत्मन्यपि स्वशब्दस्य पुंस्त्वात् ।
“विभाषा जसि” इति प्रकरणे “स्वमात्मीये” इत्येव षष्ठ्ये
गुरुनिर्देशं कुर्वन्तः सूत्रकारस्यैवात्र प्रमाणत्वात् ।

यदपि स्वोक्तेऽर्थे उपपट्टम्भार्थं—

स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिप्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने ॥

इति अमरसिंहोक्तिमाहुः । तदपि चिन्त्यम् । कोशे हि आत्म-
नीति पूर्वान्वयि । स्वमिति तु उत्तरान्वयि । तथा च हेमचन्द्रः —

द्योः स्वर्गनभसोः स्वो ज्ञात्यात्मनोः स्वं निजे धने ॥ इति ।
वेदिनीकारोऽपि—

स्वः स्यात्पुंस्यात्मनि ज्ञातो त्रिप्वात्मीये ऽस्त्रियां धने ॥ इति ।

तस्मात् स्वे स्वा इत्यस्यात्मान इति धिवरणं सम्यगेवेति स्थितम् ।

ज्ञातिधनवाचिनस्तिवति । ताच्छीत्ये णिनिना ज्ञातिधनयोरपि
आत्मीयत्व पुरस्कृत्य प्रवृत्तौ सर्वनामताऽस्त्येवेति ध्वनयति ।
एतदर्थमेव हि सूत्रे आख्याग्रहणं कृतम् ॥

‘स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्’ सू. २१९ या सूत्रातील ‘स्व’ हा
शब्द आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति व धन या चार अर्थांचा वाचक आहे
व या सूत्रात ज्ञाति व धन या दोन अर्थांचा पर्युदास केला असल्या-
मुळे आणि आत्मा, आत्मीय हे दोन अर्थ अवशिष्ट राहून असल्यामुळे,
प्रवृत्त सूत्रावरील कोमुदीत ‘स्वे—स्वाः । आत्मीया इत्यर्थः ।
आत्मान इति वा’ असे म्हटले आहे. (‘स्व’ या शब्दाचा धन किंवा
ज्ञाति असा अर्थ असल्यास, ‘स्वे’ असे प्रथमेच्या बहुवचनाचे

पाक्षिक रूप न होतां 'स्वाः' असेंच जसप्रत्ययान्त रूप होतें.) प्रकाश-कारांचें असें म्हणणें आहे कीं, 'आत्मा' या अर्थाचा वाचक 'स्व' हा शब्द नपुंसक असल्यामुळें त्या अर्थामध्ये असणाऱ्या 'स्व' या शब्दाचीं 'स्वे स्वाः' अशीं पुल्लिङ्गाचीं रूपें होऊंच शकत नाहींत. ('स्व' या शब्दाचा 'आत्मीय' असा अर्थ असल्यास, त्या अर्थामध्ये 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी असल्यामुळें त्या अर्थामध्येच 'स्व' शब्दाचीं 'स्वे-स्वाः' अशीं रूपें होऊं शकतात असें प्रकाशकारांचें म्हणणें आहे.) पण हें त्यांचें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण 'आत्मा' या अर्थाचा देखील वाचक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे 'विभाषा जसि' या प्रकरणामध्ये 'स्वमात्मीये' असें लहानसें सूत्र पाणिनीनें पठित न करितां एवढें मोठें जें प्रकृत सूत्र पठित केलें आहे तें सूत्रच, 'आत्मा' या अर्थाचा देखील वाचक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे हें मानण्यास प्रमाण आहे. ('स्व' या शब्दाचे चार अर्थ वर सांगितलेच आहेत. त्यांपैकीं ज्ञाति व धन या दोन अर्थामध्ये असणाऱ्या 'स्व' या शब्दाला 'अज्ञातिधनाख्यायाम्' या निषेधा-न्वयें प्रकृत सूत्र लागूच पडत नाहीं. बाकी राहिले दोन अर्थ—आत्मा व आत्मीय. या दोन अर्थांपैकीं 'आत्मा' या अर्थामध्ये असणारा 'स्व' हा शब्द नित्य नपुंसकलिङ्गी असता तर, त्याला प्रकृत सूत्र लागूच पडलें नसतें व केवळ आत्मीयवाचक 'स्व' या शब्दाला तें सूत्र लागू पडण्याकरितां पाणिनीनें 'स्वमात्मीये' असें लहानसें सूत्र केल्यानें काम भागूं शकलें असतें. पण तसें लहानसें सूत्र न करितां पाणिनीनें एवढें मोठें प्रकृत सूत्र केल्यामुळें, 'आत्मा' या अर्थाचा देखील वाचक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे हें त्यावद्दन स्पष्ट होतें.) 'आत्मा' या अर्थाचा वाचक 'स्व' हा शब्द नित्य नपुंसकलिङ्गी आहे याला प्रकाश-कार 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिप्वात्मीये स्वोऽस्त्रिषां घने' हा अमरांतील दलोक प्रमाण देतात. पण हें त्यांचें म्हणणें देखील बरो-बर नाहीं; कारण अमरांतील वरील दलोकांत 'आत्मनि' या

शब्दाचा 'स्वो ज्ञातो' या पूर्व पदाशी अन्वय असून, 'स्वम्' याचा 'त्रिप्वात्मीये' या उत्तर पदाशी अन्वय आहे व असे मानण्याला हेमचन्द्रकोशतील 'द्यौः स्वर्गनभसो स्वो ज्ञात्यात्मनो स्व निजे धने' हा श्लोक व तसेच गेदिनीकोशातील 'स्व. स्यात्पुस्यात्मनि ज्ञातो त्रिप्वात्मीयेऽस्त्रिया धने' हा श्लोक प्रमाण आहे म्हणून 'आत्मा' या अर्थाच्या वाचक 'स्व' या शब्दाची 'स्वे-स्वा' अशी प्रथमेच्या बहुवचनाची पाक्षिक रूपे होतात ह जें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत विवरण केले आहे त अगदी योग्य ठरते (प्रकाशकारानी अमरातील वरील श्लोकाच्या प्रथम चरणाची 'स्वो ज्ञातो, आत्मनि स्वम्' अशी दोन भिन्न वाक्ये मानली आहेत आणि म्हणून 'आत्मा' या अर्थाचा वाचक 'स्व' हा शब्द नित्य नपुसकलिङ्गी आहे असे ते म्हणतात परंतु दीक्षित म्हणतात की, अमरातील वरील श्लोकाची 'स्वा ज्ञानावात्मनि, स्व त्रिप्वात्मीये, स्वोऽस्त्रिया धने' अशी वास्तविक तीन वाक्ये होतात व तशी तीन वाक्ये केली असता, 'आत्मा' या अर्थाचा वाचक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे हे प्रकाशकारानी प्रमाणभूत मानलेल्या अमरातील श्लोकावरूनच सिद्ध होते. अमरातील श्लोकाचा जसा दीक्षितानी अन्वय केला आहे त्याच्या समर्थनार्थ त्यांनी इतर दोन कोशाचे प्रमाण दिले आहे व त्या दोन्ही कोशावरून हे स्पष्ट होतें की, 'आत्मा' या अर्थाचा वाचक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे) 'ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वा' या प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीच्या पक्षांत 'ज्ञातिधनवाचिन' या स्थली ('गुप्यज्ञाती णिनिस्ताच्छीत्ये' सू. २१८८ या सूत्रानें होणारा) तच्छीलायंक 'णिनि' प्रत्यय जो केला आहे त्यानें हे ध्वनित केले आहे की, जेथें 'स्व' या शब्दानें धन किंवा ज्ञाति याचा 'आत्मीयत्व' या स्थानें बोध करणे आहे तशा स्थली देखील, 'स्व' हा शब्द ज्ञातिधनवाचक असूनहि त्याला सर्वनाममज्ञा होणेच आणि हा अर्थ स्पष्ट होण्याकरिताच प्रकृत सूत्रांत 'आत्म्या' या पदाचे ग्रहण केले आहे. (जेव्हां 'स्व' या शब्दानें ज्ञाति किंवा धन याचा बोध करणे असून

त्यांचे ठिकाणीं आत्मीयत्वरूप धर्माचा बोध करणें नाहीं तेव्हांच जातिवाचक किंवा धनवाचक 'स्व' या शब्दाला सर्वनामसंज्ञा होत नाहीं. परंतु जेव्हां त्यांचा आत्मीयत्वरूपानें बोध करणें आहे तेव्हां 'स्व' या शब्दाला सर्वनामसंज्ञा होतेच व हें प्रकृत सूत्रांतील 'आख्या' या पदाच्या ग्रहणसामर्थ्यानें सिद्ध होतें असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे, आणि हा आशय 'न च जातिधनयो-रप्यात्मीयत्वपुरस्कारे सर्वनामत्वं न स्यादिति वाच्यम्, आख्याग्रहण-वलेन जातित्वधनत्वपुरस्कारे एव पर्युदासप्रवृत्तेः' या शब्दांनीं बालमनोरमेंत स्पष्ट केला आहे.)

शब्बरत्न-हेमचन्द्र इति । कोशयोरविरोधे सम्भवति विरोधो न न्याय्य इति भावः । यदि तु एवमन्वये-

स्वो जातावात्मनि धने त्वस्त्री आत्मीयके त्रिषु ।

इति पाठेनैव सिद्धे त्रिः स्वग्रहणवैयर्थ्यापत्तेः ।

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुमानेन सहोज्जिहाना ॥

रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ १ ॥

(नं० स० ७ दलो० ३७) इति ।

श्रीहर्षदलोके आत्मानमित्यर्थकस्वमित्यस्य बन्धूकबन्धूभवदिति विशेषणेन च नपुंसकत्वमस्तीत्युच्यते तर्ह्यस्तु, मेदिन्यादिप्रामाण्या-त्पुल्लिङ्गोऽप्यस्त्येवेति स्वे, स्वा इत्पुंसाहरणं न सम्भवतीति प्राचीनोक्तिरसङ्गतीवेति ध्वनयन्नाह-विवरणं सम्पद्येति । एतदर्थ-मेवेति । एतदर्थमपीत्यर्थः । वनत्वेनात्मीयस्य बोधो माभूदित्यर्थ चेत्पि योध्यम् । आत्मात्मनोवाख्यायामिति तु नोक्तं लाघवाभावात् ।

दोन कोशांमध्ये विरोध न येतां जर-त्यांचा अर्थ लावतां येऊं शकतो तर त्यांच्यामध्ये विरोध येईल अशाप्रकारें त्यांचा अर्थ करणें न्याय्य-योग्य-नाहीं असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. (नारांग मेदिनीकोशांत व हेमचन्द्रकोशांत 'आत्मा' या अर्थाचा वाचक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी असतो असें स्पष्ट म्हटलें असल्या-

मुळें व त्या अर्थाला धरून अमरकोशातील श्लोकाचा अन्वय करता येऊ शकत असल्यामुळें, प्रकाशकारानी अमरकोशातील त्या श्लोकाचा जसा विरुद्धार्थप्रतिपादक अन्वय केला आहे तसा अन्वय करणे अन्याय्य आहे असे शब्दरत्नकाराचे म्हणणे आहे) प्रकाशकारानी अमरकोशातील श्लोकाचा जसा अन्वय केला आहे तसा अन्वय होणे जर अमरकाराना अभिप्रेत असने तर, त्यानी 'स्वो ज्ञातावात्मनि धने त्वस्त्री आत्मीयके त्रिषु' असा श्लोक पठित केल्यानें काम भागू शकले असते व त्यानी यथापठित श्लोकात 'स्व' हा शब्द जो तीनदा उच्चारला आहे तसा तीनदा तो शब्द उच्चारणे व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. 'बन्धूकबन्धूभवदेतस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना । रागश्रिया शैशवयीवनीया स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ (नैषधकाव्य सर्ग ७ श्लोक ३७) या श्रीहर्षकृत श्लोकात 'आत्मानम्' या अर्थाच्या वाचक 'स्व' या शब्दाचे 'बन्धूकबन्धूभवत्' हे नपुसक पद विशेषण केले असल्यामुळें, आत्मार्यक 'स्व' हा शब्द नपुसकलिङ्गी आहे हें सिद्ध होते असे कोणी म्हटल्यास, तो शब्द नपुसकलिङ्गी आहे असे मानले तरी, मेदिनी इत्यादि कोशाच्या आधारे तो आत्मार्यक 'स्व' हा शब्द पुल्लिङ्गी देखील आहे हे स्पष्ट होत असल्यामुळें, त्या आत्मवाचक 'स्व' शब्दाची 'स्वे-स्वाः' अशी पाक्षिक रूपे होऊ शकत नाहीत हे जें प्रकाशकाराचे म्हणणे आहे ते चूक ठरते हा आशय ध्वनित करण्याकरिता दीक्षितांनी 'तस्मात् स्वे स्वा इत्यस्मात्मान इति विवरण सम्यगेवेति स्थितम्' असे मनोरमंत म्हटले आहे. (नैषधातील वरील श्लोकाचा अर्थ पुढें दिव्याप्रमाणे आहे - 'अनेन प्रयशदृश्येन अस्याः दमयन्त्याः मुखेन्दुना मुखचन्द्रेण सहैव उज्जिहाना उदय प्राप्ता अधरोष्ठलेखा लेखाकारोऽधरोष्ठः । रागश्रिया रविमशोमया बन्धूक मध्यान्हविकासिपुष्प भाषायां दुषारोति प्रनिद्ध तस्य अयन्तुः बन्धुरभवत् समानमभवत् एतत् प्रयशदृश्य स्वमात्मान शैशवयीवनीयां शाल्यतारुष्यसम्बन्धिनी सन्ध्या आह व्रूते, अहमेव सन्ध्येति बोधयति । बान्धवस्यान्ते तारुष्यस्यादी

अधरोष्ठे अधिको रन्तिमा भवतीति प्रसिद्धम् ।') 'एतदर्थमेव हि सूत्रे आख्याग्रहणं कृतम्' असें जें मनोरमैत म्हटलें आहे त्यांतील 'एतदर्थमेव' या पदांचा 'एतदर्थमपि' असा अर्थ आहे. प्रकृत सूत्रांत 'आख्या' या पदाचें ग्रहण अशाकरितां देखील केलें आहे कीं, जेथें 'स्व' या शब्दानें प्राधान्येंकरून घनाचा बोध होतो तेथें त्या शब्दानें 'आत्मीय' या अर्थाचा बोध न व्हावा हें देखील जाणावें (आणि म्हणूनच 'एतदर्थमेव' यांतील 'एव' या पदाचा 'अपि' असा अर्थ केला आहे. प्रकृत सूत्रांत 'आख्या' या पदाचें ग्रहण कां केलें आहे याचें प्रयोजन सांगतांना भाष्यकार म्हणतात—'आख्या-ग्रहणं किमर्थम् ? । ज्ञातिधनपर्यायिवाची यः स्वशब्दस्तस्य यथा स्यादिह मा भूत् । स्वे पुत्राः स्वाः पुत्राः । स्वे गावः स्वा गावः । ') प्रकृत सूत्राऐवजीं पाणिनीनें 'स्वमात्मात्मीयाख्यायाम्' असें सूत्र केलें नाहीं; कारण तसें सूत्र केल्यानें (अधिक मात्रा झाल्या असत्या व) लाघव झालें नसतें.

मनोरमा— "अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः" । बहिरित्यनावृत्तो देशो बाह्यं चोच्यते । तत्राद्यमर्थं गृहीत्वाऽऽह—बाह्या इत्यर्थ इति । द्वितीये तु आभ्यन्तरा इत्यर्थो बोध्यः । बाह्येन हि आभ्यन्तरस्य योगोऽस्ति । अर्थद्वयमप्याकरे स्थितम् । उपसंव्यानशब्दो ऽपि करणव्युत्पत्त्योत्तरीयपरः । कर्मव्युत्पत्त्या त्वन्तरीयपरः ।

'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः' सू. २२० या सूत्रांतील 'बहिः' या शब्दाचे 'अनावृत्त प्रदेश' व 'बाह्य' असे दोन अर्थ आहेत. पहिला अर्थ घेऊन 'अन्तरे गृहाः' या पदांचा 'बाह्या गृहाः' असा कीमुदीत अर्थ केला आहे. (नगराच्या बाहेर असणारी चांडालादिकांचीं घरे असा 'अन्तरे गृहाः' या पदांचा अर्थ आहे.) द्वितीय अर्थाला घेऊन 'बहिः' याचा 'आभ्यन्तराः' असा अर्थ होतो हें लक्षांत ठेवायें. आभ्यन्तर प्रदेशाचा बाह्य प्रदेशाशीं संयोगसंबंध असतो. 'बहिः' या शब्दाचे वर सांगितलेले दोन्ही अर्थ भाष्यांत दिले

आहेत. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात हे अर्थ दिले नसून या सूत्रा-
वरील कैयटवृत्तीत हे अर्थ दिले आहेत. कैयटानें आपल्या वृत्तीत
'बहिरित्यनावृतदेश उच्यते, तेन योगो बहिर्योगः । स च बाह्यस्य
भवति । अन्तरे गृहा इति नगरयाह्याश्चाण्डालादिगृहा उच्यन्ते ।
यदा तु बहिरशब्देन बाह्य उच्यते, बाह्येन योगो बहिर्योग
इति, तदा नगराम्यन्तरे ये गृहास्ते उच्यन्ते । उभयथापि
स्मर्यते' असे म्हटले आहे.) 'उपसवीयते अनेन इति उपसंव्यानम्'
अशी 'उपसंव्यान' या शब्दाची करणव्युत्पत्ति केल्यास, त्या शब्दाचा
'उत्तरीय वस्त्र' असा अर्थ होतो. 'उपसवीयते इति उपसंव्या-
नम्' अशी कर्मव्युत्पत्ति केल्यास, त्या शब्दाचा 'अन्तरीय वस्त्र'
असा अर्थ होतो ('व्येञ् सवरणे' या घातूहून 'करणाधिकरणयोश्च'
सू. ३२९३ या सूत्रानें 'करणे ल्युट् = अन' प्रत्यय केल्यास किंवा
'कृत्वल्युटो बहुलम्' सू. २८४१ या सूत्रानें कर्मणि ल्युट् केल्यास,
'आदेच उपदेशे' सू. २३७० या सूत्रानें 'व्ये' या घातूतील
'एकाराचे जागी 'आ' असा आदेश होऊन 'उपसंव्यानम्' असे
रूप होते.)

शब्दरत्न- बाह्यं चेति । उक्तबहिर्देशस्यमित्यर्थः । उपसंव्यान-
शब्दोऽपीति । एवं च तद्ग्रहणं बहिर्योगस्य गृहेत्वेव प्रसिद्धिमाश्रित्य
सूत्रे कृतिमिति भावः ।

'बाह्यं चोच्यते' असे जें मनोरमेंत म्हटले आहे त्यातील
'बाह्यम्' या शब्दाचा 'बहिर्देशस्यम्' असा अर्थ आहे. 'उप-
संव्यानशब्दोऽपि' इत्यादि जें मनोरमेंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ
हा आहे कीं, (प्रकृत सूत्रात 'बहिर्योग' हा शब्द घातला असून
देखील पुन्हा त्या सूत्रात) 'उपसंव्यान' या शब्दाचें जें ग्रहण केले
आहे त्याचे कारण हें आहे की, 'बहिर्योग' हा शब्द रुढीनें परांनाच
लागू पडतो. (प्रकृत सूत्रात 'उपसंव्यान' या शब्दाचे ग्रहण न
करितां 'बहिर्योग' या शब्दाचेच ग्रहण केले असते तर, 'बहिर्योग'

हा शब्द रुढीने घरांनाच लागू पडत असल्यामुळे, 'घर' या अर्थाच्या वाचक 'अन्तर' शब्दाचेच ग्रहण झाले असते व उत्तरीय वस्त्र किंवा अन्तरीय वस्त्र या अर्थाच्या वाचक 'अन्तर' शब्दाचे ग्रहण झाले नसते असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत 'उपसंव्यानग्रहणमनर्थकं बहिर्योगेन कृतत्वात्' असे वातिक प्रथम पठित करून लगेच त्याच्या उलट 'न वा शाटक-युगाद्यर्थम्' असे द्वितीय वातिक भाष्यकारांनी पठित केले आहे व अशा रीतीने प्रकृत सूत्रांत 'बहिर्योग' व 'उपसंव्यान' या दोन्ही शब्दांची आवश्यकता दाखविली आहे.)

मनोरमा—“पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा” । अत्रेदमवधेयम् । एतत्सूत्रं “जसः शी” इत्यथानुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयम् । “वा च्छन्दसि” इत्येतत् “अमि पूर्व” इत्यत्र यथा । एवं चाष्टा-ध्याय्यां “पूर्वपर—” इत्यादिसूत्रो गतार्थेति महत्लाघवम् । एकशब्दस्याष्टावर्या उपतास्तत्र विशेषमाह—संख्यापामिति । अन्येषु सप्तसु तु वचनान्तरमपि स्यादेव । एके, एकैपामिति यथेति भावः ।

‘पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा’ सू. २२१ या सूत्रासंबंधाने हे लक्षांत घ्यावे की, या सूत्राची ‘जसः शी’ या उत्तर सूत्रांत अनुवृत्ति करून वाक्यभेदाने—भिन्न वाक्ये करून—व्याख्यान करावे. जसे ‘अमि पूर्वः’ या सूत्रांत ‘वा च्छन्दसि’ हे पूर्व सूत्र अनुवृत्त करून वाक्य-भेदाने व्याख्यान केले जाते तसेच प्रकृत स्थली करावे. अने केले असता, अष्टाध्यायीत पठित असलेली ‘पूर्वपर’ इत्यादि तीन सूत्रे गतार्थ होनात (व त्यामुळे ती गालना येऊ नकतात आणि) अने करण्यांत मोठे व्यापक आहे. (‘जसः शी’ सू. २१४ या सूत्रांत प्रकृत पुढे सूत्राची अनुवृत्ति केली असता जे एक वाक्य तयार होई त्याची ‘पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा’ व ‘पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा जसः शी’ अशी दोन भिन्न वाक्ये करता, प्रकृत सूत्राचे ‘नभ्यो नवभ्यो’ उचितयोः स्याद्विभक्तौ वा न्यः’ हे जसे कोमुदीन व्याख्यान केले आहे तसे

‘बहुव्रीहि कर्तव्य असता’, म्हणजेच ‘बहुव्रीही चिकीपिते’, असा अर्थ होतो ‘बहुव्रीही’ ही अधिकरणसप्तमी मानल्यास, ‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ हे पूर्व सूत्र प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त होत असल्यामुळे, या सूत्राचा ‘बहुव्रीही’ सर्वादीनि सर्वनामानि—सर्वनामसज्ञकानि—न स्यु.’ असा अर्थ होणार, म्हणजे ‘बहुव्रीहिसमासात् प्राक् सर्वादीनां या सर्वनामसज्ञा आसीत्सा बहुव्रीहिसमासे कृते सति नष्टा भवति’ असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होणार, व तसा अर्थ केल्यास, प्रकृत सूत्र व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते, कारण ‘सशोपसर्जनभीतास्तु न सर्वादयः’ असे वातिक असल्यामुळे व अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासाचे अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळे, बहुव्रीहिसमासातल सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसज्ञा बहुव्रीहिसमास केल्याने वरील वातिकान्वये नाहीशी होणारच. मग ती सर्वनामसज्ञा नाहीशी करण्यापरित्या प्रकृत सूत्र असण्याची गरज काय ? असा रीतीने प्रकृत सूत्र ‘बहुव्रीही कृते’ असे व्याख्यान केल्याने व्यर्थ ठरू पाहते ते सूत्र व्यर्थ न ठरावे याकरिता त्या सूत्राचा ‘बहुव्रीही चिकीपिते सर्वनामसज्ञा न स्यात्’ असा कीमुदीत अर्थ केला आहे व प्रकृत सूत्रावरील कीमुदीत) ‘इह समासात् प्रागेव प्रक्रियावाक्ये सर्वनामसज्ञा निषिध्यते’ असे म्हटले आहे, व या कीमुदीत्या पक्वीतील ‘प्रक्रियावाक्ये’ या पदाचा ‘अलौकिके विग्रहवाक्ये’ असा अर्थ आहे अलौकिक प्रक्रियावाक्यात ‘अकच्’ प्रत्यय वेला तरी नाही हरकत नाही असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर कीमुदीत ‘स च समासेऽपि श्रूयेत’ असे उत्तर दिले आहे. (‘बहुव्रीही कृते’ असे व्याख्यान न करिता ‘बहुव्रीही चिकीपिते’ असे व्याख्यान केल्याने प्रकृत सूत्रावरील वातिकाने गतार्थ होत नाही, कारण बहुव्रीहिसमास केल्यावर त्या समासातील सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळे त्याची सर्वनामसज्ञा वरील वातिकाने नाहीशी होत असून, बहुव्रीहिसमास होण्यापूर्वी जे अलौकिक प्रक्रियावाक्य त्यावर वेले जाते त्यातच ती सर्वनामसज्ञा प्रकृत सूत्राने नष्ट होते आणि

पुढे 'जस्' प्रत्यय आला असतां, त्या शब्दांना विकल्पेंकरून सर्व-
नामसंज्ञा होते तरी, त्या विधानाचा वास्तविक अर्थ हाच होतो कीं,
गणसूत्रान्वये नित्य सर्वनामसंज्ञक ठरणार्या त्या नव शब्दांपुढे 'जस्'
प्रत्यय आल्यास त्या प्रत्ययाचे जागी विकल्पेंकरून 'शी' हा आदेश
होतो. अष्टाध्यायींत पठित असलेल्या वरील तीन सूत्रांत) 'व्यव-
स्थायामसंज्ञायाम्' इत्यादि जीं व्यावर्तक विशेषणें निर्दिष्ट केलीं
आहेत तीं गणपाठांत पठित असलेल्या या तीन सूत्रांत आहेतच.
(म्हणून अष्टाध्यायींत पठित असलेलीं ही तीन सूत्रें गाल्लीं तरी
कोणताहि दोष उत्पन्न होण्याचा संभव नाही.)

मन्तेरमा--"न बहुव्रीही" । कृते बहुव्रीही निषेधो व्यर्थः ।
'उपसर्जनीभूता न सर्वादय' इति वदयमाणत्वादत्त आह-चिकीर्षिते
इति । समासात्प्रागेवेति च । प्रक्रियेति । अलौकिके विप्रह्वाक्ये
इत्यर्थः । नन्वस्तु तत्राकञ् अत आह-स चेति । न च निमित्त-
स्यानुपसर्जनत्वस्य विनाशोन्मुखत्वात्प्रागेव संज्ञा न भविष्यतीति
वाच्यम् । 'अकृतव्यूहपरिभाषाया' अनित्यत्वात् । तत्र चैतत्सूत्रस्यैव
ज्ञापकत्वात् । अतिभवकानिति । एतदेव ज्ञापनफलमिति भावः ।
इष्टापत्तिरुत्थेति । "च्छवोः शूङ्" इति सतुल्यग्रहणं, प्रकृति-
प्रत्यापत्तिवचनं वा अनित्यत्वे ज्ञापकम् । लक्ष्यानुरोधाद्व्यवस्थेति
भावः । यद्युत्तरमिति । तथा चाद्यत्वे भाष्यकारोक्त्यैव व्यव-
स्थेति भावः ॥

'न बहुव्रीही' सू. २२२ या सूत्राचें कोमुदींत व्याख्यान करि-
तांना 'कृते बहुव्रीही' असें म्हटलें नाहीं. तसें व्याख्यान केलें असतें
तर प्रकृत निषेधक सूत्र व्यर्थ ठरलें असतें; कारण 'उपसर्जनीभूता न
सर्वादयः' असें पुढे सांगण्यांत येणार आहे. म्हणूनच 'बहुव्रीही
चिकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न स्यात्' असें प्रकृत सूत्राचें 'कोमुदींत'
व्याख्यान केलें आहे. (प्रकृत सूत्रांतील 'बहुव्रीही' हें पद विषय-
सप्तमी मानल्यानें, त्या पदाचा 'बहुव्रीहीच्या विषयांत' किंवा

‘बहुव्रीहि कर्तव्य असता’, म्हणजेच ‘बहुव्रीही चिकीपिते’, असा अर्थ होतो ‘बहुव्रीही’ ही अधिकरणसप्तमी मानल्यास, ‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ हे पूर्वं सूत्र प्रवृत्त सूत्रात अनुवृत्त होत असल्यामुळे, या सूत्राचा ‘बहुव्रीही’ सर्वादीनि सर्वनामानि-सर्वनामसज्ञानि-न स्युः’ असा अर्थ होणार, म्हणजे ‘बहुव्रीहिसमासात् प्राक् सर्वादीनां या सर्वनामसज्ञा आसीत्सा बहुव्रीहिसमासे कृते सति नष्टा भवति’ असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होणार, व तसा अर्थ केल्यास, प्रवृत्त सूत्र व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते, कारण ‘सशेषसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः’ असे वातिक असल्यामुळे व अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि-समासाचे अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळे, बहुव्रीहिसमासातील सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसज्ञा बहुव्रीहिसमास केल्याने वरील वातिकान्वये नाहीशी होणारच. मग ती सर्वनामसज्ञा नाहीशी करण्याकरिता प्रकृत सूत्र असण्याची गरज काय ? असा रीतीने प्रकृत सूत्र ‘बहुव्रीही कृते’ असे व्याख्यान केल्याने व्यर्थ ठरू पाहते ते सून व्यर्थ न ठरावे याकरिता त्या सूत्राचा ‘बहुव्रीही चिकीपिते सर्वनामसज्ञा न स्यात्’ असा कौमुदीत अर्थ केला आहे व प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत) ‘इह समासात् प्रागेव प्रक्रियावाक्ये सर्वनामसज्ञा निषिध्यते’ असे म्हटले आहे, व या कौमुदीच्या पक्कीतील ‘प्रक्रियावाक्ये’ या पदाचा ‘अलौकिके विग्रहवाक्ये’ असा अर्थ आहे अलौकिका प्रक्रियावाक्यात ‘अकन्’ प्रत्यय केल्या तरी काही हरकत नाही असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर कौमुदीत ‘स च समासेऽपि श्रूयेत’ असे उत्तर दिले आहे. (‘बहुव्रीही कृते’ असे व्याख्यान न करिता ‘बहुव्रीही चिकीपिते’ असे व्याख्यान केल्याने प्रकृत सूत्रावरील वातिकाने गतार्थ होत नाही, कारण बहुव्रीहिसमास केल्यावर त्या समासातील सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळे त्याची सर्वनामसज्ञा वरील वातिकाने नाहीशी होत अमून, बहुव्रीहिसमास होण्यापूर्वी जे अलौकिक प्रक्रियावाक्य तयार केले जाते त्यातच ती सर्वनामसज्ञा प्रकृत सूत्राने नष्ट होते आणि

अशा रीतीने वरील वार्तिक व प्रकृत सूत्र भिन्नविषयक ठरून दोन्ही चरितार्थ ठरतात. 'बहुव्रीही चिकीर्षिते' असे व्याख्यान करण्याचा परिणाम हा होतो की, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाची, तो समास करण्याकरिता तयार केलेल्या अलौकिक प्रक्रियावाक्यांतच, सर्वनामसंज्ञा प्रकृत सूत्रान्वये नष्ट होते व त्यामुळे, 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' सू. २०२६ या सूत्राने होणारा 'अकच्' प्रत्यय तशा सर्वनामशब्दाहून करता येऊ शकत नाही व त्या ऐवजी 'क' प्रत्यय करता येतो. 'अकच्' प्रत्यय केल्याने काय विघडते असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर उत्तर हे आहे की, अलौकिक प्रक्रियावाक्यांत तशा सर्वनामशब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय केल्यास, समास केल्यावर जो सामासिक शब्द तयार होतो त्यांत 'अकच्' प्रत्ययाचे श्रवण होण्याची आपत्ति येते; कारण 'अलौकिकविग्रहवाक्ये श्रुतस्य लौकिकविग्रहवाक्ये समासे च श्रवणनियमात्' असा सिद्धान्त आहे. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत ११२९ भाष्यकारांनी या सूत्राची दोन प्रयोजने सांगितली आहेत. त्यांपैकी एक प्रयोजन हे की, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाहून 'अकच्' प्रत्यय होऊ नये व दुसरे प्रयोजन हे की, 'प्रियविश्वाय' इत्यादि रूपांची सिद्धि व्हावी. 'सर्वादीनि सर्वनामानि' या सूत्राने जी सर्वनामसंज्ञा होते ती निर्निमित्तक असल्यामुळे अन्तरङ्ग ठरते, व या कार्याच्या मानाने बहुव्रीहिसमासाच्या निमित्तामुळे सर्वनामसंज्ञा नष्ट होणे हे कार्य बहिरङ्ग ठरते व 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'—परि. ५० या परिभाषान्वये अन्तरङ्गकार्याच्या दृष्टीने बहिरङ्गकार्य असिद्ध ठरत असल्यामुळे, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होऊ शकत नाही व त्यामुळे त्याहून 'अकच्' प्रत्ययच झाला पाहिजे व 'क' प्रत्यय होऊ शकत नाही. पण बहुव्रीहिसमासांतील 'युष्मद्, अस्मद्' या सर्वनामरूप अवयवाहून 'अकच्' प्रत्यय केल्यास, 'त्वकं पिता यस्य सः त्वकत्पितृकः, अहकं पिता यस्य सः मकत्पितृकः' अशी सामासिक रूपे होतील व पाणिनीच्या मते

तर 'त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः' अशी रूपे होणे इष्ट आहे व त्याकरिताच पाणिनीने प्रकृत सूत्र केले आहे. आणि या सूत्राच्या सामर्थ्याने बहिरङ्गकार्य अन्तरङ्गकार्याला बाधते व त्यामुळे बहुव्रीहिसमासातील सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसज्ञा नष्ट झाल्याकारणाने, 'अकच्' प्रत्यय न होता 'क' प्रत्यय होऊन 'त्वत्कपितृक, मत्कपितृकः' अशी इष्ट रूपे सिद्ध होतात. 'प्रियविश्वाय' हे रूप सिद्ध व्हावे हे जे प्रकृत सूत्राचे द्वितीय प्रयोजन सांगितले आहे त्या सबधाने भाष्यकार असे म्हणतात की, ते प्रयोजन 'सज्ञोपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वातिकानेच सिद्ध होऊ शकत व त्या प्रयोजनाच्या सिद्धीकरिता प्रकृत सूत्र असण्याची काही गरज नाही पुढे भाष्यकार म्हणतात - 'अस्ति तादर्थ्यात्ताच्छब्द, बहुव्रीह्यर्थानि पदानि बहुव्रीहिरिति । सद्यस्तादर्थ्यात्ताच्छब्द तस्मैद ग्रहणम् ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, एखादी वस्तु तयार करण्याकरिता जी एक विशेष प्रकारची अवस्था मांडण्यात येते तिला देखील त्या वस्तूला दाखविणारा शब्द लावण्याची लोकात प्रथा आहे त्या न्यायान्वये बहुव्रीहिसमासाकरिता तयार केलेले जे अलौकिक प्रक्रियावाक्य त्याला देखील 'बहुव्रीहि' असे म्हणता येवे आणि बहुव्रीहिसमास करण्याकरिता कल्पिलेल्या अलौकिक प्रक्रियावाक्याला लागणारा जो 'बहुव्रीहि' शब्द त्याचे प्रकृत सूत्रात ग्रहण केले आहे त्यामुळे बहुव्रीहिसमास करण्याकरिता कल्पिलेल्या अलौकिक प्रक्रियावाक्यामध्येच 'सर्व' इत्यादि सर्वनामरूप अवयवाना सर्वनामसज्ञा होत नाही असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ निष्पन्न होतो असा रीतीने बहुव्रीहिसमासातील सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसज्ञा प्रकृत सूत्राने अलौकिक प्रक्रियावाक्यातच नष्ट झाल्याकारणाने, तसा सर्वनामरूप अवयवाहून 'अकच्' प्रत्यय न होता 'क' प्रत्ययच होतो व 'त्वत्कपितृक, मत्कपितृक' इत्यादि रूपे सिद्ध होण्यात काही अडचण येत नाही यावर शकावर अशी शका करतो की, प्रकृत सूत्रातील 'बहुव्रीहि' या शब्दाचा 'बहुव्रीहिसमासाकरिता तयार केलेले अलौकिक

‘च्छ’ चे जागीं शकार होऊन ‘प्रश्नः’ असें रूप होतें. या स्थलीं छकाराच्या निमित्तामुळें होणारें तुगागमकार्य अन्तरङ्ग असून पलीकडे असणाऱ्या ‘नङ् = न’ या प्रत्ययाच्या निमित्तामुळें होणारें शकारादेशरूप कार्य बहिरङ्ग आहे. परंतु हें बहिरङ्गकार्य असें आहे कीं, तें केल्यानें तुगागमाचें निमित्त जो छकार त्याचे जागीं शकारादेश होऊन त्या छकाराचा अवश्य नाश होणार. म्हणून ‘निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्ति’ या अर्थाची वाचक ‘अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः’ ही परिभाषा नित्य मानल्यास, तुगागमरूप कार्य पावतच नाही. म्हणून ‘छ्वोःशूट्’ असें जरी सूत्र केलें असतें तरी काम भागूं शकलें असतें; कारण ज्या छकाराच्या निमित्तामुळें तुगागमाची प्राप्ति होते त्या छकाराचे जागीं शकारादेश होऊन त्या छकाराचा अवश्य नाश होणारा असल्यामुळें त्याच्या निमित्तामुळें होणारा तुगागम झालाच नसता व छकाराचे जागीं शकारादेश होऊन ‘प्रश्नः’ इत्यादि दृष्ट रूपांची सिद्धि होऊं शकलीच असती. असें असून देखील पाणिनीनें ‘छ्वोः शूट्’ या सूत्रात तुगागमसहित छकाराचें ग्रहण मुद्दाम केलें असल्यामुळें हें जापित होतें कीं, ‘अकृतव्यूहाः’ ही परिभाषा अनित्य आहे व तिच्या अनित्यत्वामुळें ती ‘प्रश्नः’ इत्यादि स्थलीं प्रवृत्त न केल्यानें जो छकाराच्या निमित्तामुळें तुगागम झाला असतां त्याचें, ‘छ्वोः शूट्’ असें सूत्र केलें असतें तर, केवळ छकाराचे जागीं शकारादेश होऊन, बरील उदाहरणांत श्रवण होण्याची आपत्ति आली असती. ती आपत्ति टाळण्याकरितांच ‘छ्वोः शूट्’ असें सूत्र पाणिनीनें मुद्दाम केलें आहे व अशा रीतीनें त्या सूत्रांतील सतुक् छकाराचें ग्रहण ‘अकृतव्यूहाः’ या परिभाषेच्या अनित्यत्वाचें जापक ठरतें. तसेंच ‘हनश्च वधः’ सू. ३२५३ या सूत्रानें ‘हन्’ धातूहून ‘अप्’ प्रत्यय होऊन व ‘हन्’ चे जागीं वधादेश होऊन ‘वध’ असें रूप झालें असतां ‘कंसस्य वधः कंसवधः’ या ‘कंसवध’ शब्दाहून ‘तदाचष्टे’ या अर्पामध्ये ‘आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे’ या

वार्तिकान्वये 'णिच्' प्रत्यय केल्यास, त्या वार्तिकातील 'कृल्लुक्' या वचनान्वये 'हन्' धातूहून झालेल्या 'अप्' या कृत् प्रत्ययाचा लुक् होतो व 'हन्' धातूचे जागी जो वधादेश झाला आहे तो, 'प्रकृतिप्रत्यापत्तिः = प्रकृते' आदेशादिविकारपरित्यागेन स्वरूपेण अवस्थान भवति' या त्या वार्तिकातील वचनान्वये, नाहीसा होऊन पुन्हा 'हन्' अशी प्रकृति होते. 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा नित्य मानल्यास, वरील उदाहरणात 'णिच्' प्रत्यय केल्यावर 'कृल्लुक्' या वचनान्वये 'अप्' या कृत् प्रत्ययाचा अवश्य लुक्, म्हणजे नाश, होणारच. म्हणून येथे 'हन्' चे जागी 'अप्' प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे होणारा वधादेश होण्याची प्राप्तीच नव्हती. असे असून देखील वार्तिककाराने वरील वार्तिकात 'प्रकृतिप्रत्यापत्तिः', म्हणजे पुन्हा पूर्व प्रकृति आपले जागी प्राप्त होणे, हे पद मुद्दाम पठित केले असल्यामुळे, त्या पदाच्या ग्रहणाने देखील हे जाणित होते की, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' या अर्थाची वाचक 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा अनित्य आहे, य तिच्या अनित्यत्वामुळे तिची वरील उदाहरणात प्रवृत्ति न केल्याने जो 'अप्'-प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे वधादेश होतो त्याची 'अप्' प्रत्ययाचा लुक् झाल्यावर निवृत्ति झाली नसती व त्यामुळे 'कंस घातयति' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकले नसते. ही आपत्ति टाळण्याकरिताच वार्तिककाराने वरील वार्तिकात 'प्रकृतिप्रत्यापत्तिः' हे पद मुद्दाम घातले आहे व अशा रीतीने ते पद 'अकृतव्यूहाः' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाचे जापक ठरते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) ती परिभाषा अनित्य असल्यामुळे, जेणेकरून इष्ट रूपाची सिद्धि होईल तशा रीतीने त्या परिभाषेची ध्यवस्थ लावावी, म्हणजे जेथे ती परिभाषा प्रवृत्त केल्याने इष्ट रूपाची सिद्धि होत असेल तेथेच ती प्रवृत्त करावी व अनिष्ट रूपे मिळत होत असल्यात ती प्रवृत्त करू नये. 'यद्योत्तर मुनीनां प्रागाप्यम्' असे जे प्रवृत्त सूत्रावरील बीमुदीत म्हणले आहे त्याचा

प्रक्रियावाक्य' असा लाक्षणिक अर्थ न करितां 'बहुव्रीहिसमास' असाच साधा व सरळ अर्थ केला व तसेंच 'बहुव्रीही चिकीषिते' असें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यात न करितां 'बहुव्रीही कृते' असें व्याख्यान केलें आणि तसेंच प्रकृत सूत्र गाळलें तरी, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाहून 'अकच्' प्रत्यय होऊंच शकत नाहीं; कारण सर्वनामरूप संज्ञा होण्यास कारणीभूत जें अनुपसर्जनत्व, म्हणजे उपसर्जनीभूत न होणें, हें जें निमित्त आवश्यक आहे त्याचा (बहुव्रीहिसमास झाल्यावर त्यांतील सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन झाल्याकारणानें) नाश होणार असल्यामुळें, बहुव्रीहिसमास होण्या-पूर्वीच (त्या समासांतील सर्वनामरूप अवयवाला, 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' परि. ५६ ही परिभाषा असल्यामुळें, आपोआपच) सर्वनाम-संज्ञा होणार नाहीं. (या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं,) ही शंका बरोबर नाहीं; कारण 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा अनित्य आहे व ती अनित्य आहे याचें प्रकृत सूत्रच जापक आहे आणि 'अतिभवकान्' असें रूप होणें हें त्या जापकाचेंच फल आहे. ('भवकान्तमतिक्रान्तः अतिभवकान्' हा द्वितीयात्पुरुष असून 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया'—सू. ७८० वरील वातिक—या वातिकान्वयें झाला आहे व हा बहुव्रीहिसमास नाहीं. म्हणून 'न बहुव्रीही' हें प्रकृत निषेधक सूत्र त्याला लागू पडत नाहीं. तरी पण या स्थळीं समास झाल्यावर 'भवत्' हा शब्द उपसर्जन होत असल्यामुळें त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होणार हें निश्चित असून देखील, 'भवत्' शब्दाहून 'अकच्' प्रत्यय होतोच व 'अतिभवकान्' असें प्रथमेच्या एकवचनाचें रूप होतें. यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, 'अकृतव्यूहाः'—परि. ५६—ही परिभाषा अनित्य आहे. प्रकृत सूत्र तिच्या अनित्यत्वाचें जापक आहे असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, ती परिभाषा नित्य असती तर, प्रकृत सूत्र करण्याची कांहींच गरज नव्हती व हें सूत्र नसून देखील, बहुव्रीहि-समासांतील सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन होणार व त्याची सर्वनाम-

सज्ञा निश्चयैकत्वन नष्ट होणार यां कारणामुळे, त्या परिभाषेसर्वे सर्वनामाहून होणारा 'अकच्' प्रत्यय 'युष्मद्, अस्मद्' या बहुव्रीहिसमासातील अवयवाहून न होनाच 'त्वक्त्पितृक्', मक्त्पितृक्' अशी रूपे न होता, 'त्वक्त्पितृक्, मक्त्पितृक्' अशी तिची प्रवृत्ति न केल्यास, 'त्वक्त्पितृक्, मक्त्पितृक्', अशी ती रूपे होऊ पाहत हानी ती न व्हावी याकरिता पाणिनीला प्रकृत निषेधक सूत्र मुद्दाग करावे लागल अशा रीतीने हे सूत्र व 'अतिभवकान्' हे उदाहरण त्या परिभाषेच्या अनित्यत्वाचे जापक ठरते भाष्यकाराच्या मन 'त्वक्त्पितृक्, मक्त्पितृक्' अशीच रूपे हाणे इष्ट असल्यामुळे, त्यानी प्रकृत सूत्राच प्रत्याख्यान केले आहे आणि म्हणून प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत) 'भाष्यकारस्तु त्वक्त्पितृक् मक्त्पितृक् इति रूपे इष्टापत्ति कृत्वैतत्सूत्र प्रत्याचख्यौ' अस म्हटले आहे (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—'गीतदीपि आहे । अकच्स्वरो लुक्तां व्यो प्रत्यङ्ग मुक्तसप्तमौ । त्वक्त्पितृक् मक्त्पितृक् इत्येव भवितव्यमिति ।' भाष्यकारानी असे सांगून प्रकृत सूत्राचे प्रत्याख्यान केले असल्यामुळे प्रकृत सूत्र नाहीच असे मानल्यास, 'अकृतव्यूहा पाणिनीया' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाचे जापक कोणते मानावे असा कोणी प्रश्न केल्यास, त्या प्रश्नाचे दीक्षित असे उत्तर देतात की, 'च्छ्वो लूट्' सू २५६१ या सूत्रातील 'लुक्' या आगमासहित केलेल छकाराचे उच्चारण किंवा 'आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे, कृत्वल्, प्रकृतिप्रत्यापत्ति'—सू २५७३ वरील वातिक—मा वातिकातील 'प्रकृतिप्रत्यापत्ति' हे पद 'अकृतव्यूहा' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाचे जापक मानता येते ('छे च' सू १४६ या सूत्राने 'प्रच्' यातील छकारास 'लुक्' आगम होऊन 'प्रच्छ' असे रूप होत या 'प्रच्छ' पासून 'यजयाज' सू ३२६८ या सूत्राने 'तच्' प्रत्यय केला असता, 'च्छ्वा लूट्' या सूत्राने 'प्रच्छ' यातील

‘भावार्थं हा आहे कीं, (भाष्यकारांचें वचन प्रमाण मानून आपणास ‘त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः’ अशींच रूपे होणें इष्ट आहे असें मानणें भाग असल्यामुळें) आतां भाष्यकारांनीं सांगितल्याप्रमाणेंच व्यवस्था लावली पाहिजे. (वास्तविक ‘न बहुव्रीही’ या निषेधक सूत्रान्वये तशीं रूपे होऊं शकत नाहीत. परंतु भाष्यकारांनीं तशींच रूपे होणें इष्ट आहे असें सांगून प्रकृत सूत्राचें प्रत्याख्यान केलें असल्यामुळें, आपणास प्रकृत सूत्राकडे दुर्लक्ष करून तशींच रूपे इष्ट रूपे आहेत असें मानणें भाग आहे.)

शब्दरत्न—वक्ष्यमाणत्वादिति । एकद्वा इति बहुव्रीहेरभिधानेऽपि तत्रैकद्वयन्यतरा इत्यर्थादुपसर्जनत्वमेव । सामासान्ते कृते विशिष्टस्य सर्वाद्यन्तत्वाभावाच्च । समासान्तानामुत्तरपदावयवत्वं तु नेत्युक्तम् । चिकीर्षित इतीति । अध्याहारलभ्यमेतत् । एतदर्थमेव न बहुव्रीहेरिति वक्तव्ये “बहुव्रीहौ” इति गुह्यनिर्देश इति भावः । विनाशोन्मुखत्वादिति । यद्यप्यलौकिके एवैकार्थ्यभावस्यारोपोऽस्ति तथाऽपि तत्र स्वार्थविशिष्टार्थान्तरबोधकत्वरूपोपसर्जनत्वाभावादेवमुक्तम् । अनित्यत्वादितो । अत एवातिभयकानित्यादिसिद्धिः । वस्तुतः सा भाष्यानुक्तत्वात्तास्त्वयेति बोध्यम् । सतुवकग्रहणमिति । “च्छ्वोः शूङ्” इति सूत्रे प्रष्टेत्यादावन्तरङ्गत्वाज्जातस्य तुको निवृत्तये तत्क्रियते । सतुवकनिर्देशसामर्थ्याच्च नात्यस्य शः । बाङ्छादिप्रकृतिकविधयन्तादेस्तु अप्रयुक्तत्वेन लक्षणविषयत्वं नेत्यादि भाष्ये स्पष्टम् । तत्परिभाषासत्त्वे हि शादेशे निमित्तविनाशेन पूर्वं तदप्रवृत्तिरेवेति स व्यर्थ एव स्यादिति भावः ॥

‘एकद्वाः’ असा बहुव्रीहिसमास होण्याचें जरी अभिधान केलें आहे तरी, या उदाहरणाचा एक व दोन यांतील अन्यतर, म्हणजे एक किंवा दोन असा अर्थ होत असल्यामुळें, येथें (‘अन्यतर’ प्रधान असून) ‘एक’ व ‘द्वि’ हे उपसर्जनच आहेत. या स्थलीं समासान्त ‘एच्’ प्रत्यय (‘बहुव्रीही सङ्ख्येयं णच्’ सू. ८५१ या सूत्रानें)

वेला असता, उच्प्रत्ययान्त 'द्व' हा शब्द सर्वादिगणात पठित नसल्यामुळे, समासाच्या अन्ती सर्वादिगणात अन्तर्भूत असलेला शब्द आहे असे मानता येत नाही (व त्यामुळे समासाच्या अन्ती असलेल्या 'द्व' या शब्दाला सर्वनामसज्ञेची प्राप्तीच होत नाही) समासान्त प्रत्यय उत्तर पदाचा अवयव मानता येत नाही हे पूर्वी (अर्थवद-धातु' या सूत्रावरील मनोरमेत) सांगितलेच आहे. (शक्ताकाराचे असे म्हणणे आहे की, 'वृते बहुव्रीही सर्वनामसज्ञा न स्यात्' असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केल्याचे 'एकद्वा' हे रूप सिद्ध होणे हे फल आहे 'सङ्ख्याव्ययासन्न' सू ८४३ या विशैष सूत्राने, 'एको वा द्वौ वा एकद्वा' असा जो समास होतो तो, बहुव्रीहिसज्ञक ठरतो 'अनेकमन्यपदार्थे' सू ८३० या सूत्राने होणाऱ्या बहुव्रीहिसमासातील अवयव जसे उपसर्जन होतात तसे 'सङ्ख्याव्ययासन्न' या सूत्राने होणाऱ्या बहुव्रीहिसमासातील अवयव उपसर्जन होत नाहीत 'एको वा द्वौ वा एकद्वा' या बहुव्रीहिसमासातील 'एक' व 'द्वि' हे सर्वादिगणात पठित असलेले सर्वनामरूप अवयव प्रधान असून उपसर्जन नाहीत. त्यामुळे 'सर्जोपसर्जनीभूता न सर्वादय' हे वास्तिक त्यांना लागू पडत नाही व त्याची सर्वनामसज्ञा त्या वास्तिकांनी नष्ट होऊ शकत नाही ती सज्ञा बहुव्रीहिसमास केल्यावर प्रकृत सूत्राने नष्ट होते. त्यामुळे 'एकद्व' हा सामासिक शब्द सर्वनामशब्दान्न आहे असे मानता येत नाही आणि म्हणून त्या सामासिक शब्दाहून प्रथमेच्या बहुवचनाचा 'जस्' प्रत्यय वेला असता, त्या प्रत्ययाचे जागी 'जम. शी' सू २१४ या सूत्राने होणारा 'शी = ई' हा आदेश होत नाही व 'एकद्वे' असे प्रथमेच्या बहुवचनाचे रूप न होना 'एकद्वाः' अमेव रूप होते. या ठिकाणी 'अनिजतिर्ज्ये बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्' या भाष्यवचनान्वये बहुवचनाचा प्रत्यय होना हें लक्षान ठेवावे. 'वृते बहुव्रीही सर्वनामसज्ञा न स्यात्' या अर्थाचे वाचक प्रकृत सूत्र जर नसते तर, 'एकद्वे' अमे अनिष्ट रूप

होण्याची आपत्ति आली असती असा शंकाकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे. या शंकेवर शब्दस्तकार असें उत्तर देतात कीं, 'एको वा द्वी वा एकद्वाः' या बहुव्रीहिसमासांत 'अन्यतर' हा पदार्थ प्रधान असून या समासांतील 'एक' व 'द्वि' हे दोन्ही सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन असल्यामुळे, 'उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वार्तिकानेंच समासांतील चरमावयव जो 'द्वि' शब्द त्याला सर्वनामसंज्ञा होऊं शकत नाही व त्यामुळे या उदाहरणांत 'एकद्वे' असें प्रथमेच्या बहुवचनाचें रूप होण्याची प्राप्तीच नाही. दुसरें असें कीं, या उदाहरणांत 'बहुव्रीही सङ्ख्येये डच्' सू. ८५१ या सूत्रानें समासान्त 'डच्' प्रत्यय होऊन तो प्रत्यय डित् असल्यामुळे 'टेः' सू. ३१६ या सूत्रानें 'द्वि' यांतील 'टि'चा, म्हणजे अन्त्य इकाराचा, लोप झाला असातां, जो डच्प्रत्ययान्त 'द्व' असा शब्द होतो तसा शब्द सर्वादिगणांत पठित नसल्यामुळे, त्याला सर्वनामसंज्ञा होऊंच शकत नाही आणि म्हणून देखील 'एकद्वे' असें रूप होण्याची प्राप्तीच नाही. तिसरें असें कीं, शंकाकार जर कदाचित् असें म्हणेल कीं, समासान्त 'डच्' प्रत्यय हा 'द्वि' या शब्दाचा अवयव होत असल्यामुळे, सर्वादिगणांत पठित असलेल्या 'द्वि' या शब्दानें डच्प्रत्ययविशिष्ट 'द्व' या शब्दाचें ग्रहण करतां येतें, तर त्याला उत्तर हें आहे कीं, समासान्त प्रत्यय समासांतील उत्तर पदाचा अवयव होत नसून पूर्ण सामासिक शब्दाचा अवयव होत असतो हें मार्गेच सांगितलें आहे. त्यामुळे वरील उदाहरणांत 'द्व' हें जें उत्तर पद आहे तें 'द्वि'च आहे असें मानतां येत नाही व म्हणून देखील 'एकद्वे' असें रूप होण्याची प्राप्तीच नाही. सारांश 'कृते बहुव्रीही सर्वनामसंज्ञा न स्यात्' असा प्रकृत मूत्राचा अर्थ केल्यानें 'एकद्वाः' असें रूप सिद्ध होतें हें जें फल शंकाकारानें दिलें आहे तें अन्यरीतीनें सिद्ध होत असल्यामुळे, शंकाकाराचें म्हणणें यरोचर मानतां येत नाही.) प्रकृत मूत्राचें व्याख्यान करितांना गोमुदीत 'चिकीषिते' हें

जें पद घातले आहे ते अध्याहार करून घातले आहे. असा अध्याहार करता यावा या हेतूनेच पाणिनीने 'न बहुव्रीहि.' असे (कमी मात्राचे) सूत्र न करता 'न बहुव्रीही' असे अधिक मात्राचे सूत्र केले आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे (प्रकृत सूत्रात 'बहुव्रीही' अशी विषयसप्तमी निर्दिष्ट नवती तर, त्या सूत्रात 'चिकीर्षिते' या पदाचा जो अध्याहार केला आहे तो करता आला नसता.) 'निमित्तस्य अनुपसर्जनत्वस्य विनाशो-न्मुखत्वात्' असे जें मनोरमेत शकाकारानें म्हटले आहे ते असा आशय मनात धरून म्हटले आहे की, जरी अलौकिक प्रक्रिया-वाक्यातच एकार्थीभावाचा आरोप केला जात असतो तरी, स्वतःचा अर्थ अन्यपदार्थात सक्रमित करून स्वार्थविशिष्ट अन्यपदार्थाचा बोध करणे अशा प्रकारचे उपसर्जनत्व अलौकिक प्रक्रियावाक्यात येत नाही. (तसे उपसर्जनत्व समासातच येते, कारण भाषेत अलौकिक प्रक्रिया-वाक्याचा प्रयोग होत नसून सामासिक शब्दाचाच प्रयोग होत असल्यामुळे, बहुव्रीहिसमास केल्यावर त्या सामासिक शब्दातील सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन होतो असा शकाकाराच्या वरील म्हण-ण्याचा भावार्थ आहे.) 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा अनित्य असल्या-मुळेच, 'अतिभवकान्' इत्यादि रूपे सिद्ध होतात. (ती परिभाषा नित्य असती तर 'अतिभवकान्' या सामासिक शब्दात उपसर्जन होणाऱ्या 'भवत्' या सर्वनामाहून 'अकच्' प्रत्यय होऊ शकला नसता व 'क' प्रत्यय केल्याने 'अतिभवत्कः' असे रूप झाले असतें.) 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा भाष्यात कोठेहि पठित नसल्यामुळे, वास्तविक तशी परिभाषाच नाही असेच मानले पाहिजे हें जाणावे. 'प्रष्टा' इत्यादि स्थली अन्तरङ्गत्वामुळे जो तुगागम होतो त्याची निवृत्ति व्हावी याकरिता 'च्छ्वोः शूठ्' सू. २५६१ या सूत्रात तुगागम-सहित छकाराचे ग्रहण केले आहे. ('प्रच्छ् + तृच्' या स्थली 'प्रच्छ' या प्रकृतीत विद्यमान असणाऱ्या छकाराच्या निमित्तामुळे 'छे च' सू. १४६ या सूत्रानें जें तुगागमकार्य पावतें तें अन्तरङ्ग असून, त्याच्या मानानें

त्या छकारापलीकडे असणाऱ्या झलादि 'तृच्' प्रत्ययाच्या निमित्ताने 'च्छ्वोः शूट्' या सूत्राने शकारादेश होणे हे कार्य बहिरङ्ग ठरते. म्हणून बहिरङ्गकार्याचा बाध करून प्रथम अन्तरङ्गकार्य केल्याने जो 'तुक्=त्' आगम होतो त्या पुढे छकार असल्यामुळे 'स्तोःश्चुनाश्चुः' सू. १११ या सूत्राने त्या तकाराचे जागीं जो चकार होतो त्या चकाराची, म्हणजेच तुगागमाची, निवृत्ति व्हावी याकरितां प्रकृत सूत्रांत सतुक् छकार हा शकारादेशाचा स्थानी निर्दिष्ट केला आहे. त्यामुळे सतुक् छकाराचे जागीं शकारादेश होऊन छकारासह तुगागमाची निवृत्ति होते. 'च्छ्वोः शूट्' ६-४-१९ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात:- 'अवश्यमत्र तुगभावार्थो यत्नः कर्तव्यः । अन्तरङ्गत्वाद्धि तुक् प्राप्नोति । च्छ्वोरिति तुकासह सन्निपातग्रहणं विज्ञायते ।') 'च्छ्वोः शूट्' या सूत्रांत सतुक् छकाराचे ग्रहण केलें असल्यामुळे त्या ग्रहणाच्या सामर्थ्याने 'प्रच्छ' यांतील अन्त्य छकाराचे जागीं शकार होत नाही. (शंकाकाराची अशी शंका आहे कीं, 'अलोऽन्त्यस्य' सू. ४२ ही परिभाषा असल्यामुळे, 'च्छ्वोः शूट्' या सूत्राने होणारा शकारादेश 'प्रच्छ' यांतील अन्त्य छकाराचे जागींच होऊं शकतो, सतुक् छकाराचे जागीं तो आदेश होऊं शकत नाही. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'च्छ्वोः शूट्' या सूत्रांत सतुक् छकाराचा स्थानिरूपाने निर्देश केला असल्यामुळे, जर केवळ अन्त्य छकाराचे जागीं 'अलोऽन्त्यस्य' सू. ४२ या परिभाषान्वये शकार केला तर, त्या सूत्रांत केलेले सतुक् छकाराचे ग्रहण व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. ते सतुक् ग्रहण व्यर्थ न ठरावे याकरितां हे मानणे आवश्यक आहे कीं, सतुक्ग्रहणाच्या सामर्थ्यामुळे 'अलोऽन्त्यस्य' या परिभाषेचा बाध होऊन 'निदिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' प. १२ या परिभाषान्वये सतुक् छकाराचे जागीं शकारादेश होतो. त्या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं देखील हेंच म्हटलें आहे. भाष्यकार म्हणतात:- 'ननु चैवमप्यन्त्यस्य प्राप्नोति । सन्निपातग्रहणसामर्थ्या-

त्सर्वस्य भविष्यति । एवमप्यङ्गस्य प्राप्नोति । निदिश्यमानस्याऽऽदेशा भवन्तीत्येवमङ्गस्य न भविष्यति । 'वाञ्छि इच्छायाम्' या भ्वादि-
 गणातील इदित् घातूहून 'विवप्' प्रत्यय केल्यास, 'इदितो
 नुम्वातो' सू २२६२ या सूत्रानें नुमागम होऊन व 'वैरपृक्तस्य'
 सू ३७५ या सूत्रानें 'विवप् = व' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप
 होऊन व 'नुम् = न्' चे जागी 'स्तो इचुना इचु.' सू १११ या
 सूत्राने अकार होऊन 'वाञ्छ' अशी तुगागमरहित प्रकृति झाली
 असता अशा) 'वाञ्छ' इत्यादि किवबन्त प्रकृतीच्या रूपाचा भाषेंत
 कोठेंहि प्रयोग आढळत नसल्यामुळें, तशी प्रवृत्ति 'च्छ्वो शूठ्' या
 पाणिनीय सूत्राचा विषयच होऊ शकत नाही असे 'च्छ्वो शूठ्'
 सू ६-४-१९ या सूत्रावरील भाष्यात स्पष्ट सांगितले आहे
 जर 'अकृतव्यूहा' -परि ५६- ही परिभाषा वास्तविक असती तर,
 शकारादेश केल्यावर तुगागमाचे निमित्त जो छकार त्याचा अवश्य
 नाश होणार असल्यामुळें, तुगागम (अन्तरङ्ग असून देखील 'निमित्त
 विनाशोन्मुख दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वति' या अर्थाच्या वाचक
 त्या परिभाषान्वयें) होऊच शकला नसता आणि त्यामुळें 'च्छ्वो
 शूठ्' या सूत्रात केलेले सतुक् छकाराचे ग्रहण व्यर्थ ठरण्याची
 आपत्ति येते (असे असून देखील 'च्छ्वो शूठ्' सू २५६१ या
 सूत्रात सतुक् छकाराच स्थानिरूपानें ग्रहण केले असल्यामुळें त्याव-
 रून ह स्पष्ट होतें की, पाणिनीला 'अकृतव्यूहा' ही परिभाषा
 मुळीच मान्य नव्हती जर ती परिभाषा असती बिवा पाणिनीला
 मान्य असती तर, त्या परिभाषान्वयें तुगागम अन्तरङ्ग असून देखील
 त्याचा अवश्य नाश शकारादेशानें होणारा असल्यामुळें त्या तुगा-
 गमाची प्रथम प्रवृत्ति होऊ शकलीच नसती आणि त्यामुळें पाणिनीनं
 त्या सूत्रांत सतुक् छकाराचा स्थानिरूपानें निर्देश न करिता, केवळ
 छकाराचा स्थानिरूपानें निर्देश केला असता सारांश त्या सूत्रात
 स्थानिरूपानें केलेलें सतुक् छकाराचे ग्रहण 'अकृतव्यूहा' या
 परिभाषेच्या अनिवार्याचे जें दीशितांना गारव मानले आहे तने

न मानतां, तशी परिभाषाच नाही याचें ते ज्ञापक मानणें योग्य आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. यावर शंकाकार असें म्हणतो कीं, 'च्छ्वोः शूट्' या सूत्रांत जें सतुक् छकाराचें स्थानिरूपानें ग्रहण केलें आहे तें अज्ञाकरितां केलें आहे कीं, 'वाच्छि इच्छायाम्' या म्वादिभणांत पठित असलेल्या धातूहून 'क्विप्' प्रत्यय केला असतां, 'वाञ्छ् क्विप्' या स्वलीं 'क्विप्' हा कित् प्रत्यय पुढें असल्यामुळें तुग्रहित छकाराचे जागीं जो शकारादेश झाला असतां तो न व्हावा, आणि अज्ञा रीतीनें त्या सूत्रांत स्थानिरूपानें केलेलें सतुक् छकाराचें ग्रहण चरितार्थ ठरत असल्यामुळें, तें ग्रहण 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा मुळींच नाही किंवा असल्यास ती अनित्य आहे याचें ज्ञापक मानतां येत नाही. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'वाञ्छ्' अज्ञा विषयान्त तुग्रहित प्रातिपदिकाचीं भाषेत कोठेंहि रूपें आढळत नसल्यामुळें, तशा रूपांच्या सिद्धीकरितां 'च्छ्वोः शूट्' या सूत्रांत पाणिनीनें सतुक् छकाराचें स्थानिरूपानें ग्रहण केलें आहे हें शंकाकाराचें म्हणणें बूक ठरतें. भाषेत जीं रूपें प्रचलित आहेत तीं कशीं मिळ होतात याकरितां पाणिनीनें अष्टाध्यायी रचली असल्यामुळें, जीं रूपें भाषेत मुळींच होत नाहीत तशा काल्पनिक रूपांचा आधार घेऊन सतुक् छकाराचें स्थानिरूपानें केलेलें ग्रहण चरितार्थ ठरविण्याचा प्रयत्न करणें अयोग्य आहे. 'वाञ्छ्' या विषयान्त प्रातिपदिकाचीं रूपें भाषेत मुळींच होत नाहीत याचा शब्दरत्नकार 'च्छ्वोः शूट्' ६-४-१९ या सूत्रावरील भाष्याचें प्रमाण देतात. त्या भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात—'यद्येवमुत्पुच्छयत्तेरप्रत्ययः उत्पुटिति प्राप्नोति, उत्पुटिति वेत्यते तथा वाञ्छनेरप्रत्ययः यान् तांशो यान् इति न निपत्यति । यत्तच्छक्यमप्रयत्ने ।' या वरील भाष्यांत 'यद्येवमुत्पुच्छयत्तेरप्रत्ययः' अत्रयुक्तीत यद्यप्यप्ययत्तेर न', म्हणजे अज्ञा प्रकारचे प्रयोग भाषेत होत नसल्यामुळें ते पाणिनीय शास्त्राचा विषयच होत नसून नाहीत, तसें भाष्यें असल्यामुळें स्थानान्त हें

स्पष्ट होते की, 'वाञ्छ' या विवदन्त प्रातिपदिकाची भाषेत रूपे मुळीच होत नाहीत. म्हणून तशा काल्पनिक रूपाच्या सिद्धीकरिता पाणिनीने प्रकृत सूत्रात सनुक् छकाराचे स्थानिरूपाने ग्रहण केले आहे असे जे शकाकाराचे म्हणणे आहे ते बरील भाष्याच्या विरुद्ध असल्यामुळे, बरोबर मानता येत नाही आणि म्हणून ते ग्रहण 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा नाहीच याचेच ज्ञापक मानणे योग्य आहे असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न-प्रकृतिप्रत्यापत्तीति । कसं घातयतीत्यादौ कृल्लुक् तन्निमित्तकादेशनिवृत्तये प्रियमाणं 'आख्यानात्कृतस्तदाचष्टेकृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिश्च' इति वचनमित्यर्थः ।

अप्रेदं चिन्त्यम् । लुक्पि प्रत्ययलक्षणसत्त्वाद्वाजा, ऐनेय इत्यादाविवकृतपरिभाषाया अत्राप्राप्तिः । "न लुमता" इति निये-धस्तु प्रत्यये परतो जायमानपूर्वकार्यं एवेति स्पष्टमेव । तस्मात्पुष्य-योग जानाति पुष्येण योजयतीत्येतत्साधके "पुष्ययोगे नि" इति वचने भाष्यकृतकृतप्रत्यापत्त्यनुवृत्तिर्नापिका । तत्र हि "चजो" इति धिति परतः कुत्वमिति ।

'प्रकृतिप्रत्यापत्तिवचनम्' या मनोरमेच्या पक्तीत 'वचनम्' असे जे म्हटले आहे ते 'कसं घातयति' इत्यादि उदाहरणात कृत् प्रत्ययाचा लुक् झाल्यावर त्या कृत् प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे होणाऱ्या आदेशाची निवृत्ति व्हावी यावरिता पठित केलेले 'आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिश्च' हे वचन-वातिक-होय. या वाटिकाचे मनोरमेत पूर्वी विवरण केलेच आहे.) 'कसं घातयति' या उदाहरणासवधाने ही गोष्ट विचार करण्याजोगी आहे की, 'राजा, ऐनेयः' इत्यादि उदाहरणात प्रत्ययाचा लोप झाल्यावर देखील तो प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानल्याने उदाहरणाने 'अकृतव्यूहाः' या परिभाषेची प्राप्ति होत नाही त्याचप्रमाणे 'कसं घातयति' या उदाहरणाने देखील 'अर्' या कृत् प्रत्ययाचा

मानल्याने 'अकृतव्यूहा' ही परिभाषा या उदाहरणात देखील प्रवृत्त होऊ शकत नाही; कारण येथे देखील निमित्त नष्ट झाले नसून प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानता येते वर दिलेल्या दोन्ही उदाहरणात प्रत्ययलक्षण न मानल्यास, 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा त्या दोन्ही स्थली प्रवृत्त होईल व त्यामुळे प्रथम उदाहरणात उपधादीर्घकार्य होणार नाही व द्वितीय उदाहरणात अपत्यार्थक 'ढक्' प्रत्यय होणार नाही म्हणून शब्दरत्नकार म्हणतात की, वरील दोन उदाहरणात प्रत्ययलक्षण मानून जशी 'अकृतव्यूहा' या परिभाषेची प्रवृत्ति रोकली जाते त्याचप्रमाणे 'वस घातमति' या उदाहरणात देखील तिची प्रवृत्ति रोकता येऊ शकते, कारण या उदाहरणात 'हनश्च वध.' सू ३२५३ या सूत्राने 'हन्' घातू-हून जो 'अप्' हा कृत् प्रत्यय होतो त्या प्रत्ययाचा 'आख्यानात्कृत' या वार्तिकान्वये जरी लुक् होतो तरी, तो 'अप्' प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमानच आहे व त्याचा नाश झाला नाही असे मानल्याने, त्या उदाहरणात देखील 'अकृतव्यूहा' या परिभाषेची प्रवृत्ति बंद करता येते. हे खरे की, या उदाहरणात 'अप्' प्रत्ययाचा लोप झाला नसून लुक् झाला आहे व 'न लुमताङ्गस्य' हे प्रत्ययलक्षणाचे निषेधक सूत्र आहे पण ते निषेधक सूत्र अगाच ठिकाणी लागू पडते की, जेथे लुक् झालेल्या प्रत्ययाच्या निमित्ताने त्याच्या अङ्गाला काही कार्य करणे आहे. परंतु 'हनश्च वध.' या सूत्राने जो 'हन्' घातूहून 'अप्' प्रत्यय होतो त्या प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे 'हन्' या प्रकृतीचे जागी वधादेश करणे नसून तो आदेश सन्नियोगशिष्ट आहे, म्हणजे 'अप्' प्रत्यय व वधादेश हे दोन्ही 'हनश्च वध' या सूत्राने एकेच वेळी होणे सांगितले असून त्या दोहोमध्ये निमित्तनिमित्तिकभाव नाही म्हणून या उदाहरणास 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध लागू पडत नाही व त्यामुळे 'अप्' या प्रत्ययाचा जरी लुक् झाला आहे तरी तो प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानता येत असल्यामुळे, त्या

म्हणून सूत्रप्रत्याख्यान करणारे भाष्यकार यांना ज्या प्रकारचीं रूपें संमत आहेत त्या प्रकारचीं रूपें पाणिनीय सूत्रांवर्ये देखील कशीं तरी सिद्ध होणें शक्य असल्यास, तशींच रूपें सिद्ध करावीं व विपरीत रूपांची, म्हणजे भाष्यविरुद्ध रूपांची, सिद्धि करूं नये. तसें करणें शक्य नसल्यास, पाणिनीय सूत्र अप्रमाणच आहे व भाष्यकारांनीं त्या सूत्राचें केलेलें प्रत्याख्यान सूत्रकारास-पाणिनीस-देखील संमत आहे असें मानलें पाहिजे असें त्या भाष्यांत व्वनित केलें आहे. ('घिन्विकृष्वयोर च' या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात:- 'व्वायमकारः श्रूयते ? । न क्वचिच्छ्रूयते । लोपोऽस्य भवत्वतो लोप आर्द्धधातुक इति । यदि न क्वचिच्छ्रूयते किमर्थं भवत्वमुच्यते, न लोप एवोच्चेत । नैवं शक्यं, लोपे हि सति गुणः प्रसज्येत । अत्ये पुनः सति अकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद्गुणो न भवति । ननु च लोपेऽपि सति न धातुलोप आर्द्धधातुक इति प्रतिषेधो भविष्यति । आर्द्धधातुकनिमित्ते लोपे स प्रतिषेधो, न चैव आर्द्धधातुकनिमित्तो लोपः । अपि च प्रत्याख्यायते स योगः । तस्मिन्प्रत्याख्याते गुणः स्यादेव । तस्मादत्वं वक्तव्यम् ॥' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'घिन्विकृष्वयोर च' या सूत्रानें 'घिन्व्, कृष्व्' या धातूंचील अग्न्य वकाराचे जागीं जो अकारादेश होणें सांगितलें आहे त्याचें कोठेंहि श्रवण होत नाहीं; कारण त्या अकारापुढें 'उ' हा आर्द्धधातुक प्रत्यय येत असल्यामुळें, 'अतो लोपः' सू. २३०८ या सूत्रानें त्या अकाराचा लोप होतो. म्हणून ज्याअर्थी त्या अकाराचें कोठेंहि श्रवण होत नाहीं त्याअर्थी तसा आदेश होण्याचें विधान न करितां पाणिनीनं वकारलोप होण्याचें विधान करावयास पाहिजे होतें. पण तसें विधान करणें शक्य नव्हतें. वकारलोप होण्याचें विधान केलें असतें तर, 'घिन्वि, कृष्वि' या द्दिक् घातूंना 'द्दिक्तो नुम्धातोः' नू. २२६२ या नृधानें नुमाग्न होऊन 'घिन्व्, कृष्व्' अशी स्थिति घात्यावर वकारलोप केल्यानें 'घिन्व् उ ति, कृष्व् उ ति' असा 'उ' हा आर्द्धधातुकप्रत्यय पुढें असल्यामुळें, 'पुगन्तल्लपप-

स्य च' सू २१८९ या सूत्राने उपधेतील 'इ, ऋ' याचा गुण होण्याची आपत्ति येते पण वकाराचे जागी अकारादेश वेला असता, जरी त्या अकाराचा 'अतो लोप' या सूत्राने लोप होतो तरी, त्या अकारापूर्वी असलेल्या 'इक्' चा गुण करतेवेळी तो अकार 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' सू ५० या सूत्रान्वये विद्यमान आहे असे स्थानिवद्भावाने मानता येते त्यामुळे 'उ' प्रत्यय व 'इक्' या दोहोमध्ये अकाराचे व्यवधान होत असल्यामुळे व अशा रीतीने 'इक्' उपधाभूत ठरत नसल्यामुळे, त्या 'इक्'चा गुण होण्याची आपत्ति टळते पण वकारलोप होण्याचे विधान केले असते तरी, तो लोप 'उ' या आर्धधातुक प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे होणारा असल्यामुळे व अशा रीतीने तो आर्धधातुक प्रत्यय धात्वयव जो वकार त्याचा लोप करणारा प्रत्यय आहे असे मानता येऊ शकत असल्यामुळे, 'न धातुलोपे आर्धधातुवे' सू २६५६ या निषेधक सूत्रान्वये उपधागुण होऊ शकलाच नसता अशी कोणी शका केल्यास, त्या शकेवर भाष्यकार असे उत्तर देतात की, 'न धातुलोपे' हा निषेध अशाच ठिकाणी लागू पडतो की, जेथे आर्धधातुक प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे धात्वयवाचा लोप होतो पण प्रकृत स्थली वकारलोपाचे विधान केल्यास तो वकारलोप आर्धधातुकप्रत्ययनिमित्तक न ठरता सत्रियोगशिष्ट ठरेल, म्हणजे वकारलोप व 'उ' प्रत्यय हे दोन्ही एकेचवेळी होण्याचे सांगितले असून त्या दोहोमध्ये निमित्तनिमित्तिभाव नाही अशा प्रकारचे ते विधान ठरेल, व त्यामुळे 'न धातुलोपे' हा निषेध लागू पडणार नाही आणि उपधेतील 'इक्' चा गुण होण्याची आपत्ति कायम राहीलच दुसरे असे की, वकारलोप आर्धधातुकप्रत्ययनिमित्तक मानला तरी, 'न धातुलोपे' या सूत्राचे प्रत्याख्यान केले असल्यामुळे, तशा प्रत्याख्यात सूत्राच सहाय घेऊन गुण होण्याची आपत्ति टाळता येऊ शकत नाही म्हणून पाणिनीने वकारलोपाचे विधान न करिता वकाराचे जागी अकारादेश होण्याचे जे विधान केले आहे तेच योग्य ठरते असा भाष्य-

अनित्यत्वामूलं तिची वरील उदाहरणांत प्रवृत्ति न केल्यास कुत्व इत्यादि कार्ये कायम राहून 'युज्' ही पूर्वं प्रकृति आविर्भूत न होण्याची जी आपत्ति येत होती ती टाळण्याकरितां तशी अनुवृत्ति केली आहे व अशा रीतीनें ती अनुवृत्ति 'अकृतव्यूहाः' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाची जापक ठरते असें शब्दरत्नकारांचें म्हणणें आहे.)

शब्दरत्न-भाष्यकारोक्त्येति ।

“अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयी” ।

इति च तद्वृत्तः । एतदेवाभिप्रेत्य “ध्रिन्विकृण्व्योर च” इति सूत्रे किमर्थमत्वं विधीयते बलोप एवास्त्वित्याशङ्क्यात्वेऽल्लोपे तस्य स्थानिवत्त्वेन गुणाभावाय तत् । न च बलोपेऽपि “न धातु-” इति गुणनिषेधः सिद्ध इति वाच्यम् । तत्प्रत्याख्यानपक्षे गुणप्राप्तेरित्युक्तम् । अनेन सूत्रमतात् प्रत्याख्यानवादिमतं प्रबलमिति प्रत्याख्यानवादिसंमतलक्ष्यमेव कथंचित्सूत्रमतेऽपि साध्यं न तु विपरीतं सति सम्भवे । अन्यथा सूत्रमप्रमाणमेवेति च, प्रत्याख्यानं सूत्रसंमतमिति च ध्वनितम् । सूत्रकृत्वखण्डितप्राचीनऋषिवाक्यानामप्रामाण्यवत्सूत्रकारवचः खण्डनप्रवृत्तभाष्यवातिकवचनस्तदंशे सूत्रकारवचसोऽप्यप्रामाण्यकल्पनैवोचितेति दिक् ।

‘तया चाद्यत्वे भाष्यकारोक्त्यैव व्यवस्था’ या मनोरमेंतील पंक्तीत ज्या भाष्यकारोक्तीला अनुलक्षून म्हटलें आहे ती ‘अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयी’ म्हणजे ‘अकच्’ प्रत्यय व ‘स्वाङ्गशिष्टामदन्तानाम्’ फिट् सू. २९ या सूत्रानें सर्वनामाला होणारा स्वर हे दोन्ही समासामध्ये कोणत्याहि भागांत असलेल्या ‘सर्व’ इत्यादि सर्वनामांना निःसंशय करावे, ही भाष्यकारोक्ति होय. (‘न बहुव्रीही’ १-१-२९ या सूत्रावरील भाष्यांत हें म्हटलें आहे व हें भाष्य मनोरमेच्या विवरणांत पूर्वी दिलेंच आहे आणि त्या भाष्यावरील टीकेंत कैयटानें ‘गोनर्दीयस्त्वाहेति सूत्रप्रत्याख्यान-भेदत् । यद्योत्तरं मुनित्रयस्य प्रामाण्यमिति’ असें म्हटलें आहे. सारांश

‘त्वक्त्विन्व’, मवत्पिन्व’ या उदाहरणात कोणताहि सशय मनात न आणता ‘युष्मद्, अस्मद्’ या सर्वनामरूप अवयवाहून ‘अवच्’ प्रत्यय वरावा व ‘बहुव्रीहौ प्रुत्त्या पूर्वपदम्’ सू ३७३५ या सूत्रान्वयें बहुव्रीहिसमासान जो पूर्वपदप्रकृतिस्वर प्राप्त आहे तो ‘स्वाङ्गशिष्टामदन्तानाम्’ किद् सू २९ या सूत्रानें होणारा आद्युदात्त स्वर पूर्वं पदाला नि सशय वरावा असे भाष्यकाराचे म्हणणे आहे व ‘यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्’ या न्यायान्वयें भाष्य-काराचेच म्हणणे मान्य करणे भाग आहे, आणि ‘न बहुव्रीहौ’ हे सूत्र ‘सजोपसर्जनीभूता न सर्वादय’ हे वातिक असल्यामुळें गतार्थ होने असे मानून त्या सूत्राचे प्रत्याख्यान करणे, म्हणजे त्या सूत्राकडे दुर्लक्ष करणे, उचित आहे) ‘यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्’ हा न्याय मनात धरूनच भाष्यकारानी ‘घिन्विकृष्योरच’ सू ३-१-८० या सूत्रावरील भाष्यात अशी शका केली आहे की, त्या सूत्रात वकाराचे जागी अकारादेश होण्याचे विधान का केले आहे ? वका-राचा लोप व्हावा एवढेंच विधान केले असते तरी काम भागले असते, व त्या शकेवर भाष्यकारानी असे उत्तर दिले आहे की, वकाराचे जागी अकारादेश होण्याचे जें विधान केले आहे ते अज्ञा-करिता की, त्या अकाराचा (‘उ’ हा आर्धधातुक प्रत्यय पुढें असल्या-मुळें ‘अतो लोप.’ सू २३०८ या सूत्रानें) लोप झाला असता, तो लुप्त अकार (‘अच परिस्मिन्पूर्वविधौ’ सू ५० या सूत्रान्वयें) स्थानिवद्भावाणें विद्यमान आहे अशी बुद्धि केल्यानें गुण न व्हावा. पाणिनीने वकाराचा लोप होण्याचे जरी विधान केले असते तरी ‘न धातुलोपे आर्धधातुके’ सू २६५६ या सूत्रान्वयें गुण झालाच नसता तरी शकाकारानें शका केली असता, त्या शकेवर भाष्य-कारानी असे उत्तर दिले आहे की, ‘न धातुलोपे’ या सूत्राचे प्रत्याख्यान केले असल्यामुळें त्या प्रत्याख्यानपक्षात गुण होण्याची प्राप्ति आहे. या भाष्यावरून हे स्पष्ट होते की, सूत्रकाराच्या मता-पेक्षा सूत्रप्रत्याख्यान करणारे भाष्यकार याचे मत बलवत्तर ठरते

प्रत्ययाबरोबर झालेला वधादेश कायम राहण्याची आपत्ति येते आणि तो वधादेश कायम राहिल्यास, 'कंसं घातयति' असा इष्ट प्रयोग सिद्ध होऊं शकत नाही. तसा प्रयोग सिद्ध व्हावा म्हणजे 'हन् णिच्' अशी स्थिति झाल्याने 'हनस्तः' सू. २५७४ या सूत्राने 'हन्' यांतील नकाराचे जागीं तकार होऊन व 'हो हन्तेः' सू. ३५८ या सूत्राने हकाराचे जागीं कुताने घकार होऊन आणि 'अत उपघायः' सू. २२८२ या सूत्राने उपघादीर्घ होऊन 'घातयति' हा इष्ट प्रयोग सिद्ध व्हावा, याकरितांच बरील वातिकांत 'प्रकृतिप्रत्यापत्तिः' या पदाचें वातिककाराने मुद्दाम ग्रहण केलें आहे व अशा रीतीने वधादेश नाहीसा होऊन 'हन्' ही पूर्व प्रकृति पुन्हा प्रादुर्भूत व्हावी याकरितां केलेलें त्या पदाचें ग्रहण चरितार्थ ठरत असल्यामुळे, तें पद 'अकृतव्यूहाः' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाचें ज्ञापक मानतां येत नाही. सारांश दीक्षितांनीं मनोरमेत 'अकृतव्यूहाः' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाची जी दोन ज्ञापके दिली आहेत तीं, वर सांगिल्याप्रमाणे, त्या परिभाषेच्या अनित्यत्वाची ज्ञापके मानतां येऊं शकत नसल्यामुळे, जर ती परिभाषा मानणेंच असेल तर तिच्या अनित्यत्वाचें वेगळें ज्ञापक देणें आवश्यक आहे व तें ज्ञापक कोणतें मानावें हें वादरत्नकार पुढील पंक्तींत सांगतात.) म्हणून 'पुष्ययोगं जानाति' या अर्थानध्यें 'पुष्येण योजयति' हा प्रयोग सिद्ध होण्याकरितां 'पुष्ययोगे जि' या वातिकांत भाष्यकारांनीं 'प्रकृतिप्रत्यापत्तिः' या पदार्थ जी अनुवृत्ति केली आहे ती अनुवृत्ति 'अकृतव्यूहाः' या परिभाषेच्या अनित्यत्वाची ज्ञापक मानतां येते. या उदाहरणांत वित् प्रत्यय पुढें असल्याने 'चजोः कु घिण्यतोः' सू. २८६३ या सूत्राने कुत्वाची प्राप्ति आहे. ('हेतुमति च' सू. ३-१-२६ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं 'नक्षत्रयोगे जि' हें वातिक पठित करून त्या वातिकांत पूर्व वातिकांतून 'कुल्लुक्, प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकम्' हीं पद अनुवृत्त केलीं आहेत व या वातिकाचीं 'पुष्ययोगं जानाति = पुष्येण योजयति, मघाभिर्योजयति' हीं उदाहरणें दिलीं आहेत. त्या भाष्यांत

भाष्यकार म्हणतात, 'नक्षत्रयोगे जि । नक्षत्रयोगे जानात्यर्थे
 कृदन्ताणिज्जवतव्यः । कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारक
 भवतीति वक्तव्यम् । पुष्ययोग जानाति पुष्येण योजयति । मघाभिर्यो-
 जयतीति ।' 'पुष्येण योगः पुष्ययोगः' या उदाहरणांत 'युज्'
 धातूहून 'घज्' हा कृत् प्रत्यय केल्याने 'योग' हा शब्द सिद्ध होत
 असल्यामुळे, 'पुष्ययोग' हा शब्द कृदन्त ठरतो. या शब्दाहून
 'जानाति' या अर्थामध्ये 'णिच्' प्रत्यय 'नक्षत्रयोगे जि' या
 वातिकान्वये केला असता, 'युज्' धातूहून झालेल्या 'घज्' या कृत्
 प्रत्ययाचा लुक् होतो व ज्या 'युज्' धातूहून तो 'घज्' प्रत्यय
 झाला आहे तो 'युज्' प्रकृति पुन्हा आविर्भूत होते. या उदाहरणात
 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध लागू पडतो; कारण ज्या 'घज्'
 प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो विद्यमान आहे असे मानल्यास,
 'चजोः' सू. २८६३ या सूत्राने 'युज्' यातील जकारास कुत्व
 पावते व ते कुत्वकार्य 'घज्' या पित् प्रत्ययाच्या निमित्ताने होणारे
 कार्य असून 'घज्' च्या पूर्वी असणाऱ्या प्रकृतीला होणारे ते कार्य
 असल्यामुळे, 'न लुमताङ्गस्य' या निषेधान्वये येथे प्रत्ययलक्षण
 मानता येत नाही, म्हणजे ज्या 'घज्' प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे
 तो 'घज्' प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानता येत
 नाही. 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा नित्य मानल्यास, ज्या 'घज्'
 प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे 'युज्' यातील जकाराचे कुत्व होणे प्राप्त
 आहे त्या 'घज्' प्रत्ययाचा बरोल वातिकान्वये लुक् होऊन अवश्य
 नाश होणारा असल्यामुळे, 'युज्' धातूला घज्प्रत्ययनिमित्तक कुत्व
 इत्यादि कार्ये त्या परिभाषान्वये होणारच नाहीत व 'युज्'
 अशीच कुत्वकार्यरहित प्रकृति विद्यमान राहिलच म्हणून भाष्यकाराना
 'नक्षत्रयोगे जि' या वातिकांत पूर्वं वातिकानून 'प्रकृतिप्रत्यापत्तिः' या
 पदाची अनुवृत्ति करण्याची वास्तविक बाबीच गरज नव्हती.
 पण त्यांनी तशी अनुवृत्ति मुद्दाम केली असल्यामुळे हे जाणित
 होणे वी, 'अकृतव्यूहाः' ही परिभाषा अनित्य आहे व तिच्या

म्हणून सूत्रप्रत्याख्यान करणारे भाष्यकार यांना ज्या प्रकारचीं रूपें संमत आहेत त्या प्रकारचीं रूपें पाणिनीय सूत्रान्वये देखील कशीं तरी सिद्ध होणें शक्य असल्यास, तशींच रूपें सिद्ध करावीं व विपरीत रूपांची, म्हणजे भाष्यविरुद्ध रूपांची, सिद्धि करूं नये. तसें करणें शक्य नसल्यास, पाणिनीय सूत्र अप्रमाणच आहे व भाष्यकारांनीं त्या सूत्राचें केलेलें प्रत्याख्यान सूत्रकारास-पाणिनीस-देखील संमत आहे असें मानलें पाहिजे असें त्या भाष्यांत ध्वनित केलें आहे. ('घिन्विक्कुण्वोर च' या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात:- 'क्वायमकारः श्रूयते ? । न क्वचिच्छ्रूयते । लोपोऽस्य भवत्यतो लोप आर्द्धधातुक इति । यदि न क्वचिच्छ्रूयते' किमर्थमत्वमुच्यते, न लोप एवोच्येत । नैवं शक्यं, लोपे हि सति गुणः प्रसज्येत । अत्वे पुनः सति अकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद्गुणो न भवति । ननु च लोपेऽपि सति न धातुलोप आर्द्धधातुक इति प्रतिषेधो भविष्यति । आर्द्धधातुकनिमित्ते लोपे स प्रतिषेधो, न चैव आर्द्धधातुकनिमित्तो लोपः । अपि च प्रत्याख्यायते स योगः । तस्मिन्प्रत्याख्यायते गुणः स्यादेव । तस्मादत्वं वक्तव्यम् ॥' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'घिन्विक्कुण्वोर च' या सूत्रानें 'घिन्, कुण्व्' या धातूतील अन्त्य वकाराचे जागीं जो अकारादेश होणें सांगितलें आहे त्याचें कोठेंहि श्रवण होत नाहीं; कारण त्या अकारापुढें 'उ' हा आर्द्धधातुक प्रत्यय येत असल्यामुळें, 'अतो लोपः' सू. २३०८ या सूत्रानें त्या अकाराचा लोप होतो. म्हणून ज्याअर्थी त्या अकाराचें कोठेंहि श्रवण होत नाहीं त्याअर्थी तसा आदेश होण्याचें विधान न करितां पाणिनीनें वकारलोप होण्याचें विधान करावयास पाहिजे होतें. पण तसें विधान करणें शक्य नव्हतें. वकारलोप होण्याचें विधान केलें असतें तर, 'घिवि, कृवि' या इदित् धातूंना 'इदितो नुम्धातोः' मृ. २२६२ या सूत्रानें नुमागम होऊन 'घिन्, कुण्व्' अशी स्थिति साल्यावर वकारलोप केल्यानें 'घिन् उ ति, कुण्व् उ ति' अशा स्थितींत 'उ' हा आर्द्धधातुकप्रत्यय पुढें असल्यामुळें, 'पुगन्तलघूपव-

स्थ च' सू. २१८९ या सूत्रानें उपधेंतील 'इ, ऋ' याचा गुण होण्याची आपत्ति येते. पण वकाराचे जागी अकारादेश केला असता, जरी त्या अकाराचा 'अतो लोप.' या सूत्रानें लोप होतो तरी, त्या अकारापूर्वी असलेल्या 'इक्' चा गुण करतेवेळी तो अकार 'अच. परस्मिन् पूर्वविधौ' सू. ५० या सूत्रान्वये विद्यमान आहे असे स्थानिवद्भावाने मानता येते. त्यामुळे 'उ' प्रत्यय व 'इक्' या दोहोमध्ये अकाराचे व्यवधान होत असल्यामुळे व अशा रीतीने 'इक्' उपधाभूत ठरत नसल्यामुळे, त्या 'इक्'चा गुण होण्याची आपत्ति टळते. पण वकारलोप होण्याचे विधान केले असते तरी, तो लोप 'उ' या आर्धधातुक प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे होणारा असल्यामुळे व अशा रीतीने तो आर्धधातुक प्रत्यय घात्वयव जो वकार त्याचा लोप करणारा प्रत्यय आहे असे मानता येऊ शकत असल्यामुळे, 'न धातुलोपे आर्धधातुके' सू. २६५६ या निषेधक सूत्रान्वये उपधागुण होऊ शकलाच नसता अशी कोणी शका केल्यास, त्या शकेवर भाष्यकार असे उत्तर देतात की, 'न धातुलोपे' हा निषेध अशाच ठिकाणी लागू पडतो की, जेथे आर्धधातुक प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे घात्वयवाचा लोप होतो पण प्रकृत स्थली वकारलोपाचे विधान केल्यास तो वकारलोप आर्धधातुकप्रत्ययनिमित्तक न ठरता सन्धियोगशिष्ट ठरेल, म्हणजे वकारलोप व 'उ' प्रत्यय हे दोन्ही एकेचवेळी होण्याचे सांगितले असून त्या दोहोमध्ये निमित्तनिमित्तिभाव नाही अशा प्रकारचे ते विधान ठरेल, व त्यामुळे 'न धातुलोपे' हा निषेध लागू पडणार नाही आणि उपधेंतील 'इक्' चा गुण होण्याची आपत्ति कायम राहीलच. दुसरे असे की, वकारलोप आर्धधातुकप्रत्ययनिमित्तक मानला तरी, 'न धातुलोपे' या सूत्राचे प्रत्याख्यान केले असल्यामुळे, अशा प्रत्याख्यात सूत्राचे सहाय घेऊन गुण होण्याची आपत्ति टाळता येऊ शकत नाही. म्हणून पाणिनीने वकारलोपाचे विधान न करिता वकाराचे जागी अकारादेश होण्याचे जें विधान केले आहे तेच योग्य ठरतें असा भाष्य-

म्हणून सूत्रप्रत्याख्यान करणारे भाष्यकार यांना ज्या प्रकारचीं रूपें संमत आहेत त्या प्रकारचीं रूपें पाणिनीय सूत्रान्वयें देखील कशीं तरी सिद्ध होणें शक्य असल्यास, तशींच रूपें सिद्ध करावीं व विपरीत रूपांची, म्हणजे भाष्यविरुद्ध रूपांची, सिद्धि करूं नये. तसें करणें शक्य नसल्यास, पाणिनीय सूत्र अप्रमाणच आहे व भाष्यकारांनीं त्या सूत्राचें केलेलें प्रत्याख्यान सूत्रकारास-पाणिनीस-देखील संमत आहे असें मानलें पाहिजे असें त्या भाष्यांत ध्वनित केलें आहे.

(‘घिन्विक्वण्वोर च’ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात:- ‘क्वायमकारः श्रूयते ? । न क्वचिच्छ्रूयते । लोपोऽस्य भवत्यतो लोप आर्द्धधातुक इति । यदि न क्वचिच्छ्रूयते’ किमर्थमत्वमुच्यते, न लोप एवोच्येत । नैवं शक्यं, लोपे हि सति गुणः प्रसज्येत । अत्रे पुनः सति अकारलोपस्य स्थानिवद्भावाद्गुणो न भवति । ननु च लोपेऽपि सति न धातुलोप आर्द्धधातुक इति प्रतिषेधो भविष्यति । आर्द्धधातुकनिमित्ते लोपे स प्रतिषेधो, न चैव आर्द्धधातुकनिमित्तो लोपः । अपि च प्रत्याख्यायते स योगः । तस्मिन्प्रत्याख्याते गुणः स्यादेव । तस्मादत्वं वक्तव्यम् ॥’ या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ‘घिन्विक्वण्वोर च’ या सूत्रानें ‘घिन्व्, क्वण्व्’ या धातूंचील अन्त्य वकाराचे जागीं जो अकारादेश होणें सांगितलें आहे त्याचें कोठेंहि श्रवण होत नाहीं; कारण त्या अकारापुढें ‘उ’ हा आर्द्धधातुक प्रत्यय येत असल्यामुळें, ‘अतो लोपः’ सू. २३०८ या सूत्रानें त्या अकाराचा लोप होतो. म्हणून ज्याअर्थी त्या अकाराचें कोठेंहि श्रवण होत नाहीं त्याअर्थी तसा आदेश होण्याचें विधान न करितां पाणिनीनें वकारलोप होण्याचें विधान करावयास पाहिजे होतें. पण तसें विधान करणें शक्य नव्हतें. वकारलोप होण्याचें विधान केलें असतें तर, ‘घिवि, क्वि’ या इदित् धातूंना ‘इदितो नुम्धातोः’ मू. २२६२ या सूत्रानें नुमागम होऊन ‘घिन्व्, क्वण्व्’ अशी स्थिति घाल्यावर वकारलोप केल्यानें ‘घिन् उ ति, क्वण् उ ति’ अशा स्थितींत ‘उ’ हा आर्द्धधातुकप्रत्यय पुढें असल्यामुळें, ‘पुगन्तलधूपध-

कार किंवा भाष्यकार यांनी एखाद्या पाणिनीय सूत्राचे किंवा त्यातील अशाचे खण्डन-प्रत्याख्यान-केले असल्यास तेवढ्या अशापुरते ते सूत्र अप्रमाण आहे असेच मानणे उचित आहे.

मनोरमा-यत्तु प्राचोक्तम्-बहुव्रीहौ सर्वदेः सर्वनामता न स्यात् । प्रियसर्वाय । सूत्रकारमते बहुव्रीहौ न सर्वनामता । भाष्यकारमते गौणत्वमात्रे । 'त्वत्कपितृको' 'मत्कपितृक' इत्यत्र समासावयवयोर्धुष्मदस्मदोः सर्वनामत्वादनङ्गकार्यत्वेनाकच् स्यात् स मा भूत्, कप्रत्यय एव स्यादित्येतदयमिदं सूत्रमिति न्यासकृन्मतमिति । अत्रेदं वक्तव्यम् । किं बहुव्रीहौ सज्ञा नेति विवक्षितम् ? उत तदवयवानां सर्वादीनामिति । नाद्यः । समासावयवयोर्धुष्मदस्मदोरित्युत्तरप्रग्रन्थविरोधात्, समुदाये प्राप्तिविहाञ्च । न च तदन्तविधिना प्राप्तिः, बहुव्रीह्यावयवाना उपसर्जनतया सर्वादिवहिभक्तिं तदन्ते प्राप्तेर्दूरापास्तत्वात् । अत एव न द्वितीयोऽपि । न चोपसर्जनाना पाठात् पर्युदासो वार्तिककृतोक्तो न तु सूत्रादृढ इति वाच्यम् । अन्यसंज्ञाबलेन सूत्राक्षरंरेव तस्माभात् । एतेन सूत्रकारमते बहुव्रीहौ न सर्वनामतेत्यपि परास्तम् । बहुव्रीहयेवेति तस्यार्थः । भाष्यकारमते इत्याद्यपि न । विशेषोपादानेन हि सूत्रकारवार्तिककारयोर्मतमन्याद्दशमिति प्रतीयते । देववत्तो वामेनाक्षणा पश्यतीत्युक्ते वक्षिणेन न पश्यतीति यत् । तच्च न, सूत्रवार्तिकमतेऽपि गौणपर्युदासस्येष्टत्वात् । यत्तु त्वत्कपितृक इत्यादि तदित्यं प्राचा व्याख्यातम् । त्वं पिता यस्य, अहं पिता यस्येति विगृह्य बहुव्रीहिसमासे कृते समासावयवयोः समासान्त पाणिनीयधुष्मदस्मदोः सर्वार्थवाचकत्वेन सर्वनामसंज्ञकत्वादज्ञाताद्यर्थविवक्षायां "अध्ययसर्वनाम्नाम्" इत्यकच् प्रसज्येत । तस्य स्मं प्रभृतीनामिवाङ्गापिकारविहितत्वाभावेनाङ्गसंज्ञानपेक्षत्वात् । ततश्च त्वत्किन्तृक इत्याद्यनिष्टं प्रसज्येतेति । न्यासकृताऽपि अन्यसंज्ञाबलादेव संज्ञानिरासे कृतेऽङ्गं न भविष्यतीत्याशङ्क्य समुदायो हि विशेषे वनंते पूर्वपदन्तु सर्वार्थताया अनपेक्षमेवेत्युक्तम् । तदेतन्मते प्रामादिकमेव । तथा हि नहस्सर्वार्थायां

कारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. या वरील भाष्यांत 'अपि च प्रत्याख्यायते स योगः' असें जें भाष्यकारांनीं म्हटलें आहे त्यावर उद्योतकार म्हणतात - 'अनेन सूत्रमतापेक्षया प्रत्याख्यानवादमतं प्रबलमिति ध्वनितम् । एतन्मूलकमेव पठ्यते यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति ।' आणि हेंच शब्दरत्नांत सांगितलें आहे. सारांश भाष्यकारांनीं केलेलें सूत्रप्रत्याख्यान योग्य मानून व प्रत्याख्यात सूत्राकडे दुर्लक्ष करून जीं रूपें होणें भाष्यकारांना संमत आहेत तीं रूपें प्रत्याख्यात सूत्रानें सिद्ध होऊं शकत असल्यास तशीं रूपें सिद्ध करावीं. प्रत्याख्यात सूत्रान्वयें सिद्ध होणारीं रूपें भाष्यकारांच्या मताविरुद्ध असल्यास तशीं रूपें सिद्ध न करितां, भाष्यकारांना संमत असलेलीं रूपेंच स्वीकारलीं पाहिजेत. म्हणून 'न बहुव्रीही' या सूत्राचें भाष्यकारांनीं प्रत्याख्यान केलें असल्यामुळें, 'जरी त्या सूत्रान्वयें 'त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः' इत्यादि रूपें सिद्ध होऊं शकत नाहीत तरी तशींच रूपें होणें भाष्यकारांना इष्ट वाटत असल्यामुळें, 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' या न्यायान्वयें तींच रूपें शुद्ध मानलीं पाहिजेत हें वरील भाष्यावरून ध्वनित होतें असें शब्दरत्नकारांचें म्हणणें आहे. यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' इत्यादि श्रुतींत जेथें परस्पर विरोध असतो तेथें जसा विकल्प मानला जातो तसा विकल्प व्याकरणशास्त्रांत, मुनित्रयांत विरोध असल्यास, मानतां येऊं शकत नाहीं; कारण तसें मानल्यास, वैकल्पिक अनिष्ट रूपें सिद्ध होण्याचा प्रसङ्ग येईल. वार्तिककाराचें मत सूत्रकारांच्या मताविरुद्ध असल्यास, वार्तिकान्वयें जीं रूपें सिद्ध होतात तींच रूपें इष्ट मानलीं पाहिजेत. तसेंच भाष्यकारांचें मत सूत्रकारांच्या किंवा वार्तिककारांच्या मताविरुद्ध असल्यास, भाष्यकारांना जीं रूपें सिद्ध होणें इष्ट आहे तींच शुद्ध रूपें मानलीं पाहिजेत असा 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' या न्यायाचा भावार्थ आहे.) सूत्रकारांचें-पाणिनीनं-खण्डन केलेलीं प्राचीन ऋषींचीं-वैयाकरणांचीं-वचनं, म्हणजे सूत्रें, ज्याप्रमाणें अप्रमाण मानलीं जातात त्याचप्रमाणें वार्तिक-

कार किंवा भाष्यकार यांनी एखाद्या पाणिनीय सूत्राचे किंवा त्यातील अशाचे खण्डन-प्रत्याख्यान-केले असल्यास तेवढ्या अशापुरते ते सूत्र अप्रमाण आहे असेच मानणे उचित आहे.

मनोरमा-यत्तु प्राचोक्तम्-बहुव्रीहौ सर्वदेः सर्वनामता न स्यात् । प्रियसर्वाय । सूत्रकारमते बहुव्रीहौ न सर्वनामता । भाष्यकारमते गौणत्वमात्रे । 'त्वत्कपितृको' 'मत्कपितृक' इत्यत्र समासावयवयोर्युष्मदस्मदोः सर्वनामत्वादनङ्गकार्यत्वेनाकच् स्यात् स मा भूत, कप्रत्यय एव स्यादित्येतदर्थमिदं सूत्रमिति न्यासकृन्मतमिति । अत्रेदं यत्तद्व्ययम् । किं बहुव्रीहौ संज्ञा नेति विवक्षितम् ? उत तदवयवानां सर्वादीनामिति । नाद्यः । समासावयवयोर्युष्मदस्मदोरित्युत्तरग्रन्थविरोधात्, समुदाये प्राप्तिविरहाच्च । न च तदन्तर्विधिना प्राप्तिः, बहुव्रीह्यवयवानां उपसर्जनतया सर्वादिबहिर्भावेन तदन्ते प्राप्तेर्दूरापास्तत्वात् । अत एव न द्वितीयोऽपि । न चोपसर्जनानां पाठात् पर्युदासो धात्विककृतोक्तो न तु सूत्रारूढ इति वाच्यम् । अन्यर्थसंज्ञाबलेन सूत्राक्षरंरेव तल्लाभात् । एतेन सूत्रकारमते बहुव्रीहौ न सर्वनामतेत्यपि परास्तम् । बहुव्रीहावेवेति तस्यार्थः । भाष्यकारमते इत्याद्यपि न । विशेषोपादानेन हि सूत्रकारवार्तिककारयोर्मतमन्यादृशमिति प्रतीयते । देवदत्तो वामेनाक्ष्णा पश्यतीत्युक्ते वक्षिणेन न पश्यतीतिवत् । तच्च न, सूत्रवार्तिकमतेऽपि गौणपर्युदासस्येष्टत्वात् । यत्तु त्वत्कपितृक इत्यादि तदित्यं प्राचा व्याख्यातम् । त्वं पिता यस्य, अहं पिता यस्येति विगृह्य बहुव्रीहिसमासे कृते समासावयवयोः समासान्त पातिनोर्युष्मदस्मदोः सर्वार्थवाचकत्वेन सर्वनामसंज्ञकत्वादनास्ताद्यर्थेवियक्षायां "अभ्ययसर्वनाम्नाम्" इत्यकच् प्रसज्येत । तस्य स्मैप्रभृतीनामिवाङ्गधिकारविहितत्वाभावेनाङ्गसंज्ञानपेक्षत्वान् । ततश्च त्वत्किपितृक इत्याद्यनिर्द्वयं प्रसज्येतेति । न्यासकृताऽपि अन्यर्थसंज्ञाबलादेव संज्ञानिरासे कृतेऽङ्गं न भविष्यतीत्याशङ्क्य समुदायो हि विशेषे यतंते पूर्वपदन्तु सर्वार्थताया अनपेतमेवेत्युक्तम् । तदेतत्सर्वं प्रामादिकमेव । तथा हि जटत्सर्वार्थायां

वृत्तौ समासावयवयोरर्थ एव नास्ति । अजहत्स्वार्थायामपि स्वार्थ-
विशिष्टान्यपदार्थवृत्तित्वेनोपसर्जनत्वं स्पष्टमेव । एवं च समासान्तः
पातिनोर्युष्मदस्मदोः सर्वार्थवाचकत्वेनेत्यादिग्रन्थः, समुदायो हीत्या-
दिन्यासग्रन्थश्च पक्षद्वयेऽपि व्याहृतः । किं चैवं अतिसर्वायेत्यत्र
स्वायादेशो दुर्वारः । अङ्गाधिकारे तदन्तग्रहणात् । त्वद्वक्तरतीत्या
सर्वशब्दस्य सर्वार्थतानपायात् । न हि पूर्वपदे सर्वार्थता उत्तरपदे तु
नेति युक्तिमत् । अपि चैवं गौणत्वे सर्वादीनां सर्वार्थवाचकत्वं
नास्तीति स्वोक्त्या सह विरोधः स्यादिति र्यत्किंचिदेतत् ।

‘न बहुव्रीही’ सू. २२२ या सूत्रावर टीका करितांना प्रक्रिया-
कौमुदीकारांनीं असें म्हटलें आहे:- “सर्वादिगणांत पठित असलेले
शब्द बहुव्रीहिसमासांत असल्यास, म्हणजे बहुव्रीहिसमासाचे अवयव
असल्यास, त्यांना सर्वनामसंज्ञा होत नाही. उदाहरणार्थ ‘प्रियसर्वाय.’
सूत्रकार पाणिनीच्या मते बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला
सर्वनामसंज्ञा होत नाही. परंतु भाष्यकारांच्या मते सर्वादिगणांत
पठित असलेला शब्द गुणीभूत किंवा उपसर्जन झाला असल्यास, (मग
तो बहुव्रीहिसमासांत-उपसर्जनीभूत झालेला असो किंवा इतरत्र तसा
झाला असो) त्याला सर्वनामसंज्ञा होत नाही. ‘त्वकत्पितृकः,
मकत्पितृकः’ या स्थलीं बहुव्रीहिसमासांतील अवयव ‘युष्मद्,
अस्मद्’ हे सर्वनामसंज्ञक असल्यामुळे व त्यांहून ‘अकच्’ प्रत्यय
होणें हें आङ्गकार्य नसल्यामुळे, त्यांहून ‘अकच्’ प्रत्यय होण्याची
आपत्ति येते. त्यांहून ‘अकच्’ प्रत्यय न होतां ‘क’ प्रत्ययच व्हावा
याकरितां ‘न बहुव्रीही’ हें सूत्र पाणिनीनें केलें आहे असें न्यासकाराचें
मत आहे.” (‘अव्ययसर्वनाम्नामकच्’ सू. २०२६ हें सूत्र अङ्गा-
धिकारांत पठित नसल्यामुळे त्या सूत्रांत ‘अङ्गस्य’ या पदाची
अनुवृत्ति होत नाही. त्यामुळे ‘सर्वनाम्नः स्मै’ इत्यादि अङ्गा-
धिकारांत पठित असलेल्या सूत्रांनीं कार्य होण्याकरितां जशी अङ्गसंज्ञा
प्राप्त होण्याची व त्याकरितां प्रत्यय पुढें असण्याची गरज असते
तशा प्रकारची ‘अकच्’ प्रत्यय होण्याकरितां गरज नसल्यामुळे,

अङ्गसज्ञानिरपेक्ष 'अकच्' प्रत्यय होणे हे कार्य, अङ्गसज्ञासापेक्ष कार्याच्या मानानें, अन्तरङ्ग ठरते व त्यामुळें वरील उदाहरणात 'मुष्मद् अस्मद्' शब्दाना 'अकच्' प्रत्यय होण्याची जी आपत्ति येते ती टाळण्याकरिता 'न बहुव्रीही' हे सूत्र पाणिनीने केले आहे असे न्यासकाराचे म्हणणे आहे असे वरील प्रक्रियाकौमुदीचा भावार्थ सांगताना प्रसादटीकेत म्हटले आहे. ती टीका दीक्षितानीं स्वतःच पुढें मनोरमंत दिली असल्यामुळें तिचा उतारा येथें देण्याची आवश्यकता नाही. पण न्यासकाराच्या ग्रन्थाचा उतारा जो प्रसादकारानी आपल्या टीकेत दिला आहे तो येथें देणे इष्ट वाटते व त्यावरून न्यासकाराचे काय म्हणणे आहे हे नीट ध्यानात येईल. 'तथा च काशिकाविवरणपञ्जिकायामुक्तम्' असे सागून प्रसादकार न्यासग्रन्थातील उतारा देतात—'त्वं पिता अस्य, अहं पिता अस्येति विगृह्य बहुव्रीही कृते अज्ञाताद्यर्थविवक्षायाम्, असति प्रतिषेधे, अध्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे. इत्यकच् प्रसज्येत । ततश्च त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्यनिष्ट स्यात् । तस्मादकच् मा भूदिति प्रतिषेध आरम्भ्यते । तेन प्राग्वत्कः इति क एव भवति । तत्र परतः प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति मपर्यन्तयोर्युष्मदस्मदोस्त्वमादेशयोः नष्टतश्च इति समासान्ते कपि च त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति सिध्यति । ननु चान्वर्थसज्ञाकरणादेवात्र सज्ञानिरासे कृते अकच् न भविष्यति । न ह्यत्र सर्वायता सम्भवति । विशेषविषयत्वात् । नंतदस्ति । स समुदायो हि विशेषे वर्तते । पूर्वपद तु सर्वायताया अनपेक्षमेव ।' या उताऱ्यात न्यासकारानें जें म्हटले आहे त्याची चर्चा पुढें मनोरमंत करण्यात येणार आहेव.) वर जें प्रक्रियाकौमुदीकारांनी म्हटले आहे त्या सबधानें असा प्रश्न करिता येतो की, वरील म्हणण्याचा असा आशय आहे काय की (१) बहुव्रीहिसमास वेला असतां समुदायाला सर्वनामसज्ञा होत नाही, किंवा (२) त्या समासांतील सर्वनामस्य 'सर्वादि' अवयवांना सर्वनामसज्ञा होत नाही? प्रथम पदा स्वीकारतां येत नाही; कारण तो पद, म्हणजे समुदायाला सर्वनामसज्ञा होत

नाहीं हा पक्ष, स्वीकारल्यास, 'समासावयवयोर्युष्मदस्मदोः' असें जें प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं पुढें म्हटलें आहे त्या उत्तरग्रन्थाशीं विरोध येतो व दुसरें असें कीं, समुदायाला सर्वनामसंज्ञा होण्याची प्राप्तीच नाही. (समुदायाला, म्हणजे सर्वादिशब्दान्त बहुव्रीहिसामासिक-शब्दाला, सर्वनामसंज्ञा होत नाही असा जर 'न बहुव्रीही' या सूत्राचा अर्थ मानला तर, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसंज्ञा होऊं नये व त्या अवयवाहून 'अकच्' प्रत्यय होऊं नये याकरितां 'न बहुव्रीही' हें सूत्र केलें आहे असें जें प्रक्रिया-कौमुदीकारांनीं पुढें म्हटलें आहे त्याशीं विरोध येतो; कारण त्या पुढील म्हणण्याचा असा अर्थ होतो कीं, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवालाच प्रकृत सूत्रानें सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे. सारांश तो उत्तर ग्रन्थ अवयवनिषेधपरक असल्यामुळें, समुदायाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होतो असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ करणें त्या म्हणण्याशीं विरुद्ध ठरतें. दुसरें असें कीं, 'प्राप्तस्यैव निषेधः' हा न्याय असल्यामुळें व सर्वनामान्त बहुव्रीहिसमासरूप समुदायाला सर्वनामसंज्ञा होण्याची प्राप्तीच नसल्यामुळें, समुदायाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ करणें अयोग्य ठरतें.) तदन्तविधीनें सर्वनामान्त बहुव्रीहिसमासरूप समुदायाला सर्वनामसंज्ञेची प्राप्ति आहे (व त्या प्राप्त होणाऱ्या संज्ञेचा निषेध करण्याकरितां 'न बहुव्रीही' हें प्रकृत सूत्र केलें आहे) असें म्हणणें असल्यास, तें म्हणणें देखील बरोबर नाही; कारण बहुव्रीहिसमासांत (अन्यपदार्थ नेहमी प्रधान असून त्या समासांतील) अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळें, ('उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या यातिकान्वये) बहुव्रीहिसमासांतील चरमावयव 'सर्वादि' शब्द हें सर्वादिगणान् अन्तर्भूत नसलेले शब्द आहेत असें मानावें लागतें व त्यामुळें समुदायाला तदन्तविधीनें सर्वनामसंज्ञेची प्राप्ति होणें हें गुरापास्त-अनन्य-आहे. ('न बहुव्रीही' १-१-२९ या सूत्रावरील नागिकेन 'सर्वनामसंज्ञायां तदन्तविधेरन्युपगमाद् बहुव्रीहेरपि सर्वा-

द्यन्तस्य सज्ञा स्यादिति प्रतिषेध आरम्भते' असे म्हटले आहे. 'प्रियरावाय' या बहुव्रीहिसमासातील 'सर्व' हा शब्द जरी समास-रूप समुदायाचा अन्तावयव आहे तरी तो उपसर्जन झाला असल्यामुळे, 'उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वातिकान्वये तो सर्वनामसज्ञक ठरत नाही व त्यामुळे सर्वाद्यन्त बहुव्रीहिसमास सर्वनामान्त आहे असे मुळीच मानता येत नाही आणि म्हणून तशा बहुव्रीहिसमासाला तदन्तविधीने सर्वनामसज्ञेची प्राप्तीच होत नाही. म्हणून 'तदन्तविधिना प्राप्तिः' असे जे म्हटले आहे ते चूक ठरते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे. बहुव्रीहिसमासातील सर्वनामरूप अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळे आणि अशा रीतीने त्या अवयवाला सर्वनामसज्ञा होऊच शकत नसल्यामुळे) द्वितीय पक्ष देखील बरोबर आहे असे मानता येत नाही, म्हणजे बहुव्रीहिसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञा न व्हावी याकरिता प्रकृत सूत्र केले आहे असा जो द्वितीय पक्ष तो देखील चूक ठरतो. उपसर्जन झालेल्या सर्वादि शब्दाचा सर्वादिगणातून वातिककाराने पर्युदास केला आहे तरी तसा पर्युदास पाणिनीय सूत्रातून निष्पन्न होत नाही असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही, कारण 'सर्वनाम' ही अन्वर्थक सज्ञा वेली असल्यामुळे त्या सज्ञेच्या सामर्थ्यानेच ('सर्वादीनि सर्वनामानि' या) सूत्राच्या अक्षरातूनच तो अर्थ, म्हणजे वातिककाराने केलेला अर्थ निष्पन्न होतो. (शकाकाराचे असे म्हणणे आहे की, 'सज्ञोपसर्जनीभूता न सर्वादयः' असे जे वातिककाराने वातिक केले आहे त्या अर्थाचे पाणिनीने अष्टाध्यायीत कोणतेहि सूत्र केले नसल्यामुळे, त्याला बहुव्रीहिसमासात उपसर्जन होणाऱ्या सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञा न व्हावी याकरिता प्रकृत सूत्र मुद्दाम करावे लागले. या शकेवर दीक्षित असे उत्तर देतात की, ही शका बरोबर नाही, कारण 'सर्वादीनि सर्वनामानि = सर्वेषा नामानि यानि सर्वादीनि तानि सर्वनामसज्ञकानि स्युः' या सूत्रातूनच वातिककाराने केलेल्या वातिकाचा अर्थ निष्पन्न

होतो. 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १-१-२७ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं 'सर्वादीनि सर्वनामानि' या सूत्राचा एकशेष करून उल्लेख केला आहे असें प्रथम सांगून पुढें भाष्यकार म्हणतात:- 'अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् ? । लघ्वर्थं हि संज्ञाकारणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत । सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति, सर्वेषां नामानीति चातः सर्वनामानि । संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठते ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, येथे 'सर्वनाम' अशी मोठी संज्ञा केली आहे आणि संज्ञा जी केली जात असते ती अगदीं लहान असावी लागते; कारण पुष्कळसे अर्थ एका अगदीं लहानशा शब्दांत अन्तर्भूत व्हावे याकरितां संज्ञा केली जात असते. म्हणून येथे 'सर्वनाम' अशी मोठी संज्ञा करण्याचा हा उद्देश असला पाहिजे कीं, ती अन्वर्थक संज्ञा समजली जावी. याचा अर्थ असा कीं 'सर्वादि' शब्द सर्वनामसंज्ञक होतात आणि ज्या-अर्थी ते शब्द सर्वात्रि वाचक आहेत त्याअर्थी त्यांना सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होते. संज्ञार्थक व वृत्तिमध्यें उपसर्जनीभूत झालेले 'सर्व' इत्यादि शब्द सर्वांचे वाचक न होतां विशेष अर्थचे दर्शक होत असल्यामुळे, त्यांना सर्वनामसंज्ञा होत नाहीं या भाष्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, वातिककारांनीं केलेल्या वातिकाचा अर्थ 'सर्वादीनि सर्वनामानि' या सूत्रांतूनच निघत असल्यामुळे, तें वातिक गतार्थ होतें, म्हणजे व्यर्थ ठरतें.) वरील व्याख्यानावरून हें स्पष्ट होतें कीं, 'सूत्रकारमते बहुव्रीही न सर्वनामता' असें जें प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं म्हटलें आहे तें देखील चूक ठरतें. (बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयव अन्यपदार्थाने विशेषण झाल्याकारणानें तो सर्वार्थाचा दर्शक होत नसून अन्यपदार्थरूप विशेषार्थाचा दर्शक होत असल्यामुळे, 'सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वनामानि' या अर्थान्वयेच त्याला सूत्रकारमते सर्वनामसंज्ञा होत नाहीं. म्हणून तशा अवयवाला सर्वनामसंज्ञा न व्हावी याकरितां 'न बहुव्रीही' हें

सूत्र केले आहे हें म्हणणे चूक ठरते हे अगदी उघड आहे.) 'बहुव्रीही न सर्वनामता' याचा अर्थ असा होतो की, बहुव्रीहिसमासांतच सर्वनामरूप अवयव सूत्रकाराच्या मते सर्वनामसज्ञक होत नाही. (वास्तविक 'सर्वेषां नामानि सर्वनामानि' अशी जी अन्वर्थक सज्ञा केली आहे तीवरून हे स्पष्ट होते की, सर्वादि शब्द कोठेहि उपसर्जन असला, मग तो बहुव्रीहिसमासात उपसर्जन झालेला असो किंवा इतरत्र, म्हणजे 'अतिसर्वाय' इत्यादि स्थली, उपसर्जन झालेला असो, तर त्याला सर्वनामसज्ञा होत नाही.) 'भाष्यकारमते गौणत्वमात्रे' असे जें प्रक्रियाकौमुदीकारानी म्हटले आहे ते देखील बरोबर नाही, कारण असे विशेषार्थवाचक वाक्य उच्चारले असल्यामुळे त्यावरून असे दिसून येतें की, जणू काय सूत्रकार व वार्तिककार यांचे मत भाष्यकाराच्या मताहून भिन्न आहे 'देवदत्तो वामेनाक्ष्णा पश्यति' असे म्हटल्याने ज्याप्रमाणे तो उजव्या डोळ्याने पाहत नाही असा अर्थ निष्पन्न होतो त्याचप्रमाणे प्रकृत स्थली ('भाष्यकारमते गौणत्वमात्रे' असे विशेष उपादान केल्यामुळे) झाले आहे, म्हणजे सूत्रकार व वार्तिककार यांचे मत भाष्यकाराच्या मताहून भिन्न आहे असा अर्थ निष्पन्न होतो. पण वास्तविक तसे नाही, कारण सूत्रकार पाणिनी व वार्तिककार या दोघांच्याहि मते देखील गौण-उपसर्जनीभूत असलेल्या-सर्वादि शब्दाना सर्वनामसज्ञा न होणेच द्रष्टव्य आहे (साराश 'सर्वादीनि सर्वनामानि' हे जें पाणिनीने अन्वर्थक सज्ञासूत्र केले आहे त्याचाच अर्थ वार्तिककाराने वार्तिकरूपाने स्पष्ट केला आहे व त्यावरून हें स्पष्ट होते की, त्याच्यामते देखील उपसर्जनीभूत सर्वादि शब्दाना सर्वनामसज्ञा होत नाही.) 'त्वत्त्वपितृको मत्वपितृक इत्यत्र .. सूत्रमिति न्यासकृन्मतमिति' असे जें प्रक्रियाकौमुदीकारानी म्हटले आहे त्याचे प्रसादकारानी असे व्याख्यान केले आहे—' 'त्व पिता यस्य अह पिता यस्य' असे विग्रहवाक्य करून बहुव्रीहिसमास केला असता त्या समासात अन्तर्भूत असलेले व समासाचे अवयव असलेले 'दुष्पद,

अस्मद्' हे शब्द ('सर्वेषां नामानि' अशा प्रकारें) सर्वार्थ-
वाचक असल्यामुळे, ते सर्वनामसंज्ञक ठरतात व 'अज्ञात'
इत्यादि अर्थाची विवक्षा असल्यास त्या अर्थामध्ये त्या शब्दांहून
'अव्ययसर्वनामनामकच्' सू. २०२६ या सूत्रानें 'अकच्' प्रत्यय
होण्याची प्राप्ति होते; कारण ज्याप्रमाणें 'स्मै' इत्यादि आदेश
होणें अङ्गाधिकारांत सांगितलें आहे त्याप्रमाणें 'अकच्' प्रत्यय होणें
अङ्गाधिकारांत सांगितलें नसल्यामुळे, 'अकच्' प्रत्यय होण्याकरितां
अङ्गसंज्ञेची अपेक्षा नाही (व अशा रीतीने 'अकच्' प्रत्यय होणें
हें अन्तरङ्गकार्य ठरत असल्यामुळे, तो प्रत्यय प्रथम ज्ञात्यानें)
'त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः' इत्यादि अतिष्ट रूपें होण्याची आपत्ति
येते.' न्यासकारानें देखील 'सर्वनाम' ही अन्वर्थक संज्ञा असल्या-
मुळे तिच्या सामर्थ्यानेंच वरील समासांत उपसर्जनीभूत झालेल्या
'युष्मद्, अस्मद्' शब्दांना ती संज्ञा होऊं शकत नाही व त्यामुळे
त्या शब्दांहून 'अकच्' प्रत्यय होऊं शकत नाही अशी शंका उप-
स्थित करून त्या शंकेचें अशा रीतीनें निवारण केलें आहे कीं,
समुदाय हा विशेष अर्थाचा वाचक होत असून, म्हणजे संपूर्ण
बहुव्रीहिसामासिकशब्द अन्यपदार्थाचा बोधक होत असून, त्या
समासातील 'युष्मद्, अस्मद्' हीं पूर्व पदे सर्वार्थवाचकच राहत
असल्यामुळे, त्यांची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होऊं शकत नाही (व
त्यामुळे त्या शब्दांहून जी 'अकच्' प्रत्यय होण्याची प्राप्ति आहे
तिचे निवारण करण्याकरितां 'न बहुव्रीही' हें सूत्र पाणिनीनें मुद्दाम
केलें आहे. तें सूत्र केलें असल्यामुळे बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप
अवयवानां सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होऊन 'अकच्' प्रत्यय होत
नाहीं.) पण प्रमादकारांचें व न्यासकारांचें वरील सर्व म्हणणें अगदीं
चूक आहे. त्याचें कारण हें कीं, बहुव्रीहिसमासस्थलीं जहत्सवार्थावृत्ति
मानल्यान (नमासांतील दोन्ही अवयव आपल्या अर्थाचा परित्पाग
करून अगम्यामुळे, त्या समासांतील) अवयव अखंडित ठरतात
(त्यामुळे बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयव अखंडित

ठरत असल्यामुळे, तो सर्वार्थवाचक आहे असे म्हणता येणे मुळीच शक्य नाही आणि त्यामुळे त्याला सर्वनामसत्ता होऊ शकत नाही व त्याहून 'अकच्' प्रत्यय होण्याची प्राप्तीच होत नाही.) अजहत्स्वार्थावृत्ति मानल्यास देखील, बहुव्रीहिसमासातील प्रत्येक अवयव आपला अर्थ प्रधानरूप अन्यपदार्थात सक्रमित करून अन्यपदार्थाचा बोधक होत असल्यामुळे, त्या अवयवाचे ठिकाणी उपसर्जनत्व येते हे अगदी उघड आहे (व अशा रीतीने देखील बहुव्रीहिसमासातील 'मुष्मद्, अस्मद्' हे अवयव त्या पक्षात उपसर्जन होत असल्यामुळे, 'उपसर्जनीभूता न सर्वोदय' या वास्तिकान्वये त्यांना सर्वनामसत्तेची प्राप्तीच होत नाही.) म्हणून जहत्स्वार्था व अजहत्स्वार्था या दोन पक्षांपैकी कोणताहि पक्ष मानला तरी, 'समासान्त पातिनोर्युष्मदग्गदोः... इत्यकच् प्रसज्येत' असे जे प्रसादकारांनी म्हटले आहे व तसेच 'समुदायोहि विशेषे चर्तते' इत्यादि जे न्यासकारांनी म्हटले आहे ते चूक ठरते. दुसरे असे की, त्याचे म्हणणे बरोबर मानल्यास, 'अतिसर्वाय' या उदाहरणान 'स्मै' आदेश टाळता येणे अशक्य आहे, कारण ('पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य' या परिभाषान्वये) अङ्गाधिकाराच्या विषयात, म्हणजे अङ्गाधिकारस्य भूत प्रवृत्त करणे झाल्यास, तदन्ताचे ग्रहण होत असल्यामुळे व त्याच्या मताप्रमाणे 'अतिसर्वाय' या समासातील 'सर्वे' या शब्दाची सर्वार्थवाचकता नष्ट होत नसल्यामुळे, 'स्मै' आदेशाची प्राप्ति होणे. सर्वनामरूप अवयव समासान् पूर्वपद असल्यास तो सर्वार्थवाचक असतो परंतु तो उत्तरपद असल्यास त्याची सर्वार्थवाचकता नष्ट होते हे म्हणणे युक्तीला धरून नाही. दुसरे असे की, गर्वादि शब्द उपसर्जन असल्यास त्याचे ठिकाणी सर्वार्थवाचकता राहून नाही असे जे त्यांनी म्हटले आहे त्याची विरोध येतो. म्हणून त्याच्या बरील म्हणण्यांत बाहीच अर्थ नाही. ('सर्वानतिश्रान्त अतिगर्वः' हा द्वितीयास्तत्पुरुषसमास 'सर्वे' शब्दान्त आहे व समासातील सर्वनामरूप अव-

यवाची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत नाहीं हें जें न्यासकारांचें मत आहे तें वरोवर मानल्यास, 'सर्व' शब्दान्त 'अतिसर्व' यां शब्दाहून होणाऱ्या 'डे' प्रत्ययाचे जागीं 'सर्वनाम्नः स्मै' सू. २१५ या सूत्रानें, 'पदाङ्गाधिकारे' ही परिभाषा असल्यामुळें, 'स्मै' आदेश होण्याची आपत्ति येते. या स्थलीं 'सर्व' हा शब्द 'त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः' इत्यादि समासांतील 'युष्मद्, अस्मद्' शब्दांप्रमाणें पूर्वपद नसून उत्तरपद आहे व समासांतील सर्वनामरूप अवयव पूर्वपद असल्यास त्याची सर्वनामसंज्ञा कायम राहते व तो उत्तरपद असल्यास त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होते असें जर न्यासकारांचें म्हणणें असेल तर, तसा फरक करण्याला कोणत्याहि प्रमाणाचा किंवा युक्तीचा आधार देतां येत नसल्यामुळें तसा फरक करणें अगदीं अयोग्य ठरतें. समासांतील सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसंज्ञा जर कायम राहते तर तो सर्वनामरूप अवयव समासांतील पूर्वपद असो किंवा उत्तरपद असो, दोन्ही स्थलीं त्याची सर्वनामसंज्ञा सारखीच कायम राहिली पाहिजे. सर्वनामरूप अवयव समासांत उपसर्जन झाल्यास 'उपसर्जनी-भूता न सर्वादयः' या वाक्यान्वये त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होते असें मानावें लागत असल्यामुळें, ती संज्ञा जशी उत्तरपदाचे ठिकाणीं नाहीं ती होते तशीच पूर्वपदाचे ठिकाणीं देखील नाहीं ती होते. म्हणून 'त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः' या उदाहरणांत 'युष्मद्, अस्मद्' या पूर्व पदांची सर्वनामसंज्ञा कायम राहते व त्यामुळें त्याहून 'अक्त्' प्रत्यय होण्याची प्राप्ति होते पण 'अतिसर्व' या समासांत 'सर्व' हें उत्तर पद असल्यामुळें त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होते व त्यामुळें 'स्मै' आदेश होण्याची प्राप्तीच होत नाहीं हें म्हणणें सर्वथा निराधार व युक्तिरहित असल्यामुळें स्वीकाराजें नाही. वास्तविक दोन्ही स्थलीं सर्वनामरूप अवयव उपसर्जेन झाले असल्याकारणानें त्यांची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होते हेंच म्हणणें योग्य ठरतें असा धीक्षितार्थ्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न— किमिति । बहुव्रीहौ नेत्यस्य द्वेधा व्याह्वानसम्भ-
वादिति भावः । उत्तरग्रन्थेति । न्यासकारस्यापि सूत्रलभ्यार्थप्रतिपादने
एव तात्पर्यादिति भावः । प्राप्तेरिति । प्राप्तेरभावे निषेधो व्यर्थ
एवेति भावः । अत एवेति । अवयवानामुपसर्जनत्वेन सर्वादिबहिर्भाषा-
देवेत्यर्थः । अन्वयेति । सर्वेषां नामेत्येवंरूपेत्यर्थः । तस्यार्थ इति ।
सोऽनुचितोऽन्वर्थसंज्ञया गौणमात्रे तदप्रवृत्तेस्तत्समतत्वादिति
शेषः सूत्रेत्यादि । तन्मतेऽन्वर्थत्वेन वार्तिकमते तु वचनेनेत्यर्थः ।
स्योक्तार्थे न्यासकृद्ग्रन्थसंवादमाह—न्यासकृतापीति । अनपेतमेवेति ।
समुदाये एकार्थोभावाङ्गीकारेण समुदायस्यान्यपदार्थोपसर्जनत्वे
ऽप्यवयवस्य तत्त्वे भानाभाव इत्यभिमानः । व्याहृत इति । अजहृत्स्वा-
र्थायामपि अवयवार्थस्यान्यपदार्थविशेषणतयैवोपस्थित्योपसर्जनत्वा-
क्षतेरितरार्थविशेषणत्वेनोपस्थितिर्विषयत्वस्यैवोपसर्जनत्वपदार्थत्वादिति
भावः । सर्वशब्दस्येति । उत्तरपदभूतस्यापीत्यर्थः । युक्ति-
मिति । न चोत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदं तात्पर्यग्राहकमिति मते
तद्युक्तिमदिति वाच्यम् । तत्र मते हि पूर्वपदं निरर्थकं स्वार्थप्रतिपादकं
वा । नाद्यः । निरर्थक्येन सर्वार्थकत्वाभावादेवाप्राप्तेः । नान्त्यः, पूर्व-
पदार्थे विशेषणान्वयापत्तेः । विनिगमनाविरहेण पदद्वयेऽपि लक्षणी-
चित्याच्च । एकार्थोभाववादिभिस्तथा धक्तुमशक्यत्वान्च । एवं च
तद्घटकावयवानां सर्वनामत्वाभार एवोचित इति दिक् । स्योक्त्येति ।
एतत्प्रकरणस्येत्यर्थः ।

('न बहुव्रीहौ ' या सूत्रात् 'सर्वादीनि सर्वनामानि ' या पूर्व
सूत्राची अनुवृत्ति होत असल्यामुळे त्या सूत्राचा असा अर्थ करता
येतो की, 'बहुव्रीहौ यानि सर्वादीनि तेषां सर्वनामसज्ञा न ' व तसेच
असाहि अर्थ करतां येतो की, 'सर्वादीनामन्यशब्दानां च यो बहुव्रीहि-
स्तस्य सर्वनामसज्ञा न ' व अशा रीतीने) 'न बहुव्रीहौ ' या
सूत्राचा दोन तऱ्हेने अर्थ करणे संभवत असल्यामुळे, 'वि बहुव्रीहौ
सज्ञा नेति विवक्षितमुत तदवयवानां सर्वादीनामिति ' असा मनोरमंत
प्रश्न केला आहे 'उत्तरग्रन्थविरोधात् ' असे जें मनोरमंत म्हटले

आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, प्रकृत सूत्रांतून कोणता अर्थ निघतो हें प्रतिपादन करण्यांतच न्यासकाराचें देखील तात्पर्य आहे, म्हणजे हें प्रतिपादन करण्याकरितांच त्यानें मनोरमंत उद्धृत केलेली पंक्ति लिहिली आहे. (शंकाकार असें म्हणतो कीं, एकाच ग्रन्थकाराच्या पूर्वपर ग्रन्थांत विरोध दाखविणें योग्य आहे; पण त्याच्या ग्रन्थांत एका विषयाचें एक प्रकारें प्रतिपादन केलें आहे व दुसऱ्या ग्रन्थकाराच्या ग्रन्थांत त्याच विषयाचें भिन्न तऱ्हेनें प्रतिपादन केलें आहे अशा रीतीनें विरोध दाखविणें केव्हांहि न्याय्य ठरत नाही; कारण एक ग्रन्थकार दुसऱ्या ग्रन्थकाराच्या मताबद्दल कसा जबाबदार धरतां येऊं शकणार ? या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसंज्ञा न व्हावी याकरितां प्रकृत निषेधक सूत्र केलें आहे असें प्रक्रियाकौमुदीकाराचें मत आहे व त्यांनीं ज्या न्यासग्रन्थाचा पुढें दाखला दिला आहे तो त्यांच्या मताचें समर्थन करणारा आहे असें मानूनच त्यांनीं दिला आहे. म्हणून समुदायाला सर्वनामसंज्ञा न व्हावी याकरितां प्रकृत निषेधक सूत्र केलें आहे हा प्रथम पक्ष स्वीकारल्यास, न्यासग्रन्थाशीं विरोध दाखविण्यांत कोणत्याहि प्रकारें अनीचित्य येत नाही असें शब्दरत्नकाराचें म्हणणें आहे.) 'तदन्ते प्राप्तेर्दुरापास्तत्वात्' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, बहुव्रीहिसमासरूप समुदायाला सर्वनामसंज्ञेची प्राप्तीच नसल्यामुळे, त्याला सर्वनामसंज्ञा न व्हावी याकरितां प्रकृत निषेधक सूत्र करणें हें ('प्राप्ती एव निषेधः' या न्यायान्वयें) व्यर्थ ठरतें. (या विषयाचें विवरण मनोरमंत केलेंच आहे.) 'अत एव न द्वितीयोऽपि' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, बहुव्रीहिसमासांतील अवयव उपसर्जन होत असल्यामुळे, तसा अवयव नयनामरूप शब्द असल्यास तो सर्वादिगणांत अन्तर्भूत असलेला शब्द आहे असें ('उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वाक्तिकान्वयें) मानतां येऊं शकत नाही. (त्यामुळे बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप

अवयवाला उपसर्जनत्वामुळे सर्वनामसज्ञा प्राप्तच होत नसल्यामुळे, द्वितीय अर्थ मानला तरी देखील 'न बहुव्रीहौ' हे निषेधक सूत्र व्यर्थ ठरतेच.) 'अन्वर्थमज्ञावलेन' या मनोरमंतील पदात 'सर्वनाम' ही अन्वर्थक सज्ञा आहे असे जे म्हटले आहे त्याचे कारण हे की, 'सर्वेषां नाम सर्वनाम' अशा प्रकारे ती अन्वर्थक सज्ञा आहे 'बहुव्रीहावेवेति तस्यार्थः.' या मनोरमंतील पक्तीपुढे 'सोऽनुचितोऽन्वर्थसज्ञया गोणमात्रे तदप्रवृत्तेस्तत्सम्मत्त्वात्' ही पदे अध्याहृत आहेत (व त्या अध्याहृत पदाचा असा अर्थ आहे की, बहुव्रीहिसमासातच सर्वनामरूप अवयवाना सर्वनामसज्ञा होत नाही असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ करणे योग्य नाही, कारण 'सर्वनाम' ही सज्ञा अन्वर्थक असल्यामुळे, जेथे जेथे सर्वादिगणात पठित असलेला शब्द उपसर्जन होता तशा सर्व स्थली तो सर्वनामसज्ञक होत नाही हे पाणिनीला देखील मान्य आहे.) 'सूत्रवातिकमतेऽपि गोणपर्युदासस्येष्टत्वात्' असे जे मनोरमं म्हटले आहे त्याचा अर्थ हा आहे की, पाणिनीच्या मते सर्वनामसज्ञा अन्वर्थक असल्यामुळे, उपसर्जनीभूत सर्वादि शब्दांना त्याच्या मताप्रमाणे सर्वनामसज्ञा होऊ शकत नाही, आणि वातिककारांनी ('उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' हे) वातिक साक्षात् पठित केले असल्यामुळे, वातिककारांच्या मते त्या वातिकान्वये उपसर्जनीभूत सर्वादि शब्दाना सर्वनामसज्ञा होत नाही. प्रसादकारांनी स्वतःच्या मताचे समर्थन करण्याकरिता 'न्यासकृताऽपि . . . सर्वार्थताया अनपेतम्' या न्यासकारांच्या ग्रन्थाचा आधार दिला आहे. त्या ग्रन्थात 'पूर्वपद तु सर्वार्थताया अनपेतम्' असे जे न्यासकारांनी म्हटले आहे ते असा आशय मनात धरून म्हटले आहे की, समासरूप समुदायामध्ये समुदायातील अवयवाच्या अर्थाचा एकार्थीभाव होतो असे मानले असल्यामुळे, जरी सामासिक शब्द अन्य पदार्थांचे उपसर्जन होतो तरी त्या समासातील अवयव अन्य पदार्थांचे उपसर्जन-विशेषण-होतात असे मानण्यास काहीच प्रमाण नाही. ('प्रियः सर्वः यस्य स. प्रियसर्वः' या 'सर्व' शब्दान्त बहुव्रीहि-

समासांत 'प्रियसर्व' हा सामासिक शब्द ज्याला सर्वजण प्रिय आहेत अशा अन्य पदार्थांचे उपसर्जन, म्हणजे विशेषण, होतो तरी, त्या सामासिक पदांतील 'प्रिय' व 'सर्व' हे अवयव देखील अन्य पदार्थांची विशेषणे होतात असे मानण्यास कोणतेहि प्रमाण नाही असे न्यासकारांचे मत असल्यामुळे, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत नाही असे त्यांचे म्हणणे आहे. या पंक्तींत 'अभिमानः' हे अरुचिप्रदर्शक पद घातले असल्यामुळे शब्दरत्नकार हे सुचवितात की, न्यासकारांचे हे मत चूक आहे व त्यांचे कारण ते लवकरच सांगणार आहेत. परंतु हे मत बरोबर मानले तरी, न्यासकारांनी बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप चरमावयवाची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत असून, पूर्वपद सर्वनामरूप असल्यास त्याची सर्वनामसंज्ञा कायम राहते असा जो फरक दाखविला आहे त्याचे समर्थन करणे अशक्य आहे. वास्तविक बहुव्रीहिसमासांतील दोन्ही अवयव अन्य पदार्थांचे उपसर्जन होत नाहीत असे मानल्यास, त्या समासांत पूर्वपद सर्वनाम असो किंवा उत्तरपद सर्वनाम असो, दोहोंची सर्वनामसंज्ञा कायम राहिली पाहिजे व ते अन्य पदार्थांचे उपसर्जन होतात असे मानल्यास दोहोंची सर्वनामसंज्ञा नष्ट झाली पाहिजे. म्हणून न्यासकारांनी जो फरक दाखविला आहे तो युक्तीला धरून नसल्यामुळे मनास पटत नाही. याचेच विवरण शब्दरत्नकार पुढील पंक्तींत करणार आहेत.) 'पक्षद्वयेऽपि व्याहृतः' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, अजहत्स्वार्थावृत्तिपक्षांत देखील समासांतील अवयवांचा अर्थ ('परार्थमिधानं दृष्टिः' या वचना-न्वये) अन्यपदार्थांचे विशेषण होऊनच उपस्थित होत असल्यामुळे, अवयवांचे ठिकाणी देखील उपसर्जनत्व येतेच; कारण ज्या पदाचा अर्थ उत्तर पदार्थांचे विशेषण होऊन प्रतीत होतो तशा पदाला उपसर्जन असे म्हणत असतात. (सारांश बहुव्रीहिसमासांतील अवयव अजहत्स्वार्थावृत्तिपक्षांत आपला अर्थ अन्य पदार्थांमध्यें संक्रमित

करीत असल्यामुळे व अशा रीतीने ते अन्यपदार्थाचे उपसर्जन होत असल्यामुळे, त्या दोन अवयवार्थांची कोणताहि अवयव, मग तो पूर्व असो की पर असो, सर्वनामसज्ञक असल्यास, त्याची सर्वनामसज्ञा 'उपसर्जनीभूता न सर्वार्थः' या वातिकान्वये नष्ट होते हे उघड आहे) 'त्वदुक्तरीत्या सर्वशब्दस्य सर्वार्थतानपायात्' या मनोरमेच्या पक्तीतील 'सर्वशब्दस्य' या पदापुढे 'उत्तरपदस्यापि' ही पदे अध्याहृत आहेत. (न्यासकाराच्या मते बहुव्रीहिसामासिकशब्द अन्य-पदार्थाचे उपसर्जन-विशेषण-होत असून त्या समासातील पूर्वावयव किंवा चरमावयव अन्यपदार्थाचे उपसर्जन होत नाही. म्हणून 'प्रियसर्वः' या स्थली 'सर्व' हे उत्तर पद त्याच्या मते अन्य-पदार्थाचे उपसर्जन होत नसल्यामुळे त्याची सर्वनामसज्ञा नष्ट होत नाही हे उघड होते. त्यामुळे 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' या परिभाषान्वये 'प्रियसर्व' या शब्दाहून होणाऱ्या 'डे' प्रत्ययाचे जागी 'स्मै' आदेश होण्याची व 'प्रियसर्वस्मै' असे अनिष्ट रूप होण्याची, न्यासकाराचे मते स्वीकारल्यास, आपत्ति येते असा बोधिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे असे शब्दरत्नकार म्हणतात.) 'न हि पूर्वपदे सर्वार्थता उत्तरपदे तु नेति युक्तिमत्' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्यावर अशी शका करण्यात येते की, उत्तर पदाचे ठिकाणी लक्षणा केली असता व पूर्व पद तात्पर्यग्राहक आहे असे मानले असता, 'पूर्वपदे सर्वार्थता उत्तरपदे तु न' असे जे न्यासकाराचे म्हणणे आहे ते योग्य ठरते; पण ही शका बरोबर नाही; कारण या मतामध्ये पूर्वपद अर्थरहित आहे किंवा स्वार्थाचे प्रतिपादन करणारे आहे ? ते निरर्थक-अर्थरहित-आहे असे मानल्यास, त्याच्या अर्थराहित्यामुळे ते सर्वार्थक आहे असे मानता येऊ शकत नसल्यामुळेच त्याचे ठिकाणी सर्वनामसज्ञेची प्राप्ति होत नाही. पूर्वपद स्वार्थप्रतिपादक आहे हा द्वितीय पक्ष मानल्यास, पूर्व पदाच्या अर्थामध्ये विशेषणाचा अन्वय होण्याची आपत्ति येते. दुसरे असे की, 'उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपद तात्पर्यग्राहकम्' असे मानल्यास

कोणत्याहि युक्तीचा आधार नसल्यामुळे, पूर्वपद व उत्तरपद या दोहों-
पैकी कोणत्याहि पदाचे ठिकाणी लक्षणा करणें उचित ठरतें, म्हणजे
'पूर्वपदे लक्षणा उत्तरपदे तात्पर्यग्राहकम्' असें देखील म्हणतां येणें
चाव्य आहे. वास्तविक एकार्थीभाव मानणान्यांना अशा प्रकारचें प्रति-
पादन करणें अशक्य आहे. म्हणून बहुव्रीहिसमासांतील दोन्ही अवयवांचे
ठिकाणी सर्वनामता येऊं शकत नाहीं असेंच म्हणणें योग्य आहे.
('त्वं पिता यस्य सः त्वत्कपितृकः' व 'प्रियाः सर्वे यस्य सः
प्रियसर्वः' या दोन बहुव्रीहिसामासिक शब्दांपैकीं प्रथम शब्दांत
'युष्मद्' हें पूर्व पद सर्वनामसंज्ञक असून द्वितीय शब्दांत 'सर्व'
हें उत्तर पद सर्वनामसंज्ञक आहे. 'उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदं
तात्पर्यग्राहकम्' हा पक्ष मानला असतां, प्रथम सामासिक शब्दां-
तील 'पितृ' या उत्तर पदाचा लक्षणेनें 'त्वं पिता यस्य', म्हणजे
'त्वत्पुत्रः', असा अर्थ केल्यानें पूर्वं पद 'युष्मद्' हें तात्पर्यग्राहक
होतें, म्हणजे त्याच्यापुढील पदाचा लक्षणेनें विवक्षित असलेल्या
अर्थाचा बोध करून देण्यांत सहाय्यक होतें, व त्यामुळे त्याची सर्वार्थ-
वाचकता-सर्वनामसंज्ञा-कायम राहते. परंतु 'प्रियसर्वः' या द्वितीय
उदाहरणांत 'सर्व' हें उत्तर पद लक्षणेनें 'सर्व आहेत प्रिय ज्याला'
असा अर्थचें बोधक होत असल्यामुळे, 'सर्व' या पदाची सर्वार्थ-
वाचकता नष्ट होऊन त्याची सर्वनामसंज्ञा नाहीशी होते. म्हणून
प्रथम शब्दांतील 'युष्मद्' याहून कुत्सितार्थक 'अकच्' प्रत्ययाची
प्राप्ति होते व 'प्रियसर्व' या द्वितीय शब्दाहून सर्वनामकायाची
प्राप्ति होत नाहीं असें प्रसादकारांच्या म्हणण्याचें तात्पर्य आहे.
यावर शब्दरत्नकार असा प्रश्न करतात कीं 'उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपदं
तात्पर्यग्राहकम्' असें जें प्रसादकारांनीं म्हटलें आहे त्यांतील
'तात्पर्यग्राहकम्' या पदाचा 'अर्थरहित' असा अर्थ आहे
किंवा 'स्वार्थप्रतिपादक' असा अर्थ आहे ? पहिला अर्थ मानल्यास,
'त्वत्कपितृकः' या उदाहरणांतील 'युष्मद्' हें पूर्व पद अर्थरहित
ठरून त्याची सर्वार्थवाचकता-सर्वनामसंज्ञा-नष्ट होते व त्यामुळे

त्याहून 'अक्च्' प्रत्ययाची प्राप्तीच होत नाही द्वितीय अर्थ मानल्यास, 'युष्मद्' हें पूर्वं पद स्वार्थप्रतिपादक ठरते व त्यामुळे त्याचा विशेषणाशी अन्वय होण्याची आपत्ति येते, म्हणजे 'सुन्दरस्य राज्ञ पुत्र्य' या उदाहरणात 'राज्ञ.' हे पद स्वार्थबोधक असल्यामुळे जसा त्याचा 'सुन्दरस्य' या विशेषणाशी अन्वय होतो त्याचप्रमाणे 'त्वत्कपितृव' या उदाहरणातील 'युष्मद्' हे पूर्वं पद स्वार्थप्रतिपादक मानल्यास त्याचा देखील 'सुन्दर' इत्यादि विशेषणाशी अन्वय होण्याची आपत्ति येईल, व तसे हाणे प्रसादकाराना देखील इष्ट नाही म्हणून 'पूर्वपदमर्थरहितम्' किंवा 'पूर्वपदस्वाथप्रतिपादकम्' या दोन अर्थार्पिका कोणताहि अर्थ मानला तरी, चर दर्शविलेल्या आपत्ति टाळता येऊ शकत नाहीत. दुसरे अस की, 'उत्तरपदे लक्षणा पूर्वपद तात्पर्यग्राहकम्' असेच मानण्यास कोणतीहि युक्ति उपलब्ध नसल्यामुळे, 'पूर्वपदे लक्षणा उत्तरपद तात्पर्यग्राहकम्' असे देखील म्हणता येऊ शकते व तस मानल्यास, 'त्वत्कपितृक' या उदाहरणात 'युष्मद्' या पूर्वं पदाची सर्वार्थवाचकता-सर्वनामसज्ञा-नष्ट होत असल्यामुळे, त्याहून 'अक्च्' प्रत्ययाची प्राप्तीच होत नाही व 'अतिसर्व' या उदाहरणात 'सर्व' या उत्तर पदाची सर्वार्थवाचकता-सर्वनामसज्ञा-कायम राहूत असल्याकारणाने, 'अतिसर्व' या सामासिक शब्दाहून 'स्मै, स्मात्' इत्यादि सर्वनामकार्ये होण्याची आपत्ति येते वास्तविक बहुव्रीहिसमास केल्यावर जो सामासिक शब्द तयार होतो त्यात एकार्थीभाव होत असल्यामुळे, त्या समुदायाचे ठिकाणी बहुव्रीहिसमासातील उभय पदांच्या अर्थाला धरून अन्य पदार्थाचा बोध करण्याची अभिधाशक्ति आहे असे जें वैयाकरण मानतात त्यांना पूर्वं पदाचे किंवा उत्तर पदाचे ठिकाणी लक्षणा मानण्याची काही गरज नाही सारांश बहुव्रीहिसमासातील पूर्वं पद व उत्तर पद हे दोन्ही आपल्या अर्थाला धरून अन्य पदार्थाचे बोधक होत असल्यामुळे व अशा रीतीने त्याचे ठिकाणी उपसर्जनत्व येत असल्यामुळे,

बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप पूर्व पदाला किंवा उत्तर पदाला उपसर्जनत्वामुळे 'उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वचनान्वये सर्वनामसंज्ञेची प्राप्तीच होत नाही असेच मानणें योग्य आहे आणि म्हणून 'न बहुव्रीही' हें निषेधक सूत्र त्यांना सर्वनामसंज्ञा न व्हावी याकरितां केलें आहे असें मानणें चूक ठरतें हें उघड आहे.) 'स्वोक्त्या सह विरोधः स्यात्' या मनोरमेच्या पंक्तीतील 'स्वोक्त्या' या पदाचा 'एतत्प्रकरणस्थया स्वोक्त्या' असा अर्थ आहे. ('गौणत्वे सर्वादीनां सर्वार्थवाचकत्वं नास्ति' असें प्रसादकारांनीं सर्वनाम-प्रकरणांत म्हटलें असून पुढें त्यांनीं 'पूर्वपदे सर्वार्थता उत्तरपदे तु न' असें जें त्याच प्रकरणांत म्हटलें आहे त्या दोन उक्ति परस्परविरुद्ध ठरतात. एकाच प्रकरणामध्ये अशा दोन परस्परविरुद्ध उक्ति केल्या असल्यामुळे, विस्मरणामुळे अशी चूक झाली वसेल असें त्यांना म्हणतां येत नाही असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.)

मनोरमा-यदपि व्याचष्टुः-त्वं पिता यस्येत्यादौ विग्रह-वाक्ये प्राप्ता संज्ञा निषिध्यते इति । तदपि न । विग्रहवाक्यं हि लौकिकमलौकिकं वा विवक्षितम् । नाद्यः । प्रक्रियावाक्येऽयं निषेधो न तु लौकिक इति कैयटग्रन्थविरोधात् । प्रकृतसन्दर्भगतपूर्वापर-ग्रन्थविरोधाच्च । न द्वितीयः । तस्य युष्मद् सु पितु सु इत्या-कारकत्वेन त्वं पितेत्याकारकवायोगात् ।

• लौकिक विग्रहवाक्य विवक्षित असेल तर, या प्रथम पक्षात 'प्रक्रिया-वाक्येऽयं निषेधो न तु लौकिके' या कैयटग्रन्थाशी विरोध येतो. ('न बहुव्रीही' १-१-२९ या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तीत 'अप्रयोगसमवायि यत् प्रक्रियावाक्य तत्राय प्रतिषेधो, न लौकिके वाक्ये प्रयोगार्हे' असे कैयटाने स्पष्ट म्हटले आहे म्हणून 'विग्रहवाक्य' या शब्दाने लौकिक विग्रहवाक्य विवक्षित असल्यास, प्रकाशकाराचे म्हणणे कैयटमताविरुद्ध ठरते व त्यामुळे ते बरोबर मानता येत नाही) दुसरे असे की, प्रथम पक्ष मानल्यास, त्याच्या प्रकृत प्रकरणातील पूर्वपर वचनामध्ये विरोध येतो 'विग्रहवाक्य' या शब्दाचा अलौकिक प्रक्रियावाक्य असा द्वितीय अर्थ मानला तरी प्रकाशकाराचे म्हणणे योग्य ठरत नाही, कारण 'युष्मद् सु पितृ सु' अशा प्रकारचे अलौकिक प्रक्रियावाक्य असून 'त्वं पिता यस्य' असे अलौकिक प्रक्रियावाक्य नव्हे ('त्वं पिता यस्य' हे लौकिक विग्रहवाक्य आहे आणि तसा विग्रहवाक्यात सर्वनामसज्ञेचा निषेध व्हावा याकरिता 'न बहुव्रीही' हे निषेधक सूत्र केले नसून, बहुव्रीहिमास करण्याकरिता जे अलौकिक प्रक्रियावाक्य तयार केले जाते त्यातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध होण्याकरिता प्रकृत सूत्र केले आहे आणि ते अलौकिक प्रक्रियावाक्य 'युष्मद् सु पितृ सु' अशा प्रकारचे आहे)

शब्दरत्न-स्वग्रन्थेति । तैरप्यलौकिक एव निषेधस्योक्तेरिति भावः ।

'पूर्वापरस्वग्रन्थविरोधाच्च' असे जे मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, प्रकाशकारांनी देखील आपल्या ग्रन्थात असेच म्हटले आहे की, अलौकिक प्रक्रियावाक्यात सर्वनामसज्ञेचा निषेध होण्याकरिता प्रकृत सूत्र केले आहे (व अशा रीतीने त्याच्या पूर्वापर म्हणण्यामध्ये विरोध येतो हे स्पष्ट आहे.)

मनोरमा- यदपि व्याचष्टुः-नन्वतिसर्वादी सज्ञा न प्रवर्तते त्वत्कपितृकादी तु प्रवर्तते इत्यत्र किं विनिगमकन्तब्राह्म-अनङ्गकार्य-

त्वेनेति । अङ्गशब्दः समुदायपरः । तेनातिसर्वं इत्यङ्गाङ्गस्य संज्ञा-
पेक्षितां सर्वनाम्नोऽङ्गात् स्मायादिविधानादवयवमात्रस्य सत्यपि
सर्वनामत्वे दोषाभावात् । समुदाये च समुदायार्थं प्रति सर्वदिरूप-
सर्जनत्वात् तदन्तस्य संज्ञा न भवतीति युक्तम् । इह तु अवयव-
मात्रस्य सा चिकीर्षिता न समुदायस्य, अवयवद्वयं स्वार्थमात्रप्रधान
इति स्यात् प्रसङ्ग इति वैषम्यमस्तीत्याशय इति । तदपि न ।
अङ्गाधिकारे तदन्तविधेः सर्वसंमतत्वेनावयवमात्रे सत्यपि सर्वनामत्वे
दोषो नास्तीत्युक्तेर्व्याहतत्वात् । अङ्गाधिकारपरिभाषया स्मै स्याद्
इति स्वग्रन्थविरोधाच्च । अथायमाशयः । प्राक् प्रवृत्तापि संज्ञा
अर्थान्तरोपसंक्रमे सति गतेति । तर्हि अकजपि गच्छतु । ननु कार्य-
कालपक्षे स्मायाद्यर्थं पुनः संज्ञापेक्षिता सा च दुर्लभेत्याशय इति
चेत् । अस्त्वेवम् । न त्वसौ प्रकृतग्रन्थार्थः, न्यासग्रन्थविसंवादेन इति
न्यासकृन्मत्तमिति वाक्यशेषविरोधात् । न्यासग्रन्थस्त्वनुपदमेवोदा-
हरिष्यते ।

प्रकाशकाराचें असें देखील म्हणणें आहे कीं, 'अतिसर्व' इत्यादि
स्थलीं सर्वनामसंज्ञा कां प्राप्त होत नाहीं व 'त्वत्कपितृकः' इत्यादि
स्थलीं सर्वनामसंज्ञेची प्राप्ति कां होते याचें कारण काय आहे हें
लक्षांत यावें याकरितां प्रक्रियाकीमुदीकारांनीं (प्रकृत सूत्राचें
व्याख्यान करितांना) 'अनङ्गकार्यत्वेन' असें म्हटलें आहे. 'अनङ्ग-
कार्यत्वेन' यांतील 'अङ्ग' हा शब्द समुदायाचा वाचक आहे, म्हणजे
समुदायाला अङ्गसंज्ञा होत असते. त्यामुळें 'अतिसर्व' या स्थलीं
जरी 'सर्व' हा अवयव सर्वनामसंज्ञक आहे तरी, 'स्मै' इत्यादि आदेश
सर्वनामाहून होण्याचें विधान केलें असल्यामुळें व अशा रीतीनें ते
आदेश होण्याकरितां सर्वनामसंज्ञक अङ्ग असण्याची आवश्यकता
असल्यामुळें (व 'अतिसर्व' हें अङ्ग सर्वनामसंज्ञक नसल्यामुळें) या
उदाहरणांत कांहीं दोष येत नाहीं, म्हणजे 'स्मै' इत्यादि आदेश
होण्याची आपत्ति येत नाहीं. 'अतिसर्व' या समुदायाच्या अर्थामध्यें
'सर्व' या शब्दाचा अर्थ उपसर्जनीभूत झाला असल्यामुळें, 'अति-

सर्वं' या 'सर्वं' शब्दान्त समुदायाला सर्वनामसज्ञा होत नाही हे योग्य आहे, पण 'त्वत्कपितृक' या स्थली संपूर्ण समुदायाला सर्वनामसज्ञा कर्तव्य नसून त्या समुदायातील 'युष्मद्' या पूर्व अवयवालाच सर्वनामसज्ञा कर्तव्य आहे व हा अवयव स्वतःचा अर्थच प्राधान्येकरून सागणारा असल्यामुळे, त्याला सर्वनामसज्ञा होण्याची प्राप्ति आहे (आणि त्यामुळे 'युष्मद्' या शब्दाहून 'अक्च्' प्रत्यय होण्याची व 'त्वत्कपितृक' असे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते) अशा रीतीने या वरील दोन उदाहरणात फरक आहे असा प्रकाशकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे पण त्याचे हे म्हणणे देखील बरोबर नाही, कारण ('पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च'—परि २९—या परिभाषान्वये) अङ्गाधिकारात सांगितलेले कार्य कर्तव्य असता तदन्तविधि होणे हे सर्वांना समत असल्यामुळे, 'अतिसर्वं' या समुदायातील केवळ 'सर्वं' हा अवयव (त्याच्या मत) सर्वनामसज्ञक असून देखील काही दोष येत नाही हे त्याचे म्हणणे चूक ठरते दुसरे असे की, अङ्गाधिकारपरिभाषान्वये या उदाहरणात 'स्मै' आदेश होण्याची आपत्ति येते असे जे त्यानी आपल्या ग्रन्थात म्हटले आहे त्याशी विरोध येतो ('अतिसर्वं, प्रियसर्वं' इत्यादि स्थली 'सर्वं' या अवयवाला) जरी प्रथम सर्वनामसज्ञा प्राप्त झालेली होती तरी, त्या अवयवाचा अर्थ समुदायाच्या अर्थामध्ये सश्रुत झाल्यावर त्याची सर्वनामसज्ञा नाहीशी झाली असा जर त्याच्या म्हणण्याचा आशय असेल तर ('त्वत्कपितृक' इत्यादि उदाहरणात 'युष्मद्' या अवयवाहून 'अक्च्' प्रत्यय होण्याची जी पूर्वी प्राप्ति होती ती देखील 'अक्च्' प्रत्ययाचे निमित्त जी सर्वनामसज्ञा ती, 'युष्मद्' शब्दाचा अर्थ अन्यपदार्थामध्ये, म्हणजे समुदायाच्या अर्थामध्ये, सश्रुत झाल्यावर, नष्ट होने व तिच्या बरोबर) 'अक्च्' प्रत्यय होण्याची आपत्ति देखील टळते (असेहि म्हणता येत. सारांश 'अतिसर्वाय, प्रियसर्वाय' इत्यादि उदाहरणात 'सर्वं' या

अवयवाला असलेली सर्वनामसंज्ञा, त्या अवयवाचा अर्थ समुदायाच्या अर्थामध्ये संक्रमित झाल्यावर, ज्याप्रमाणे नष्ट होते व त्यामुळे 'स्मै' इत्यादि आदेश होण्याची आपत्ति टळते त्याचप्रमाणे 'त्वत्कपितृकः' इत्यादि उदाहरणांत 'युष्मद्' या अवयवाला असलेली सर्वनामसंज्ञा, त्या अवयवाचा अर्थ समुदायाच्या-अन्य पदाच्या-अर्थामध्ये संक्रमित झाल्यावर, नष्ट होते व त्यामुळे त्याहून 'अकच्' प्रत्यय होण्याची आपत्ति आपोआपच टळते आणि ती आपत्ति टाळण्याकरितां प्रकृत सूत्र असण्याची कांहीं आवश्यकता नाही असें देखील म्हणतां येतें असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.) कार्यकालपक्षांत ('अतिसर्वाय, प्रियसर्वाय' इत्यादि उदाहरणांत) 'स्मै' इत्यादि आदेश होण्याकरितां पुन्हा सर्वनामसंज्ञेची अपेक्षा-गरज-आहे, परंतु 'सर्व' हा शब्द समासांत उपसर्जन झाला असल्यामुळे त्याची नष्ट झालेली सर्वनामसंज्ञा त्याला पुन्हा प्राप्त होणे दुर्लभ आहे असा जर प्रकाशकारांच्या म्हणण्याचा आशय असेल तर गोष्ट वेगळी, म्हणजे त्यावर आम्हास कांहीं म्हणणे नाही. परंतु प्रकृत सूत्रावरील प्रक्रियाकीमुदीचा तसा अर्थ होऊं शकत नाही; कारण तसा अर्थ केल्यास, 'इति न्यासकृन्मतम्' असें जें प्रक्रियाकीमुदीकारांनीं प्रकृत सूत्रावरील टीकेच्या शेवटीं म्हटलें आहे (व न्यासकारांच्या मताचा त्यांनीं अनुयाय केला आहे असें जें दर्शविलें आहे त्या वाक्याशीं, हें मत न्यासकारांच्या मता-विरुद्ध असल्यामुळे, विरोध येतो. न्यासकारांच्या ग्रंथाचा उतारा लौकरच पुढें देण्यांत येणार आहे.

मनोरमा—यदपि व्यासख्युः—अङ्गमप्रधानं बाध्यं तद्विरुद्ध-मनङ्गं बाधकमित्यर्थः । तथा च कप्रत्ययापवादत्वादकच् स्यादित्यर्थ इति । तदपि विलुप्तं ध्यर्थं च । न्यासग्रन्थासंमतं च । तथा हि । त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति वृत्तिग्रन्थं व्याख्याय न्यासकार उज्ज-ग्राह-ननु च अन्यसंज्ञाकरणादेवात्र संज्ञानिरासे कृतेऽकच् न भवि-ष्यति । नह्यत्र सार्थ्यता सम्भवति विशेषविषयत्वात् । नैतदस्ति ।

समुदायो हि विशोषे वर्तते पूर्वपदं तु सर्वार्थताया अनपेक्षमेव । भवतु तर्हि अनयोरनन्तरयोरेतत्सूत्रविषयता । प्रियविश्वायेत्यादेस्तु नोपपद्यते । न हि प्रियविश्वाद्यः सर्वेषां नामानि । नापि तदवयवभूताना विश्वादिशब्दाना किञ्चित्सर्वनामकार्यमुपपद्यते । स्मैप्रभृतीनामङ्गकार्यत्वात् । विश्वादिशब्दानामनङ्गत्वात् । एवं मन्यते-त्वत्कपितृको मत्कपितृक इत्यत्राकज्माभूद् इत्येतदर्थं तावदेतदारब्धव्यम् । प्रियविश्वायेत्यादावपि विस्पष्टार्थं भविष्यतीति । अनेन हि न्यासग्रन्थेनाङ्गसंज्ञानपेक्षत्वमेवार्थो लभ्यते स च स्योत्प्रेक्षितव्याख्याया दूरोत्सारित एव ।

प्रत्रियाकौमुदीत 'अनङ्गकार्यत्वेनाकच् स्यात्' असे जें म्हटले आहे त्याचे व्याख्यान करिताना प्रकाशकार असे म्हणतात की, 'अङ्गकार्यत्वेन' या पदातील 'अङ्ग' या पदाचा 'अप्रधान, वाच्य' असा अर्थ असून, त्याच्या विरुद्ध 'अनङ्ग' या पदाचा 'बाधक' असा अर्थ आहे आणि म्हणून 'क' प्रत्ययाचा अपवादक-बाधक- 'अक्' प्रत्यय होण्याची आपत्ति येते असा 'अनङ्गकार्यत्वेनाक् स्यात्' या पदाचा अर्थ होतो (व त्यामुळे 'त्वत्कपितृकः' इत्यादि उदाहरणात 'युष्मद्' शब्दाहून 'अक्' प्रत्यय होण्याची आपत्ति येते) परंतु असा प्रकारे त्या पदाचा अर्थ करणे हे देखील विलष्ट व व्यर्थ आहे आणि तसेच असा अर्थ करणे न्यासग्रन्थाविरुद्ध आहे. (कारण प्रत्रियाकौमुदीच्या रया पक्तीतील 'अङ्ग' या शब्दाचा 'बाध्य' असा सहज रीतीने अर्थ होऊं शकत नाही. प्रकाशकारानी त्या शब्दाचा 'बाध्य' असा जो अर्थ केला आहे तो ओढून ताणून केला असल्यामुळे विलष्ट ठरतो व तसा विलष्ट अर्थ न करिता 'अनङ्गकार्यत्वेन' या पदाचा 'अक्' प्रत्यय होणे हें अङ्गाधिकारांग सांगितलेले कार्य नसल्यामुळे' असा सरळ अर्थ केल्याने प्रत्रियाकौमुदीकाराचा ग्रन्थ नीट लागू शकत असल्यामुळे, तसा प्रकारचे विलष्ट व्याख्यान करणे व्यर्थ ठरते असे दीक्षिताचे म्हणणे आहे. तसा अर्थ करणे न्यासग्रन्थाविरुद्ध ठरते असे दीक्षितानीं म्हटले

असल्यामुळे, ते आतां पुढील पंक्तींत न्यासग्रन्थाचें व्याख्यान करतात.) 'इह च त्वत्कपितृको मत्कपितृक इत्यकजन भवति' असें जें प्रकृत सूत्रावरील काशिकावृत्तींत म्हटलें आहे त्याचें व्याख्यान करून न्यासकारानें अशीं शंका उपस्थित केली आहे, कीं, 'सर्वनाम' ही अन्वर्थक संज्ञा केली असल्यामुळेच (व 'त्वत्कपितृकः' या अन्यपदार्थप्रधान बहु-व्रीहिसमासांत 'युष्मद्' हा अवयव अन्यपदार्थाचें उपसर्जन झाला असून त्याची सर्वार्थवाचकता नाहींशी झाली असल्यामुळे) त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट झाल्याकारणानें, 'अकच्' प्रत्यय होण्याची आपत्तीच येत नाही. या उदाहरणांत 'युष्मद्' हा अवयव सर्वार्थ-वाचक असणें संभवत नाही; कारण (बहुव्रीहिसमासांत जो अन्य-पदार्थप्रधान आहे त्याचा तो अवयव उपसर्जन-विशेषण-होऊन स्वार्थविशिष्ट अन्यपदार्थाचा बोधक झाला असल्यामुळे) तो अवयव विशिष्ट व्यक्तीचा बोध करणारा आहे. (अशा तऱ्हेची शंका उपस्थित करून त्या शंकेवर न्यासकारानें असें उत्तर दिलें आहे कीं,) हीं शंका वरोवर नाही; कारण बहुव्रीहिसमासरूप समुदाय हा विशिष्ट व्यक्तीचा, म्हणजे अन्यपदार्थाचा, वाचक असून त्यातील 'युष्मद्' इत्यादि पूर्वपदाची सर्वार्थवाचकता मुळींच नष्ट झाली नाही व कायमच आहे. म्हणून 'त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः' हीं काशिकेंत दिलेलीं दोन उदाहरणें प्रकृत सूत्राचें विषय होऊं शकतात असें म्हणतां येतें, म्हणजे यावरील दोन उदाहरणांत 'युष्मद्, अस्मद्' या सर्वार्थवाचक अवयवांहून जी 'अकच्' प्रत्यय होण्याची प्राप्ति आहे तिचें निवारण व्हावें याकरितां प्रकृत निषेधक सूत्र केलें आहे असें म्हणतां येतें. परंतु 'प्रियविश्वाय' इत्यादि उदाहरणें प्रकृत सूत्राचे विषय होऊं शकत नाहीत; कारण 'प्रियविश्व' इत्यादि शब्द (विशिष्ट व्यक्तीचे बोधक असून) त्यांना 'सर्वेषां नामानि', म्हणजे त्यांचे ठिकाणीं सर्वार्थवाचकता आहे, असें म्हणतां येत नाही (व त्यामुळे त्यांना सर्वनामसंज्ञेची प्राप्तीच होत नाही व 'स्मै' इत्यादि

आदेश होण्याची आपत्ति मुळीच येत नाही) त्या समुदायांतील अवयव असलेल्या 'विश्व' इत्यादि शब्दाना देखील कोणतेही सर्वनामकार्य प्राप्त होऊ शकत नाही, कारण 'स्मै' इत्यादि आदेश होणे ही अङ्गाधिकारात सांगितलेली कार्ये आहेत व 'विश्व' इत्यादि शब्द अङ्ग नव्हत (व ती कार्ये अङ्गाला होणारी कार्ये असल्यामुळे आणि 'विश्व' इत्यादि शब्द अङ्गावयव असून अङ्ग नसल्यामुळे त्यांना सर्वनामकार्याची मुळीच प्राप्ति होत नाही आणि 'प्रियविश्व' हा अपूर्ण शब्द अङ्ग आहे तरी, सर्वनामसज्ञा नसणाऱ्या त्या शब्दाला देखील सर्वनामकार्याची प्राप्तीच होत नाही) साराश न्यासकाराचे असे मत आहे की, 'त्वत्कपितृक मत्कपितृक' या उदाहरणात 'अक्च्' प्रत्यय न व्हावा याकरिता प्रकृत सूत्र करावे लागते आणि ते सूत्र केले असल्यामुळे 'प्रियविश्वाय' इत्यादि रूपे का होतात (व त्या उदाहरणात 'स्मै' इत्यादि आदेश का होत नाहीत) हे स्पष्ट होण्याकरिता देखील ते सूत्र कामास येऊ शकते ('उपसर्जनीभूता न सर्वादय' या अर्थाचे सूत्र पाणिनीने साक्षात् पठित केले नसल्यामुळे, पाणिनीला 'न बहुव्रीही' हे सूत्र मुद्दाम करावे लागले व अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञा होत नाही असे सांगावे लागले हे सूत्र केले असल्यामुळे व 'प्रियविश्वाय, प्रियसर्पाय' इत्यादि उदाहरणात 'विश्व, सर्व' हे सर्वनामसज्ञक शब्द बहुव्रीहिसमासाचे अवयव असल्यामुळे, त्याची सर्वनामसज्ञा नाहीशी होते व सर्वनामसज्ञा नष्ट झालेले तसे शब्द बहुव्रीहिसमासरूप समुदायाच्या अन्ती असल्यामुळे, समुदाय सर्वनामान्त आहे असे मानता येऊ शकत नाही व त्यामुळे त्या समुदायरूप शब्दाहून सर्वनामकार्य होऊ शकत नाहीत अस प्रकृत सूत्राच्या आधारे म्हणता येण शक्य आहे पण 'अतिसर्व' या तत्पुरुषसमासस्थली प्रकृत सूत्राचा उपयोग करता येऊ शकत नाही व त्याकरिता 'उपसर्जनीभूता न सर्वादय' हे वातिक मानणे किंवा भाष्यकारानी म्हटल्याप्रमाणे 'सर्वनाम' ही अन्वर्थक सज्ञा

आहे हें मानणें आवश्यक आहे व तसें मानलें असतां, दीक्षितांनीं जसा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तसा अर्थ न मानल्यास, प्रकृत सूत्र व्यर्थ ठरतें हें उघड आहे.) या बरील न्यासग्रन्थावरून हें स्पष्ट होतें कीं, (न्यासग्रन्थाचा अनुवाद करणाऱ्या प्रक्रियाकौमुदीतील 'अनङ्गकार्यत्व' या पदाचा) 'अङ्गसंज्ञान-पेक्षत्व', म्हणजे 'अकच्' प्रत्यय होणें हें अङ्गाधिकारांत सांगितलेलें कार्य नसल्यामुळें तो प्रत्यय होण्याकरितां अङ्गसंज्ञेची गरज नाहीं, असाच अर्थ होऊं शकतो व प्रकाशकारांनीं त्या पदाचें, वर सांगितल्या-प्रमाणें, व्याख्यान करितांना तो अर्थ दूर झुगारून दिला आहे, म्हणजे त्या अर्थाकडे पूर्ण दुर्लक्ष केलें आहे. (सारांश ज्या न्यास-ग्रन्थाचा प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं अनुवाद केला आहे त्या न्यासग्रन्था-वरून 'अनङ्गकार्य' या पदाचा 'अङ्गाधिकारांत न सांगितलेलें 'अकच्' प्रत्यय होणें हें कार्य' असा अर्थ होत असल्यामुळें, या सरळ अर्थाविरुद्ध प्रकाशकारांनीं त्या पदांतील 'अङ्ग' या शब्दाचा अप्रधान व बाध्य असा क्लिष्ट अर्थ करून 'अनङ्गकार्य' या पदाचा 'क' प्रत्ययाचें अपवादक जें 'अकच्' प्रत्यय होणें हें कार्य असा जो अर्थ केला आहे तो न्यासग्रन्थाकडे पूर्ण दुर्लक्ष करून केला असल्यामुळें चूक ठरतो असें दीक्षितांचें म्हणणें आहे.)

शब्दरत्न-अर्थान्तरोपसंक्रमे सति गतेति । तेनातिसर्वायेत्यादी न दोषः । पुनः संज्ञा तु दुर्लभा, संज्ञोपसर्जनानां निषेधात् । पाठा-त्पर्युदासेन तदन्तग्रहणेनापि न संज्ञा । अर्थान्तरसंक्रमात्पूर्वन्तु स्मभावस्य न प्रवृत्तिः । अकच्छप्रवृत्तिस्तु ततः प्रागस्त्येवेति तन्नि-यत्तय इदं सूत्रमित्यभिमानः । गच्छत्विति । निमित्तापादपरि-भापयेति भावः । दुर्लभेति । उपसर्जननिषेधादिति भावः । इत्यर्थ इति । अनङ्गकार्यत्वेनेत्यस्यार्थ इति भावः । क्लिष्टमिति । तत्त्वं तु स्पष्टमेव । न्यासग्रन्थासंमतिमुपपादयन्ननङ्गकार्यत्वेनेत्यस्य वैयर्थ्य-मुपपादयति-तथा हीति । विशेषविषयत्वादिति । अन्यपदार्थविशेषण-त्वादित्यर्थः । समुदायोहीति । तत्त्वंच तद्विशेषणत्वमित्यभिमानः ।

अनन्तरयोरिति । त्वत्कपितृकमत्कपितृकयोरित्यर्थः । अङ्गसज्ञा-
नपेक्षत्वमेवार्थ इति । एव चानुपदोक्ते यदपीति पक्षे कप्रत्ययापवाद-
त्वस्याकचि प्रसिद्धत्वादेवोक्तरीत्यातदुक्तित्व्यर्थेति बोध्यम् ।

मनारमेत 'अर्थान्तरोपसक्रमे सति गता' असे म्हटले अस-
त्यामुळे, 'अतिसर्वाय' इत्यादि स्थली वाही दोष येत नाही,
म्हणजे 'स्मै' इत्यादि आदेश होण्याची आपत्ति येत नाही 'सर्वं'
या शब्दाची एकदा नष्ट झालेली सर्वनामसज्ञा त्याला पुन्हा प्राप्त
होऊ शकत नाही, कारण सज्ञावाचक असलेल्या व तसेच उपसर्जन
झालेल्या सर्वादि शब्दाना ('सज्ञोपसर्जनीभूता न सर्वादय' या
वातिकानें) सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला आहे या वातिकानें गण-
पाठात पठित असलेल्या सर्वादिगणातून उपसर्जन झालेल्या सर्वादि
शब्दाचा पर्युदास केला असल्यामुळे, म्हणजे तशा उपसर्जनीभूत
झालेल्या शब्दाना सर्वनामसज्ञा होत नाही असे विधान केले अस-
ल्यामुळे, ('पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' या परिभाषेत
जें तदन्तग्रहण केले आहे त्या) तदन्तग्रहणानें होणारी सज्ञा देखील
('प्रियसर्वं, अतिसर्वं' इत्यादि शब्दाना) होत नाही, (कारण ते
शब्द सर्वनामान्त आहेत असे मानता येत नाही व त्यामुळे त्या
शब्दाहून सर्वनामकार्ये होऊ शकत नाहीत 'अतिसर्वाय' इत्यादि
स्थली 'सर्वं' या सर्वनामरूप शब्दाचा अर्थ 'अति' या) अन्य-
पदार्थामध्ये सक्रमित होण्यापूर्वी 'स्मै' आदेशाची प्रवृत्ति होऊ
शकत नाही, पण त्या पूर्वी 'अकच्' प्रत्ययाची प्राप्ति होतेच व तिचे
निवारण करण्याकरिता प्रकृत सूत्र पाणिनीनं आरभिले आहे असे
प्रकाशकार मानतात ('सर्वानतिक्रान्त अतिसर्वं' या तत्पुरुष-
समासस्थली 'सर्वं' या सर्वनामसज्ञक शब्दाचा अर्थ 'अति' या
अन्यपदार्थात सक्रमित होण्यापूर्वी 'सर्वं' हा शब्द द्वितीयान्त आहे
तशा स्थितीत 'स्मै' आदेशाची प्राप्तीच नाही 'सर्वं' या शब्दाचा
अर्थ 'अति' या अन्यपदार्थामध्ये सक्रमित होऊन व 'सुपो घातु
प्रातिपदिकयो' सू ६५० या सूत्रानें अन्तर्वाति द्वितीयेच्या विभक्ति-

प्रत्ययाचा लुक् होऊन 'अतिसर्व' असें जेव्हां सामासिकशब्द-
स्वरूप अङ्ग होतें तेव्हां त्या अङ्गाहून 'डे' प्रत्यय केला असतां,
त्या अङ्गाच्या अन्तीं असणाऱ्या 'सर्व' या शब्दाची सर्वनामसंज्ञा
उपसर्जनत्वामुळे नष्ट झाली असल्यामुळे, 'अतिसर्व' हें अदन्त
अङ्ग सर्वनामान्त आहे असें मानतां येत नाही व त्यामुळे 'स्मि'
आदेशाची प्राप्ति होत नाही. पण 'त्वं पिता यस्य' या विग्रह-
वाक्यांतील 'युष्मद्' या अवयवाची सर्वनामसंज्ञा नष्ट झाली नसून
कायम असल्यामुळे, त्याहून 'अकच्' प्रत्यय होण्याची जी प्राप्ति
आहे तिचें निवारण करण्याकरितां प्रकृत सूत्र आरंभिल्लें आहे असें
प्रकाशकारांचें म्हणणें आहे. यावर मनोरमेंत पूर्वी उत्तर दिलेंच
आहे.) 'तर्हि अकजपि गच्छतु' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे तें
'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' या परिभाषेच्या आधारे
म्हटलें आहे. ('अव्ययसर्वनाम्नामकच्' सू. २०२६ या सूत्रानें
'अकच्' प्रत्यय होण्याकरितां सर्वनामसंज्ञा असणें या निमित्ताची
आवश्यकता आहे. त्या संज्ञेमुळे होणारा 'अकच्' प्रत्यय ती सर्व-
नामसंज्ञा असतांना केलेला असला तरी, ती सर्वनामसंज्ञा नष्ट
झाल्यावर, वरील परिभाषान्वये, तो 'अकच्' प्रत्यय आपोआपच
नाहींसा होईल. म्हणून तो प्रत्यय न व्हावा याकरितां प्रकृत सूत्र
असण्याची कांहीं गरज नाही असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय
आहे असें शब्दरत्नकार म्हणतात.) 'सा च दुर्लभा' असें जें मनोरमेंत
म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, समासांत 'सर्व' हा शब्द उपसर्जन
झाला असतां ('उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या निषेधक वार्ति-
कान्वये) त्याला सर्वनामसंज्ञा पुन्हा होऊं शकत नाही. 'अङ्गमप्रधानं
वाच्यं तद्विरुद्धमनङ्गं बाधकमित्यर्थः' असें जें प्रकाशकारांनीं
व्याख्यान केलें आहे तें प्रक्रियाकीमुदीतील 'अनङ्गकार्यत्वेन' या
पदाचें व्याख्यान होय. तें व्याख्यान निलण्ट आहे हें अगदीं उघड
आहे. (कारण 'अङ्ग' या शब्दाचा बाध्य व 'अनङ्ग' या
शब्दाचा बाधक असा अर्थ कोठेंहि प्रसिद्ध नसून तो ओढून लाणून

केलेला अर्थ आहे हे अगदी स्पष्ट आहे) तो अर्थ न्यास-ग्रन्थाविरुद्ध आहे व तसा अर्थ करणे व्यर्थ आहे हे सिद्ध करण्याच्या हेतूने दीक्षितानी 'तथा हि' इत्यादि न्यासग्रन्थाचा उपन्यास केला आहे त्या न्यासग्रन्थातील 'विशेषविषयत्वात्' या पदाचा 'अन्य-पदार्थविशेषणत्वात्', म्हणजे बहुव्रीहीचा अर्थ जो अन्यपदार्थ त्याचे 'युष्मद्, अस्मद्' हे शब्द विशेषण होत असल्यामुळे, असा अर्थ आहे (याचे विवरण पूर्वी मनोरमेत केलेच आहे) 'समुदायो हि विशेषेवर्तते' असे जे न्यासकाराने म्हटले आहे ते असा आशय मनात धरून म्हटले आहे की, (बहुव्रीहिसमासातील अवयव अन्यपदार्थांचे विशेषण होत नसून, बहुव्रीहिसामासिकशब्दरूप संपूर्ण) समुदायच अन्यपदार्थांचे विशेषण होत असतो (या पक्तीत 'इत्याभिमान' ही जी अरुचिप्रदर्शक पद घातली आहेत त्याचे कारण हे की, समुदायाचे अवयव देखील अन्यपदार्थांची विशेषणे होत असल्यामुळे उपसर्जन होतात व हे मागील शब्दरत्नात स्पष्ट सांगितलेच आहे) न्यासग्रन्थातील 'अनन्तरयो' या पदाचा 'त्वत्कपितृकमत्कपितृकयो' असा अर्थ आहे. 'अनङ्गकार्यत्व' या पदाचा 'अङ्गसंज्ञानपेक्षत्वमेवार्थो लभ्यते', म्हणजे 'अङ्गसंज्ञानपेक्षत्व' असाच अर्थ होतो, असे दीक्षितानी मनोरमेत म्हटले असल्यामुळे व 'अकच्' प्रत्यय 'क' प्रत्ययाचा बाधक आहे हे प्रसिद्ध असल्यामुळे, 'अकच्' प्रत्यय होण्याची आपत्ति येते असा जो प्रकाशकारानी प्रत्रियाकीमुदीतील 'अनङ्गकार्यत्वेनावच् स्यात्' या पदाचा अर्थ केला आहे तसा अर्थ करणे व्यर्थ ठरते. (याचे विवरण पूर्वी मनोरमेत केलेच आहे)

मनोरमा-यदपि व्याचक्षुः । यद्यपि सूत्रवातिककृतोरप्येतन्मतं तद्यार्जपि न्यासकृता वितृत्तत्वाद् न्यासकृन्मतमित्युक्तमिति । तदपि स्ववीय' । वातिककृता अस्यायं स्यात्स्पष्टत्वात् । न्यासकृता समासे कृते सतोत्पादिवदता त्वदुक्तार्थस्य दूरत्यक्तत्वेन तद्विधृतत्वाभावाच्च ।

प्रकाशकार पुन्हा असे म्हणतात की, प्रत्रियाकीमुदीत 'न बहुव्रीही' या सूत्राचा जसा अर्थ केला आहे तसाच अर्थ जरी

सूत्रकार पाणिनी व वातिककार या दोघांनाहि मान्य आहे तरी न्यासकारानें त्या अर्थाचें स्पष्ट विवरण केलें असल्यामुळें, प्रक्रिया-कौमुदीकारांनीं 'इति न्यासकृन्मतम्' असें प्रकृत सूत्रावरील टीकेंत म्हटलें आहे. पण हें त्यांचें म्हणणें देखील अगदीच चूक आहे; कारण वातिककारानें केलेल्या ('उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या) वातिकान्तून प्रकाशकारांनीं केलेला अर्थ मुळींच निघूं शकत नाही आणि तसेंच न्यासकारानें 'समासे कृते सति' इत्यादि म्हटलें असल्यामुळें, प्रकाशकारांनीं जसा अर्थ केला आहे तसा अर्थ न्यासकारानें दूर झुगारून दिला आहे हें स्पष्ट होतें आणि त्यामुळें न्यासकारानें तसा अर्थाचें विवरण केलें आहे असें मुळींच म्हणतां येत नाहीं. (प्रक्रिया-कौमुदीकारांनीं जी प्रकृत सूत्रावर वृत्ति लिहिली आहे तिचें विवरण करितांना प्रकाशकारांनीं 'त्वं पिता यस्येत्यादी विग्रहवाक्ये प्राप्ता संज्ञा निविद्धयते' असें म्हटलें आहे व त्यांचें असेंहि म्हणणें आहे कीं, सूत्रकार पाणिनी व वातिककार यांचें देखील असेंच मत आहे, पण न्यासकारानें या मताचें स्पष्ट विवरण केलें असल्यामुळें, 'इति न्यास-कृन्मतम्' असें प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं म्हटलें आहे. यावर दीक्षित असें म्हणतात कीं, विग्रहवाक्यांत बहुव्रीहिसमासांतील सर्वादि शब्दांना सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होतो असें जरी पाणिनीचें मत असलें तरी, वातिककाराचें असेंच मत आहे हें म्हणणें वरोवर नाहीं; कारण वातिक-कारानें या विषयासंबंधानें कांहीहि म्हटलें नसून, 'संज्ञोपसर्जनीभूता न सर्वादयः' असा सामान्य सिद्धान्त सांगितला आहे व त्या वातिकावरून हा निष्कर्ष निघतो कीं, सर्वादि शब्द उपसर्जनीभूत झाले असतां, मग ते बहुव्रीहिसमासांत उपसर्जन झाले अथवा किंवा इतर रीतीनें उपसर्जन झाले असो, ते सर्वनामसंज्ञक ठरत नाहीत. न्यासकारानें आपल्या विवरणांत प्रकाशकारांनीं ज्या मताचें प्रतिपादन केलें आहे त्या मताचें प्रतिपादन केलें नसून उलट अशा मताचें प्रतिपादन केलें आहे कीं, विग्रहवाक्यांत सर्वादि शब्दांची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत नसून बहुव्रीहिसमास कल्पावर समासांत अन्तर्भूत असलेल्या

तसा सर्वादि शब्दाची सर्वनामसज्ञा नष्ट होते. यावरून हे स्पष्ट होते की, प्रकाशकारांनी ज्या मताचे प्रतिपादन केले आहे ते मत न्यासकाराला मुलीच मान्य नाही आणि म्हणून न्यासकाराचे मत हेच आहे असे जे प्रकाशकार म्हणतात ते म्हणणे चूक ठरते हे अगदी उघड आहे.)

शब्दरत्न—इत्यादि वदतेति । वृत्तिग्रन्थव्याख्यावसरे इति शेषः ।
 'इत्यादि वदता' असे जे मनोरमते म्हटले आहे त्यापुढे 'वृत्तिग्रन्थव्याख्यावसरे', म्हणजे 'काशिकावृत्तीचे व्याख्यान करते-वेळी' हे पद अध्याहृत आहे

मनोरमा—यदप्याहुः । न्यासकृच्छ्रदेन सूत्रकार एव विवक्षित इत्यादि । तदपि न । सूत्रकारमते बहुव्रीह्यादित्यादिपूर्वग्रन्थेन सह विरोधात् भाष्यकारमते त्विति ग्रन्थेन तस्य विच्छिन्नत्वाच्च । तस्मादिहप्राचः प्रक्रियाग्रन्थास्तद्व्याख्यातुग्रन्थाश्चापातरमणीया एवेत्यास्तां तावत् ।

पुन्हा प्रकाशकार असे म्हणतात की, प्रक्रियाकौमुदीत 'इति न्यासकृन्मतम्' असे जे म्हटले आहे त्यातील 'न्यासकृत्' या पदाचा ('न्यासकार' असा अर्थ विवक्षित नसून) 'सूत्रकार पाणिनि' असा अर्थ विवक्षित आहे पण हे त्याचे म्हणणे देखील बरोबर नाही, कारण तसा अर्थ मानल्यास, 'सूत्रकारमते बहुव्रीही न सर्वनामता' या प्रक्रियाकौमुदीतील पूर्वग्रन्थाशी विरोध येतो दुसरे असे की, 'भाष्यकारमते तु गोणत्वमात्रे' या पक्तीने पुढील पक्ति विच्छिन्न झाली आहे ('न्यासकृत्' या पदाचा 'सूत्रकार' असा अर्थ प्रक्रियाकौमुदीकारांना विवक्षित अमता तर त्यांनी 'सूत्रकारमते बहुव्रीही न सर्वनामता' या पक्तीच्या लगेच पुढे 'न्यासकृत् मत' दिले असतं व त्यानंतर भाष्यकारांचे मत दिले असतं आणि या दोन पक्तींच्या मध्ये त्यांनी भाष्यकारांचे मत न सांगता ते मत असेरीस सांगितले असते.) सारास बरील सर्व विवेचनावरून हे स्पष्ट होते

कीं, प्रकृत सूत्रावरील वृत्तींत प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं जें म्हटलें आहे व त्या ग्रन्थाचें व्याख्यान करितांना टीकाकार, म्हणजे प्रकाशकार, यांनीं जें आपल्या टीकेंत म्हटलें आहे तें केवळ दिसण्यांत रमणीय आहे, म्हणजे विचाराअन्तीं तें सर्व म्हणणें चूक ठरतें. या विषयासंबंधानें एवढें पुरें.

मनोरमा—यदि तु प्रक्रियाग्रन्थोऽपि कथंचिद्भाष्याविरोधेन व्याख्येय इत्याग्रहस्तर्हीत्यं व्याख्यायताम्—“ननु प्रियविश्वायेति गौणतया गतार्थम् । अतोनिष्कर्षमाह—सूत्रकारमत इति । बहुव्रीहविति । चिकीर्षिते सतीति शेषः । गौणत्वमात्र इति । मात्रशब्दोऽवधारणे, गौणत्वे एव न तु ततः प्राक् । तथा च सूत्रं प्रत्याख्यातमिति भावः । न्यासकुन्मस्य तु अतिफलगुत्वात् स्वरूपव्याक्रियैव पराक्रियेत्याशयेनाह—त्वत्कपितृक इत्यादि” । एतच्च प्राचीनतत्तद्ग्रन्थपरिशीलनशालिभिर्विभावनीयम् । प्रकृतमनुसरामः । संज्ञाकार्यमिति । सर्वनामसंज्ञाप्रयुक्तं स्मायादिकमित्यर्थः । अन्तर्गणकार्यमिति । “अद्भुतरादिभ्यः” “त्यदादीनामः” “तदोः सस्सौ” इत्यादिकमित्यर्थः ।

जर भाष्याशीं विरोध न येतां प्रकृत सूत्रावरील प्रक्रियाकौमुदीचा अर्थ कसा तरी लावला पाहिजे असा आग्रह असेल तर, त्या ग्रन्थाचे पुढें सांगितल्याप्रमाणें व्याख्यान करावें—‘प्रियविश्वाय’ हें जें प्रकृत सूत्राचें उदाहरण दिलें आहे तें वास्तविक (‘प्रियविश्व’ या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासांत ‘विश्व’ हें सर्वनामसंज्ञक पद उपसर्जन क्षालें असल्यामुळें, ‘उपसर्जनीभूता न सर्वावयः’ या वार्तिकान्वयें) गौणत्वामुळें गतार्थ होतें, म्हणजे अन्यथासिद्ध होतें. म्हणून प्रकृत सूत्र कसाकरितां केलें आहे हें कळावें याकरितां ‘सूत्रकारमते बहुव्रीही न सर्वनामता’ हा निष्कर्ष दिला आहे. या पंक्तींतील ‘बहुव्रीही’ या पदापुढें ‘चिकीर्षिते सति’ हीं पदे अव्याहृत आहेत असें मानावें. (हीं पदे अव्याहृत केलीं असतां,

दीक्षितानी जसा प्रकृत सूत्राचा कौमुदीत अर्थ केला आहे तसाच सूत्रार्थ होतो.) 'भाष्यकारमते तु गोणत्वमात्रे' या पक्तीतील 'मात्र' हा शब्द (साकल्यार्थक नसून) अवधारणार्थक आहे असे मानून त्या पक्तीचा असा अर्थ करावा की, सर्वादि शब्द उपसर्जन झाल्यावरच त्याची सर्वनामसज्ञा नष्ट होते, त्या पूर्वी ती नष्ट होत नाही. असे भाष्यकाराचे मत असल्यामुळे त्यांनी प्रकृत सूत्राचे प्रत्याख्यान केले आहे असा प्रक्रियाकौमुदीकाराच्या म्हणण्याचा भावार्थ समजावा. न्यासकाराचे मत अगदीच चूक असल्यामुळे, ते मत उद्धृत करणे हेच त्याचे खण्डन करणे होय हा आशय मनात धरून प्रक्रिया-कौमुदीकारानी 'त्वत्कपितृकः' इत्यादि पुढील पक्ति लिहिली आहे. (असे मानावे.) प्राचीन वैयाकरणाच्या प्रसिद्ध ग्रन्थाचे ज्यांनी परिशीलन-विचारपूर्वक अध्ययन-केले आहे त्यांना वरप्रमाणे केलेले व्याख्यान योग्य आहे हे कळून येईल (प्रक्रियाकौमुदीकारानी प्रकृत मूनावर आपल्या ग्रन्थात जी वृत्ति लिहिली आहे ती पूर्वी मनोरमेत दिलीच आहे, व ती वृत्ति समोर ठेवून त्या वृत्तीचे दीक्षितानी केलेले व्याख्यान वाचले असता, ते नीट घ्यानात येईल.) आता आपण प्रकृत विषयाकडे वळू. (प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीचे व्याख्यान करिताना दीक्षितानी मधेच प्रक्रियाकौमुदीकार व त्याचे टीकाकार यांनी प्रकृत सूत्राचे जें व्याख्यान केले आहे ते कसे चूक आहे हे सिद्ध करण्याकरिताच मनोरमेत बरीच टीका केली व आता ते प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीच्या अवशिष्ट भागाचे व्याख्यान करण्यास सुरुवात करतात.) प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत 'अतः सज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति' असे जें म्हटले आहे त्यातील 'सज्ञाकार्यम्' या पदाचा 'सर्वनामसज्ञेच्या निमित्तामुळे होणारे 'स्मै' इत्यादि आदेशरूप कार्य', म्हणजे सू. २१४-२१७ या सूत्रानी होणारी विशेष कार्ये, असा अर्थ आहे आणि 'अन्तर्गणकार्यम्' या पदाचा 'अद्-इतरादिभ्यः पञ्चम्य.' सू. ३१५, 'त्यदादीनाम.' सू. २६५ व 'तदो. सः सो' सू. ३८१ इत्यादि सूत्रानी होणारी कार्ये

असा अर्थ आहे. (सर्वादिगणांत एकंदर पसतीस शब्द पठित आहेत. या मोठ्या गणांत 'त्यदादि', 'डतरादि' असे कांहीं लहान गण अन्तर्भूत आहेत व या अन्तर्गणांत निर्दिष्ट असलेल्या शब्दांना जी विशेष कार्ये पाणिनीय सूत्रांनीं होणें सांगितलीं आहेत तीं अन्तर्गण-कार्ये होत. उदाहरणार्थ सर्वादिगणांत त्यदादिगण अन्तर्भूत असून त्या त्यदादिगणांत 'त्यद्' या शब्दापासून 'द्वि' या शब्दापर्यंत पठित असलेले शब्द येतात व त्या शब्दांपुढें विभक्तिप्रत्यय आला असतां, त्यांच्या अन्त्य वर्णाने जागीं अकारादेश होतो हें अन्तर्गणकार्य 'त्यदादीनामः' या सूत्रानें होणें सांगितलें आहे. त्याचप्रमाणें डतर-प्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, 'अन्य, अन्यतर, इतर' या एकंदर पांच शब्दांपुढें येणाऱ्या 'सु' व 'अम्' या विभक्तिप्रत्ययांचे जागीं नपुंसक-लिङ्गामध्ये 'अद्' आदेश होतो हें अन्तर्गणकार्य 'अद्डडतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' या सूत्रानें होणें सांगितलें आहे. या वरील कार्यांना अन्तर्गणकार्ये असें म्हणतात.)

मनोरमा-तृतीयासमासार्थेति । इह “पूर्वसदृश” इति विहितः समासो गृह्यते प्रतिपदोक्तत्वात् । न तु “कर्तृकरणे कृता” इति । तेन त्वयका कृतमित्यत्र निषेधो न ।

‘तृतीयासमासे’ सू. २२३ या सूत्रावरील कौमुदींत ‘तृतीया-समासार्थेवाक्येऽपि न’ असें म्हटलें आहे व या सूत्रांतील ‘तृतीया-समासे’ या पदानें ‘पूर्वसदृश’ सू. ६९३ या सूत्रानें होणाऱ्या समासाचें ग्रहण होतें; कारण हा प्रतिपदोक्त तृतीयासमास आहे. ‘कर्तृकरणे कृता बहुलम्’ सू. ६९४ या सूत्रानें होणाऱ्या तृतीया-समासाचें प्रकृत सूत्रांतील ‘तृतीयासमास’ या पदानें ग्रहण होत नाही. त्यामुळें ‘त्वयका कृतम्’ या उदाहरणांत सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होत नाही. (‘तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन सू. ६९२ या सूत्रापासून ‘भक्ष्येण मिश्रीकरणम्’ सू. ६९७ या सूत्राच्या अखेरपर्यंत जीं सहा सूत्रे अष्टाध्यायींत पठित केलीं आहेत तीं तृतीयातत्पुरुषसमासाचें

विधान करणारी सूत्रे होत या सहा सूत्रांपैकी 'पूर्वसदृश' हें एकच असे मूत्र आहे की, ज्यात 'पूर्व' या सर्वनामसज्ञक शब्दाचा निर्देश केला असून त्या सर्वनामाशी तृतीयातत्पुरुषसमास होणे सांगितले आहे इतर पाच सूत्रात कोणत्याहि सर्वनामसज्ञक शब्दाचा निर्देश केला नाही म्हणून 'पूर्वसदृश' या सूत्रानें 'पूर्व' या सर्वनामाशी जो तृतीयातत्पुरुषसमास होतो त्याचेच सर्वनामसज्ञानिपेधक प्रकृत सूत्रातील 'तृतीयासमासे' या पदानें ग्रहण होते आणि म्हणूनच प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत 'मासेन पूर्वाय मासपूर्वाय' हें प्रकृत सूत्राचे उदाहरण दिले आहे या स्थली 'मासेन' या तृतीयान्त पदाशी 'पूर्व' या सर्वनामसज्ञक शब्दाचा तृतीयातत्पुरुषसमास झाला असल्यामुळे, 'पूर्व' या शब्दाची सर्वनामसज्ञा नाहीशी होते. त्यामुळे 'मास-पूर्वस्मै' असे रूप न होता 'मासपूर्वाय' असे रूप होते. 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीही' या पूर्व सूत्रातून प्रकृत सूत्रात 'समासे' या पदाची अनुवृत्ति होत असून देखील, पुन्हा प्रकृत सूत्रात 'समासे' या पदाचे जें ग्रहण केले आहे ते अशाकरिता की, तृतीयासमास करण्याकरिता जें लौकिक विग्रहवाक्य केले जाते व ज्याला 'सादर्थ्यात्ताच्छब्दम्' या न्यायान्वयें गौरुरूप तृतीयासमास म्हणता येते त्याचे देखील मुख्य तृतीयासमासाप्रमाणे ग्रहण व्हावे आणि म्हणूनच 'तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न' असे दीक्षितानी प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत म्हटले आहे 'तृतीयासमासे' सू. १-१-३० या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात - 'समास इति वर्तमाने पुनः समासग्रहण किमर्थम् ? । अयं तृतीयासमासोऽस्त्येव प्रायमवत्पिबो महिमन्त्रैकपचमैकस्वयमेकविभक्तित्वत्वं च । अस्ति सादर्थ्यात्ताच्छब्दं तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति । तद्यत्तादर्थ्यात्ताच्छब्दं तस्येदं ग्रहणम् ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, पूर्व सूत्रातून प्रकृत सूत्रात 'समास' या पदाची अनुवृत्ति होत असून, पुन्हा प्रकृत सूत्रात 'समासे' या पदाचे ग्रहण का केले आहे 'तृतीयासमास' असा शब्द उच्चारणा असता,

ज्यामध्ये अनेक पदांचें मिलून एक सामासिक पद तयार होतें व ज्याला एकच स्वर होतो आणि एकच विभक्तिप्रत्यय लागतो तशा मुख्य तृतीयातत्पुरुषसमासाची कल्पना एकदम मनांत येते. परंतु एखादी वस्तु तयार करण्याकरितां जी एक विशेष प्रकारची अवस्था मांडण्यांत येते त्या अवस्थेलाहि त्या वस्तुचें नांव देण्याची लोकांत प्रथा आहे. म्हणून तृतीयासमास करण्याकरितां जें लौकिक विग्रह-वाक्य तयार केलें जातें त्याला देखील 'तृतीयासमास' असें म्हणतां येतें आणि प्रकृत सूत्रांतील 'तृतीयासमास' या शब्दानें अशा लौकिक विग्रहवाक्याचें देखील ग्रहण व्हावें याकरितां प्रकृत सूत्रांत 'समासे'-या पदाचें मुद्दाम ग्रहण केलें आहे. त्यामुळें 'मासपूर्वाय, संवत्सरपूर्वाय' इत्यादि मुख्य तृतीयासमासांत जसा सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होतो त्याचप्रमाणें 'मासेन पूर्वाय, संवत्सरेण पूर्वाय' या लौकिक विग्रह-वाक्यांत देखील 'तादर्थ्यात्ताच्छब्दम्' या वचनान्वयें सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होतो. त्यामुळें 'मासेन पूर्वस्मै, संवत्सरेण पूर्वस्मै' असें प्रयोग होऊं शकत नाहींत. 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सू. ६९४ या सूत्रानें होणाऱ्या 'त्वया कृतं त्वत्कृतम्' या तृतीयासमासाचें प्रकृत सूत्रांतील 'तृतीयासमासे' या पदानें ग्रहण होत नसल्यामुळें, 'त्वया' या सर्वनामाची सर्वनामसंज्ञा नाहींशी होत नाहीं व 'त्वया' या सर्वनामसुबन्ताहून 'ओकारसकारभकारादी सुपि सर्वनाम्नः टः प्राक् अकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टः प्रागकच्'—सू. २०२८ वरील यातिक—या वार्तिकान्वयें 'अकच्' प्रत्यय होऊन 'त्वयका कृतम्, त्वकत्कृतम्' हा प्रयोग साधु ठरतो.)

शब्दरत्न—प्रतिपदोक्तत्वादिति । यदन्तत्त्वमादाय सर्वनामत्व-प्राप्तिस्तमुच्चार्य विहितत्वाद् । वाक्यमपि तत्सम्बन्धेन, प्रत्यासत्ते-रिति भावः । तेन करोतिद्वारा सामर्थ्ये मासेन कृताय पूर्वस्मै मास-पूर्वस्मै इति समासे, तत्सम्बन्धिनि वाक्ये च न । तत्र वाक्यस्य प्रतिपदोक्तसमाससम्बन्धिना एव ग्रहणे फलान्तरमप्याह—त्वयकेति ।

तृतीयासमासमात्रस्यग्रहणे हि तदर्थे यावपि यत्र क्वापि स्थितस्य सर्वादेः संज्ञा नेत्यर्थेऽत्रापि स्यादिति भावः ।

मनोरमैत 'पूर्वसदृश' या सूत्राने होणाऱ्या प्रतिपदोक्त तृतीयासमासाचे प्रकृत सूत्राने ग्रहण होते असे जे म्हटले आहे त्याचे कारण हे की, जो शब्द समासाच्या अन्ती असता, समासाला तदन्तत्वामुळे सर्वनामसज्ञा होण्याची प्राप्ति आहे तो 'पूर्व' शब्द त्या सूत्रात उच्चारून तृतीयासमास होण्याचे विधान केले आहे ज्या लौकिक विग्रहवाक्यात सर्वनामसज्ञेचा प्रकृत सूत्राने निषेध केला आहे ते, प्रत्यासत्तिन्यायान्वये, 'पूर्वसदृश' या सूत्राने होणाऱ्या तृतीयासमासाचेच लौकिक विग्रहवाक्य घेतले जाते. इतर प्रकारच्या लौकिक विग्रहवाक्याचे प्रकृत सूत्राने ग्रहण करता येत नसल्यामुळे, तृतीयाविभक्तीचा 'पूर्व' या शब्दामध्ये अन्वय होण्याकरिता 'वृ' घातूचे रूप मध्ये घालून 'मासेन कृताय पूर्वस्मै मासपूर्वस्मै' या ('तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' सू. ६९२ या सूत्राने होणाऱ्या) तृतीयासमासात किंवा त्या समासाच्या लौकिक विग्रहवाक्यात सर्वनामसज्ञेचा निषेध होत नाही (व त्यामुळे समासात व विग्रहवाक्यात 'छे' चे जागी 'स्मै' आदेश होतो, कारण हा समास 'पूर्वसदृश' या सूत्राने झालेला समास नमून वर सांगितल्याप्रमाणे 'तृतीया तत्कृतार्थेन' सू. ६९२ या सूत्राने झालेला समास आहे म्हणून त्याला 'तृतीयासमासे' हा प्रकृत निषेध लागू पडत नाही व समासातील किंवा विग्रहवाक्यातील 'पूर्व' या शब्दाची सर्वनामसज्ञा नष्ट होत नाही) 'पूर्वसदृश' या सूत्राने होणाऱ्या प्रतिपदोक्त तृतीयासमासाकरिता केलेल्या लौकिक विग्रहवाक्यालाच प्रकृत निषेधक सूत्र लागू पडत असल्यामुळे, 'स्वयं कृतम्' हे दुसरे फल दीक्षित मनोरमैत सांगतात. जर कोणत्याहि सूत्राने होणाऱ्या तृतीयासमासाचे व त्या समासाकरिता केलेल्या लौकिक विग्रहवाक्याचे प्रकृत निषेधक सूत्राने ग्रहण झाले असतं तर, ते निषेधक सूत्र कोणत्याहि तृतीयासमासात किंवा त्या समासाकरिता केलेल्या लौकिक

विग्रहवाक्यांत असलेल्या सर्वादि सर्वनामसंज्ञक शब्दाला लागू पडलें असतें आणि त्यामुळे 'त्वयका कृतम्' या तृतीयासमासाच्या लौकिक विग्रहवाक्याला देखील तें सूत्र लागू पडण्याची आपत्ति आली असती (व 'त्वयका कृतं त्वकत्कृतम्' हा इष्ट प्रयोग सिद्ध होऊं शकला नसता.)

मनोरमाः— समुदायस्येति । तत्रैव द्वन्द्वशब्दस्य मुख्यत्वाच्च तु द्वन्द्वे यानिसर्वादीनीति सम्बन्धः, कारकाणां क्रिययैवान्वयात् । न च द्वन्द्वे विद्यमानानि यानीति सम्बन्धः, विद्यतिक्रियाध्याहारे गौरवात् ।— निषेद्ध्याया भवतिक्रियाया एव प्राधान्येन तदन्वयस्यैव न्याय्यत्वाच्च । किं च त्यादादीनां द्वन्द्वो नास्ति, एकशेषेण बाधितत्वात् । ततः प्राचीवास्तवदन्तास्तत्र काकचोर्न विशेषः । न च दक्षिणोत्तरपूर्वाणामित्यत्रेष्टमपि पुंवद्भावं निषेद्धुमिदं किं न स्यादिति वाच्यम् । “ सर्वनाम्नो वृत्तिमात्र ” इति मात्रग्रहणं हि क्वचित्सर्वनामत्वेन दृष्टानां सम्प्रति संज्ञाभावेऽपि पुंवद्भावार्थम् । अतएव दक्षिणपूर्वायै इत्यत्र संज्ञाभावेऽपि पुंवद्भावः । तस्माद् न्यायबलात् फलबलाच्च समुदायग्रहणमेवोचितम् । यद्यपि त्वच्छब्दस्तान्त इति पक्षेऽवयवनिषेधेऽपि फलं सुवचम् । तथाऽपि शास्त्रस्याल्पविषयता स्याद् न्यायश्च विरुध्येतेति भावः । सुदप्रसङ्ग इति । वर्णाश्रमेतराणामित्यादाविति भावः । न च निषेधसामर्थ्यम् । अनाङ्गस्यैव तत्सिलादेर्व्यावृत्त्या चरितार्थत्वात् ।

‘द्वन्द्वे च’ सू. २२४ या सूत्रावरील कीमुदीत ‘समुदायस्यैवार्थं निषेधः, नत्वयवानाम्’ असें जें म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, ‘द्वन्द्व’ हा शब्द, म्हणजे ‘द्वन्द्व’ ही संज्ञा, प्राधान्यानें समुदायालाच लागू पडते. ‘द्वन्द्वे यानि सर्वादीनि (तानि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति)’ असा अन्वय करणें बरोबर नाही; कारण कारकांचा क्रियेशींच अन्वय होत असतो. (‘द्वन्द्वे यानि सर्वादीनि’ असा अन्वय केल्यास, ‘द्वन्द्वे’ या अधिकरणरूप कारकाचा ‘भवति’ या

क्रियेशी अन्वय न होता, 'सर्वादीनि' या सुबन्ताशी अन्वय होतो परंतु 'क्रियान्वयि कारकम्' अशी कारकाची व्याख्या असल्यामुळे, जेथे कारकाचा विधेयाशी साक्षात् अन्वय होणे संभवते तेथे उद्देश्याशी अन्वय करणे योग्य नाही असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे) 'द्वन्द्वे विद्यमानानि यानि सर्वादीनि (तानि सर्वनामसज्ञकानि न भवन्ति)' असा देखील अन्वय करणे योग्य नाही, कारण तसा अन्वय केल्याने 'विद्यति' या क्रियेचा अध्याहार करावा लागतो व तसे करण्यात गौरव आहे 'द्वन्द्वे च' या प्रकृत सूनात ज्या 'भवति' क्रियेचा ('द्वन्द्वे = द्वन्द्वस्य सर्वनामसज्ञा न भवति' असा रीतीने) निषेध केला जातो ती प्रधान क्रिया असल्यामुळे, त्या प्रधान क्रियेतच 'द्वन्द्वे' या कारकाचा अन्वय होणे योग्य आहे. ('द्वन्द्वे विद्यमानानि यानि सर्वादीनि' असा अन्वय केल्याने जरी 'द्वन्द्वे' या अधिकरणकारकाचा 'विद्यमानानि' या क्रियेशी अन्वय हातो तरी ती क्रिया अध्याहृत करावी लागने व ज्याअर्थी 'भवति' या प्रधान क्रियेशी त्या कारकाचा अन्वय होणे संभवते त्याअर्थी अध्याहृत गोण क्रियेशी त्या कारकाचा अन्वय करणे अयोग्य असून तसे करण्यात गौरव आहे) दुसरे असे की, ('त्यदादीनि सर्वेनित्यम्' सू ९३८ या सूत्राने) 'त्यदादि' शब्दाचा इतर शब्दाशी द्वन्द्वसमास न होता एकशेषच होत असतो, कारण एकशेष हा द्वन्वाचा बाधक आहे (म्हणून द्वन्द्वसमासात 'त्यदादि' हे शब्द अवयवरूपाने मिळणे असंभवनीय असल्यामुळे, तशा अवयवरूप सर्वनाम शब्दाना सर्वनामसज्ञेचा निषेध करण्याची काहीच गरज नाही व तसा निषेध केल्याने कोणतेहि फल निष्पन्न होत नाही) 'त्यदादि' शब्दाच्या पूर्वी जे शब्द सर्वादिगणात पठित आहेत, म्हणजे 'सर्व' या शब्दापासून 'अन्तर' या शब्दापर्यंत जे शब्द पठित आहेत, ते सर्व शब्द अदन्त-अकारान्त-असल्यामुळे, त्या शब्दाहून 'अक्' प्रत्यय केला किंवा 'क' प्रत्यय केला तरी रूपात काहीच फरक पडत नाही (म्हणून त्या अकारान्त सर्वनामसज्ञा शब्दाना सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्याने काहीच फलनिष्पत्ति

होत नसल्यामुळे, त्यांना देखील सर्वनामसंज्ञानिषेध करणें व्यर्थ ठरतें हें उघड आहे.) 'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' या द्वन्द्वसमासांत जरी ('सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः'—सू. ७२८ वरील वार्तिक—या वार्तिकान्वयें 'उत्तरा' या स्त्रीलिङ्ग सर्वनामरूप अवयवाला) पुंवद्भाव होणें इष्ट असलें तरी, त्या अवयवाचा त्या वार्तिकान्वयें होणारा पुंवद्भावं न व्हावा याकरितां (द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवांना सर्वनामसंज्ञा न व्हावी यासाठीं) 'द्वन्द्वे च' हें प्रकृत सूत्र केलें आहे असें कां म्हणूं नये असें कोणीं म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' या वार्तिकांत साकल्यार्थवाचक जें 'मात्र' शब्दाचें ग्रहण केलें आहे तें अशाकरितां केलें आहे कीं, ज्यांना पूर्वी सर्वनामसंज्ञा होती व ती सांप्रत नष्ट झाली तशा भूतपूर्व सर्वनामांना देखील पुंवद्भाव व्हावा. अशाकरितां तें वार्तिक केलें असल्यामुळेच, 'दक्षिणपूर्वाय' या स्थलीं सर्वनामसंज्ञेचा अभाव असून देखील पुंवद्भाव झाला आहे. ('दक्षिणा पूर्वा यस्याः तस्य दक्षिणपूर्वाय' या बहुव्रीहिसमासांत 'दक्षिणा' हें स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम अन्यपदार्थाचें उपसर्जन झालें असल्यामुळे, 'उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वार्तिकानें त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होते. तरी पण त्याला पूर्वी सर्वनामसंज्ञा होती व सांप्रत उपसर्जनत्वामुळे त्याची सर्वनामसंज्ञा नष्ट झाली असल्यामुळे त्याच्या भूतपूर्वसंज्ञेचा आश्रय करून 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे' या वार्तिकानें जसा पुंवद्भाव करतां येतो तसाच 'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' या स्थलीं देखील 'उत्तरा' या स्त्रीलिङ्ग सर्वनामाची सर्वनामसंज्ञा 'द्वन्द्वे च' या सूत्रानें नष्ट झाली आहे असें मानलें तरी, त्याला पूर्वी जी सर्वनामसंज्ञा होती त्या सर्वनामसंज्ञेचा आश्रय केल्यानें, त्याचा पुंवद्भाव होण्यांत काहीं अट्टनण येत नाहीं. म्हणून द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवांना सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केल्यानें कोणतेंहि फल निष्पन्न होत नसल्यामुळे, द्वन्द्वसमासांतील अवयवांना सर्वनामसंज्ञेचा निषेध न करितां समुदायालाच प्रकृत सूत्रानें सर्वनामसंज्ञेचा निषेध करणें

योग्य आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे. म्हणून दीक्षित म्हणतात की) न्यायाच्या बलाने व फलाच्या बलाने प्रकृत मूवातील 'द्वन्द्वे' या शब्दाने समुदायाचेच ग्रहण करणे उचित आहे ('कारकाणा क्रिययैवान्वयात्' असा न्याय असल्यामुळे व द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्याने वर सांगितल्याप्रमाणे कोणतेहि फल निष्पन्न होत नसल्यामुळे व द्वन्द्वसमासाने निष्पन्न झालेल्या सर्वनामान्त सामासिक शब्दरूप समुदायाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्याने 'वर्णाश्रमेतरणाम्' इत्यादि अनेक इष्ट रूपाची सिद्धि होऊन तो निषेध सफल ठरत असल्यामुळे, द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाना सर्वनामसज्ञेचा निषेध न करिता, सर्वनामामान्त द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध करणे योग्य आहे असे दीक्षिताचे म्हणणे आहे आता 'त्यदादि' शब्दापूर्वी पठित असलेल्या सर्वादिगणातील शब्दामध्ये) 'त्वत्' असा तवारांत शब्द पठित आहे (व 'त्व' असे दोन अकारान्त, शब्द पठित नाहीत) असा पक्ष मानल्यास, प्रवृत्त सूत्राने द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाना देखील सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला आहे असे मानल्याने कळात करव दाखविता येतो अस म्हणता येऊ शकते तरी, प्रवृत्त सूत्राचा तसा अर्थ केल्यास (त्याला प्रवृत्त होण्यावरिता 'त्वत्' हे एवच उदाहरण मिळू शकत असल्यामुळे) ते सूत्र अल्पविषयक ठरते, म्हणजे त्या सूत्राच्या प्रवृत्तीचे क्षेत्र अत्यंत संकुचित ठरण्याचा प्रसंग येतो व ('कारकाणा क्रिययैवान्वय' या) न्यायाशी देखील विरोध येतो ('त्वत्' व 'इतर' या दोन शब्दांचा द्वन्द्वसमास केल्यास, 'त्वत्' या सर्वनामरूप अवयवाची सर्वनामसज्ञा प्रवृत्त सूत्राने नष्ट होते असे मानले तर, 'त्वत्' शब्दाहून 'अवध्' प्रत्यय न होता 'व' प्रत्यय होऊन 'स्वस्वेवरो' असे सामासिक रूप होईल परंतु प्रवृत्त सूत्राने द्वन्द्वसमासालाच सदन्यत्वामुळे प्राप्त होणाऱ्या सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला आहे व त्या समासातील सर्वनामरूप अवयवाना सर्वनामरूपसज्ञेचा निषेध

केला नाही असें मानलें तर, 'त्वत्' याहून 'अकच्' प्रत्यय होऊन 'त्वकदितरी' असें सामासिक रूप होईल व अशा रीतीनें फलांत फरक दाखवितां येणें शक्य आहे. तथापि प्रकृत सूत्रानें द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवांता सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे असें मानल्यानें तें सूत्र 'त्वत्' या एकाच सर्वनामाचे ठिकाणीं चरितार्थ होऊं शकेल. पण 'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति' असा न्याय असल्यामुळे, एकाच उदाहरणाकरितां पाणिनीनें प्रकृत सूत्र केलें आहे असें मानणें अयोग्य ठरतें आणि सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे असें मानल्यानें त्या सूत्राला अनेक उदाहरणें मिळून तें सूत्र अनेक ठिकाणीं चरितार्थ ठरूं शकत असल्यामुळे व त्या सूत्राचा असा अर्थ केल्यानें 'कारकाणां क्रिययैवान्वयः' या न्यायाशीं विरोध येत नसल्यामुळे, कीमुदीत जसा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तसाच अर्थ करणें योग्य आहे असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'न चैवं तदस्तविधिना सुदप्रसङ्गः' असें जें प्रकृत सूत्रावरील कीमुदीत म्हटलें आहे तें 'वर्णाश्रमेतराणाम्' इत्यादि उदाहरणांना अनुलक्षून म्हटलें आहे. 'द्वन्द्वे च' या प्रकृत निषेधक सूत्रानें द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला असल्यामुळे, त्या निषेधाच्या सामर्थ्यानेंच 'वर्णाश्रमेतराणाम्' या स्थळीं 'आम्' प्रत्ययाला 'गुद्' आगम होण्याची आपत्ति येत नाही असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण 'द्वन्द्वे च' हा निषेध, अज्ञाधिकारांत पठित नसलेले व सर्वनामाहून होणारे 'म, तसित्' इत्यादि प्रत्यय (सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासाहून) न होण्यामध्ये, चरितार्थ ठरता. (संज्ञाकाराचें असें म्हणणें आहे की, 'द्वन्द्वे च' या सूत्रानें सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला असल्यामुळे, 'वर्णाश्रमेतराणाम्' या द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसंज्ञा होत नाही व त्यामुळे 'आम्' आणि सर्वनामः गुद्' सू. २१७ या सूत्रानें 'आम्' प्रत्ययाला होण्याच्या गुदासमासां प्राप्तीच होत नाही. या अनेकवर

दीक्षित असे उत्तर देतात की, 'द्वन्द्वे च' हा निषेध अङ्गाधिकारात पठित नसलेल्या 'त्र, तसिल्' इत्यादि प्रत्ययाची निवृत्ति करण्यात चरितार्थ ठरत असल्यामुळे, तो निषेध 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च'—परि. २९—या परिभाषेचा बाध करू शकत नाही. म्हणून 'वर्णाश्रमेतराणाम्' या द्वन्द्वसमासात 'इतर' हा सर्वनामसंज्ञक शब्द समासाच्या अन्ती असल्यामुळे व प्रकृत सूत्राने त्या अवयवाची सर्वनामसंज्ञा नष्ट होत नसल्यामुळे, अङ्गाधिकारात पठित असलेल्या 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' या सूत्राने वरील परिभाषेच्या सामर्थ्याने, सर्वनामान्त समुदायाहून झालेल्या 'आम्' प्रत्ययाला सुडागम होण्याचा प्रसंग येतो. परंतु 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' या सूत्राचा 'सर्वनाम्नो विहितः य. आम् तस्य सुट्' असा अर्थ केल्याने तो प्रसंग टळतो; कारण या उदाहरणात 'इतर' या सर्वनामरूप अवयवाहून 'आम्' प्रत्यय झाला नसून 'वर्णाश्रमेतर' या समुदायाहून तो प्रत्यय झाला असल्यामुळे व त्या समुदायाला प्रकृत सूत्राने सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला असल्यामुळे, 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' या सूत्राची या स्थली प्रवृत्ति होऊ शकत नाही व सुडागम होण्याची आपत्ति टळते.)

शब्दरत्न—न्याय्यत्वाच्चेति । किं चावयवमात्रनिषेधे “प्रयोगानं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्” इति “येन विधिः” इति सूत्रस्य भाष्य-
प्रामाण्येन तदन्तस्य संज्ञायां वर्णाश्रमेतराणामिति भाष्यप्रयोगा-
नुपपत्तिः । न ह्यत्र सर्वावयवकत्वं नास्तीति यत्नं शक्यं मान्यभावात् ।
सोऽव्ययत्वसिद्धयः तस्यानेन निषेद्धुमशक्यत्वात् । नापि तस्य
सर्वादिपाठो निविष्टत इति युक्तम् । तस्याप्यत्रान्तत्वादविधेय-
त्वाच्च । न च निषेधव्यर्थम् । अवयवबहुतादौ यथाकमप्यावृत्त्या
चारितार्थान् । तदेव ध्वनयन्नाह—फलबलाच्चेति । फलं युक्तमिति ।
तथा दक्षिणोत्तरपूर्वकाणामित्यादाववयवनिषेधेन च प्रत्यये समुदाय-
संज्ञाभावोऽपि फलम् । इन्द्रावयवमात्रे गुन्दरादिविशेषणान्वया-

भाववत् कुत्सादिविवक्षाया अभावः । समुदाये तद्विवक्षायान्तु समुदायोत्तरप्रत्ययेन तद्रुक्तेर्नावयवात्तदुत्पत्तिरिति चिन्त्यमेतत् ।

‘भवतिश्रियाया एव प्राधान्येन तदन्वयस्यैव न्याय्यत्वाच्च’ असें जें मनोरमेंत म्हण्टलें आहे त्याखेरीज असें देखील म्हणतां येतें कीं, प्रकृत सूत्रानें द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवालाच सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे (व सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला नाही) असें मानल्यास, ‘येन विधिस्तदन्तस्य’ सू. १-१-७२ या सूत्रावरील भाष्यांत त्या सूत्राचीं प्रयोजनें सांगतांना भाष्यकारांनीं ‘प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्’, म्हणजे सर्वनामसंज्ञा आणि अव्ययसंज्ञा ही ज्या शब्दांना सांगितली आहे ते शब्द अन्तीं असलेल्या शब्दांनाहि ती संज्ञा होते हें त्या सूत्राचें एक प्रयोजन आहे, असें जें प्रयोजन सांगितलें आहे त्या प्रमाणभूत भाष्यांतील प्रयोजनान्वयें, सर्वनामान्त ‘वर्णाश्रमेतर’ या द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला तदन्तविधीनें सर्वनामसंज्ञा होईल व त्यामुळें ‘वर्णाश्रमेतराणाम्’ असा जो भाष्यांत प्रयोग केला आहे तो अयोग्य ठरण्याची आपत्ति येईल. (प्रकृत सूत्रानें द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे व द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला तदन्तविधीनें प्राप्त होणाऱ्या सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला नाही असें मानलें तर, ‘वर्णाश्रमेतर’ या द्वन्द्वसमासाच्या अन्तीं ‘इतर’ हा सर्वनामसंज्ञक शब्द असल्यामुळें, त्या समुदायाला सर्वनामसंज्ञा होईल व त्याहून होणाऱ्या ‘आम्’ प्रत्ययाला ‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ सू. २१७ या सूत्रानें ‘गुट्’ आगम होऊन ‘वर्णाश्रमेतरेषाम्’ असें रूप होईल व भाष्यांत ‘वर्णाश्रमेतराणाम्’ असा जो प्रयोग केला आहे तो चूक ठरण्याची आपत्ति येईल. ती आपत्ति टाळण्याकरितां द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला तदन्तविधीनें प्राप्त होणाऱ्या सर्वनामसंज्ञेचा प्रकृत सूत्रानें निषेध केला आहे हें मानणें नाग आहे. यावर शंकाकार अशी शंका करतो कीं, प्रकृत सूत्रानें द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध

केला आहे असे मानले असता, 'वर्णाश्रमेतर' या द्वन्द्वसमासाच्या अन्ती असणाऱ्या 'इतर' या सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध होत असल्याकारणाने, 'वर्णाश्रमेतर' हा द्वन्द्वसमासरूप समुदाय सर्वनामान्त आहे असे मानता येत नाही व त्यामुळे त्या समुदायाला तदन्तविधीने सर्वनामसज्ञा होत नाही आणि म्हणून त्या समुदायाहून होणाऱ्या 'आम्' प्रत्ययाला सुडागम होण्याची व 'वर्णाश्रमेतरेषाम्' असा प्रयोग होण्याची आपत्ति मुळीच येत नाही या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की,) 'वर्णाश्रमेतर' या द्वन्द्वसमासाच्या अन्ती असणारा 'इतर' हा शब्द सर्वार्थवाचक नाही असे मानण्यास काहीच प्रमाण नसल्यामुळे, तो शब्द सर्वार्थवाचक नाही असे म्हणता येणे शक्य नाही. (शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, 'वर्णाश्रमेतर' या समुदायातील 'इतर' या अन्त्य पदाला प्रकृत सूत्राने सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला तरी, तो शब्द समासात उपसर्जन झाला नसून, 'उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः' या वचनान्वये, प्रधान असल्यामुळे, त्याचे ठिकाणी जी सर्वार्थवाचकता आहे ती कशी नाहीशी होणार? ती नाहीशी होऊ शकत नसल्याकारणाने, त्या शब्दाचे ठिकाणी सर्वादित्व आहे असे मानणे भाग आहे व तसा सर्वार्थवाचक सर्वादिगणान्तर्भूत 'इतर' हा शब्द द्वन्द्वसमासाच्या अन्ती असल्यामुळे, 'प्रयोजन सर्वनामाव्ययसज्ञायाम्' या प्रमाणभूत भाष्यवचनान्वये त्या समुदायाला तदन्तविधीने सर्वनामसज्ञा होण्याची व 'वर्णाश्रमेतरेषाम्' असे भाष्यविरुद्ध अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला प्रकृत सूत्राने सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला आहे असे मानल्यानेच ती आपत्ति टळते. प्रकृत सूत्रावरील शब्देन्दुशेखरात देखील 'विञ्चावयवमात्रस्य निषेधे वर्णाश्रमेतराणामित्यत्र सर्वार्थवाचकमर्वाद्यन्तत्वेन समुदायमञ्जायां सुहापत्तिः, तस्य सञ्ज्ञानिषेधेऽपि सर्वार्थवाचकसर्वादित्वानपायात् ।' असेच म्हटले आहे. आता सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्याने सर्वार्थवाचकतेचा निषेध आपोआपच सिद्ध होतो असे शका-

कारानें म्हटल्यास, त्यावर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं,)
 'वर्णाश्रमेतर' या द्वन्द्वसमासाच्या अन्तीं असणाऱ्या 'इतर' या
 शब्दाच्या लौकिकव्यवहारांत प्रसिद्ध असलेल्या सर्वार्थवाचकतेचा प्रकृत
 सूत्रानें निषेध करतां येणें शक्य नाहीं. (शब्दरत्नकारांच्या म्हण-
 ण्याचा भावार्थ हा आहे कीं, सर्वादिगणांत पठित असलेल्या शब्दांची
 सर्वार्थवाचकता लौकिकव्यवहारसिद्ध असल्यामुळें, त्यांना 'सर्वनाम-
 संज्ञेचा निषेध केला तरी त्यांची सर्वार्थवाचकता त्या योगानें नाहींशी
 होऊं शकत नाहीं; कारण कितीहि निषेध केलें तरी वस्तुस्थिति
 बदलतां येणें अशक्य आहे हें. 'वचनशतेनापि वस्तुनोऽन्यथाकरणाशक्तेः'
 या न्यायावरून सिद्ध होतें. म्हणून 'वर्णाश्रमेतर' या समुदायाच्या
 अन्तीं 'इतर' हा सर्वार्थवाचक सर्वादिगणान्तर्भूत शब्द असल्यामुळें
 त्या समुदायाला तदन्तविधीनं सर्वनामसंज्ञा होण्याची आपत्ति येते
 व त्यामुळें 'वर्णाश्रमेतरेषाम्' असें अनिष्ट रूप होऊं पाहतें.)
 द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवांचा सर्वादिगणांत पाठ नाहीं
 असें मानावें अशा प्रकारचा प्रकृत सूत्रानें निषेध केला आहे असें
 देखील म्हणणें योग्य नाहीं; कारण तशा प्रकारचा निषेध प्रकृत
 प्रकरणांत आरंभिला नसून प्रकृत सूत्रांत तो विधेयरूपानें सांगितला
 नाहीं. ('वर्णाश्रमेतर' या द्वन्द्वसमासांतील 'इतर' हा अन्त्य शब्द
 प्रधान असून उपसर्जन नसल्यामुळें त्याची स्वभावसिद्ध लोकप्रसिद्ध
 सर्वार्थवाचकता नष्ट होऊं शकत नाहीं. त्यामुळें 'वर्णाश्रमेतर' हा
 समुदाय तदन्तविधीनं सर्वनामसंज्ञक ठरण्याची आपत्ति येते.
 'उपसर्जनीभूता न सर्वादयः' या वार्तिकानें ज्याप्रमाणें उपसर्जन
 झालेले सर्वादि शब्द सर्वादिगणांत पठित नाहींत असें त्या वार्तिकां-
 तील 'न सर्वादयः' या विधेयानें सांगितलें आहे तसें
 'द्वन्द्वावयवीभूता न सर्वादयः' अशा प्रकारें प्रकृत सूत्रानें विधान
 केलें नाहीं. तसें विधान केलें असतें तर, द्वन्द्वसमासावयवीभूत
 सर्वनामं सर्वादिगणांत पठित नाहींत व त्याहून बहिर्भूत
 आहेत असें मानतां आलें असतें. पण तसें विधान केलें नसल्यामुळें,

‘वर्णाश्रमेतरेषाम्’ असे रूप होण्याची, वर सांगितल्याप्रमाणे जी आपत्ति येते ती टाळण्याकरिता हे मानणे भाग आहे की, प्रकृत सूत्राने सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला आहे. ‘द्वन्द्वावयवीभूता न सर्वादय’ असा जर सर्वादिगणात) सर्वनामसज्ञानिषेधक पाठ केला असता तर तो व्यर्थ ठरला असता असे म्हणता येत नाही, कारण तसा पाठ केला असता तर, द्वन्द्वममासातील सर्वनामरूप अवयवाहून त्या अवयवाची कुत्सा बोधित करणारा ‘अकच्’ प्रत्यय झाला नसता व अशा रीतीने तो निषेधक पाठ चरितार्थ ठरला असता (पण तसा निषेधक पाठ न करिता ‘द्वन्द्वे च’ हे निषेधक सूत्र केले असल्यामुळे त्यावरून हे स्पष्ट होते की, द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञानिषेध होणे अभिप्रेत नसून द्वन्द्वसमासरूप समुदायालाच सर्वनामसज्ञानिषेध होणे अभिप्रेत आहे) आणि हे ध्वनित करण्याच्या हेतूनेच ‘फलप्रलाच्च समुदायग्रहणमेवोचितम्’ असे मनोरमैत म्हटले आहे. ‘यद्यपि त्यच्छब्दस्तान्त इति पक्षेऽवयवनिषेधेऽपि फल सुवचम्’ असे जे मनोरमैत म्हटले आहे त्याखेरीज, द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्याने ‘दक्षिणोत्तरपूर्वकाणाम्’ इत्यादि द्वन्द्वसमासांत ‘पूर्व’ या अवयवाला कुत्सार्थक (‘अवच्’ प्रत्यय न होता) ‘व’ प्रत्यय होऊन त्यायोगाने द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला जी (तदन्तविधीने) सर्वनामसज्ञेची प्राप्ति होती ती देखील (गामागिवाद्द्वन्द्वसमासरूप समुदायाच्या अन्ती सर्वनामसज्ञा नसणारा ‘इतरव’ हा ‘व’ प्रत्ययान्त शब्द येत असल्यामुळे) होऊ शकत नाही, असेहि पण दाखविता येते (आता ‘यद्यपि . . . फल सुवचम्’ असे जे मनोरमैत म्हटले आहे त्या मताचे सन्दर्भाने ‘द्वन्द्वावयवमात्रे . . . इति चिन्तयमेतत्’ या पुढील पक्कीत गण्डन करिता) द्वन्द्वसमासातील केवळ अवयवाचे ‘गुन्दर’ इत्यादि शब्द जसे विशेषण मानता येत नाहीत व त्या शब्दांपा त्या अवयवांना विशेषणरूपाने जगा अन्वय करता येत नाही (व समुदायाचेच

‘सुन्दर’ इत्यादि शब्द विशेषण मानतां येतात व त्यांतच विशेषणरूपानें अन्वित होतात) त्याचप्रमाणें द्वन्द्वसमासांतील अवयवाचे ठिकाणीं कुत्सा इत्यादि अर्थाची विवक्षा नसते, म्हणजे द्वन्द्वसमास केल्यावर द्वन्द्वसमासांतील अवयवाहून कुत्साद्यर्थक प्रत्यय करतां येत नाही व तसा प्रत्यय समुदायाहूनच करतां येऊं शकतो, असें मानलें पाहिजे. समुदायाचे ठिकाणीं कुत्सा इत्यादि अर्थाची विवक्षा असल्यास, समुदायाहून कुत्साद्यर्थक प्रत्यय केला असतां, त्या प्रत्ययानें त्या समासांतील अवयवांची देखील कुत्सा बोधित होत असल्यामुळें, पुन्हा अवयवाहून कुत्साद्यर्थक प्रत्यय करतां येऊं शकत नाही आणि म्हणून ‘अवयवनिषेधेऽपि फलं सुवचम्’ असें जें मनोरमैतं म्हटलें आहे तें बरोबर आहे असें मानतां येत नाही. (‘सुन्दररामलक्ष्मणी’ या द्वन्द्वसमासांतील ‘सुन्दर’ हा शब्द केवळ राम किंवा लक्ष्मण या अवयवाचें विशेषण होऊं शकत नाही. तो शब्द ‘रामलक्ष्मणी’ या समुदायाचेंच विशेषण होऊं शकतो. तसेंच ‘रामलक्ष्मणी’ असा द्वन्द्वसमास केल्यावर त्या समासांतील एकाच अवयवाचें सुन्दरत्व बोधित करण्याकरितां ‘सुन्दरः’ या विशेषणाचा प्रयोग करतां येत नाही. त्याचप्रमाणें द्वन्द्वसमासांतील अवयवांची कुत्सा बोधित करण्याकरितां त्या समासांतील अवयवांहून कुत्सा-बोधक प्रत्यय करतां येत नाही. तसा प्रत्यय समुदायाहूनच करतां येतो व समुदायाहून तसा प्रत्यय केला असतां, तो प्रत्यय समासांतील प्रत्येक अवयवाची कुत्सा बोधित करणारा ठरत असल्यामुळें, ‘उक्तार्थानामप्रयोगः’ या न्यायान्वयें, पुन्हा अवयवांहून कुत्साबोधक प्रत्यय करतां येत नाही. सारांश द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवांहून कुत्साद्यर्थबोधक प्रत्यय करतां येऊं शकत नसल्यामुळें, ‘अवयवनिषेधेऽपि फलं सुवचम्’ असें जें मनोरमैतं म्हटलें आहे तें म्हणणें योग्य ठरत नाही. म्हणून द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवांना सर्वनामसंज्ञेचा निषेध करून कोणतेंहि फल निष्पन्न होत नसल्यामुळें, सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासरूप समुदायालाच प्रकृत सूत्रानें

सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे हेंच मानणें योग्य ठरतें असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. आणखी असे की, सर्वादिगणांत 'त्वत्' असा तान्त शब्द पठित आहे असा पक्ष मानून दीक्षितानी 'अवयवनिषेधेऽपि फलं सुवचम्' असे म्हटलें आहे. पण तसा तान्त पाठ अनेक वैयाकरणांच्या मते अप्रामाणिक असल्यामुळे, 'अवयवनिषेधे फलाभावः' असेच मानणे उचित ठरते.)

शब्दरत्न-समुदायनिषेधे तु द्वन्द्वस्य संज्ञिनोऽधिकरणस्व-
विवक्षया सप्तमी बोध्या । यद्वा इय सप्तमी प्रथमार्ये । "अकच्स्वरी
तु कर्तव्यौ प्रत्यज्ञं मुक्तसंशयो" इति भाष्योक्तंतत्प्रकरणविषय-
स्मृत्यन्तरेण, तद्विषये "न बहुव्रीहौ" इत्येतत्साहचर्येण वा एत-
त्प्रकरणस्यसप्तमीनिर्देशानां तदर्थकत्वौचित्यात् । किं च "विभाषा
जसि" इत्यनेन फलाभावादवयवनिषेधाभावे तत्साहचर्येणार्थाधिका-
रानुरोधेन च "द्वन्द्वे च" इत्यस्याप्यवयवनिषेधकत्वाभावः । एतेन
सप्तमीनिर्देशसामर्थ्याद्, बहुलस्यसंस्कारानुरोधाच्च विद्यमानानीत्य-
ध्याहारेण समुदायस्यावयवानां चार्थ निषेधः । तत्र समुदायस्य
व्यपदेशिवद्भावेन निषेधः । आधाराधेयभावेऽपि व्यपदेशिवद्भावस्य
"अनद्यतने लङ्" "तुल्यास्य" "प्रत्ययस्यात्" इत्यादिसूत्र-
स्यभाष्यादौ स्पष्टत्वात् । तत्फलं च वर्णाश्रमेतराणामित्यादाववय-
यसर्वनामत्वप्रयुक्तोऽपि नाकजित्यपास्तम् । इतरकशब्देन समासेऽ
तिभयकानित्यादाविय तच्छ्रवणस्य दुर्वारत्वेन तन्निषेधे फलाभावाच्चेति
दिक् । श्यावृत्येति । समुदायात्प्राप्तस्येति शेषः ।

प्रकृत मूत्रानें द्वन्द्वरूप समुदायाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला
आहे असे मानले असता, या पक्षामध्ये 'द्वन्द्वे' ही सप्तमी, संज्ञी
जो द्वन्द्व त्याचे ठिकाणी अधिकरणाची विवक्षा करून, म्हणजे तो
सर्वनामसंज्ञानिषेधाचे अधिकरण आहे असे मानून, केली आहे असें
समजावे. किंवा 'द्वन्द्वे' ही सप्तमी प्रथमेच्या अर्थाची वाचक आहे
असे मानावें. (असें मानले असता, 'द्वन्द्वे' = द्वन्द्वस्य सर्वनामसंज्ञा

न भवति' किंवा 'द्वन्द्वः सर्वनामसंज्ञको न भवति' असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होऊन दोन्ही प्रकारच्या वाक्यांचा सारखाच अर्थ होतो.) सर्वनामसंज्ञानिषेधक प्रकरणामध्ये ('न बहुव्रीही' १-१-२९ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं) 'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' असें जें स्मृतिरूप वचनान्तर पठित केलें आहे त्या वचनाच्या आधारेणें किंवा 'न बहुव्रीही' या सूत्राच्या साहचर्यरूप सामर्थ्यामुळें, सर्वनामसंज्ञानिषेधक प्रकरणांत सप्तमीचा निर्देश करून जीं सूत्रें पठित केलीं आहेत त्या सूत्रांतील सप्तमी 'प्रथमा विभक्तीची वाचक आहे असें मानून त्या सूत्रांचा अर्थ करणें उचित आहे. (बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला, कोणताहि संशय मनांत न धाळणतां, अकच् प्रत्यय करावा असें 'न बहुव्रीही' या सूत्रावरील भाष्यांत म्हटलें असल्यामुळें, 'न बहुव्रीही' या सूत्राचा 'बहुव्रीही यानि सर्वादीनि तेषां सर्वनामसंज्ञा न भवति' असा अर्थ करतां येत नाही; कारण तसा अर्थ केल्यास, बहुव्रीहिसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाहून, त्यांची त्या अर्थान्वये सर्वनामसंज्ञा नाहीशी होत असल्यामुळें, 'अकच्' प्रत्यय करतां येणें शक्य नाही, आणि म्हणून 'बहुव्रीही' हें सप्तम्यन्त पद प्रथमेच्या अर्थाचें. वाचक मानून 'बहुव्रीहिः सर्वनामसंज्ञको न भवति' असा त्या सूत्राचा अर्थ करणें उचित ठरतें. त्याचप्रमाणें प्रकृत सूत्र देखील सर्वनामसंज्ञानिषेधक प्रकरणांत पठित असून 'न बहुव्रीही' या सूत्राच्या जवळ तें पठित केलें असल्यामुळें, त्या सूत्राच्या साहचर्यानें प्रकृत सूत्रांतील 'द्वन्द्वे' ही सौत्र सप्तमी 'व्यत्ययो बहुलम्' सू. ३४३३ या सूत्राच्या आधारेणें प्रथमेच्या अर्थाची वाचक मानून 'द्वन्द्वः सर्वनामसंज्ञको न भवति' असाच प्रकृत सूत्राचा अर्थ करणें योग्य ठरतें. तसा अर्थ केला असतां, द्वन्द्वसमासरूप समुदायालाच सर्वनामसंज्ञेचा निषेध होतो व त्या समासांतील सर्वनामरूप अवयवाला तो निषेध लागू पडत नाही हें उघड होतें.) दुसरें असें कीं, 'विभाषा जसि' सू. २२५ या सूत्रानें द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अवयवाला सर्व-

नामसज्ञेचा विकल्पेकरून निषेध केला आहे असे मानल्याने कोणतेहि फल निष्पन्न होत नसल्यामुळे, अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केला नाही असेच मानले पाहिजे व (प्रकृत सूत्र 'विभाषा जसि' या सूत्राच्या लगेच पूर्वी पठित असून त्या उत्तर सूत्रात अनुवृत्त होत असल्यामुळे) त्या उत्तर सूत्राच्या साहचर्यसामर्थ्याने आणि तसेच अर्थाधिकाराच्या अनुरोधाने हेच निष्पन्न होते की, 'द्वन्द्वे च' या प्रकृत सूत्राने द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध होत नाही (व सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासालाच प्रकृत सूत्राने सर्वनामसज्ञेचा निषेध होतो. 'विभाषा जसि' या सूत्राने, सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासापुढे 'जस्' प्रत्यय आला असता, जे विकल्पेकरून सर्वनामसज्ञा होण्याचे विधान केले आहे ते, द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला लागू पडणारे विधान नसून, द्वन्द्वसमासरूप समुदायालाच लागू पडणारे विधान आहे; कारण 'जस्' प्रत्यय द्वन्द्वसमासरूप समुदायाहूनच होत असून त्या समासातील सर्वनामरूप अन्त्य अवयवाहून होत नाही, आणि त्या सूत्राच्या लगेच मागे प्रकृत सूत्र पठित असल्यामुळे त्या सूत्राच्या साहचर्यसामर्थ्याने हेच मानणे उचित आहे की, त्या उत्तर सूत्रासारखेच प्रकृत सूत्र देखील द्वन्द्वसमासरूप समुदायासवधानेच, म्हणजे त्या समुदायाला सर्वनामसज्ञा न व्हावी याचेच, विधान करणारे भूत आहे दुसरे असे की, 'विभाषा जसि' या उत्तर सूत्रात प्रकृत सूत्राची अनुवृत्ति होते व ती अनुवृत्ति शब्दाधिकारानुरोधाने होत नसून अर्थाधिकारानुरोधाने होते असेच मानले पाहिजे; कारण जेव्हा अर्थाधिकार मानून अनुवृत्ति करणे शक्य तेव्हा शब्दाधिकार मानून अनुवृत्ति करणे अयोग्य आहे असा सिद्धान्त आहे व या सिद्धान्ताच्या आपारे हेच मानले पाहिजे की, 'द्वन्द्वे च' या प्रकृत सूत्राचा जसा अर्थ आहे त्या अर्थाला घटूनच त्या सूत्राची 'विभाषा जसि' या सूत्रात अनुवृत्ति झाली आहे व त्या अर्थाचा परित्याग करून वेगळी शब्दाची अनुवृत्ति झाली नाही असे मानले असता, 'विभाषा जसि' या

सूत्राचा, वर सांगितल्याप्रमाणें, इष्ट अर्थ सिद्ध होण्याकरितां हेंच मानणें भाग आहे कीं, त्या सूत्रांत अर्थाधिकारानुरोधानें अनुवृत्त होणारें प्रकृत सूत्र द्वन्द्वसमासरूप समुदायालाच सर्वनामसंज्ञेचा निषेध करणारें सूत्र आहे. तसें न मानतां तें सूत्र अवयवनिषेधक आहे असें मानल्यास, त्या सूत्राच्या अर्थानुपूर्वक अनुवृत्तिसामर्थ्यानें 'विभाषा जसि' हें सूत्र देखील द्वन्द्वसमासांतील सर्वनामरूप अन्य अवयवाला 'जस्' प्रत्यय पुढें आल्यास विकल्पेंकरून सर्वनामसंज्ञा होण्याचें विधान करणारें सूत्र आहे असा त्या सूत्राचा अनिष्ट अर्थ होण्याची आपत्ति येईल. ती आपत्ति टाळण्याकरितां प्रकृत सूत्र सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध करणारें सूत्र आहे असेंच मानणें भाग आहे. आता प्रकृत सूत्रासंबंधानें खण्डनकाराचें असें म्हणणें आहे कीं, प्रकृत सूत्रांत 'द्वन्द्वस्य' असा षष्ठीनिर्देश न करितां 'द्वन्द्वे' असा) सप्तमीनिर्देश केला असल्यामुळे त्या निर्देशाच्या सामर्थ्यानें व तसेंच तें सूत्र अनेक लक्ष्यांना लागू पडावें याकरितां, 'विद्यमानानि' हें पद अध्याहृत केल्यानें, द्वन्द्वरूप समुदायाला व तसेंच त्या समुदायांतील सर्वनामरूप अवयवांना सर्वनामसंज्ञेचा निषेध सिद्ध होतो. व्यपदेशिवद्भावानें समुदायाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध लागू पडतो; कारण 'अनद्यतने लङ्' सू. ३-२-१११, 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सू. १-१-९, 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य' सू. ७-३-४४ इत्यादि सूत्रांवरील भाष्यांवरून हें स्पष्ट होतें कीं, आधारावयव-भावाला देखील व्यपदेशिवद्भाव लागू पडतो, म्हणजे 'व्यपदेशिव-देकस्मिन्'-परि. ३०-ही परिभाषा लागू पडते, व अशा रीतीनें सर्वनामान्त द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला व त्यांतील सर्वनामरूप अवयवाला प्रकृत सूत्रानें सर्वनामसंज्ञेचा निषेध केला आहे असें मानल्यानें, 'वर्णाश्रमेतराणाम्' इत्यादि स्थलीं द्वन्द्वसमासांतील अन्वयावयव 'इतर' या शब्दाहून सर्वनामसंज्ञेच्या निमित्तामुळे होणारा 'अकच्' प्रत्यय देखील होत नाही हें फल सिद्ध होतें. पण प्रकृत सूत्राचें वर जसें व्याख्यान केले आहे त्या व्याख्यानानें हें

बरील म्हणणे खण्डित होते. (खण्डनकाराच्या म्हणण्याचा असा आधार आहे की, जर द्वन्द्वरूप सर्वनामान्त समुदायालाच सर्वनामसज्ञानिपेक्ष होणे पाणिनीला अभिप्रेत असते तर पाणिनीने प्रकृत सूत्रात पष्ठीनिर्देश करून 'द्वन्द्वस्य च' असे सूत्र पठित केले असते व त्यायोगाने प्रकृत सूत्राचा 'द्वन्द्वस्य सर्वनामसज्ञानं न भवति' असा स्पष्ट अर्थ झाला असता परंतु पाणिनीने प्रकृत सूत्रात 'द्वन्द्वे' असा आधारसप्तमीचा निर्देश केला असल्यामुळे, या सूत्रात आधाराधेयभाव व्यक्त करणारे 'विद्यमानानि' हे पद अध्याहृत करणे उचित आहे व ते पद अध्याहृत केल्याने, द्वन्द्वरूप समुदाय हा आधार असून त्या समुदायातील पदे ही आधेय असल्यामुळे, 'द्वन्द्वे विद्यमानानि यानि सर्वादीनि तानि सर्वनामसज्ञकानि न भवन्ति' असा सूत्रार्थ होतो एवढेच नव्हे तर व्यपदेशिवद्भावाने द्वन्द्व हा आधार व द्वन्द्व हाच आधेय मानल्यास, द्वन्द्वसमासाला देखील सर्वनामसज्ञेचा निषेध होता अशा रीतीने प्रकृत सूत्रातून अधिक अर्थ निघत असून ते सूत्र अधिक लक्ष्यसंस्कारक व व्यापक होत असल्यामुळे, म्हणजे सर्वनामसज्ञानिपेक्षाकरिता प्रकृत सूत्राला द्वन्द्वसमास व त्यातील पदे ही दोन्ही प्रकारची लक्ष्ये मिळत असल्यामुळे, आधारसप्तमीनिर्देशाच्या सामर्थ्याने प्रकृत सूत्राचा घर जसा व्यापक अर्थ केला आहे तसाच अर्थ करणे इष्ट आहे. आतां जेथे आधार त्यात राहणाऱ्या आधेयाहून भिन्न आहे तशाच ठिकाणी आधाराधेयभाव मानता येतो आणि म्हणून जरी द्वन्द्वसमास त्यात विद्यमान असणाऱ्या पदांचा आधार मानता येतो तरी द्वन्द्वसमास हाच द्वन्द्वसमासाचा आधार मानता येत नाही आणि त्यामुळे द्वन्द्वसमासाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध सिद्ध होऊ शकत नाही अशी कोणी शका केल्यास, त्या शकेवर खण्डनकाराचे असे उत्तर आहे की, जरी आधार व आधेय एकच असले तरी त्यांच्यात भेद आरोपित केल्याने व्यपदेशिवद्भावाने आधाराधेयभाव मानता येतो. जसे एकाच सोलीचे घर असल्यास घर जरी सोलीहून भिन्न नाही तरी,

‘घरांतील खोली’ असा लौकिक व्यवहारांत ज्याप्रमाणें प्रयोग होतो त्याचप्रमाणें प्रकृत स्थलीं देखील समजावें. आधार व आधेय एकच असून देखील तशा स्थलीं व्यपदेशिवद्भावेन आधारआधेयसंबंध कल्पितां येतो या मताचें समर्थन करण्याकरितां खण्डनकारानें तीन सूत्रांवरील भाष्यांचें प्रमाण दिलें आहे. प्रथम सूत्र ‘अनद्यतने लङ्’ हें होय. त्या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं ‘न विद्यते अद्यतनः अस्मिन् सः अनद्यतनः तस्मिन् अनद्यतने’ असा बहुव्रीहिसमास करून त्याचें प्रयोजन सांगतांना ‘अथ च ह्यश्वाऽमुष्महीति व्यामिश्रे लुङेव यथा स्यात्’ असें म्हटलें आहे. यावरं पूर्वपक्षीनें ‘यद्देवमद्यतनेऽपि लङ् प्राप्नोति । न ह्यद्यतनेऽद्यतनो विद्यते ।’ अशी शंका केली असतां, भाष्यकार असें उत्तर देतातः— ‘अद्यतनेऽपि ह्यद्यतनो विद्यते । कथम् ? । व्यपदेशिवद्भावेन ।’ या भाष्यांतील ‘व्यपदेशिवद्भावेन’ या पदाचें व्याख्यान करितांना कैयटानें ‘यथा मुख्ये भेद आधाराधेयभावो भवति तटे तिष्ठतीति, तथेहापि समुदायाधेयभेदाश्रयेण समुदायेऽद्यतनेऽवयवा अद्यतनाः सन्तीत्यनद्यतनो न भवतीत्युच्यते ।’ असें म्हटलें आहे. द्वितीय सूत्र ‘तुल्यास्यप्रयत्नं सर्वणम्’ हें होय. या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात— ‘सर्वमुखस्थानमवर्णमेक इच्छन्ति । एवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पत आस्ये येषां तुल्यो देश इति । व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति ।’ या भाष्याचा अर्थ हा आहे कीं, कित्येक असें म्हणतात कीं, सगळेंच मुख हें ‘अ’ वर्णाचें स्थान होय. पण असें मानल्यास मुखामध्ये ज्यांचा तुल्य देश आहे हा व्यवहार जुळू शकणार नाही अशी कोणी शंका केल्यास, या शंकेवर भाष्यकार असें उत्तर देतात कीं, ‘व्यपदेशिवदेकस्मिन्’ या परिभाषान्मये तसा व्यवहार जुळण्यांत, म्हणजे व्यपदेशिवद्भावेन मुख हेंच आधार व मुख हेंच आधेय मानलें असतां, कांहीं अडचण येत नाही. ‘प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य’ हें तृतीय सूत्र होय. या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं असा प्रश्न केला आहे कीं, ‘कात्’ या

पदानें 'क' या सघाताचे ग्रहण होते किंवा वेवळ ककार या वगचि ग्रहण होणे. सघाताचे ग्रहण होते असे मानल्यास, जेथें 'क' प्रत्यय झाला आहे तेथें त्या 'क' प्रत्ययाला प्रत्ययस्य 'क' कसे म्हणता येईल? यावर भाष्यकाराचा आशय स्पष्ट करिताना कंयटानें 'स्यग्रहणे तु क्रियमाणे सर्वत्र भवति, प्रत्ययस्यापि व्यपदेशिवद्भावेन प्रत्ययस्यत्वात्' असे म्हटले आहे. साराश वरील तोन्ही भाष्यावरून हे स्पष्ट होते की, जेथें आधार व आधेय एवच आहे तेथें देखील व्यपदेशिवद्भावानें आधाराधेयसंबध गोणोपचारानें कल्पिता येतो व तसा संबध द्वन्द्वसमासाचे ठिकाणी कल्पित्यानें द्वन्द्वसमासाला देखील सर्वनामसज्ञेचा निषेध सिद्ध होतो असे खण्डनकाराचे म्हणणे आहे. यावर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, द्वन्द्वसमासातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्यानें कोणतेहि फल निष्पन्न होत नाही हे वर सिद्ध करून दाखविले असल्यामुळे, खण्डनकारानें 'द्वन्द्वे' ही आधारसप्तमी मानून प्रकृत सूत्रानें द्वन्द्वसमासरूप समुदायाला व तसेच त्या समुदायातील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध होतो असे जें सिद्ध करून दाखविले आहे तसे वरण्यात काहीच फायदा नाही व तसे करण्याची काही गरजहि नाही. 'द्वन्द्वे' ही प्रथमार्थक सप्तमी मानून पूर्वी जसा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तसा अर्थ केल्यानें सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होत असल्यामुळे, तसाच अर्थ करणे योग्य आहे असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे) दुमरे असे की, ('अकन्तवरी तु कर्तव्यी प्रत्यङ्ग भुवत्सशयी' या भाष्यवचनान्वये अन्तरङ्गत्वामुळे 'इतर' शब्दाहून प्रथम 'अकच्' प्रत्यय करून 'इतरक' असे जें रूप होते त्या) 'इतरक' शब्दाशी ('वर्णाधिम' या शब्दाचा) द्वन्द्वसमास केल्यानें, 'अतिभवकान्' इत्यादि स्थली जसे 'अकच्' प्रत्ययाचे श्रवण होते तसेच, ('वर्णाधमेतरका.' या) द्वन्द्वसमासात 'अकच्' प्रत्ययाचे श्रवण होणे हे टाळता येणे अशक्य आहे. म्हणून अवयवाला सर्वनामसज्ञेचा निषेध केल्यानें काहीच

फल निष्पन्न होत नाहीं हें उघड होतें. ('भवत्' या सर्वनामा-
हून 'अकच्' प्रत्यय केला असतां 'भवकत्' असें रूप होतें व
'भवकन्तमतिक्रान्तः अतिभवकान्' असें प्रथमेच्या एकवचनाचें रूप
होऊन त्यांत जसें 'अकच्' प्रत्ययाचे स्पष्ट श्रवण होतें त्याचप्रमाणें
'इतर' या सर्वनामाहून प्रथम 'अकच्' प्रत्यय करून नंतर द्वन्द्व-
समास केला असतां, 'वर्णाश्रमेतरकाः' असें जें सामासिक रूप होतें
त्यांत देखील 'अकच्' प्रत्ययाचें श्रवण होतेंच. म्हणून द्वन्द्वसमासां-
तील सर्वनामरूप अवयवाला सर्वनामसंज्ञेचा निषेध करून कांहींच
फायदा नाही आणि 'आम्' प्रत्यय 'इतरक' या सर्वनामाहून
झाला नसून सर्वनामसंज्ञक नसणाऱ्या समुदायाहून झाला असल्यामुळे
च सुडागमाच्या विषयांत विहितविशेषणपक्ष मानला असल्यामुळे,
सुडागमाचीं निवृत्ति होतेच असें शब्दरत्नकारांचें म्हणणें आहे.)
'व्यावृत्त्या चरितार्थत्वात्' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्यापूर्वीं
'समुदायात् प्राप्तस्य' हीं पदे अध्याहृत आहेत, म्हणजे 'अनाङ्गस्य
समुदामात् प्राप्तस्य अतसिलादेव्यावृत्त्या चरितार्थत्वात्' अशी ती
मनोरमेंतील पंक्ति वाचावी. (या विषयाचें विवरण मनोरमेंत पूर्वीं
केलेंच आहे.)

मनोरमा-जसाधारमिति । यद्यपि शीभावेन जस् अपह्रियते
तथाऽपि औपचारिकमाधारत्वं बोध्यम् । यद्वा । जसः, इः जसिः,
तस्मिन् । सौत्रः सप्तम्या लुक्, इत्यर्थतो व्याचष्टे-जसाधारमिति ।

('विभाषा जसि' सू. २२५ या सूत्रावरील कौमुदींत 'जसाधारं
यत्कार्यं शीभावाख्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात्' असें जें
व्याख्यान केलें आहे त्यांत 'जसाधारम्' हें पद कां घातलें आहे
याचें कारण दीक्षित सांगतात. 'जसःशी' सू. २१४ या सूत्रानें)
'जस्' प्रत्ययाचे जागीं 'शी = ई' हा आदेश केला असतां, जरी
'जस्' प्रत्यय नाहींसा होतो तरी, 'जस्' स्थानिक, म्हणजे 'जस्'
प्रत्ययाचे जागीं, 'शी' आदेश होत असल्यामुळे, 'जस्' प्रत्यय हा

‘शी’ कार्याचा गौण विद्या आरोपित व्यवहारानें आधार मानता येतो हे जाणावे (प्रवृत्त सूत्रात ‘जसि’ या आधारसप्तमीचा निर्देश केला असल्यामुळे, दीक्षितानी त्या पदाचा ‘जसाधार शीभावे कर्तव्ये’ असा अर्थ करावा लागला वास्तविक स्थानी व आदेश या दोहोत निवर्त्यनिवर्तकभावरूप सवध असतो त्याच्यात आधाराधेयभावरूपसवध संभवत नाही, कारण तसा सवध असण्याकरिता आधार व आधेय हे दोन्ही आपापल्या स्वरूपानें युगपत् विद्यमान असावे लागतात तथापि येथें कल्पित किंवा आरोपित आधाराधेयभाव मानून दीक्षितानी ‘जसि’ या आधारसप्तमीचे वसे तरी समर्थन केले आहे पण हे समर्थन समाधानकारक न मानल्यास, दीक्षित ‘जसि’ या पदाचा दुसऱ्या रीतीनें अर्थ करितात) अथवा ‘जस इ जसि तस्मिन्’ असा या ‘जसि’ पदाचा विग्रह करून व येथें सप्तमीविभक्तीचा सौत्रलुक् झाला आहे असे मानून सूत्रार्थ करावा आणि हा आशय मनात धरूनच प्रकृत सूत्राचे कौमुदीत ‘जसाधार यत् शीभावाख्य कार्यं वा स्यात्’ असे व्याख्यान केले आहे (प्रकृत सूत्रातील ‘जसि’ या पदाचा ‘जस इ तस्मिन्’ असा विग्रह केल्यानें व सप्तमीच्या प्रत्ययाचा सौत्र लुक् झाला आहे असे मानल्यानें, ‘जसि’ या पदाचा ‘जस स्थाने इकारे कार्ये कर्तव्ये = जस स्थाने जस शी इति सूत्रेण शी इति आदेशरूपे कार्ये कर्तव्ये’ असा अर्थ होतो आणि म्हणून दीक्षितानी तसा विग्रह सूत्रार्थ स्पष्ट होण्याकरिता केला आहे)

शब्दरत्न-यद्यपीति । जसोत्याधारसप्तमीति भाव । जस इरिति । इकारेण ईकारग्रहण बोध्यम् ।

‘यद्यपि शीभावेन आधारत्व बोध्यम्’ असे जें मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, ‘जसि’ ही आधारसप्तमी आहे (आणि म्हणूनच दीक्षितानी त्या पदाचा ‘जसाधार यत् शीकार्यं तस्मिन् कर्तव्ये’ असा कौमुदीत अर्थ केला

आहे.) 'जसः इः' असा जो 'जसि' या पदाचा विग्रह करून भिन्न तऱ्हेनें दीक्षितांनीं अर्थ केला आहे त्या विग्रहांतील इकारानें दीर्घ ईकारानें ग्रहण होतें असें समजावें. ('जसःशी' सू. २१४ या सूत्रानें 'जस्' चे जागीं ऋस्व इकारादेश होत नसून दीर्घ ईकारादेश होतो; परंतु इवर्णानें अठराहि प्रकारच्या इवर्णांचें ग्रहण होत असल्यामुळे, येथें इकारानें 'जसःशी' या सूत्रानें होणाऱ्या दीर्घ ईकाररूप आदेशाचें ग्रहण करतां येतें.)

मनोरमा—“जराया जरसन्यतरस्याम्” ॥ विभक्ताविति । एतच्च “अष्टन आविभक्तौ” इत्यतोऽनुवर्तते । तेन जराया इदं जारमित्यादौ नातिव्याप्तिरिति भावः । पदेति । पदमङ्गं च विशेष्यम् विशेषणेन च तदन्तविधिरिति भावः । तदनुसारिभिरिति । इनातोः पूर्वविप्रतिषेधे एकसूत्रोपात्तत्वात् स्यादेशोऽपि ग्रहितुमुचित इति तेषामाशयः । अतएव—

वीतजन्मजरसः परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपेतुमिच्छताम् ॥

इति भारविप्रयोगसमञ्जसमिति मत्वा वीतजन्मजरस इति पठनीयमिति संशुक्तम् । एतच्चेति । भाष्यकृता हि “टाड्सि” इति सूत्रे इनातो प्रत्याख्याय नादेशमवादेशं च विधाय नादेशे परे एत्वं योगविभागेन साधितम् । “बहुवचने श्लत्येत्” “ओसि च” तत “आडि” आडि च परेऽत एत्वं स्यात् । रामेण । तत “आपः संवृद्धौ च” एकारः स्यात् संवृद्धौ आडि ओसि च । त चैवमनेनेत्यत्र हलि लोपः स्यादिति वाच्यम् । अनादेशस्य नकारे परे विशिष्य विधानात् । तथा हि । “अनापि” नकारे आपि च परेऽन् स्यादित्यर्थः । सूत्रे अ, इति नान्तस्य नपुंसकनिर्देशः । न च ङसेरदादेश कृते पररूपं स्यादिति वाच्यम् । अकारोच्चारणसामर्थ्यादीर्घसम्भवादिति । तथा च “जराया जरसन्यतरस्याम्” इति सूत्रे उपपत्तम् । गोमर्दोपस्थाह—अतिजरैरिति भवितव्यं सन्निपातपरिभाषयेति । एवं च पूर्वविप्रतिषेधेनेत्यादि सर्वं भाष्यविरुद्धमित्यर्थः ।

‘जराया जरसन्यतरस्याम्’ सू २२७ या सूत्रात ‘अष्टन
 आ विभक्तौ’ या पूर्वसूत्रातून ‘विभक्तौ’ हे पद अनुवृत्त होते
 (व ‘अचि र ऋत’ या पूर्वसूत्रातून ‘अचि’ या पदाची अनुवृत्ति
 होत असून ते पद ‘विभक्तौ’ याचे विशेषण होत असल्यामुळे,
 ‘यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे’-परि ३३-या परिभाषान्वये त्या
 अनुवृत्त पदाचा ‘अजादौ’ असा अर्थ होतो अशा रीतीने
 ‘विभक्तौ’ व ‘अचि = अजादौ’ ही दोन पदे प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त
 होत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्राचे कीमुदीत ‘जराशब्दस्य जरस वा
 स्यादजादौ विभक्तौ’ असे व्याख्यान केले आहे) त्यामुळे ‘जराया
 इद जारम्’ इत्यादि स्थली अतिव्याप्तिरूप दोष येत नाही, म्हणजे
 ‘जरा’ या शब्दाचे जागी जरसादेश होण्याची आपत्ति येत नाही,
 असा भावार्थ आहे (‘जराया इद जारम्’ या स्थली ‘तस्येदम्’
 सू १५०० या अर्थामध्ये ‘जरा’ या शब्दाहून जरी ‘अण्’ हा
 अजादि प्रत्यय होतो तरी तो तद्धित् प्रत्यय असून विभक्तिप्रत्यय
 नसल्यामुळे, ‘जरा’ या शब्दाचे जागी ‘जरस्’ आदेश होत नाही)
 ‘पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च’-परि २९-या परिभाषेतील
 ‘पद’ व ‘अङ्ग’ हे शब्द विशेष्य असून विशेषणाहून तदन्तविधि
 होतो असा भावार्थ आहे (वरील परिभाषेतील ‘अङ्ग’ हे पद विशेष्य
 होत असून अङ्गाधिकारात पठित असलेल्या सूत्रात निदिष्ट असलेले
 कार्य, म्हणजे ज्यांना कार्य होणे सांगितले आहे ते शब्द, ‘अङ्ग’
 या विशेष्याचे विशेषण होतात आणि त्यामुळे ‘विशेषण तदन्तस्य
 सज्ञा स्यात्’ या अर्थाच्या वाचक ‘येन विधिस्तदन्तस्य’ सू २९ या
 सूत्राने विशेषणाला तदन्तविधि होतो त्यामुळे ज्या अङ्गाच्या शेवटी
 ‘जरा’ शब्द आहे तशा अङ्गापुढे देखील अजादि विभक्तिप्रत्यय
 आला असता ‘जरा’चे जागी ‘जरस्’ आदेश होतो उदाहरणार्थ
 ‘निगंता जरा यस्मात् स निजर’ अशा रीतीने सिद्ध झालेल्या
 ‘निजर’ शब्दाहून ‘ओ’ हा अजादि विभक्तिप्रत्यय केला असता,
 ‘निजर ओ’ या स्थली जरी ‘जरा’ एवढेच अङ्ग नसून ‘निजर’

हैं अङ्ग आहे तरी, त्या अङ्गाच्या शेवटी 'जर' असा 'गोस्त्रियो-
 रुपसर्जनस्य' सू. ६५६ या सूत्राने न्हस्व झालेला एकदेशविकृत
 शब्द असून तो 'एकदेशविकृतमन्यवत्'—परि. ३७—या परिभाषा-
 न्वये 'जरा'च आहे असें मानतां येत असल्यामुळे, 'जर'चे जागीं
 विकल्पें करून 'जरस्' आदेश होतो व 'निर्जरौ, निर्जरसौ' इत्यादि
 पाक्षिक रूपें सिद्ध होतात.) 'तदनुसारिभिश्च षष्ठ्येकवचने निर्जरस्य
 इत्येव रूपमिति स्वीकृतम्' असें जें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत म्हटलें
 आहे त्याचा आशय हा आहे कीं, ('टाडसिङ्सामिनात्स्याः' सू.
 २०१ या सूत्रांत निर्दिष्ट असलेले) 'इन, आत्' हे आदेश जसे
 पूर्वविप्रतिषेधानें प्रथम होतात त्याचप्रमाणें त्याच सूत्रांत निर्दिष्ट
 असलेला 'स्य' हा आदेश देखील पूर्वविप्रतिषेधानें प्रथम होतो
 असेंच मानणें उचित आहे. (प्रकृत सूत्राच्या मानानें 'टाडसिङ्साम्'
 हें पूर्वं सूत्र आहे व 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सू. १७५ या वचनान्वये
 प्रकृत पर सूत्र प्रथम प्रवृत्त झालें पाहिजे. परंतु 'विप्रतिषेधे परं
 कार्यम्' या सूत्रांतील 'परम्' या पदाचा 'इष्टम्' असा भाष्य-
 कारांनीं अर्थ केला असल्यामुळे, कित्येक वैयाकरणांच्या मते
 'टाडसिङ्साम्' हें पूर्वं सूत्र असून देखील प्रकृत उत्तर सूत्राच्या
 पूर्वी प्रवृत्त होतें. त्यामुळे 'निर्जर टा, निर्जर ङसि' या स्थलीं 'टा'चे
 जागीं 'इन' व 'ङसि'चे जागीं 'आत्' असा प्रथम आदेश होऊन
 'निर्जर इन, निर्जर आत्' अशी स्थिति झाली असतां, 'निर्जर'
 या एकदेशविकृत जरान्त अङ्गापुढें 'इन, आत्' हे अजादि विभक्ति-
 प्रत्यय असल्यामुळे 'जर'चे जागीं प्रकृत सूत्रानें नंतर 'जरस्'
 आदेश होऊन 'निर्जरसिन, निर्जरसात्' अशीं तृतीयेच्या व पञ्च-
 मीच्या एकवचनाचीं पाक्षिक रूपें होतात. 'निर्जर ङस्' या स्थलीं
 देखील पूर्वविप्रतिषेधानें 'टाडसिङ्साम्' या सूत्रान्वये 'ङस्'चे
 जागीं 'स्य' हा आदेश प्रथम होऊन 'निर्जरस्य' अशी स्थिति
 झाली असतां, 'स्य' हा हलादि असून अजादि विभक्तिप्रत्यय
 नसल्यामुळे, 'निर्जर' यांतील 'जर'चे जागीं प्रकृत सूत्रानें होणारा

‘जरस्’ आदेश होत नाही व त्यामुळे पठ्ठीच्या एकवचनाचे ‘निर्जरस्य’ असेच एक रूप सिद्ध होत असून ‘निर्जरस’ असे पाक्षिक रूप सिद्ध होत नाही असे त्या वैयाकरणाचे म्हणणे आहे,) आणि म्हणून ‘वीतजन्मजरसः पर शुचि ब्रह्मणः पदमुपेतुमिच्छताम्’ (किरात पञ्चमसर्गं श्लोक २२) या श्लोकात ‘वीतजन्मजरस’ असा जो पठ्ठीचा प्रयोग भारवीने केला आहे तो अशुद्ध आहे असे मानून ते म्हणतात की, त्या पदाऐवजी ‘वीतजन्मजरस.’ असे पद पठित करावे. ‘एतच्च भाष्यविरुद्धम्’, म्हणजे त्या वैयाकरणाचे वरील म्हणणे भाष्यविरुद्ध आहे, असे जे प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीन म्हटले आहे त्याचे कारण हे की, भाष्यकारानी ‘टा, डसि’ याचे जागी ‘टाडसिडसाम्’ सू. २०१ या सूत्राने होणाऱ्या अनुक्रमे ‘इन, आत्’ या आदेशाचे प्रत्याख्यान करून त्या आदेशाऐवजी ‘न, अत्’ हे आदेश अनुक्रमे होणे सांगितले आहे आणि ‘न’ हा आदेश पुढे असता (अकारान्त अङ्गाला) एत्व होणे हे (‘आडि चापः’ या सूत्राचा ‘आडि च’ असा योगविभाग करून त्या) योगविभागाने साधले आहे. ‘बहुवचने क्षत्येत्, ओमि च’ या सूत्रानंतर ‘आडि च’ हे (योगविभागाने पृथक् केलेले) सूत्र पठित करावे व त्या सूत्राचा, अकारान्त अङ्गापुढे ‘आड्’ आला असता त्या अङ्गातील अन्त्य अकाराचे एत्व होते, असा अर्थ करावा. असा अर्थ केल्याने ‘रामेण’ हे रूप सिद्ध होते. (‘राम टा’ या स्थली ‘राम’ या अदन्त अङ्गापुढे ‘टा = आड्’ हा प्रत्यय आला असल्यामुळे, त्या अङ्गातील अन्त्य अकाराचे ‘आडि च’ या योगविभागाने पृथक् केलेल्या सूत्राने एत्व झाल्यावर नंतर ‘टा’ चे जागी ‘न’ हा आदेश होऊन ‘रामेण’ हे रूप सिद्ध होते. यानंतर ‘आडि चाप.’ या सूत्रातील ‘आप.’ हा अवशिष्ट भाग ‘सम्बुद्धौ च’ या उत्तर सूत्राला जोडून) ‘आपः सम्बुद्धौ च’ असे एक सूत्र पठित करावे व त्याचा अर्थ असा करावा की, ‘आवन्तस्याङ्गस्य आडि ओति सम्बुद्धौ च परे एत्व स्यात्.’ पण असा रीतीने योगविभाग

करून अर्थ केल्यास 'अनेन' या उदाहरणांत 'हलि लोपः' सू. ३४७ या सूत्रानें ('इद्' यांतील 'इद्' चा) लोप होण्याची आपत्ति येते (व त्वामुळे 'अनेन' असें रूप सिद्ध होऊं शकत नाहीं; कारण 'इदम् टा' या स्थलीं 'त्यदादीनामः' सू. २६५ या सूत्रानें 'इदम्' यांतील अन्त्य मकाराचे जागीं अकारादेश होऊन व 'अतो गुणे' सू. १९१ या सूत्रानें पररूप एकादेश होऊन आणि 'टा' प्रत्ययाचे जागीं 'न' असा आदेश होऊन 'इद् + न' अशी स्थिति झाली असतां, 'न' हा स्थानिवद्भावानें प्रत्यय ठरून तो हलादि प्रत्यय असल्यामुळे, 'हलि लोपः' सू. ३४७ या सूत्रानें 'इद्' यांतील 'इद्' चा लोप होऊन 'अ + न' अशी स्थिति होईल व 'आङि' या योगविभागांनं अकाराचें एत्व केल्यानें 'एन' असें रूप होईल.) असें कोणी म्हटल्यास, त्यावर हें उत्तर आहे कीं, 'अनाप्यकः' सू. ३४६ या सूत्रानें 'न' प्रत्यय पुढें असतां 'इद्' यांतील 'इद्' चे जागीं 'अन्' असा आदेश होतो असें विशिष्ट विधान केलें आहे. अशा रीतीनें त्या सूत्राचा, नकार किंवा 'आप्' प्रत्यय पुढें असतां 'इद्' यांतील 'इद्' चे जागीं 'अन्' असा आदेश होतो, असा अर्थ होतो. (पण त्या सूत्राचा तसा अर्थ केल्यास, 'अनाप्यकः' असें सूत्र पठित कराचें लागेल असें कोणी म्हटल्यास, त्यावर असें उत्तर आहे कीं, 'अनाप्यकः' या सूत्राची 'अ, नापि, अकः' अशीं पदे पाडावीं व) 'अ' हें 'अन्' या शब्दाचें नपुंसकलिङ्गाचें प्रथमेच्या एकवचनाचें रूप आहे असें समजावें. (असें मानल्यास, 'इदम् टा = इद् टा = इद् न' अशी वर सांगितल्याप्रमाणें स्थिति झाल्यावर 'इद्' यांतील 'इद्' चे जागीं 'अन्' असा आदेश होऊन व 'अन् अ न = अन् + न' अशी स्थिति होऊन व 'आङि' या योगविभागांनं 'अन' या अङ्गांतील अन्त्य अकाराचें एत्व होऊन 'अनेन' असें रूप सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाहीं.) आतां 'उसि' या प्रत्ययाचे जागीं ('आत्' असा आदेश न करितां) 'अत्' असा आदेश केल्यास (राम उसि = राम अत्)

अशा स्थितीत 'अतो गुणे' सू. १९१ या सूत्रानें) पररूप एकादेश होईल (व 'रामत्' असे विकृत रूप होण्याची आपत्ति येईल) असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही; कारण आदेशातील अकारोच्चारणसामर्थ्यानें सवर्णदीर्घ होऊ शकतो. (जर 'अतो गुणे' या सूत्रानें पररूप सन्धि होणे इष्ट असते तर केवळ 'त्' असाच आदेश पठित केला असता व 'अत्' असा आदेश पठित करण्याची काहीच गरज नव्हती पण ज्याअर्थी भाष्यकारानी 'डसि' प्रत्ययाचे जागी 'अत्' असा आदेश होणे मुद्दाम सांगितले आहे त्याअर्थी त्या आदेशातील अकारोच्चारण-सामर्थ्यामुळे, 'अतो गुणे' हें सूत्र प्रवृत्त होऊं शकत नाही व 'अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ हे सूत्र प्रवृत्त होऊन 'राम अत् = रामात्' असे इष्ट रूप सिद्ध होने असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे. वर जें दीक्षितानी व्याख्यान केले आहे ते सर्व 'टाडसिडसाम्' सू. ७-१-१२ या सूत्रावरील भाष्यात स्पष्टपणे सांगितले आहे. त्या भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—'किमर्थमिनादेश उच्यते न नादेश एवोच्येत । का रूपसिद्धिः, वृक्षेण प्लक्षेण । एत्वे योगविभागः करिष्यते । कथम् ? । इदमस्ति, बहुवचने झल्येत् । ओसि च । ततः आडि च । आडि च परतोऽत एत्व भवति, वृक्षेण प्लक्षेण । तत आप सम्बुद्धौ च । आप. सम्बुद्धौ च आडि च ओसि चेति । नैव पाययम्, इह हि अनेन इति इद्रूपलोप. प्रसज्येत । झलि लोपः करिष्यते । न पाययो झलि लोप कर्तुम्, इह हि दोष. स्यात्, अथा विष्टेति । एव तर्हि अन् लोपापवादो विनाशयते । कथम् ? । एव वह्यामि-अन् ने च आपि चेति । सन्नकारग्रहणं वर्तय्यम् ? । न वर्तय्यम् । त्रियते न्यास एव, लुप्तनिदिष्टोनकारः । यद्येव नोपधाया इति दीर्घत्वं प्राप्नोति । सोऽत्रो निर्देशः । अथवा नपुंसकनिर्देशः करिष्यते । अप किमर्थमादित्युच्यते, न अदेवोच्येत । का रूपसिद्धिः, वृक्षात् प्लक्षात् । सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धम् । न सिध्यति । अतो गुणे पर-रूपमिति पररूपाव प्राप्नोति । अकारोच्चारणसामर्थ्यान्न भविष्यति ।'

या भाष्याचें विवरण वरील मनोरमैत केलेंच आहे.) तसेंच 'जराया जरसन्यतरस्याम्' सू. ७-२-१०१ या सूत्रावरील भाष्यांत 'गोनर्दीयस्त्वाह । अतिजरैरिति भवितव्यं सन्निपातपरिभाषयेति' असें म्हटलें आहे. त्यामुळे 'पूर्वविप्रतिषेधेन' इत्यादि जें कित्येक वैयाकरणांचें म्हणणें आहे तें सर्व भाष्यविरुद्ध ठरतें हें उघड आहे. (या भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात — 'यदा च जरस्भावः कृतस्तदा लुग् न भविष्यति, सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति । यद्येवमतिजरसमतिजरसैरित्यत्र न प्राप्नोति, अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम् । गोनर्दीय आह—इष्टमेवैतत्सङ्गृहीतं भवति । अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यं, सत्यामेतस्यां परिभाषायां सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'अतिजर अम्' या स्थलीं जरान्त नपुंसक अङ्गापुढें 'अम्' हा द्वितीयेच्या एकवचनाचा अजादि प्रत्यय असल्यामुळे, जर' चे जागीं जरसादेशाची प्राप्ति आहे व तो आदेश केल्यावर 'स्वमोर्न-पुंसकात्' सू. ३१९ या सूत्रानें 'अम्' प्रत्ययाचा लुक् होण्याची प्राप्ति आहे. पण अजादि 'अम्' प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे जरसा-देश झाला असल्यामुळे, तो आदेश सन्निपातपरिभाषान्वयें 'अम्' प्रत्ययाचा लुक् करण्यास कारणीभूत होऊं शकत नाहीं. म्हणून 'अम्' प्रत्ययाचा लुक् न होतां 'अतिजरसम्' असें रूप झालें पाहिजे. परंतु ती परिभाषा असल्यामुळे, अतिजरसम्, अतिजरसैः' अशीं रूपें वास्तविक होऊं शकत नाहींत. 'अतिजर सु, अतिजर अम्, अतिजर टा' अशा स्थितींत अदन्त अङ्गाला मानून प्रथम दोन स्थलीं 'अतोऽम्' सू. ३०९ या सूत्रानें 'सु' व 'अम्' चे जागीं जो अमादेश होतो व तृतीय स्थलीं 'टाडसि' सू. २०१ या सूत्रानें 'टा' चे जागीं जो इनादेश होतो तो अमादेश व इनादेश, सन्निपातपरिभाषा असल्यामुळे, जरसादेश होऊं देण्यांत कारणीभूत होऊं शकत नाहीं; कारण 'जर' चे जागीं जरसादेश केल्यास, अकारान्त अङ्ग नाहीसें होऊन अकारान्त अङ्ग व त्यापुढील अजादि

प्रत्यय याच्या सन्निपाताचा नाश होणार व वरील परिभाषा असल्या-
 मुळे, तसे करता येऊ शकत नाही. म्हणून या स्थली जर-
 सादेश होऊ शकत नसल्यामुळे, 'अतिजरम् अतिजरः' अशीच
 रूपे होऊ शकतात असे भाष्यकाराचे म्हणणे आहे या भाष्यावरून हे
 स्पष्ट होणे की, भाष्यकारांनी पूर्वविप्रतिषेध मानला नाही किंवा
 सन्निपातपरिभाषा अनित्य मानून 'निर्जरसिन, निर्जरसात्' इत्यादि
 रूपाची सिद्धि केली नाही म्हणून पूर्वविप्रतिषेध मानून व सन्निपात-
 परिभाषेचे अनित्यत्व मानून ज्या वैयाकरणानी तशा रूपाची सिद्धि
 केली आहे ते त्याचे करणे भाष्यविरुद्ध असल्यामुळे स्वीकाराहं
 नाही दुसरे असे की, भाष्यकारांनी 'टा' चे जागी 'न' व 'डसि' चे
 जागी 'अत्' आदेश होणे सांगितले असल्यामुळे, 'निर्जर टा' या स्थली
 पूर्वविप्रतिषेधाने 'टा' चे जागी, भाष्यकारांनी सांगितलेला, 'न'
 हा आदेश प्रथम केल्यास देखील, 'न' हा हलादि विभक्तिप्रत्यय
 होत असल्यामुळे, प्रवृत्त सूत्राने 'निर्जर' यातील 'जर' चे जागी
 'जरस्' आदेश पावतच नाही व त्यामुळे 'निर्जरसिन' असे तृती-
 येच्या एक वचनाचे रूप होऊच शकत नाही. 'निर्जरेण' असेच रूप
 होऊ शकते त्याचप्रमाणे 'निर्जर डसि' या स्थली पूर्वविप्रतिषेधाने
 'डसि' प्रत्ययाचे जागी, भाष्यकारांनी सांगितलेला, 'अत्' हा आदेश
 प्रथम केला असता, तो आदेश अजादि असल्यामुळे जरी 'निर्जर'
 यातील 'जर' चे जागी प्रवृत्त सूत्राने 'जरस्' आदेश करता येतो तरी,
 तो आदेश केल्यावर 'निर्जरस् अत्' अशी स्थिति होऊन 'निर्जरात्'
 असे रूप होऊ शकते, 'निर्जरसात्' असे रूप होऊ शकत नाही.
 म्हणून पूर्वविप्रतिषेधवादी वैयाकरणानी 'निर्जरसिन, निर्जरसात्'
 अशी रूपे सिद्ध होतात असे जे म्हटले आहेत ते म्हणणे, वर सांगितल्या-
 प्रमाणे, भाष्यविरुद्ध ठरते हे अगदी उघड आहे तसेच 'अतिजर
 भिस्' या स्थली 'अतो भिस् ऐस्' मू २०३ या सूत्राने 'भिस्' चे
 जागी पूर्वविप्रतिषेधाने 'ऐस्' आदेश प्रथम केल्यास तो आदेश
 अजादि असल्यामुळे, 'अतिजर' यातील 'जर' चे जागी 'जरस्'

आदेश होऊन 'अतिजरसैः' असें पाक्षिक रूप होऊं शकतें. पण भाष्य-
कार तर म्हणतात कीं, सन्निपातपरिभाषा-परि. ८६-असल्यामुळें,
'अतिजरसैः' असेंच रूप झालें पाहिजे; कारण अदन्ताङ्गरूप निमित्ता-
मुळें 'मिस्' चे जागीं जो 'ऐस्' आदेश होतो तो आदेश
सन्निपातपरिभाषास्वर्यें अङ्गाच्या अदन्तत्वाचा नाश करूं शकत नाहीं.
सारांश पूर्वविप्रतिषेध मानल्यानें जीं रूपें सिद्ध होतात तीं भाष्यविरुद्ध
ठरत असल्यामुळें पूर्वविप्रतिषेध मानतां येत नाहीं असा दीक्षितांच्या
म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न-प्रत्याख्यायेति । प्रत्याख्यानानेन चेदं ध्वन्यते-वक्ष्य-
माणक्लेशपरिहारार्थ एवेकारो न तु फलान्तरेऽभिनिवेष्टव्यमिति ।
आदादेशे त्वदिति च्छेद एव सूत्रतात्पर्यमिति ।

(भाष्यकारांनीं 'इन, आत्' या आदेशाचें जें प्रत्याख्यान
केलें आहे त्या) प्रत्याख्यानानें हें ध्वनित होतें कीं, (सूत्रकारानें
'टा' चे जागीं 'इन' आदेश होणें सांगितलें असून त्यांत) जें
इकाराचें ग्रहण केलें आहे, म्हणजे 'न' असा आदेश होणें न सांगतां
'इन' असा आदेश होणें जें सांगितलें आहे, तें (भाष्यकारांनीं) पुढें
सांगितलें जाणारें योगविभागादिक करण्यामध्ये जे क्लेश होतात ते
क्लेश न व्हावे या हेतूनें सांगितलें असून (भाष्यकारांच्या मतें जीं
रूपें सिद्ध होऊं शकत नाहीत तशीं) भिन्न रूपें सिद्ध व्हावीं याकरितां
सांगितलें नाहीं, व 'आत्' या आदेशाऐवजीं 'अत्' असा आदेश
होण्याकरितां ('इनात्' या पदाचा 'इन आत्' असा पदच्छेद
न करितां) 'इन अत्' असा पदच्छेद करावा असें सूत्रकार
पाणिनीच्या म्हणण्याचें तात्पर्य आहे. (सारांश शब्दरत्नकारांचें असें
म्हणणें आहे कीं, पाणिनीच्या मतें देखील 'टा, इति' या प्रत्ययांचे
जागीं 'न, अत्' असेच आदेश होणें इष्ट असून, पाणिनीनें 'न'च्या
ऐवजीं 'इन असा जो आदेश पठित केला आहे तो एवढ्याचकरितां
कीं, योगविभागादिक क्लेश टळावे.)

मनोरमा—“पदघ्नो” । अत्र शस्प्रभृतयो निमित्ततयोपात्ताः । ते च पदाद्यादेशानुरूपान् प्रकृतिविशेषानाक्षिपन्तीत्याहुः—पाददन्तेति । यद्यपि “शीर्षश्छन्दसि” इत्यतोऽत्र “छन्दसि” इत्यनुवर्तते तथा-
ऽपि भाषायामपि क्वचिद्भवति “भासश्छन्दसि” इति वातिके छन्दो-
ग्रहणात् ज्ञापकाद् इति वक्ष्यते । प्रामादिकमिति । तथा हि ।
“आसन्नो वृकस्य वतिकामभीके” इति मन्त्रे मुक्तादित्यर्थः औचि-
त्यात् । “वृकस्य चिद्वतिकामन्तरास्यात्” इति मन्त्रान्तरसंवादाच्च ।
एवं हव्या जुह्वान आसन्ति । आसन्न्य प्राणमूचुरित्यादावपि । व्या-
ख्यात च तथैव, वेदभाष्येषु । अतएव हरदत्तेनापि काशिकाया
प्रामादिकत्वमाविष्कृतमिति ध्येयम् ।

‘पदघ्नोमास्’ सू. २२८ या सूत्रातील ‘शस्प्रभृतिषु’ या पदात्
‘शस्’ इत्यादि प्रत्ययाचे निमित्तरूपानें ग्रहण केले आहे, म्हणजे
‘पाद’ इत्यादि शब्दापुढें ‘शस्’ पासून सुरू होणारे प्रत्यय आले
असतां त्या शब्दाचे जागी ‘पद्’ इत्यादि आदेश अनुक्रमें व्हावे असे
विधान केले आहे. ते निमित्तरूपानें गृहीत केलेले ‘शस्’ इत्यादि
प्रत्यय ‘पद्’ इत्यादि आदेशाना अनुरूप अशा विशिष्ट प्रकृतीना
स्थानिरूपानें आक्षिप्त करतात आणि म्हणूनच प्रकृत सूत्रावरील
कौमुदीत ‘पाददन्तनासिका - एपा पदावय आदेशा. स्युः शसादो
ना’ असे व्याख्यान केले आहे. (प्रकृत सूत्रात केवळ आदेशाचा
निर्देश केला असून ज्या स्थानीचे जागी ते आदेश होतात त्या
स्थानीचा निर्देश केला नाही. तरी पण आदेश स्थानीचेच जागी
होत असल्यामुळें, प्रकृतमूत्रनिर्दिष्ट आदेश आपल्या अर्थाला व
स्वरूपाला अनुरूप अशाच स्थानीचा आक्षेप करितात.) जरी
‘शीर्षश्छन्दसि’ या पूर्वं सूत्रातून प्रकृत सूत्रात ‘छन्दसि’ या पदाची
अनुवृत्ति होते (व त्यामुळें वैदिक प्रयोगातच प्रकृत सूत्रात
सांगितलेले आदेश होतात असा सूत्रार्थ होतो) तरी पण अगे
आदेश भाषेत देखील क्वचित् होत असतात हे, भासश्छन्दमीति
यवनम्यम्—सू. ३५९४ वरील वातिक—या वातिकात ‘छन्दसि’

या पदाचें ग्रहण केलें असल्यामुळें, जापित होतें हें पुढें सांगण्यांत येईल. (जर असे आदेश वेदांतच होत असते व भाषेत होत नसते तर, 'मासश्छन्दसि' या वार्तिकांत 'छन्दसि' या पदाचें ग्रहण करण्याची कांहींच गरज नव्हती. प्रकृत सूत्रावरील काशिकेंत 'केचिदत्र छन्दसोत्पत्त्यनुवर्तयन्ति । अपरे पुनरविशेषेणेच्छन्ति । तथा हि भाषायामपि पदादयः शब्दाः प्रयुज्यन्ते ।' असें म्हटलें आहे.) काशिकावृत्तींत 'आसन' या शब्दाचे जागीं 'आसन्' आदेश होतो असें जें म्हटलें आहे तें चूक आहे. (वास्तविक 'आस्य' या शब्दाचे जागीं 'आसन्' असा आदेश होतो.) उदाहरणार्थ 'आस्नो बृकस्य वतिकामभीके' या वेदमन्त्रांतील 'आस्नः' या पदाचा 'मुखात्' असाच अर्थ करणें उचित आहे; कारण 'बृकस्य चिद्वतिकामन्तरास्यात्' या दुसऱ्या वेदमन्त्रांत 'आस्यात्' असा स्पष्ट प्रयोग केला आहे. (त्यामुळें पूर्वं मन्त्रांतील 'आस्नः' या पदाचा 'आस्यात्' असाच अर्थ करणें योग्य ठरतें व या वेदमन्त्रावरून हें स्पष्ट होतें कीं, 'आसन' या शब्दाचे जागीं 'आसन्' असा आदेश होत नसून, 'आस्य' या शब्दाचे जागीं तो आदेश होतो.) तसेंच 'एवं हव्या जुहान आसनि, आसन्यं प्राणमूचुः' इत्यादि वैदिक प्रयोगांवरून देखील हेंच सिद्ध होतें, म्हणजे 'आस्य' चे जागीं 'आसन्' आदेश होतो हेंच सिद्ध होतें. ('आसनि' हें 'आसन्' या आदेशाचें सप्तमीचें एकवचन आहे व 'आस्ये भवः आसन्यः' या स्थळीं 'तत्र भवः' या अर्थामध्यें 'आस्य' या शब्दाहून 'शरीरावयवाच्च' सू. १४३० या सूत्रानें 'यत्' प्रत्यय होतेवेळीं 'आस्य' चे जागीं 'आसन्' आदेश झाला आहे.) वरप्रमाणेंच वेदभाष्यांत वरील शब्दांचें व्याख्यान केलें आहे आणि म्हणूनच हरदत्तानें देखील आपल्या टीकेंत काशिकाकारांचें म्हणणें चूक आहे असेंच प्रदिपादित केलें आहे, हें ध्यानांत ठेवावें. (हरदत्तानें प्रकृत सूत्रावरील पदमन्त्रांत 'अन्ते आसनशब्दः पठ्यते, आस्यशब्दस्तु पठितव्यः, आस्नो बृकस्य वतिकामभीके, शीवायां वद्धो अपि कदा

आसनि, आसनी यत्सीसमुञ्चतं वृकस्येत्यादौ ह्यास्यार्थोऽवगम्यते' असे म्हटले आहे.)

शब्दरत्न-ते चेति । ये निमित्ततयोपात्तास्ते शस्प्रभृतय इत्यर्थः । अनुरूपानिति । स्वार्थबोधनसमर्थान्स्वसदृशवर्णवतश्चेत्यर्थः । घस्तुतो "वा शोकव्यञ्ज" इति वद् व्यवस्थार्थमेवेति बोध्यम् । अनुवर्तते इति । अस्येति प्राञ्च इति शेषः । ज्ञापकादिति । तन्निवृत्तेरिति भावः । अतएव भाष्ये तदनुवृत्तिर्नोक्ता ।

मनोरमंतील 'ते च' या पदातील 'ते' या पदाचा 'ये निमित्ततयोपात्तास्ते शस्प्रभृतयः' असा अर्थ आहे. (मनोरमंत 'अत्र शस्प्रभृतयो निमित्ततयोपात्ताः' असे एक वाक्य असून त्यापुढे 'ते च' इत्यादि भिन्न वाक्य आहे परंतु 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वात्' व 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' हे न्याय लक्षात घेऊन शब्दरत्नकारानी वरील दोन वाक्यांचे 'ये निमित्ततयोपात्तास्ते शस्प्रभृतयः पदाद्यादेशानुरूपान् .. आक्षिपन्ति' असे एक वाक्य तयार केले आहे.) मनोरमंतील 'अनुरूपान्' या पदाचा 'स्वार्थबोधनसमर्थान्स्वसदृशवर्णवतश्च', म्हणजे आदेशाच्या अर्थाचा बोध करून देण्यास समर्थ व आदेशात जसे वर्ण आहेत त्या वर्णासारखे ज्या शब्दात वर्ण आहेत असे स्थानी, असा अर्थ आहे. (त्यामुळे पादादिवाचक 'चरणादि' असदृश - वर्णसादृश्यरहित - रूपाची व्यावृत्ति होते, कारण जेथे अनेक धर्मांमुळे सादृश्य संभवते तेथे त्या धर्मांपैकी कोणत्याहि धर्माचा होता होईतोपर्यंत त्याग न करता सध्या धर्मांनी जे सदृश आहेत तशाचच ग्रहण करणे उचित आहे या अर्थाचा 'भूयसा व्यपदेशः' हा न्याय आहे.) वास्तविक 'वा शोकव्यञ्जरोपे' सू. ९८९ या सूत्रासारखेच प्रवृत्त सूत्र केवळ प्रयोगनियामक सूत्र आहे असे गमजावे. (प्रवृत्त सूत्रात पठित असलेले शब्द आदेश नगून 'पाद, दन्त, नासिका' इत्यादि शब्दासारखे स्वतंत्र शब्द आहेत व सर्वनामस्थानप्रत्यय, म्हणजे 'सु' पागून

‘बीद्’ पर्यंत पांच प्रत्यय, पुढें असतांना या सूत्रनिर्दिष्ट शब्दांचा प्रयोग करता येत नसून, ते पांच प्रत्यय खेरीज करून इतर प्रत्यय पुढें असतांना या सूत्रनिर्दिष्ट शब्दांचा विकल्पेंकरून प्रयोग करता येतो अशी व्यवस्था प्रदर्शित करणारें, म्हणजे अशा प्रकारचा नियम घालून देणारें, प्रकृत सूत्र आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे आणि या म्हणण्याच्या समर्थनार्थ ते ‘वा शोकष्वङ्मरोगेषु’ या सूत्राचें प्रमाण देतात. त्या सूत्राचा असा अर्थ आहे की, ‘शोक, रोग’ हें शब्द व तसेंच ‘प्यञ्’ हा प्रत्यय पुढें असतांनाच, ‘हृदय’ व ‘हृद्’ या दोन्ही शब्दांचा विकल्पेंकरून प्रयोग करता येतो, परंतु इतर शब्द किंवा प्रत्यय पुढें असतांना ‘हृद्,’ शब्दाचा प्रयोग करता येत नाही व ‘हृदय’ शब्दाचाच प्रयोग करता येतो. ही जशी व्यवस्था त्या सूत्रांत या दोन भिन्न व स्वतंत्र शब्दांसंबंधानें सांगितली आहे त्याच-प्रमाणें प्रकृत सूत्र देखील आदेशविधायक नसून स्वतंत्र व भिन्न शब्दांसंबंधानें व्यवस्थादर्शक आहे असें समजावें असें शब्दरत्नकार म्हणतात. ‘शीर्षं छन्दसि’ सू. ६-१-६० या सूत्रावरील भाष्यांत ‘शीर्षं छन्दसि प्रकृत्यन्तरम्’ असें वचन पठित केलें आहे व त्या वचनाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात - ‘शीर्षं छन्दसि प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम् । किं प्रयोजनम् ? । आदेशप्रतिषेधार्थम् । आदेशो मा विज्ञायि, प्रकृत्यन्तरं यथा विज्ञायेत । किं च स्यात् ? । अस्कारान्तस्य छन्दसि श्रवणं न स्यात् । शिरो मे शीर्यते मुखे । इदं ते शिरो भिन्दुमीति ।’ या भाष्यावरून हें स्पष्ट होतें की, ‘शिरस्’ या पद्वाने जागी ‘शीर्षं’ असा आदेश होत नसून हे दोन्ही स्वतंत्र शब्द आहेत आणि तसेंच प्रकृत सूत्रासंबंधानेंहि समजावें असें शब्द-रत्नकारांनीं म्हणणें आहे.) मनोरमंतीत्य ‘अनुवर्तते’ या पदापुढें ‘इति प्राञ्चः’ हीं पदं अप्याहृत्य आग्नेय, म्हणजे प्रकृत सूत्रांत ‘छन्दसि’ हें पद अनुवृत्त होतें हें प्राचीन वैयाकरणाभिं मत आहे. (या मताचा निर्देश मनोरमंते केल्यान आहे. यास्तविक ‘शीर्षं-छन्दसि’ या सूत्रातून प्रकृत सूत्रांत ‘छन्दसि’ हें पद अनुवृत्त

होत नाही; कारण त्या सूत्राच्या लगेच पुढे असलेल्या 'ये च तद्धिते' च 'अचि शीर्षः' या दोन सूत्रात ते पद अनुवृत्त होत नसल्यामुळे, त्या दोन सूत्रापुढे असणाऱ्या प्रकृत सूत्रात त्या पदाची मण्डूकप्लुतीने अनुवृत्ति करावी लागेल व तसे करण्यात दोष आहे हे पूर्वी अनेकदा सांगितलेच आहे.) 'मासश्छन्दसि इति वार्तिके छन्दोग्रहणात् ज्ञापकात्' या मनोरमेच्या पक्वीत 'ज्ञापकात्' हे जें पद घातले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, प्रकृत सूत्रात 'छन्दसि' या पदाची निवृत्ति होते, म्हणजे अनुवृत्ति होत नाही, याचे ज्ञापक 'मासश्छन्दसि' या वार्तिकातील 'छन्दसि' हे पद आहे. (साराश प्रकृत-सूत्रनिर्दिष्ट आदेश भाषेत देखील बवचित् होतात याचे वार्तिकातील 'छन्दसि' हे पद ज्ञापक नसून, 'छन्दसि' हे पद प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त होत नाही याचे ते वार्तिकस्थ पद वास्तविक ज्ञापक आहे असा सन्दर्भनकाराच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.) असे आहे म्हणूनच, म्हणजे प्रकृत सूत्रात 'छन्दसि' हे पद अनुवृत्त होत नसल्यामुळेच, प्रकृत सूत्रावरील माध्यात भाष्यकाराने 'छन्दसि' या पदाची प्रकृत सूत्रात अनुवृत्ति होते असे म्हटले नाही.

मनोरमा-“अल्लोपीजन.” । अत्र प्राञ्चः । अग्रन्तस्य भस्याङ्गस्याकारस्य लोपः स्यादिति । तथा सति तक्षणा इत्यादौ तकाराकारस्यापि लोपः स्यात् । भस्याङ्गस्यानोऽकारस्य इति स्यादयाने तु अनसा, मनसा इत्यादौ स्यात् । तन्नायस्यादिना ऽग्रन्तस्य भस्यानोऽकारस्येति व्याख्यानेऽपि अनस्तक्षणेत्यादौ अति-स्याप्तिरेयातो व्याचष्टेऽङ्गावयव इत्यादि । भस्येत्यनेनातिप्ल. प्रत्ययविशेषोऽङ्ग चेति द्वयमनो विशेषणम्, अन् तु शकारस्य, अतो मोक्षतदोष इति भावः । एतच्च “व्यङ्गः सप्रसारणम्” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

‘अल्लोपोऽनः’ सू. २३४ या सूत्राचा प्राचीन वैयाकरणांनी, म्हणजे काशिकाकार व प्रक्रियाकीमुदीकार यांनी, ‘अन्नन्तस्य भस्याङ्गस्याकारस्य लोपः स्यात्’, म्हणजे अन्नन्त भसंज्ञक अङ्गांतील अकाराचा लोप होतो, असा अर्थ केला आहे. (काशिकाकारांनी प्रकृत सूत्राचा ‘अन्त्येवमन्तस्य भस्य अकारलोपो भवति’ असा अर्थ केला असून, प्रक्रियाकीमुदीकारांनी ‘अन्नन्तस्य भस्याङ्गस्याकारस्य लोपः स्यात्’ असा मनोरमंत दिल्याप्रमाणे अर्थ केला आहे.) पण हा अर्थ बरोबर मानल्यास, ‘तक्ष्णा’ इत्यादि उदाहरणांत तकारापुढे असलेल्या अकाराचा देखील लोप होण्याची आपत्ति येते. (‘तक्षन् टा = तक्षन् आ’ या स्थली ‘यचि भम्’ सू. २३१ या सूत्रान्वये ‘तक्षन्’ हे भसंज्ञक अङ्ग आहे व त्या अङ्गाच्या अन्ती ‘अन्’ देखील आहे. अशा अङ्गांतील अकाराचा लोप होतो एवढाच प्रकृत सूत्राचा अर्थ केल्यास, ‘तक्षन्’ या अङ्गांत तकारापुढे अकार असून क्षकारापुढे देखील अकार असल्यामुळे व या दोन अकारांपैकी कोणत्या अकाराचा लोप करावा हे काशिकाकार व प्रक्रियाकीमुदीकार यांनी प्रकृत सूत्राचा अर्थ करितांना स्पष्ट केले नसल्यामुळे, दोन्ही अकारांचा किंवा दोनपैकी पूर्व अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येते व तसा लोप केल्यास ‘तक्ष्णा’ असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकत नाही हे उघड आहे.) ‘भस्य अङ्गस्य अन्तः अकारस्य लोपः स्यात्’, म्हणजे भसंज्ञक अङ्गांत असणाऱ्या ‘अन्’ मधील अकाराचा लोप होतो, असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला तर, ‘अनसा, मनसा’ इत्यादि स्थली ‘अन्’ यांतील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येते. (प्रकृत सूत्र अङ्गाधिकारांत पठित असून त्या अधिकारांत अन्तर्भूत असलेल्या भाधिकारांत पठित असल्यामुळे, या सूत्रांत ‘अङ्गस्य’ व ‘भस्य’ हीं पद अनुवृत्त होवान आणि या दोन अनुवृत्त पदांपैकी ‘भस्य’ हे पद ‘अङ्गस्य’ या पदाने विशेषतः मानल्याने, प्रकृत सूत्राचा वरप्रमाणे अर्थ होतो व त्या अर्थावर ‘अनम् टा, अनम् टा’ या दोन्ही उदाहरणांत

‘टा = आ’ हा अजादि असर्वनामस्थानप्रत्यय ‘मनस्, अनस्’ या अङ्गापुढे असल्यामुळे, ‘यचि भम्’ सू. २३१ या सूत्राने ती अङ्गे भसज्जक ठरतात व त्या अङ्गात ‘अन्’ असल्यामुळे आणि वरील अर्थान्वये तो ‘अन्’ अङ्गाच्या अन्ती असणे आवश्यक नसल्यामुळे, त्या ‘अन्’ मधील अकाराचा लोप होण्याची व ‘मनसा, अनसा’ अशी इष्ट रूपे सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते.) तन्त्र, आवृत्ति इत्यादिकांच्या सहायाने प्रकृत सूत्राचा ‘अन्नन्तस्य भस्य अनः अकारस्य लोपः स्यात्’ असा अर्थ केला तरी देखील, ‘अनस्तक्षणा’ इत्यादि उदाहरणात अतिव्याप्तिरूप दोष येतो आणि म्हणूनच, म्हणजे वर दिलेल्या सर्व आपत्ति टाळण्याकरिताच, ‘अङ्गावयवो-ऽसर्वनामस्थानमगादिस्वादिपरः योजन् तस्य अकारस्य लोपः स्यात्’ असा प्रकृत सूत्राचा कौमुदीत अर्थ केला आहे. (प्रकृत सूत्रात निदिष्ट असलेला ‘अनः’ हा शब्द दोनदा उच्चारून आणि प्रथम उच्चारलेले ‘अनः’ हे पद ‘भस्य’ या अनुवृत्त पदाचे विशेषण मानून ‘येन विधिस्तदन्तस्य’ सू. २६ या सूत्राने ‘अनः’ या विशेषणाचा ‘अन्नन्तस्य’ असा अर्थ घेतल्यास व दुसऱ्याने उच्चारलेले ‘अनः’ हे पद अवयवपद्धी मानून व त्याचा ‘अत् = अत’ या नूननिदिष्ट पदामध्ये अन्वय करून ‘अनः अकारस्य’ असा ‘अनः अतः’ या पदाचा अर्थ घेतल्यास, प्रकृत सूत्राचा ‘अन्नन्तस्य भस्य अनः अकारस्य लोपः स्यात्’ असा अर्थ होतो व ‘अनस्तक्षन् टा’ या स्थली ‘अनस्तक्षन्’ या अङ्गापुढे ‘टा = आ’ हा अजादि असर्वनाम-स्थानप्रत्यय असल्यामुळे, हे अङ्ग भसज्जक ठरते व ते अन्नन्त देखील आहे. परंतु या अङ्गामध्ये दोन ‘अन्’ आहेत व कोणत्या ‘अन्’ मधील अकाराचा लोप व्हावा हे, वर जसा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे त्यांत, सांगितले नसल्यामुळे, ‘अनम्’ या पूर्वे पदाच्या ‘अन्’ मधील अकाराचा लोप होण्याची व ‘अनस्तक्षणा’ असे इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. या वर द्याविलेल्या सर्व आपत्ति टाळण्याकरिताच प्रकृत सूत्राचा कौमुदीत वर सांगितल्या-

प्रमाणें अर्थ केला आहे. तसा अर्थ केला असल्यामुळे, 'तक्षन् टा' या उदाहरणांत तकारापुढील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते; कारण या स्थलीं जरी 'तक्षन्' हें अङ्ग भसंज्ञक व अन्नन्त असून 'अन्' च्या लग्नेच पुढें 'टा = आ' हा असर्वनामस्थान अजादि प्रत्यय आहे तरी, तकारापुढील ज्या अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति दिली आहे तो अकार 'अन्' चा अवयव नाही. त्यामुळे तकारापुढील अकाराचा लोप न होतो 'अन्' यांतील अकाराचा प्रकृत सूत्रानें लोप होऊन 'तक्षणा' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. 'मनस् टा, अनस् टा' या उदाहरणांत भसंज्ञक अङ्गामध्ये जो 'अन्' आहे तो 'टा = आ' या असर्वनामस्थान अजादि प्रत्ययाच्या लग्नेच पूर्वी नसून दोहोंमध्ये 'अस्' चें व्यवधान आहे. म्हणून येथें कौमुदीत दिलेल्या अर्थान्वये 'अन्' यांतील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते व 'मनसा, अनसा' अशीं इष्ट रूपें सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही. तसेंच 'अनस्तक्षन् टा' या उदाहरणांत 'अनस्' यांतील 'अन्' असर्वनामस्थान अजादि 'टा = आ' या प्रत्ययाच्या लग्नेच पूर्वी नसल्यामुळे, त्या 'अन्' मधील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते. परंतु त्या उदाहरणांतील 'तक्षन्' यामध्ये जो 'अन्' आहे तो 'टा = आ' या असर्वनामस्थान अजादि प्रत्ययाच्या लग्नेच पूर्वी असल्यामुळे, त्या द्वितीय 'अन्' मधील अकाराचा लोप होऊन 'अनस्तक्षणा' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. यकारादि णिवा अजादि असर्वनामस्थानप्रत्यय पुढें असतांनाच, 'यनि भम्' गु. २३१ या सूत्रानें अङ्गाला भसंज्ञा होत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्रांत अन्वृत्त असलेल्या) 'भक्ष्य' या पदानें तना विनिष्ट प्रत्यय, म्हणजे असर्वनामस्थान अजादि त्यादि प्रत्यय, आक्षिप्त होतो आणि या आक्षिप्त प्रत्यय व प्रकृत सूत्रांत अन्वृत्त होत असलेले 'अङ्गस्थ' हे पद त्या सूत्रांत विनिष्ट असलेल्या 'अतः' या पदाची विमोचने होताना आणि 'अतः' हे पद सूत्रविनिष्ट 'अन् = अतः' या पदाची विमोचन होते व अगादीतले अन्य विमोचने वर समंविद्येच्या

दोपापैकी कोणताहि दोष येत नाही (व सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होणे) असा या म्हणण्याचा भावार्थ आहे. कौमुदीत जे प्रकृत सूत्राचे व्याख्यान केले आहे ते 'प्यङ्. सम्प्रसारणम्' सू. ६-१-१३ या सूत्रावरील भाष्यावरून स्पष्ट होते. (त्या भाष्याचे विवरण शब्दरत्नात करण्यात येईल.

शब्दरत्न-तथा सतीति । प्राचीनसंमतव्याख्यादरे इत्यर्थः । भस्येत्यनेनेति । अङ्गस्येत्येतत्सहितेनेत्यर्थः । एतेन भत्वस्य वृषणोऽप्रत्ययवस्वशब्दयोरपि विधानात्तेन न प्रत्ययाक्षेप इत्यपास्तम् । अङ्ग चेति अधिकारलब्धमिति भावः । ननु भत्वस्य तत्सूत्रे "यस्मात्प्रत्ययविधिः" इत्यनुवृत्त्याऽङ्गनिष्ठत्वेन तेनाङ्गनिष्ठयजादिपरत्वा-क्षेपेण तदवयवस्य तत्त्वालाभः । किं चानो विशेषणोऽपि 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे' इति निर्दिष्टपरिभाषानुपस्थितेरनल-क्षणेत्यादी दोषो दुर्वार इति चेत्तत्राह-एतच्चेति । तथा च भाष्यम्-
 "एष तर्हि कार्यकाल सज्ञापरिभाष यत्र कार्यं तत्रोपस्थितमिदं द्रष्टव्य "भस्य" इत्युपस्थितमिदं भवति "यच्च भम्" इति तत्र यजादिपरत्वाऽङ्कार विशेषयिष्याम, अना चाकारम् । यजादि-स्वादिपरस्मानोऽङ्कारस्येति" । तत्त्वाय भावः । कार्यकालपक्षे "भस्य" इति श्रुते भपदार्थजिज्ञासाया "यच्च भम्" इत्युपस्थितेन शक्तिग्रहे यत्ने एतद्वाक्यार्थबोधकाले लक्ष्यानुरोधेन तन्प्रादिन्याया-श्रवणाद् यच्चोत्पत्त्यान्विषोपणताऽपि । विधौ परिभाषेति न्यायस्तु "इको गुणवृद्धी" "अवश्च" इति व्यतिरिक्ते नास्त्येव "उदात्त-स्वरितयोर्यण" इत्यादावुदात्तस्वरितस्यानिरयण इत्ययं स्पष्टत्वा-दिति । एतच्च स्त्रीप्रत्यये इत्यप्रकरणे निरूपयिष्यामः ।

यदि तु अदम्यद्वित्यर्थमनन्तविकार इति परिभाषाऽव-श्यकी तर्पयानस्तदक्षेप्यादी व्याप्तिः । अत्र साम्तमहत् इत्यादी चानेकविलच्छल्पनापेक्षया परिभाषाव्योहार एवोचितः । भाष्यानु-वर्तिशोऽनुरक्तानां अन्यवातिदिप्रदर्शनमात्रपरम् । अत्र एव याग्ये-

तस्या परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेवा परिभाषा कर्तव्येति भाष्ये उपसंहृतम् । यत्तु “न सम्प्रसारण” इति सूत्रे “नैतस्याः परिभाषायाः सन्ति प्रयोजनानि” इति भाष्यं तत्तु “न सम्प्रसारण” इत्यादेरेव ज्ञापकात्प्रयोजनारूपत्वसूचकमित्युच्यते तदाऽस्तु अङ्ग-विशेषणमेव तदित्याहुः ।

मनोरमेतील ‘तथा सति’ या पदांचा ‘प्राचीन वैयाकरणांना, म्हणजे काशिकाकार व प्रक्रियाकौमुदीकार यांना, जो प्रकृत सूत्राचा अर्थ होणें संमत आहे तो बरोबर मानल्यास’ असा अर्थ आहे. ‘भस्य इत्यनेन आक्षिप्तः’ या मनोरमेच्या पंक्तींतील ‘भस्य इत्यनेन’ या पदांचा ‘अङ्गस्य इत्येतत्सहितेन भस्य इत्यनेन’ असा अर्थ आहे. असा अर्थ केल्यानें, (प्रत्यय पुढें असतांनाच भसंज्ञा होते असें नसून, ‘वृषण्वस्वश्वयोः’—सू. ३३८९ वरील वार्तिका—या वार्तिका-त्वमे) प्रत्यय नसणारे, म्हणजे असर्वनामस्थान यजादिस्वादि प्रत्यय नसणारे, ‘वसु’ किंवा ‘अश्व’ हे शब्द ‘वृषन्’ शब्दापुढें आल्यास ‘वृषन्’ शब्दाला भसंज्ञा होत असल्यामुळें, ‘भस्य’ या पदानें प्रत्ययविशेषणाचा, म्हणजे असर्वनामस्थान यजादिस्वादि प्रत्ययाचा, नियमंकरून आक्षेप होत नाही असें जे कोणी म्हणतात ते त्यांचें म्हणणें चूक ठरतें. (शंकाकार अशी शंका करतो कीं, असर्वनामस्थान यजादिस्वादि प्रत्यय पुढें असतांनाच अङ्गाला भसंज्ञा होते असें नसून, ‘वृषन्’ शब्दापुढें ‘वसु’ किंवा ‘अश्व’ शब्द आल्यास ‘वृषन्’ शब्दाला भसंज्ञा होत असल्यामुळें, ‘भस्य इत्यनेन आक्षिप्तः प्रत्ययविशेषः’ असें जें दीक्षितांनीं मनोरमेत म्हटलें आहे तें बरोबर मानतां येत नाही. जर प्रत्ययविशेष पुढें आला असतांच अङ्गाला भसंज्ञा होत असती तर दीक्षितांचें म्हणणें योग्य ठरलें असतें. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, प्रकृत सूत्र अङ्गाधिकारान्तर्गत भाषिकारांत पठित असल्यामुळें आणि ‘अङ्गस्य’ व ‘भस्य’ ही दोन्ही पदे त्यांत अनुवृत्त होत असल्यामुळें, ‘भस्य’ हें ‘अङ्गस्य’ याचें विशेषण मान-

त्याने त्या दोन अनुवृत्त पदाचा 'भसजकस्य अङ्गस्य' असाच अर्थ होतो आणि 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' सू १९९ या सूत्रान्वये अङ्गसज्ञा होण्याकरिता प्रत्यय पुढे असणे आवश्यक असल्यामुळे, अङ्गाला भसज्ञा होण्याकरिता प्रकृत सूत्रात असर्वनामस्थान यजादिस्वादि प्रत्ययाचा नियमाने आक्षेप होतोच आणि तो आक्षिप्त प्रत्यय 'अन्' चे विशेषण होऊन सूत्रार्थ असा होतो की, भसजक अङ्गाच्या अन्ती 'अन्' असून तो 'अन्' तशा आक्षिप्त प्रत्ययाच्या लगेच पूर्वी असल्यास, त्या 'अन्' मधील अकाराचा लोप होतो. 'वृषण्वसु', वृषण्वः' या दोन्ही उदाहरणात 'वृषन्' या शब्दापुढे प्रत्यय नसून 'वसु' व 'अश्व' हे शब्द असल्यामुळे, 'वृषन्' शब्दाला जरी वरील वातिकान्वये, नकारलोप टाळण्याकरिता, भसज्ञा होते असे विधान केले आहे तरी, त्या शब्दाला अङ्गसज्ञा होत नाही व त्यामुळे 'वृषन्' शब्दातील 'अन्' च्या अकाराचा अङ्गाधिकारस्थ प्रकृत सूत्राने लोप होऊ शकत नाही. वरील वातिकाचे कौमुदीत विवरण करिताना दीक्षितानी 'अल्लोपोऽनः इत्यल्लोपो न, अनङ्गत्वात्' असेच म्हटले आहे.) 'अङ्ग चेति' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे ते 'अङ्गस्य' या अधिकारसूत्रातून प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त होणारे पद होय. (आता येथे सक्ताकार अशी सक्ता करतो की, भसज्ञेचे विधान करणाऱ्या 'यचि भम्' सू २३१ या सूत्रात) 'यस्मात् प्रत्ययविधिः' या सूत्राची अनुवृत्ति होत असल्यामुळे व अशा रीतीने भत्व अङ्गनिष्ठ ठरत असल्यामुळे, म्हणजे भत्व हा धर्म अङ्गाचे ठिकाणी राहणारा धर्म ठरत असल्यामुळे, अङ्गाला भसज्ञा होण्याकरिता जरी अङ्गापुढे असर्वनामस्थान यजादिस्वादि प्रत्यय असणे याचा आक्षेप होतो तरी, त्या भसजक अङ्गातील अवयव 'अन्' हा यजादिस्वादिप्रत्ययपरक, म्हणजे यजादिस्वादिप्रत्ययाच्या लगेच पूर्वी असणारा, असा 'अल्लोपोऽनः' या प्रकृत सूत्रातून अर्थ निघू शकत नाही. दुसरे असे की, 'अन्' हा जरी सूत्रनिर्दिष्ट 'अत्' याचे विशेषण होतो तरी,

तो 'अन्' 'अत्' या उद्देश्याचें विशेषण होत असल्यामुळे व 'विधी परिभाषा उपतिष्ठते नानुवादे'—परि. १०२—अशी परिभाषा असल्यामुळे, 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' सू. ४० ही निर्दिष्ट परिभाषा 'अन्' चे ठिकाणीं उपस्थित होऊं शकत नाही (व त्यामुळे 'यजादिस्वादिप्रत्ययपरको योजन् तस्य अकारस्य लोपो भवति' असा सूत्रार्थ होऊं शकत नाही आणि) त्यामुळे, 'अनस्त-
 क्षणा' इत्यादि उदाहरणांत 'अनस्' यांतील 'अन्' मध्ये अस-
 णान्या अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टाळतां येत नाही. (शंका-
 कार असें म्हणतो कीं, अङ्गाला भसंज्ञा होण्याकरितां त्या अङ्गापुढें
 असर्वनामस्थान यजादिस्वादिप्रत्यय असणें आवश्यक असल्यामुळे,
 जरी अङ्गाला भसंज्ञा झाल्यानं तशा प्रकारच्या प्रत्ययाचा नियम-
 करून आक्षेप करतां येतो तरी, तो आक्षिप्त प्रत्यय 'असर्वनाम-
 स्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरकं भसंज्ञकमङ्गम्' अशा रीतीनें भसंज्ञक
 अङ्गाचेंच विशेषण होऊं शकतो, 'अन्' चें विशेषण तो आक्षिप्त
 प्रत्यय होऊं शकत नाही. त्यामुळे 'यजादिस्वादिप्रत्ययपरकः यः
 अन् तस्य अकारस्य लोपः स्यात्' असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होऊं
 शकत नाही. दुसरें असें कीं, 'विधी परिभाषा उपतिष्ठते नानुवादे'
 या परिभाषान्वयें, कोणतीहि परिभाषा विधेयाच्या विशेषणाचे
 ठिकाणीं प्रवृत्त करतां येते, उद्देश्याच्या विशेषणाचे ठिकाणीं
 परिभाषा प्रवृत्त करतां येत नाही. प्रकृत सूत्रांत अकाराच्या लोपाचें
 विधान केलें असल्यामुळे, 'लोप' हा विधेय ठरत असून, ज्या
 अकाराचा, म्हणजे 'अत्' चा, लोप होणें सांगितलें आहे तो अकार
 उद्देश्य ठरतो व त्या उद्देश्याचें 'अनः' हें विशेषण असल्यामुळे,
 'विधी परिभाषा उपतिष्ठते' या परिभाषान्वयें, 'तस्मिन्निति
 निर्दिष्टे पूर्वस्य' ही परिभाषा त्या 'अन्' चे ठिकाणीं प्रवृत्त
 करतां येत नाही आणि त्यामुळे देखील 'यजादिस्वादिप्रत्ययपरकः यः
 अन् तस्य अकारस्य लोपः स्यात्' असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ
 होऊं शकत नाही. त्यामुळे 'अनस्तदन् टा' या स्थली 'अनस्तदन्'

हे अङ्ग भसजक असल्यामुळे, जरी 'अनस्' या पूर्व पदातील 'अन्' हा 'टा' या अजादिस्वादिप्रत्ययाच्या लग्नेच पूर्वी नाही तरी, त्यातील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येते व ती टाळता येणे अशक्य आहे) या शकेचे निवारण करण्याकरिता दीक्षितानी मनोरमैत 'एतच्च प्यडः सम्प्रसारणमिति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्' असे म्हटले आहे. ते भाष्य 'एव तहि कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् ... अनोऽकारस्येति' असे आहे. ('प्यडः सम्प्रसारणम्' सू. ६-१-१३ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकारानी 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' - परि. १०४ - ही परिभाषा पठित करून त्या परिभाषेची अनेक प्रयोजने सांगितेवेळी त्यांनी 'अन्कारान्तस्याऽल्लोपे' हे वातिक पठित केले आहे व त्या वातिकाचे व्याख्यान करिताना भाष्यकार म्हणतात - 'अन्कारान्तस्याऽल्लोपे प्रयोजनम् - तक्षणा तक्षणे इति । त इत्यत्रापि प्राप्नोति । अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति । एतदपि नास्ति प्रयोजनम्, - अनाऽकार विशेषयिष्यामः, - अनो योऽकार इति । एवमप्यनसा अनसे इत्यत्रापि प्राप्नोति । अन्कारेणाङ्ग विशेषयिष्यामोऽनाऽकारम् - अन्कारान्तस्याङ्गस्याऽनो योऽकार इति । एवमप्यनस्तक्षणाऽनस्तक्षणे इत्यत्रापि प्राप्नोति । ' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, 'अल्लोपोऽनः' या प्रकृत सूत्राचा अन्तर्गत भसजक अङ्गातील अकाराचा लोप करावा असा अर्थ केल्यास, 'तक्षन् टा' या स्थली तकारापुढील अकाराचा लोप होण्याची जी आपत्ति येते ती आपत्ति 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा असल्यामुळे टाळता येते, कारण या परिभाषेचा असा अर्थ आहे की, जेथे एखाद्या सूत्राने सांगितलेले आदेशरूप कार्य अन्त्य वर्णाहून भिन्न अशा दोन वर्णांना एखाद्या शब्दस्वरूपामध्ये युगपत् प्राप्त होते तेथे ते कार्य अन्त्य वर्णाच्या लग्नेच मार्गे असणाऱ्या वर्णालाच करावे. 'तक्षन् टा' या स्थली प्रकृत सूत्राने 'तक्षन्' यातील अन्त्य नकाराला लोपरूप कार्य पावले नसून अकाराला ते कार्य पावले आहे पण 'तक्षन्' या अन्तर्गत भसजक अङ्गात तर दोन अकार आहेत व त्या दोन अवकां-

पैकी कोणत्या अकाराचा लोप करावा असा प्रश्न उपस्थित झाला असता, 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा असें सांगते कीं 'तक्षन्' यांतील नकाराच्या लगेच पूर्वी असणाऱ्या अकाराचाच लोप करावा. त्यामुळे तकारापुढील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते व क्षकारापुढील अकाराचाच लोप होतो आणि 'तक्षणा, तक्षणे' अशीं इष्ट रूपे सिद्ध होतात. यावर भाष्यकार असें म्हणतात कीं, 'अनन्त्यविकारे' ही परीभाषा न मानली तरी, 'तक्षणा, तक्षणे' अशीं रूपे सिद्ध करता येतात. 'अल्लोपोऽनः' या प्रकृत सूत्रांतील 'अनः' हें पद 'अत् = अतः' या सूत्रनिर्दिष्ट पदाचें विशेषण मानून 'अनः यः अकारः' असा अर्थ केला असता, 'तक्षणा' या उदाहरणांत तकारापुढील अकार 'अन्' यांतील अकार नसल्यामुळे, त्याचा लोप होऊं शकत नाही व क्षकारापुढील अकार 'अन्' यांतील अकार नसल्यामुळे त्याचाच लोप होऊं शकतो व 'तक्षणा, तक्षणे' इत्यादि रूपे सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही. पण पुढें भाष्यकार असें म्हणतात कीं, 'अनः अकारस्य लोपः स्यात्' असा जर प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला तर, 'अनस् टा' या स्थलीं 'अनस्' हें भसंज्ञक अङ्ग असून त्यांत 'अन्' असल्यामुळे, त्या 'अन्' मधील अकाराचा लोप होण्याची व 'अनसा' असें इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. ही आपत्ति टाळण्याकरितां भाष्यकार असें सुचवितात कीं, प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त असलेल्या 'अङ्गस्य' या पदाचें सूत्रनिर्दिष्ट 'अनः' हें पद विशेषण मानावें व 'अनः' याचा 'येन विधिस्तदन्तस्य' सू. २६ या सूत्रान्वये 'अन्तस्य' असा अर्थ करावा. त्याचप्रमाणें 'अनः' हें पद सूत्रनिर्दिष्ट 'अत् = अतः' याचें देखील विशेषण मानावें व 'अनः अतः' याचा 'अनः यः अकारः तस्य' असा अर्थ करावा. असें केलें असता, प्रकृत सूत्राचा असा अर्थ होतो कीं, अन्तर्गत भसंज्ञक अङ्गाच्या 'अन्' मधील अकाराचा लोप होतो. 'अनस् टा' या उदाहरणांत 'अनस्' हें अङ्ग जरी भसंज्ञक आहे तरी तें अन्तर्गत नसल्यामुळे, वरील

अर्धान्वये त्या अज्ञातील 'अन्' च्या अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति आपोआपच टळने. पण पुढे भाष्यकार असे म्हणतात की, चरप्रमाणे प्रकृत सूत्राचा अर्थ केल्याने जरी 'अनसा' यातील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते तरी, 'अनस्तक्षन् टा' या उदाहरणात, अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा न मानल्यास, 'अनस्' या पूर्वं पदातील 'अन्' यात असणाऱ्या अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येऊ पाहते; कारण 'अनस्तक्षन्' हे अङ्ग अघ्नन्त व भसज्ञक असून त्या अज्ञात दोन 'अन्' आहेत. पण वरील परिभाषा मानली तर, त्या दोन 'अन्' पैकी उत्तर 'अन्' यातील अकाराचा लोप करता येतो व पूर्व 'अन्' मधील अकाराचा लोप करता येत नाही. म्हणून ती परिभाषा मानणे आवश्यक आहे असे शकाकारांनी म्हटले असता, त्या शकेवर भाष्यकार शब्दरत्नात उद्धृत केलेले उत्तर देतात, व ते उत्तर असे आहे- 'एव तर्हि । कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । भस्येति तत्रोपस्थितमिदं भवति यच्च भमिति, तत्र यजादिपरतयाञ्कार विशेषयिष्यामोऽज्ञाञ्कारयजादिपरस्याञ्जो योज्कार इति ।' या भाष्याचा भावार्थ शब्दरत्नकार स्वतःच पुढील पक्तीत सांगतात.) या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, (प्रकृत सूत्र भाष्यकारात पठित असल्यामुळे, त्यात 'भस्य' या पदाची अनुवृत्ति होते व) कार्यकालपक्षात 'भस्य' या अनुवृत्त पदाचे श्रवण झाले असता, 'भ' या पदाचा अर्थ काय आहे अशी जिज्ञासा उत्पन्न होताक्षणीच ('यदा कार्यं तदा सज्ञापरिभाषम्' या न्यायान्वये) 'यच्च भम्' हे भसज्ञाविधायक सूत्र उपस्थित होऊन 'भ' या शब्दाचा अभिधावृत्तीने होणारा अर्थ कळतो व (ते सज्ञासूत्र प्रकृत विधिसूत्राशी एकवाक्यतापन्न झाले असता) प्रकृत सूत्राचा अर्थ करतेवेळी इष्ट रूपाची सिद्धि होण्याकरिता तन्नादिन्यायाचा आश्रय केल्याने, म्हणजे 'यच्च भम्' या सूत्रातील 'यच्च' हे पद दोनदा उच्चारल्याने, (ते पद जसे

‘अङ्स्थ’ या अनुवृत्त पदाचें विशेषण होतें त्याचप्रमाणें) तें पद प्रकृत सूत्रांतील ‘अनः’ या पदाचें देखील विशेषण होतें (व त्यामुळें ‘भसंज्ञकं यदङ्गं तदवयवस्य यजादिस्वादिप्रत्ययपरकस्य अनः अकारस्य लोपः स्यात्’ असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होतो व तसा अर्थ केल्यानें ‘अनस्तक्षणा’ या उदाहरणांत ‘अनस्’ या पूर्व पदांतील ‘अन्’ हा अजादिस्वादिप्रत्ययपरक नसल्यामुळें त्यांतील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते व ‘तक्षन्’ या उत्तर पदांतील ‘अन्’ जो अजादिस्वादिप्रत्ययपरक आहे त्यांतीलच अकाराचा लोप होऊन ‘अनस्तक्षणा’ असें इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत काहीं अडचण येत नाही. म्हणून भाष्यकार म्हणतात कीं, ‘अनन्त्यविकारे’ ही परिभाषा न मानली तरी, प्रकृत सूत्राचा जसा वर अर्थ केला आहे तसा अर्थ केल्यानें सर्व दोषांचें निवारण होऊन सर्व इष्ट रूपें सिद्ध होऊं शकतात. सारांश दीक्षितांनीं कौमुदींत प्रकृत सूत्राचा जो अर्थ दिला आहे त्याला हें बरील भाष्य प्रमाण आहे असें शब्दरत्नकारांचें म्हणणें आहे.) ‘विधौ परिभाषा उपतिष्ठते नानुवादे’ ही परिभाषा ‘इको गुणवृद्धी’ सू. ३४ व ‘अचश्च’ सू. ३५ हीं दोन सूत्रें खेरीज करून इतर कोणत्याहि सूत्रास लागू पडत नाही; कारण ‘उदात्त-स्वरितयोर्यणः’ सू. ३६५७ इत्यादि सूत्रांतील ‘उदात्तस्वरितयोः’ या पदाचा ‘उदात्तस्वरितस्थानिकयणः’ असा अर्थ करणें इष्ट आहे. या विषयाचें विवेचन (‘प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य’ सू. ४६३ या) स्वोप्रत्ययप्रकरणांतील इत्वविधायक सूत्राचें व्याख्यान करितांना करण्यांत येईल. (‘किञ्च विधौ परिभाषेति प्रवाद इको गुणवृद्धौ अचश्च इत्यनयोविधीयत इत्यध्याहारमूलकोज्यत्र तु नास्याः फलम्’, म्हणजे ‘विधौ परिभाषा उपतिष्ठते’ ही जी प्राचीन वैयाकरणांनीं परिभाषा मानली आहे ती ‘इको गुणवृद्धी’ व ‘अचश्च’ या दोन नूदांत ‘विधीयते’ या पदाचा जो अध्याहार करावा लागतो त्याच्या आधारारच मानली आहे व हीं दोन सूत्रें खेरीज करून इतर कोठेंहि ही परिभाषा मानल्यानें कोणत्याहि विशेष फळाची निष्पत्ति

दितां हल उपधायाः' सू. ४१५ या सूत्राने 'अञ्च्' यांतील नकाराचा लोप होऊन व 'वेरपूक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने 'क्विन् = व्' या अपूक्त प्रत्ययाचा लोप होऊन 'अदस् अच्' अशी स्थिति झाल्यावर 'विद्वग्देवयोः' सू. ४१८ या सूत्राने 'अदस्' यांतील 'टि' चे, म्हणजे 'अस्' चे, जागी 'अद्रि' असा आदेश होऊन 'अदद्रि अच् = अदद्रचच्' अशी स्थिति होते. अशा स्थितीत 'अदसोसेर्दादु दो मः' सू. ४१९ या सूत्राने 'अदद्रचच्' यांतील प्रथम दकाराचा मकार व त्या दकारापुढील अकाराचा उकार आणि त्याचप्रमाणे द्वितीय दकाराचे जागी मकार व त्या दकारापुढील रेफाचे जागी उकार केल्यास, 'अमुमुयच्' असे रूप होतें. पण असे रूप होणें ज्या वैयाकरणांना इष्ट नाहीं व 'अदमुयच्' असेच रूप होणें इष्ट आहे त्यांचें असे म्हणणें आहे कीं, 'अमुमुयच्' हें रूप सिद्ध न व्हावें याकरितां 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा मानणें इष्ट आहे व ही परिभाषा मानली असतां, 'अदद्रचच्' यांतील अन्त्य वर्णाव्या मार्गे असणाऱ्या उत्तर दकारास व त्यापुढील रकारास 'अदसोऽसेः' या सूत्राने होणारें कार्य होतें व पूर्व दकारास व त्यापुढील अकारास तें कार्य होत नाहीं आणि त्यामुळे 'अमुमुयच्' असे रूप होण्याची आपत्ति टळते. तसेंच ही परिभाषा मानली असतां 'अनस्तक्षन् टा' इत्यादि स्थलीं उत्तर 'अन्' मधील अकाराचा प्रकृत सूत्राने लोप होतो व पूर्व 'अन्' मधील अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति टळते.) म्हणून 'सान्त महतः' सू. ३१७ इत्यादि सूत्रांच्या विषयांत अनेक क्लिष्ट कल्पना करण्यापेक्षा 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा मानणेंच उचित आहे. वार्तिककाराने त्या परिभाषेची जीं फलें सांगितलीं आहेत तीं फलें (ती परिभाषा न मानतां देखील) इतर रीतीनें सिद्ध होऊं शकतात एवढेंच दाखविण्यापुरतें ('प्यङः सम्प्रसारणम्' या सूत्रावरील) भाष्य आहे आणि म्हणूनच त्या भाष्यांत 'यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेवा परिभाषा कर्तव्या' असा उपसंहार केला आहे. ('प्यङः सम्प्रसारणम्'

सू. ६-१-१३ या सूत्रावरील भाष्यात 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेची वास्तिककारानें जी आठ प्रयोजनें सांगितली आहेत त्यापैकी 'सान्त महतो दीर्घत्वे' हे द्वितीय प्रयोजन आहे याचे व्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात—'सान्त महतो दीर्घत्वे प्रयोजनम् । पयासि यशासि । प य इत्यस्यापि प्राप्नोति । अनन्त्यविकारे-
 ज्ज्यसदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, 'पयस् जस्, यशस् जस्' या उदाहरणात 'जदशसोः शि.' सू. ३१२ या सूत्रानें 'जस्' प्रत्ययाचे जागी 'शि = इ' असा आदेश होऊन व तो आदेश 'शि सर्वनामस्थानम्' सू. ३१३ या सूत्रान्वये सर्वनामस्थानसङ्गक असल्यामुळे 'नपुसकस्य झलच.' सू. ३१४ या सूत्रानें नुमागम होऊन 'पयन्स् इ, यशन्स् इ' अशी स्थिति झाली असता, या स्थली सान्त सयोग अन्ती असून त्यापुढें 'इ' हा सर्वनामस्थानप्रत्यय असल्यामुळे, 'सान्त महत. सयोगस्य' सू. ३१७ या सूत्रानें सयोगाच्या पूर्वी असणाऱ्या अचाला दीर्घकार्य पावले आहे. 'पयन्स्' या स्थली पकारापुढें व तसेच यकारापुढें अकार आहे. 'यशन्स्' या स्थली देखील यकारापुढें व तसेच शकारापुढें अकार आहे. या दोन अकारापैकी कोणत्या अकाराला दीर्घकार्य करावे ? पूर्वं अकारास दीर्घकार्य केले असता अनिष्ट रूपें होण्याची आपत्ति येते. 'अनन्त्य-
 विकारे' ही परिभाषा मानल्याने, पूर्वं अकारास दीर्घकार्य न होता उत्तर अकारालाच ते कार्य होऊन इष्ट रूपें सिद्ध होतात आणि म्हणून ती परिभाषा मानणे आवश्यक आहे. अशा प्रकारें व्याख्यान करून पुढें भाष्यकार म्हणतात—'एतदपि नास्ति प्रयोजनम्' व हे प्रयोजन अन्यथासिद्ध ठरविण्याच्या हेतूने भाष्यकारांनी अनेक क्लिष्ट कल्पना योजिल्या आहेत अशाच रीतीने इतर प्रयोजनांचे सण्डन करितांना देखील भाष्यकारांनी तद्देह-तद्देह्या क्लिष्ट कल्पना केल्या आहेत. तरी पण त्यांनी 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेचे प्रत्याख्यान केले नाही. उलट 'एते दोषा. समा भूयासो या,

तस्मान्नार्थोऽनया परिभाषया' असें शंकाकारानें 'म्हटलें असतां, त्या शंकेवर भाष्यकारांनीं 'न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्, न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्चीयन्ते, न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते । दोषाः, खल्वपि साकल्येन परिगणिताः... तस्माद्यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या, प्रतिविधेयं दोषेषु' असें उत्तर दिलें आहे. या भाष्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, भाष्यकारांनीं 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेचें प्रत्याख्यान केलें नसून ती परिभाषा स्वीकारली आहे. प्राचीन वैयाकरणांनीं जसा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तो बरोबर आहे असें मानल्यास, मनोरमंत ज्या अनेक अडचणी दाखविल्या आहेत त्या सर्व अडचणी 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा मानल्यानें सहज टाळतां येऊं शकत असल्यामुळे, दीक्षितांनीं कीमुदीत जसें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे तसें व्याख्यान न करितां काशिकाकार व प्रक्रियाकीमुदीकार यांनीं जें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे तें स्वीकारलें तरी, 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा असल्यामुळे, कोणताहि दोष उपस्थित होण्याचा संभव नाही असा त्या वैयाकरणांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. पण या त्यांच्या म्हणण्यावर अशी शंका करण्यांत येते कीं,) 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सू. ६-१-३७ या सूत्रावरील भाष्यांत 'नैतस्याः परिभाषायाः सन्ति प्रयोजनानि' असें 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेसंबंधानें म्हटलें आहे. (त्यावरून असें दिसून येतें कीं, 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा भाष्यकारांनीं अखेरीस प्रत्याख्यात केली आहे. म्हणून ती परिभाषा मुळींच मानतां येत नाही आणि त्यामुळे प्राचीन वैयाकरणांनीं जें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे तें स्वीकारतां येत नाही; कारण तें स्वीकारल्यास, दीक्षितांनीं मनोरमंत दाखविलेल्या आपत्ति, त्या परिभाषेच्या अभावीं, टाळतां येणें अशक्य आहे. म्हणून दीक्षितांनीं जसें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे तेंच बरोबर मानणें भाग आहे. या शंकेवर ते वैयाकरण असें उत्तर देतात कीं, 'न

सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' या सूत्रावरील 'नैतस्याः परिभाषाया सन्ति प्रयोजनानि' हे) वरील भाष्य, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इत्यादि सूत्रनिर्देशच (सूत्रविहित कार्ये उत्तर यणालाच होत असून पूर्वं यणाला ते कार्ये होत नाही याचे) शापक असल्यामुळे, 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेची प्रयोजनें थोडी आहेत एवढेंच सुचविते (व त्या परिभाषेचे भाष्यकारानी प्रत्याख्यान केले आहे असे त्या भाष्यावरून सूचित होत नाही. 'प्यड सम्प्रसारणम्' या सूत्रावरील भाष्यात 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेचे 'प्रयोजन न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' हे जें प्रथम प्रयोजन सांगितले आहे त्याचे व्याख्यान करिताना भाष्यकार म्हणतात - 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणमित्येतन्न वक्तव्यं भवति । कथं व्यघेर्विद्ध इति ? । अनन्त्यविकारेऽन्त्यसंदेशस्य कार्यं भवतीति न दोषो भवति । नैतदस्ति प्रयोजनम्, क्रियते न्यास एव ।' या भाष्यावरून ह स्पष्ट होत की, भाष्यकाराच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, 'अनन्त्यविकारे' या परिभाषेची जी अनेक प्रयोजनें वास्तविकारानें सांगितली आहेत त्यापैकी बरीबरी प्रयोजनें सूत्रन्यासानेंच, म्हणजे पाणिनीय सूत्रात वापरलेल्या शब्दानांच, सिद्ध होतात व त्यामुळे ती परिभाषा मानण्यास फारच थोडी प्रयोजनें अवशिष्ट राहतात पण त्या अवशिष्ट अल्प प्रयोजनाच्या सिद्धीकरिता ती परिभाषा मानण भाष्य आहे, नाही तर त्या परिभाषेच्या अभावी ती प्रयोजनें सिद्ध न होता अनिष्ट रूपे होण्याची आपत्ति येईल सारांश 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा भाष्यकारानी प्रत्याख्यात वेळी नवून स्वीकारली असल्यामुळे, प्राचीन धर्माचरणांनी वेळेवेळी प्रवृत्त सूत्राचे व्याख्यान मानले असता दीक्षितानी मनोरमैत ज्या अनेक आपत्ति दर्शविल्या आहेत त्या, त्या परिभाषेच्या सहाय्यानें, महज टाळता येऊ शकतात म्हणून 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' या सूत्रातील) वरील भाष्यावर जर अशा प्रकारचे उत्तर देता येत तर मग प्रवृत्त सूत्रांतील 'यणि' रूपद प्रवृत्त सूत्रांत अनुपुत्त हाताच्या 'अद्भ्य' या पदापेच विनोप

मानणें पुरे आहे असें वैयाकरणांचें म्हणणें आहे (व 'यचि' हें पद 'अन्' चें विशेषण मानून 'यजादिस्वादिपरस्य अनः अकारस्य' असें प्रकृत सूत्राचें लांबलचक व्याख्यान करण्याची कांहीं गरज नाही व 'अन्नन्तस्य भस्य अङ्गस्य अकारलोपः स्यात्' असें जें प्राचीन वैयाकरणांनीं प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे तें स्वीकारलें असतां, 'अनन्त्यविकारे' ही परिभाषा असल्यामुळें, कोणताहि दोष येत नाही व सर्व इष्ट रूपांची सिद्धि होऊं शकते असें शब्दरत्नकार म्हणतात.)

मनोरमा—“रषाभ्याम्” ॥ पद इतीयतैव सामर्थ्यादिकपदत्वे लब्धेऽपि समानग्रहणं यत्समानमेव अलण्डमिति यावत् । तत्र यथा स्यात्तेन समासे न भवति । रामनाम । यूष्ण इति । यूषो मण्डः ।

मुद्गामलकयूषस्तु भेदी दीपनपाचनः ॥

इति दर्शनात् । इति पक्षे त्विति । एतेन पञ्चमीसमासस्य पाक्षिकतां ध्वनयति । तथा हि । भाष्ये वेभिदिता, भाषितिकः, अपीपचन्निति प्रयोजनत्रयमुक्तम् । तच्चान्यथा सिद्धम् । एकाच उपदेशे इत्यत्र विहितविशेषणादेव वेभिदितेत्यत्र इप्तिषेधो न । भषितं पण्यमस्येति विग्रहे ठकि ठस्येकादेशे “यस्येति च” इत्यल्लोपे “इमुमुक्तान्तात्कः” इति कादेशस्तु न भविष्यति, ठस्याभावात् । न च स्थानिवद्भावेन ठत्वमत्ववित्त्वात् । “ठस्येकः” इत्यत्र हि स्थान्यादेशयोरकार उच्चारणार्थः । अपीपचन्नित्यपि णिलोपस्य, चङन्त्यकारयोरेकादेशस्य, च स्थानिवद्भावं विनापि सिद्धम् । विदि-साहचर्यादिभ्यस्तादपि लुङ् एव श्रेर्जुसंविधानात् । न च सिच् साहचर्याद् लुङ् एव किं न स्यादिति वाच्यम् । पूर्वसाहचर्यात्पर-साहचर्यस्य वलीयस्त्यादिति दिक् ।

‘रषाभ्यां नो णः समानपदे’ सू. २३५ या सूत्रांत ‘पदे’ एवढेंच जरी म्हटलें असतें तरी त्या शब्दाच्या सामर्थ्यानें ‘एकपदे’, असा अर्थ झालाच असता. असें असून देखील ‘समानपदे’ या पदांत

‘समान’ या शब्दाचे जें ग्रहण केले आहे ते अशाकरिता की, ‘समान’ म्हणजे ‘अखण्ड पद’ असा अर्थ बोधित व्हावा व तशाच स्थली गत्व व्हावे प्रकृत सूत्राचा असा अर्थ होत असल्यामुळे, सामासिक पदात असलेल्या नकाराचे गत्व होत नाही उदाहरणार्थ ‘रामनाम.’ (‘रामनाम’ हें अखण्ड पद असून ‘राम’ व ‘नाम’ या दोन अखण्ड पदाचे बनलेले सामासिक पद आहे ‘रामस्य नाम रामनाम’ या पंथीसमासातील ‘राम’ या पूर्वपदात गत्वाचे निमित्त रकार असून ‘नाम’ या उत्तर पदात गत्वाचा कार्यी नकार असल्यामुळे व अशा रीतीने निमित्त व कार्यी हे एकाच अखण्ड पदात नसल्यामुळे, या उदाहरणात नकाराचे गत्व होऊ शकत नाही गत्वकार्य होण्याकरिता गत्वाचे निमित्त व गत्वाचा कार्यी हे दोन्ही एकाच अखण्ड पदात, म्हणजे ज्या पदाची पदरूप शकले पाडता येत नाहीत अशा पदात, असणे आवश्यक आहे व हा अर्थ बोधित करण्याकरिताच प्रकृत सूत्रात ‘समान’ या पदाचे पाणिनीने ग्रहण केले आहे असा दोषिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे. प्रकृत सूत्रावरील कोमुदीत प्रकृत सूत्रानें गत्व होण्याचे) ‘यूष्ण’ हे उदाहरण दिले आहे (या उदाहरणात ‘यूष्ण’ या अखण्ड पदामध्ये गत्वाचे निमित्त पकार असून त्याच्या लगेच पुढें त्याच पदात नकार हा गत्वाचा कार्यी असल्यामुळे, त्या नकाराचे प्रकृत सूत्रानें गत्व झाले आहे) ‘यूप’ या शब्दाचा ‘मण्ड’, म्हणजे पेज, असा अर्थ आहे. ‘मुद्गमलवयूपस्तु भेदी दीपनपाचन’, म्हणजे मूग व आवळे याची पेज शीघ्र साफ करणारी, जठराम्नीचे उद्दीपन करणारी व अन्न पचन करणारी आहे, या वैद्यकशास्त्रातील श्लोकात ‘यूप’ हा शब्द ‘पेज’ या अर्थामध्येच वापरला आहे. प्रकृत सूत्रावरील कोमुदीत ‘पूर्वस्मादपि विधी स्थानिवद्भावा इति पक्षे त्वद्ध्यवाय इत्येवात्र गत्वम्’ असे जें म्हटले आहे त्याने हे ध्वनित केले आहे की, (‘अधपरस्मिन् पूर्वविधी’ गू ५० या सूत्रातील ‘पूर्वविधी’ या पदाचा ‘पूर्वस्मात्

विधी' असा) वैकल्पिक पञ्चमीसमासपक्ष मानला आहे. ('पूर्वविधी' या पदाचा भाष्यकारांनी 'पूर्वस्य विधी' असा षष्ठीसमास व त्याचप्रमाणे 'पूर्वस्मात् विधी' असा पञ्चमीसमास केला आहे. 'पूर्वस्य विधी' असा षष्ठीसमासपक्ष मानल्यास, 'यूषन् शस् = यूषन् अस्' या स्थलीं 'यूषन्' या भसंज्ञक अन्त अङ्गांत असणाऱ्या 'अन्' मधील ज्या अकाराचा 'अलोपोऽनः' सू. २३४ या सूत्राने लोप झाला आहे त्याच्या पूर्वी असलेल्या वर्णाला कार्य करणे नसून त्या अकारापुढे असणारा जो नकार त्याला णत्वरूप कार्य करणे असल्यामुळे, 'अचः परस्मिन्' हे सूत्र त्या पक्षांत 'यूष्णः' या उदाहरणास लागू पडत नाही व त्यामुळे अकारलोपाचे ठिकाणी स्थानिवद्भावा होत नाही व प्रकृत सूत्रानेच णत्व होते. परंतु 'पूर्वस्मात् विधी' हा पञ्चमीसमासपक्ष मानल्यास, या पक्षांत 'अचः परस्मिन्' हे सूत्र 'यूष्णः' या उदाहरणास लागू पडते; कारण वर सांगितल्याप्रमाणे त्या उदाहरणांत ज्या अकाराचा लोप झाला आहे त्याच्या पूर्वी णत्वाचे निमित्त पकार असून त्या निमित्तामुळे त्या अकारापुढे असलेल्या नकाराचे णत्व करणे आहे. त्यामुळे 'अन्' यांतील ज्या अकाराचा लोप झाला आहे तो अकार विद्यमान आहे अशी या पक्षांत 'अचः परस्मिन्' या सूत्रान्वये स्थानिवद्भावाने बुद्धि करावी लागते व अशा रीतीने पकाराच्या लगेच पुढे नकार नसून दोहोंमध्ये 'अ' या 'अट्' चे व्यवधान आहे असे मानावे लागत असल्यामुळे, 'यूष्णः' या स्थलीं पञ्चमीसमासपक्षांत 'रपाम्यां नो णः' या प्रकृत सूत्रान्वये णत्व न होता, 'अट्कुप्वाङ्नुम्वयायेऽपि' सू. १९७ या सूत्रान्वये णत्व होते असे दोक्षितांचे म्हणणे आहे.) भाष्यकारांनी पञ्चमीसमासपक्ष मानण्याची 'वेभिदिता, माथितिकः, अपीपचन्' अशीं तीन प्रयोजने सांगितली आहेत. ('अचः परस्मिन्' सू. १-१-५७ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात—'अथ विधिग्रहणं किमर्थम् ? । सर्वविभक्त्यन्तः समासो यथा विज्ञायेत ।

पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः, पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिरिति । कानि पुनः पूर्वस्माद्विधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ? । बेभिदिता, माथितिकः, अपीपचन् । बेभिदिता चेच्छिदितेत्यकारलोपे कृत एकाजलक्षण इट्प्रतिषेधः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तात्क इति कादेशः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । अपीपचन्नित्येकादेशे कृतेऽभ्यस्ताज्जो-र्जुस्मवतीति जुस्भावः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । 'या भाष्यामर्बधाने दीक्षितानी जे पुढील पंक्तीत म्हटले आहे त्याचे विवरण करतेवेळी या भाष्याचेहि व्याख्यान करण्यांत येईल. या वरील भाष्यासबधाने दीक्षित असे म्हणतात की, पञ्चमीसमासपक्ष न मानता देखील त्या भाष्यात दिलेली) वरील तीनही रूपे इतर रीतीने सिद्ध करता येतात. 'एकाच उपदेशे' सू. २२४६ या सूत्रात वलादि आर्धधातुकप्रत्ययाचे 'विहितः' हे विशेषण मानल्यानेच 'बेभिदिता' या स्थली इडागमाचा निषेध पावत नाही. ('भिद्' धातूहून 'यङ् = य' प्रत्यय केला असता, 'सन्त्यङो' सू. २३९५ या सूत्राने द्विवचन होऊन व 'अभ्यासे चर्च' सू. २१८२ या सूत्राने अभ्यासातील भकाराचे जागी बकार होऊन व 'गुणो यङ्लुको' सू. २६३० या सूत्राने अभ्यासातील इकाराचा गुण होऊन 'बेभिद्य' असे जे रूप होते ते यङन्त असल्यामुळे, 'सनाद्यन्ता धातव.' सू. २३०४ या सूत्राने त्याला धातुसंज्ञा होते. या धातूहून 'प्बुल्लुचो' सू. २८९५ या सूत्राने 'तृच्' प्रत्यय केला असता, 'अतो लोप' सू. २३०८ या सूत्राने त्या धातूतील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन व 'यस्य हलः' सू. २६३१ या सूत्राने अवशिष्ट यकाराचा लोप होऊन 'बेभिद् तृच्' अशी स्थिति होते भाष्यकार म्हणतात की, या स्थली 'एकाच उपदेशे' या सूत्राने आर्धधातुक वलादि 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम होऊं शकत नाही; कारण 'बेभिद्' यातील मूळ धातु 'भिद्' हा उपदेशात-धातुपाठात-एकाच् असून अनुदात्त पठित आहे व त्याच्या लगेच पुढे 'तृच्' परंतु पूर्व-

विधौ' हा पञ्चमीसमास मानल्याने, 'अतो लोपः' या सूत्राने ज्या अकाराचा लोप झाला आहे त्याच्या पुढील 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम प्रसिद्धे करतंवेळीं अकारलोप झालाच नाही व अकार विश्रुत आहे अशी 'अचः परस्मिन्' सू. ५० या सूत्रान्वये स्थानिद्वावाने बुद्धि करता येते आणि अशा रीतीने 'भिद्' धातु व 'तृच्' प्रत्यय या दोहोंमध्ये त्या अकाराचे व्यवधान आहे असे मानता येत असल्यामुळे, या स्थली 'एकाच उपदेशे' हें सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही व त्यामुळे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सू. २१८४ या सूत्राने 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम होऊन 'वेभिदिता' असे इष्ट रूप सिद्ध होतं असा भाष्यकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे. यावर दीक्षित असे म्हणतात की, 'एकाच उपदेशे' या सूत्रांत 'विहित' हें पद अध्याहृत करून व ते पद आर्धधातुकप्रत्ययाचे विशेषण मानून त्या सूत्राचा 'उपदेशे यो धातुरेकाच् अनुदात्तश्च तस्माद्विहितस्य वलादेरार्धधातुक-प्रत्ययस्य इट् न स्यात्' असा अर्थ केल्याने, प्रकृत स्थली जो आर्धधातुकवलादि 'तृच्' प्रत्यय झाला आहे तो उपदेशांत पठित असलेल्या 'भिदिर् विदारणे' या एकाच् अनुदात्त धातूहून झाला नसून 'वेभिद्य' या यङन्त अनेकाच् धातूहून झाला असल्यामुळे, 'एकाच उपदेशे' हें इडागमनिषेधाचे सूत्र येथे प्रवृत्त होऊ शकत नाही व त्यामुळे 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम होऊन 'वेभिदिता' हें इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही. सारांश पञ्चमीसमासपक्ष न मानता 'वेभिदिता' हें इष्ट रूप वर सांगितल्या-प्रमाणे इतर रीतीने सहज सिद्ध होऊ शकत असल्यामुळे, त्या रूपाच्या सिद्धीकरिता पञ्चमीसमासपक्ष मानण्याची कांहीं आवश्यकता नाही असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'मथितं पण्यमस्य' असा विग्रह करून 'ठक्' प्रत्यय केला असता, 'ठ' चे जागी 'इक्' असा आदेश होऊन 'यस्येति च' सू. ३११ या सूत्राने अकारलोप झाल्यावर 'इसुसुक्तान्तात्कः' सू. १२२१ या सूत्रान्वये फादेश होऊ शकत नाही; कारण या ठिकाणी

‘ठ’ चा अभाव आहे. येथे स्थानिवद्भावाने ठकार विद्यमान आहे असे मानता येत नाही, कारण हा अल्पविधि आहे ‘ठस्येक’ सू. ११७० या सूत्रात स्थानी व आदेश या दोहोमध्यें जो अन्त्य अकार आहे तो केवळ उच्चारणार्थ आहे (‘मथित पण्यमस्य सः माथितिक’ या स्थली ‘तदस्य पण्यम्’ सू १६०१ या सूत्रानें ‘मथित’ या शब्दाहून ‘ठक्’ प्रत्यय होऊन व तो प्रत्यय कित् असल्यामुळें ‘किति च’ सू १०७६ या सूत्रानें ‘मथित’ यातील आद्य अचाची वृद्धि होऊन व ‘ठस्येक’ सू ११७० या सूत्रानें ‘ठ’ चे जागी ‘इक’ असा आदेश होऊन आणि ‘यस्येति च’ सू ३११ या सूत्रानें ‘मथित’ यातील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन ‘माथित् इक्’ अशी स्थिति झाली असता, ‘इक’ हा ‘ठ’ च आहे अशी स्थानिवद्भावाने वृद्धि केल्याने ‘इमुसुक्तान्तात्क’ सू १२२१ या सूत्रानें ‘माथित्’ या तकारान्त अङ्गापुढील ‘इक’ चे जागी ‘क’ होण्याची आपत्ति येते परंतु पञ्चमीसमासपक्ष मानल्याने ती आपत्ति टळते; कारण ‘यस्येति च’ या सूत्रानें ‘माथित’ यातील ज्या अन्त्य अकाराचा लोप झाला आहे त्यापुढील ‘ठ = इक’ चे जागी कादेश करतेवेळी, त्या अकाराचा लोप झालाच नाही व तो अकार विद्यमान आहे असे ‘अचः परस्मिन्’ या सूत्रानें स्थानिवद्भावाने मानल्याने, ‘माथित्’ हे अङ्ग तकारान्त नसून ते अकारान्त आहे असे मानता येऊ शकत असल्यामुळें, ‘इमुसुक्तान्तात्कः’ या सूत्राची येथे प्रवृत्ति होऊ शकत नाही त्यामुळें ‘ठ’ चे जागी ‘क’ असा आदेश न होता पूर्वी झालेला ‘इक’ आदेश कायम राहतो व ‘माथितिक’ असे इष्ट रूप सिद्ध होते असा भाष्यकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे येथे हे लक्षात ठेवावे की, ‘ठस्येक’ या सूत्रात ‘ठ’ हे सघातग्रहण आहे, म्हणजे अकारसहित ठकार आहे, असे मानून भाष्यकारानी ‘ठ’ चे जागी झालेला ‘इक’ हा आदेश स्थानिवद्भावाने ‘ठ’ च आहे असे मानले आहे यावर दीक्षित असे म्हणतात की, ‘ठस्येक.’ या सूत्रानें

‘ठ’ चे जागीं ‘इक्’ असा आदेश होत नसून त्या ‘ठक्’ = ठ’ प्रत्ययांतील केवळ ठकाराचे जागीं ‘इक्’ असा आदेश होतो असें मानल्यानें, म्हणजे ‘ठकारस्य स्थाने इक् आदेशः स्यात्’ असा त्या सूत्राचा अर्थ केल्यानें, ज्या स्थानीचे जागीं ‘इक्’ आदेश त्या सूत्रानें होतो तो स्थानी ‘ठ’ असा अल्ल संघात नसून ‘ठ्’ असा अल्ल असल्यामुळें व ‘स्थानिवदादेशः’ सू. ४९ या सूत्रांत ‘अनल्विधी’ असा प्रतिषेध असल्यामुळें, ठकार या अल्लरूप स्थानीचे जागीं झालेला ‘इक्’ हा आदेश ठकारच आहे असें मानतां येत नाहीं आणि त्यामुळें ‘इसुसुवतान्तात्कः’ या सूत्राची येथें प्राप्तीच होत नाहीं; कारण ते सूत्र असें सांगतें कीं, तकारान्त अङ्गापुढें ठकार असल्यास त्याचे जागीं ‘क’ असा आदेश करावा. परंतु प्रकृत स्थलीं तर ठकाराचे जागीं ‘इक्’ हा आदेश पूर्वीच होऊन गेला आहे आणि वर सांगितल्याप्रमाणें तो अल्लविधि असल्यामुळें, ‘इक्’ हा ठकारच आहे असें स्थानिवद्भावानें मानतां येत नाहीं. म्हणून ठकारच जर नाहीं तर ‘क’ या आदेशाची प्राप्ति कशी होणार? सारांश पञ्चमीसमासपक्ष न मानतां ‘माथित् इक् अ = माथितिक’ हें इष्ट रूप देखील वर सांगितल्याप्रमाणें सहज सिद्ध होऊं शकत असल्यामुळें, त्या रूपाच्या सिद्धीकरितां पञ्चमीसमासपक्ष मानण्याची कांहीं गरज नाही असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) ‘अपीपचन्’ या उदाहरणांत देखील णिलोपाचे ठिकाणीं व तसेंच ‘चङ् = अ’ व ‘क्षि = अन्ति’ या स्थलीं जो एकादेश होतो त्याचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव न मानतां देखील ‘अपीपचन्’ हें रूप सिद्ध होऊं शकतें; कारण ‘सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च’ सू. २२२६ या सूत्रांत अभ्यस्ताला ‘विद्’ धातूचें साहचर्य असल्यामुळें, अभ्यस्त धातूहून केवळ ‘लङ्’ लकारांतच होणाऱ्या ‘क्षि’चे जागीं त्या सूत्रानें ‘जुस्’ आदेश होऊं शकतो. त्या सूत्रांत अभ्यस्ताला ‘सिच्’चें देखील साहचर्य असल्यामुळें, अभ्यस्त धातूहून ‘लुङ्’ लकारांत होणाऱ्या ‘क्षि’चे जागीं ‘जुस्’ आदेश कां

होऊ नये असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही; कारण .
 पूर्वसाहचर्यापेक्षा परसाहचर्य बलवत्तर असते. ('पच्' धातूहून
 'णिच्' प्रत्यय केला असता, 'अत उपधाया.' सू. २२८२ या
 सूत्राने 'पच्' यातील अकाराची वृद्धि होऊन 'पाच् णि' अशी
 स्थिति होते. या णिजन्त धातूहून लुङ् करणे झाल्यास, 'णिश्चिद्रुसुभ्यः
 कर्तरि चङ्' सू. २३१२ या सूत्राने 'चि' चे जागी 'चङ् = अ'
 होऊन व 'चङि' सू. २३१५ या सूत्राने द्विवचन होऊन आणि
 'ह्रस्वः' सू. २१८० या सूत्राने अभ्यासाचा ह्रस्व होऊन 'अ पपाच्
 णि चङ् सि' अशी स्थिति झाली असता 'णी चङि उपधाया ह्रस्वः'
 सू. २३१४ या सूत्राने 'पाच्' यातील 'आ' या उपधेचा ह्रस्व,
 म्हणजे अकार, होऊन आणि 'सन्वल्लघुनि' सू. २३१६ या
 सूत्राने सन्वद्धाव होत असल्यामुळे, 'सन्वतः' सू. २३१७ या सूत्राने
 अभ्यासातील अकाराचा इकार होऊन व 'दीर्घोः लघो.' सू.
 २३१८ या सूत्राने तो इकार दीर्घ होऊन 'अपीपच् णि चङ् सि'
 अशी स्थिति होते. अशा स्थितीत 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्राने
 'सि' यातील इकाराचा लोप होऊन व 'क्षोऽन्तः' सू. २१६९ या
 सूत्राने झकाराचे जागी 'अन्त्' असा आदेश होऊन 'अपीपच् णि
 अ अन्त्' अशी स्थिति झाली असता, 'णेरनिटि' सू. २३१३ या
 सूत्राने णिलोप होऊन व 'अतो गुणे' सू. १९१ या सूत्राने 'चङ् =
 अ' आणि 'अन्त्' यातील अकार या दोहोचे जागी 'अ' असा
 पररूप एकादेश होऊन 'अपीपचन्त्' अशी स्थिति होते. या स्थिती
 'चङ् = अ' व 'श्' चे जागी झालेल्या 'अन्त्' या आदेशाचा
 अकार या दोहोचा जो एकादेश होतो त्या एकादेशाचे ठिकाणी
 परादिवद्धाव गेल्याने 'अपीपच्' या अभ्यस्त अङ्गापुढे 'श्' चे जागी
 झालेला 'अन्त्' हा आदेश आहे असे मानता येते आणि 'सि' यातील
 इकाराचा 'इतश्च' या सूत्राने लोप झाल्यावर 'श्' असे जे
 एकदेशपिबृत्त रूप होते त्याचे जागी झालेला हा 'अन्त्' आदेश
 'सि' च आहे असे स्थानिवद्धावाने मानता येते. अशा रीतीने

अभ्यस्त अङ्गाच्या लगेच पुढे 'झि' आहे असें मानावे लागत असल्यामुळे, 'झि' चे, म्हणजे 'अन्त्' चे, जागीं 'सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च' या सूत्रानें 'जुस्' आदेश होण्याची व अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. परंतु पञ्चमीसमासपक्ष मानल्यानें ती आपत्ति टळते; कारण 'जेरनिटि' या सूत्रानें जो 'णि = इ' चा लोप झाला आहे व 'अतो गुणे' या सूत्रानें पररूप एकादेश केल्यानें जो 'चङ् = अ' नाहींसा झाला आहे त्यांच्या पुढें असणाऱ्या 'झि = अन्त्' चे जागीं 'जुस्' आदेश करतेवेळीं णिलोपाचे ठिकाणीं व तसेंच एकादेशानें लुप्त झालेल्या 'चङ् = अ' चे ठिकाणीं 'अचः परस्मिन्' या सूत्रानें स्थानिवद्भावे केल्यानें ते 'इ' व 'अ' विद्यमान आहेत आणि अशा रीतीनें 'अपीपच्' हें अभ्यस्त अङ्ग व 'झि = अन्त्' या दोहोंमध्ये 'णि' व 'चङ्' चें व्यवधान आहे असें मानतां येऊं शकत असल्यामुळे, 'सिजभ्यस्त-विदिभ्यश्च' हें सूत्र येथें प्रवृत्त होऊं शकत नाहीं व त्यामुळे 'अन्त्' चे जागीं 'जुस्' आदेश न होतां, 'संयोगान्तस्थ लोपः' सू. ५४ या सूत्रानें 'अपीपचन्त्' या संयोगान्त पदांतील अन्त्य तकाराचा लोप होऊन 'अपीपचन्' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें असा भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे व हा आशय कथ्यानें आपल्या टीकेत 'शेरितश्चेतीकारलोपे कृते एकदेशविकृतमन्य-चद्भवतीति शिरेवायम्, तद्यान्तादेशे कृते चङकारस्थ च पररूपे कृते तस्यादिवद्भावाज्जुस् प्राप्नोति । स्थानिवद्भावे तु णिलोपस्य पररूपस्य च व्यवधानान्न भवति ।' या शब्दांत थोडक्यांत स्पष्टपणें व्यक्त केला आहे. यावर दीक्षित असें म्हणतात कीं, पञ्चमीसमासपक्ष न मानतां व णिलोप आणि 'चङ्' जो एकादेशानें लुप्त झाला आहे त्याचे ठिकाणीं स्थानिवद्भावे न करितां देखील 'अपीपचन्' असें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकतें; कारण 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' नू. २२२६ या सूत्रानें अभ्यस्त घातूपुढें येणाऱ्या 'झि' चे जागीं जो 'जुस्' आदेश होणें सांगितले आहे तो

वास्तविक लुङ् लकारात होणे सांगितले नसून लङ् लकारातच हाणे सांगितले आहे हे 'विद्' धातूच्या साहचर्यावरून स्पष्ट होते 'अविदु' हे लुटाचे रूप सिद्ध होण्याकरिताच त्या सूत्रात 'विद्' धातूचे मुद्गम ग्रहण केले आहे हे अगदी उघड आहे 'अवेदिपु' हे लुटाचे रूप सिद्ध होण्याकरिता त्या धातूचे ग्रहण केले आहे असे मुळीच म्हणता येऊ शकत नाही, कारण त्या सूत्रात 'सिच्' चे ग्रहण केले असल्यामुळे व 'ञिल् लुङि' सू २२२१ या सूत्राने लुङ-लकारामध्येच होणाऱ्या 'ञिल्' चे जागी 'ञ्ले सिच्' सू २२२२ या सूत्राने 'सिच्' आदेश होत असल्यामुळे, 'अवेदिपु' हे रूप आपोआपच सिद्ध होऊ शकते पण त्या सूत्रात अम्पस्त धातूला जसे 'विद्' चे साहचर्य आहे तसे 'सिच्' चे देखील साहचर्य आहे व 'सिच्' हा वर सांगितल्याप्रमाणे लुडातच होत असल्यामुळे, त्या 'सिच्' च्या साहचर्याच्या सामर्थ्याने असे म्हणता येते की, लुडात देखील अम्पस्त धातुपुढे 'शि' आल्यास त्या 'शि' चे जागी त्या सूत्राने 'जुस्' आदेश करता येतो असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर दीक्षित असे उत्तर देतात की, बरील सूत्रात अम्पस्त धातूला जे 'सिच्' चे साहचर्य आहे ते पूर्वसाहचर्य असून त्या धातूला 'विद्' धातूचे परसाहचर्य आहे, म्हणजे 'सिजम्पस्तविदिम्यश्च' या सूत्रात अम्पस्त धातूच्या पूर्वी 'सिच्' पठित असून अम्पस्त धातूनंतर 'विद्' धातु पठित आहे, आणि 'पूर्वात्पर बलवत्' या न्यायान्वये पूर्वसाहचर्यापेक्षा परसाहचर्य बलवत्तर ठरत असल्यामुळे, लङ्लकारातच अम्पस्त धातुपुढील 'शि' चे जागी 'जुस्' आदेश होतो असाच त्या सूत्राचा अर्थ करणे न्याय्य ठरते 'अपीपचन्' हे लुटाचे रूप असल्यामुळे, येथे 'शि' चे जागी 'जुम्' आदेशाची प्राप्तीच होत नाही म्हणून तो आदेश होणे टाळण्याकरिता भाष्यकारानी पञ्चमीसमासपद मानून जो णिलोपाचे व एकादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव केला आहे तो वरण्याची याहीच गरज नाही असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे

सारांश ज्या भाष्यांत पञ्चमीसमासपक्षाचीं प्रयोजनें सांगितलीं आहेत तें एकदेशि भाष्य आहे व 'नैतानि सन्ति प्रयोजनानि' या पुढील भाष्यावरून तें एकदेशिभाष्य आहे हें स्पष्ट होतें असें दीक्षितांच्या म्हणण्याचें तात्पर्य आहे.)

शब्दरत्न-सामर्थ्यादिति । निमित्तनिमित्तिनोरपदस्थयोर-सम्भवादिति भावः । अखण्डमिति । तत्त्वं च निमित्तानधिकरण-निमित्तिमत्पदाघटितत्वम् । तेन मातृभोगीण इत्यत्र णत्वसिद्धिः । केवलभोगीनेत्यस्य प्रत्ययमात्रस्य वा तत्त्वाभावात् । अत एव "आत्म-न्विद्यजन" इति सूत्रस्थम् "आचार्यादणत्वं च" इति चरितार्थम् । सुपर्वणेत्यादिसिद्धये निमित्तानधिकरणेति । पदं चात्र लोके विभक्तीतरानपेक्षतयाऽर्थबोधकत्वेन दृष्टम् । तेन गन्धर्वगानमित्यादी सुवृत्पत्तेः प्राक् समासेऽपि णत्वं न । क्षुब्धादिषु नृनमनशब्दस्तु संज्ञाभूतोऽखण्ड इति तस्य ऋवर्णात्परस्य णत्वे ज्ञापकता भाष्योक्ता नासङ्गतेत्याहुः ।

'सामर्थ्यादिकपदत्वे लब्धेऽपि' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, णत्वाचें निमित्त व णत्वाचा कार्या हे पदांत नसणें संभवत नाहीं, म्हणजे हे पदांतच असूं शकतात (व प्रकृत सूत्रांतील 'पदे' ही आधारसप्तमी असून एकवचन असल्यामुळें, णत्वाचें निमित्त व णत्वाचा कार्या हे दोन्ही एकाच पदांत असले पाहिजेत हें स्पष्ट होतें, मग तें पद अखण्ड पद असो किंवा सामासिक पद असो.) ज्या पदांत णत्वाचा कार्या आहे तें पद ज्यांत णत्वाचें निमित्त आहे अशा पदाचें अवयव नसणें (व ज्या पदाची पदरूप शकलें पडूं शकत नाहीत अशा एकाच पदामध्ये णत्वाचें निमित्त व निमित्ती हे दाखी विद्यमान असणें) याला अखण्डपदांत अमणें असें म्हणतात. अखण्ड पदाची अशी व्याख्या केल्यानें 'मातृभोगीणः' या उदाहरणांत णत्वाची सिद्धि होतें; कारण या स्थलीं केवळ 'भोगीन' हें पद किंवा केवळ

‘ईन’ हा प्रत्यय याचे ठिकाणी अखण्डपदत्व आहे असे मानता येत नाही. (‘आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः’ सू. १६७० या सूत्राने ज्यात ‘भोग’ हे उत्तर पद आहे अशा ‘मातृभोग’ या सामासिक पदाहून ‘ख = ईन’ प्रत्यय झाला आहे. म्हणून ‘मातृभोगाय हितः मातृभोगीणः’ हे अखण्ड पद ठरने व या अखण्डपदात णत्वाचे निमित्त ऋकार व णत्वाचा कार्यी नकार हे दोन्ही असल्यामुळे, या स्थली ‘अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि’ सू. १९७ या सूत्राने णत्व होते. जर केवळ ‘भोग’ या शब्दाहून ‘ख’ प्रत्यय झाला असता तर ‘भोगीन’ एवढेच अखण्ड पद मानता येऊ शकले असते व ‘मातृभोगीन’ हे अखण्ड पद मानता येऊ शकले नसते. त्याचप्रमाणे ‘ख = ईन’ हा प्रत्यय असल्यामुळे व तो ‘मातृभोग’ या शब्दाहून झाला असल्यामुळे, ‘ईन’ हे अखण्ड पद मानता येऊ शकत नाही व ज्या प्रवृत्तीहून तो प्रत्यय झाला आहे त्या प्रकृतिप्रत्ययसमुदायालाच अखण्ड पद मानता येते हे उघड आहे) अखण्ड पदाची अशी व्याख्या असल्यामुळेच, ‘आत्मन्विश्वजन’ सू. ५-१-९ या सूत्रावरील भाष्यात ‘आचार्यदिणत्व च’ असे जे वातिक पठित केले आहे ते चरितायं ठरते. (‘आचार्यभोग’ या शब्दात ‘भोग’ हे उत्तर पद असल्यामुळे, ‘आत्मन्विश्वजन’ या सूत्राने ‘ख’ प्रत्यय होऊन ‘आचार्यभोगीनः’ असे रूप होणे. येथे जर ‘आचार्य’ व ‘भोगीन’ ही दोन भिन्न पदे मिळून ‘आचार्यभोगीन’ हे पद बनले आहे असे मानता आले असते तर, येथे अखण्डपदत्वाच्या अभावामुळे, णत्वाची प्राप्तीच नव्हती व ‘प्राप्तस्यैव निषेधः’ हा न्याय असल्यामुळे, बरील निषेधक वातिक वरण्याची याहीच गरज नव्हती. परंतु ‘आचार्यभोग’ या संपूर्ण शब्दाहून ‘ख’ प्रत्यय झाला असल्यामुळे, ‘ख’ प्रत्ययान्त ‘आचार्यभोगीन’ हे अखण्ड पद ठरत व त्या अखण्ड पदात णत्वाचे निमित्त रकार व णत्वाचा कार्यी नकार हे दोन्ही विद्यमान असल्यामुळे जी णत्वाची प्राप्ति होती तिचे निवारण वरण्याकरिता ते वातिक मुद्दाम केले आहे व अशा

रोतीनें तें वास्तविक चरितार्थ ठरतें.) 'सुपर्वणा' इत्यादि रूपांची सिद्धि होण्याकरितां 'निमित्तानधिकरण' हा शब्द 'अखण्ड' या पदाच्या व्याख्येंत घातला आहे. ('सुपर्वणा' हें पद 'सु' व 'पर्वणा' या दोन पदांचें बनलेलें जरी सामासिक पद आहे तरी या सामासिक पदांतील 'पर्वणा' या उत्तर अखण्ड पदरूप अवयवांतच णत्वाचें निमित्त व कार्या हे दोन्ही विद्यमान आहेत आणि 'सु' या पूर्व पदांत निमित्त व कार्या या दोहोंपैकीं एकहि नाही. म्हणून ज्या पदांत निमित्त नाही व कार्या आहे अशा पदांनीं बनलेलें 'सुपर्वणा' हें पद नसल्यामुळे, या स्थलीं णत्व झालें आहे.) प्रकृत सूत्रांतील 'समानपदे' या पदांत जो 'पद' हा शब्द आहे त्याचा ('सुप्तिङन्तं पदम्' असा पारिभाषिक अर्थ नसून) 'ज्याचे ठिकाणीं लौकिकी अर्थबोधकता येण्याकरितां विभक्तिप्रत्यय खेरीज करून इतर कशाचीहि अपेक्षा नसते असा शब्द' असा अर्थ आहे. प्रकृत सूत्रांतील 'पद' या शब्दाचा असा अर्थ केल्यानें, 'गन्धर्वगानम्' इत्यादि स्थलीं सुबुत्पत्ति होण्यापूर्वीं समास होतो तरी, णत्व होत नाही. ('गान' या कृदन्त शब्दाहून सुबुत्पत्ति होण्यापूर्वीच त्याचा, 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः'—परि. ७६—या परिभाषान्वये, 'गन्धर्व' या पदाशीं समास होतो. प्रकृत सूत्रांतील 'पद' या शब्दानें 'सुप्तिङन्तं पदम्' या सूत्रान्वये पदसंज्ञक ठरणाऱ्या मुबन्ताचेंच ग्रहण केलें तर, 'गान' हा शब्द पदसंज्ञक ठरत नाही व त्यामुळे 'गन्धर्वगान' हा संपूर्ण शब्द अप्रणष्ट पद ठरण्याची आपत्ति येते व या पदांत णत्वाचें निमित्त रकार व णत्वाचा कार्या नकार हे दोन्ही विद्यमान असल्यामुळे, णत्व होऊन 'गन्धर्वगानम्' अने अणिष्ट रूप होण्याचा प्रसङ्ग येतो. परंतु 'गान' हा शब्द जरी मृद्व्य नाही तरी, त्या शब्दाहून विभक्तिप्रत्यय येण्यास त्यानें अर्थबोधकता येण अमण्यामुळे, तो शब्द पदप्रत्ययान्या विषयी 'पद' मानला येतो आणि त्यामुळे 'गन्धर्वगानम्' हे अप्रणष्ट पद ठरणे नाही व पदार्थानें निमित्त व कार्या

भिन्नणदस्य असत्यामुल्लेखं णत्व होण्याची आपत्ति टळते.) क्षुम्नादि-
गणात पठित असलेला 'नूनमन' हा शब्द सज्ञावाचक असल्यामुल्लेख
अखण्ड पद ठरतो आणि ऋकारापुढील नकाराचे देखील णत्व
होते याचा तो शब्द ज्ञापक ठरतो असे जें भाष्यात म्हटले आहे ते
म्हणणे असङ्गत ठरत नाही असे कित्येक व्याकरणाचे म्हणणे आहे.
(प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—'अथवा आचार्य-
प्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवति ऋकाराण्यत्वमिति । यदय क्षुम्नादिषु
नूनमनशब्द पठति.' जर 'नू' हे पद व 'नमन' हा कृदन्त शब्द ही
दोन भिन्न पदे मानता येऊ शकली असती तर या उदाहरणात,
अखण्ड पदाच्या अभावामुल्लेख, णत्वाची प्राप्तीच नव्हती आणि
'नूनमन' हा शब्द णत्वनिवारणार्थ क्षुम्नादिगणात पठित करण्याची
काहीच गरज नव्हती. पण तो शब्द सज्ञावाचक असल्यामुल्लेख त्याला
अखण्ड पद मानता येते व त्या पदात ऋकारापुढे असलेल्या
नकाराचे जें णत्व प्राप्त होणे त्या णत्वाचे निवारण व्हावे याकरिता
त्या शब्दाचा क्षुम्नादिगणात पाठ करावा लागला व तो पाठ
ऋकारापुढे येणाऱ्या नकाराचे णत्व होते याचा देखील ज्ञापक ठरतो.)

शब्दरत्न-मण्ड इति । तद्विशेष इत्यर्थः । चेभिदितेति ।
चेभिद्यतेयङन्तात्तुचि अल्लोपयलोपयोः "एकाच्च उपदेशे" इति
नियेषादिण् न स्यात् । पठन्तमीसमासे त्वल्लोपस्य स्यानिवत्त्वादिनियेषा-
प्रवृत्तिरिति भावः । एवमितरयोः कादेशजुसोरभायो बोध्यः ।
विहितविशेषणेति । एवं च स्यानिवत्त्वं विनाऽपि तदप्रवृत्तिः सिद्धेति
भावः । विहितविशेषणत्वं चास्य "एकाच्चो द्वे" इत्यत्र भाष्ये
ध्यनितम् । तत्र हि यङ्लोपे चेभिदितेत्यत्र यङन्तात्तुचि इदप्रतिषेध-
भाशङ्क्येकाचोऽङ्गादिति व्याख्यानेन परिहृतम् । तद्भाष्यस्य यया-
श्रुतत्वे विभिन्नतोत्पादो दोषवारणाद्योपदेशग्रहणस्यैवाजंशोऽपि सम्बन्धे
चेभिदितेत्पादावपि परिहारासम्भवेन तस्य विहितविशेषणत्वे तात्पर्य-
भावइयम् । प्रत्ययविधानावधेरेव प्रायेणाङ्गत्वाद्वाङ्गादित्यनेनेद
सूचितम् । विहितविशेषणे च विभिन्नतोत्पादावधेरेवाजंशो

उपदेशग्रहणासम्बन्ध इति तदाशयः । न भविष्यतीति । स्थानिवत्त्वं विनापीति शेषः । अतिवधित्वादिति । “ठस्येकः” इत्यत्र स्थानिति प्रत्ययेषु च सर्वत्राकारो न विवक्षितः । आदेश एव तु विवक्षितः । अन्यथा निवादकर्षशब्दात् “ओर्वेशे” इति ठञि व्यञ्जनमात्रस्य व्यञ्जनरूपकादेशो कशब्दस्य लाक्षणिकत्वात् “केऽण” इति ह्रस्वानापत्तिरिति भावः । स्थान्यादेशयोरिति । इकादेशस्थातिभूत-प्रत्यये, आदेशविधायके सूत्रे चेत्यर्थः । स्पष्टं चेदं “ठस्येकः” इत्यत्र भाष्यकैयटयोः । इदमुपलक्षणम् । सन्निपातपरिभाषयापि कादेशवारणं बोध्यम् । स्पष्टं चेदं “ठक्छसोश्च” इति चार्त्तिकभाष्ये ।

मनोरमैत दिलेल्या श्लोकांतील ‘यूष’ या शब्दाचा मण्डविशेष, म्हणजे विशेषप्रकारची पेज असा अर्थ आहे. (‘तण्डुलैश्च कृतो मण्डः’ या वैद्यक शास्त्रांतील वचनान्वये तांदुळाच्या पेजेला वास्तविक मण्ड अशी संज्ञा आहे. मूग व आयळे यांच्या पेजेला मण्ड ही संज्ञा नाही. म्हणून मनोरमैत दिलेल्या वैद्यक शास्त्रांतील श्लोकांत जो ‘यूष’ शब्द वापरला आहे त्याचा पेज असा सामान्य अर्थ न करतां विशेष प्रकारची पेज असा अर्थ करणें इष्ट आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) यङन्त ‘वेभिद्य’ घातून ‘तृच्’ प्रत्यय केला असतां अकारलोप व यकारलोप झाल्यावर ‘एकाच उपदेशे’ सू. २२४६ या निषेधक सूत्रानें इडागम न होण्याची आपत्ति येते. परंतु पञ्चमीसमासपक्ष मानल्यानें, अकार-लोपाने ठिकाणीं स्थानिवद्भाव करतां येत असल्यामुळें, त्या निषेधक सूत्राची प्रवृत्ति होत नाही (व ‘तृच्’ प्रत्ययाला इडागम होऊन ‘वेभिदिता’ हें इष्ट रूप सिद्ध होतें) असा भाष्यकारांच्या म्हण-ण्याचा भावार्थ आहे. त्याचप्रमाणें ‘माधितिकः’ व ‘अपीपचन्’ या दोन इतर उदाहरणांत (पञ्चमीसमासपक्ष मानून अजादेशाने ठिकाणीं स्थानिवद्भाव केल्यानें) ‘इक्’ चे जागीं कादेश व ‘क्षि’ चे जागीं ‘जुस्’ आदेश होण्याची आपत्ति टळतें हें जाणावें. (याचें

विस्तृत विवरण मनोरमंत केलेच आहे) 'विहितविशेषणादेव वेभि-
 दितेत्यत्र इण्णिपेधो न' असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ
 हा आहे की, 'वेभिदिता' या उदाहरणात अजादेशाचे ठिकाणी
 स्थानिवद्भाव न मानता देखील 'एकाच उपदेशे' सू. २२४६ (या
 सूत्राचा 'उपदेशे य एवाच् अनुदात्तश्च तस्माद्विहित य. वलादि
 आर्धधातुकप्रत्ययः तस्य इडागमो न भवति' असा अर्थ केल्याने,
 त्या उदाहरणात) हे निषेधक सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही
 (याचे देखील विस्तृत विवरण मनोरमंत केलेच आहे.) 'एकाच
 उपदेशे' या सूत्रात 'विहित' हे पद आर्धधातुकप्रत्ययाचे विशेषण
 आहे हें 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सू. ६-१-१ या सूत्रावरील भाष्यात
 घनित केले आहे त्या भाष्यात 'वेभिदिता' या स्थली 'वेभिद्य'
 या यङन्ताहून 'तृच्' प्रत्यय केला असता, 'यङ् = य' या प्रत्ययाचा
 लोप केल्यावर 'तृच्' प्रत्ययाला इडागमन होण्याची आपत्ति येते अशी
 शका उपस्थित करून त्या शकेचे, भाष्यकारांनी 'एकाच उपदेशे' या
 सूत्रातील 'एकाचः' या पदाचा 'एकाच अङ्गात्' असा अर्थ करून,
 निवारण केले आहे (त्या भाष्यात स्थाने द्विवचनपक्ष न मानता
 'द्वि प्रयोगो द्विवचनम्' हा पक्ष मानल्यास 'इङ् वचन च यङ्लोपे'
 असे वचन पठित करावे लागेल असे मागून त्या वातिकाचे व्याख्यान
 य प्रयाख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात—'इट् च यङ्लोपे
 यवश्यक । वेभिदिता, वेभिदितुम् । एकाच उपदेशेऽनुदात्तादिगोट्-
 प्रतिषेध प्राप्नोति । स्थाने पुनर्द्विवचने भवि मनुदायस्य समुदाय
 आदेशस्तत्र सम्प्रगुण्यत्वात् प्रवृत्तिप्रत्ययस्य नष्टः स भवति य
 एकाग्रउपदेशेऽनुदात्त । द्वि प्रयोगे चापि द्विवचने न दोष ।
 एकाग्रउद्देशेनाह्म विनेयविष्याम्, एकाग्रोऽङ्गादिनि ।' 'वेभिद्य
 नृच्' या स्थली पूर्वी गागितल्याप्रमाणे 'अतो लोपः' सू. २३०८
 या सूत्राने 'वेभिद्य' यांतील अन्त्य अकाराचा य 'यस्य हन्.'
 सू. २६३१ या सूत्राने 'य' या मघातांतील अवशिष्ट यकाराचा
 मात्र केल्यावर 'वेभिद् तृच्' अशी स्थिति सामी अगता, उपदेशान,

म्हणजे धातुपाठांत, एकाच् व अनुदात्त पठित असलेल्या 'भिद्' धातूपुढें 'तृच्' प्रत्यय आला असल्यामुळें, 'एकाच् उपदेशे' या सूत्रानें 'तृच्' या वलादि आर्धधातुक प्रत्ययाला इडागम होऊं शकत नाहीं अशी भाष्यकारांनीं शंका उपस्थित केली आहे व त्या शंकेचें निरसन करितांना भाष्यकारांनीं असें म्हटलें आहे कीं, तें सूत्र अङ्गाधिकारांत पठित असल्यामुळें व त्यांत 'अङ्गस्य' हें पद अनुवृत्त होत असल्यामुळें, त्या अनुवृत्त पदाचा 'अङ्गात्' असा पञ्चमी-विभक्तींत विपरिणाम करून त्याचें सूत्रनिर्दिष्ट 'एकाच्:' हें पद विशेषण मानल्यानें व 'एकाच्: अङ्गात्परस्य' असा अर्थ केल्यानें, 'वेभिद्' हें अङ्ग एकाच् नसून अनेकाच् असल्यामुळें व तशा अनेकाच् अङ्गापुढें 'तृच्' प्रत्यय आला असल्यामुळें, 'एकाच् उपदेशे' हें निषेधक सूत्र त्या उदाहरणांत प्रवृत्त होऊं शकत नाहीं व 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम होऊन 'वेभिदिता' असें इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाहीं. परंतु त्या भाष्यांत जरी 'एकाच्:' या सूत्रनिर्दिष्ट पदाचा 'एकाच्: अङ्गात्' असा अर्थ केला आहे तरी, 'एकाचो विहित:' असा स्पष्ट अर्थ केलेला आढळत नाहीं अशी कोणी शंका केल्यास, त्या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, त्या भाष्याचा यथाश्रुत अर्थ केल्यास, म्हणजे 'एकाचोऽङ्गात्परस्य वलादेराधधातुकस्य इड् न स्यात्' असा केवळ अक्षरार्थ केल्यास, 'विभित्सति' इत्यादि उदाहरणांत ('सन्' प्रत्ययाला इडागम होणें या) दोषाचें निवारण करण्याकरितां ('एकाच् उपदेशे' या सूत्रांतील 'उपदेशे' हें पद जसें 'अनुदात्तात्' याचें विशेषण मानावें लागतें तसेंच) 'उपदेशे' हें पद 'एकाच्:' या पदाचें देखील विशेषण मानावें लागतें. पण तसें मानलें तरी, 'वेभिदिता' इत्यादि उदाहरणांत जो इडागमनिषेध-रूप, म्हणजे 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम न होणें हा, दोष येतो त्याचा परिहार होऊं शकत नसल्यामुळें, वरील भाष्याचें विहित-विशेषणत्वाचे टिकाणीं तात्पर्य आहे, म्हणजे 'एकाचोऽङ्गात्विहित:'

असा त्या भाष्याचा तात्पर्यार्थ आहे, हे मानणे आवश्यक आहे. ज्याहून प्रत्यय होण्याचे विधान केले जाते तेवढ्या शब्दस्वरूपाला बहुधा 'यस्मात्प्रत्ययविधिः' सू. १९९ या सूत्रानें अङ्गसंज्ञा होत असल्यामुळे, 'अङ्गात् विहितः' असे वरील भाष्यातील 'अङ्गात्' या पदाच्या ग्रहणानें सूचित होते. 'एकाच उपदेशे' या सूत्राच्या विषयात विहितविशेषणपक्ष मानल्याने, 'विभित्सति' इत्यादि रूपें सिद्ध होण्यात काही दोष-अडचण-येत नसल्यामुळे, त्या सूत्रातील 'उपदेशे' हे पद 'एकाचः' या पदाचे विशेषण मानण्याची काही गरज नाही असा वरील भाष्याचा आशय आहे. ('भिद्' धातूहून 'सन्' प्रत्यय केल्यावर, 'भिद् सन्' अशी स्थिति झाली असता, या स्थितीत उपदेशात-धातुपाठात-एकाच् व अनुदात्त पठित असलेल्या 'भिद्' धातूपुढें 'सन्' हा बलादि आर्धधातुक प्रत्यय आला असल्यामुळे, 'एकाच उपदेशे' या सूत्राचा 'उपदेशे यः एकाच् अनुदात्तश्च तस्मात्परस्य बलादेरार्धधातुकस्य इडागमो न भवति' असा अर्थ केल्याने, 'भिद्' धातूपुढील बलादि आर्धधातुक 'सन्' प्रत्ययाला तसा स्थितीत इडागम होण्याची आपत्ति टळते. परंतु 'सन्' प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे 'सन्वडो.' सू. २३९५ या सूत्रानें 'भिद्' धातूचे द्विवचन केल्यावर 'विभिद् सन्' अशी स्थिति झाली असता, 'विभिद्' या अनेकाच् अङ्गापुढें 'सन्' प्रत्यय येत असल्यामुळे, त्याला जी इडागम होण्याची आपत्ति येते ती टाळण्याकरिता 'एकाच उपदेशे' या सूत्रातील 'उपदेशे' हे पद 'एकाचः' या पदाशी संबद्ध करणे, म्हणजे 'एकाचः' या पदाचे विशेषण मानणे, आवश्यक आहे. तसे मानले असता, 'द्वि प्रयोगो द्विवचनम्' या सिद्धान्तपक्षात 'भिद्' धातूचे द्विवचन करतेवेळी 'भिद्' धातूचेच दोनदा उच्चारण केले जात असल्यामुळे व 'पूर्वोऽभ्यासः, धातुत्वमुत्तरसण्डे' या वचनान्वयें 'विभिद्' यातील 'भिद्' हा उत्तरसण्ड धातु ठरत अगून व तो उपदेशात-धातुपाठात-एकाच् व अनुदात्त पठित अगून त्याच्या लगेच पुढें 'सन्' प्रत्यय येत असल्यामुळे, 'एकाच उपदेशे'

हैं इडागमनिषेधक सूत्र यैथें प्रवृत्त होते व 'सन्' प्रत्ययाला इडागम न होता, 'विभित्सति' हें इष्ट रूप सिद्ध होते. पण अशा रीतीने त्या सूत्राचा अर्थ केल्यास, 'वेभिद् तृच्' या स्थलीं उत्तर-खण्डांतील 'भिद्' या, उपदेशांत एकाच् व अनुदात्त पठित असलेल्या, घातूपुढें 'तृच्' हा बलादि आर्धघातुक प्रत्यय आला असल्यामुळे, त्याला देखील इडागमनिषेध लागू पडण्याची आपत्ति येते व त्याला इडागम न केल्यास 'वेभित्ता' असे अनिष्ट रूप होण्याची व 'वेभिदिता' असे इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. तें रूप सिद्ध होण्याकरितां भाष्यकारांनीं 'एकाच उपदेशे' या सूत्रांतील 'उपदेशे' हें पद 'एकाचः' याचे विशेषण न मानतां, 'एकाचः' या पदाचा, पूर्वी सांगितल्याप्रमाणें, 'एकाचः अङ्गात्' असा अर्थ केला आहे. पण 'एकाचः अङ्गात्' या भाष्यवचनाचा 'एकाचोऽङ्गात्परस्य' असा अर्थ अभिप्रेत आहे किंवा 'एकाचोऽङ्गात् विहितस्य' असा अर्थ अभिप्रेत आहे? जो अर्थ केल्यानें कोणत्याहि उदाहरणांत दोष न येतां सर्व इष्ट रूपांची सिद्धि होऊं शकते असाच अर्थ भाष्यकारांना अभिप्रेत होता हें मानणें उचित आहे. 'उपदेशे' हें पद 'एकाचः' याचें विशेषण मानून 'उपदेशे यः एकाच् अनुदात्तो घातुः तस्मात्परः' असा अर्थ केल्यास, 'विभिद् सन्' या स्थलीं जरी, वर सांगितल्याप्रमाणें, 'सन्' प्रत्ययाला इडागम होण्याची आपत्ति टळते तरी, 'वेभिद् तृच्' या स्थलीं त्या अर्थान्वयें 'तृच्' प्रत्ययाला इडागम न होण्याची आपत्ति येते. 'उपदेशे' हें पद 'एकाचः' याचें विशेषण न मानतां 'एकाचः' या पदाचा 'एकाचः अङ्गात्परः' असा अर्थ केल्यास, जरी 'वेभिद् तृच्' या स्थलीं 'वेभिद्' या अनेकाच् अङ्गापुढें 'तृच्' प्रत्यय असल्यामुळे त्याला इडागमनिषेध लागू न पडतां इडागम होऊं शकतो तरी, 'विभिद् सन्' या स्थलीं देखील 'विभिद्' या अनेकाच् अङ्गापुढें 'सन्' प्रत्यय आला असल्यामुळे, त्यालाहि बरील अर्थान्वयें इडागम होण्याची आपत्ति येते. परंतु 'एकाचो-

'इडात्' या भाष्यातील पदांचा 'एकाचोऽडात् विहितः' असा अर्थ केल्याने कोणत्याहि उदाहरणात दोष न येता सर्व इष्ट रूपे मिळू शकतात. उदाहरणार्थ द्विवचन करून 'विभिद् सन्' अशी स्थिति झाली असता, जरी 'विभिद्' या अनेकाच् अडागापुढे 'सन्' प्रत्यय येतो तरी, 'भिद्' या एकाच् अडागाहून तो प्रत्यय 'धातोः कर्मणः' सू. २६०८ या सूत्राने विहित-झाला-असल्यामुळे, त्याला इडागम होत नाही. पण 'वेभिद्य तृच्' या स्थली 'सनाद्यन्ता धातवः' सू. २३०४ या सूत्राने धातुसंज्ञक ठरणाऱ्या 'वेभिद्य' या अनेकाच् अडागाहून 'ण्वुलतृचो' सू. २८९५ या सूत्राने 'तृच्' प्रत्यय विहित-झाला-असल्यामुळे, त्याला इडागम होतो. साराश 'एकाच उपदेश' या सूत्राचा यथाश्रुत अर्थ न करिता भाष्यकारांनी जो भिन्न तऱ्हेने अर्थ केला आहे तो अर्थ सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि व्हावी या हेतूनेच केला असल्यामुळे, तो हेतु सिद्ध होण्याकरिता भाष्यकारांनी केलेल्या 'एकाच = अडात्' या पदाचा 'एकाचः अडाद्धि-हितः' असाच अर्थ करणे योग्य ठरते व अशा रीतीने 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' या सूत्रावरील भाष्य तसा अर्थ करण्यास व 'एकाच उपदेश' या सूत्राच्या विषयात विहितविशेषणपक्ष मानण्यास प्रमाण-भूत ठरते असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे शब्द-रत्नातील प्रकृत पक्वतीत 'प्रत्ययविधानाद्यधेरेव प्रायेणाद्गत्वात्' असे म्हटले असून त्यांत 'प्रायेण' हा जो शब्द घातला आहे त्याचे कारण भेरीत 'यस्मात् प्रत्ययविधानं तद्विभक्तस्य तदादेरप्यद्गत्वं भवामी-त्यादौ दृष्टमतः प्रायेणेति' असे दिले आहे. याचा भावार्थ हा आहे की, ज्या शब्दाहून प्रत्यय होण्याचे विधान केले जाते त्या शब्दस्वरूपा-ला जरी बहुधा 'यस्मात् प्रत्ययविधि.' सू. १९९ या अद्गमजा-विधायक सूत्राने अद्गमजा होत असते तरी, वेव्ही वेव्ही त्याहून अधिक शब्दस्वरूपाचा देगील अद्गमजा होणे. उदाहरणार्थ 'निप्लग्नि' सू. २१५४ या सूत्राने निदिष्ट अमयेने प्रत्यय धातूहून होणे मागितले आहे. 'भू' धातूहून 'भि' प्रत्यय येण्यास, 'वर्गिणं' सू. २१६७

या सूत्रानें 'भू' धातूला 'शप् = अ' हें विकरण होऊन व 'सार्वधातु-
 कार्धधातुकयोः' सू. २१६८ या सूत्रानें 'भू' धातूतील ऊकाराचा
 'ओ' असा गुण होऊन आणि 'एचोऽग्रवायावः' सू. ६१ या सूत्रानें त्या
 'ओ' चे जागीं अवादेश होऊन 'भव मि' अशी स्थिति झाली असतां,
 जरी 'भू' या धातूहून 'मि' प्रत्यय झाला आहे तरी, त्या 'भू' चें
 'भव' असें रूप झाल्यावर तें रूप 'मि' या प्रत्ययाचें
 अङ्ग ठरतें आणि तें अदन्त अङ्ग असल्यामुळें, 'अतो दीर्घो यजि'
 सू. २१७० या सूत्रानें त्या अङ्गांतील अन्त्य अकार दीर्घ होऊन
 'भवामि' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें.) 'इसुसुक्तान्तात्कः इति
 कादेशस्तु न भविष्यति' या मनोरमंतील पंक्तींत 'स्थानिवत्त्वं
 विनापि' हीं पदे अध्याहृत आहेत. (तीं पदे अध्याहृत केल्यानें त्या
 पंक्तीचा असा अर्थ होतो कीं, 'माथित' या अङ्गांतील अन्त्य
 अकाराचा 'यस्येति च' सू. ३११ या सूत्रानें जो लोप होतो त्या
 अकारलोपाचे ठिकाणीं तो अकार विद्यमानच आहे अशी स्थानि-
 वद्भावानें बुद्धि न करितां देखील, 'ठ् = इक' चे जागीं 'इसुसुक्ता-
 न्तात्कः' सू. १२२१ या सूत्रानें 'क' असा आदेश होऊं शकत
 नाहीं; कारण ठकार या अल्परूप स्थानीचे जागीं 'इक' हा आदेश
 झाला असल्यामुळें हा अल्विधि ठरतो व म्हणून 'अनल्विधी' या
 प्रतिषेधान्वयें 'इक' हा ठकारच आहे अशी स्थानिवद्भावानें बुद्धि
 करतां येत नसल्यामुळें, कादेशाची प्राप्तीच होत नाहीं.) 'अल्विधि-
 त्वात्' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचें कारण हें की 'ठस्येकः'
 सू. ११७० या सूत्रांत 'ठ' असा जो स्थानी निदिष्ट आहे त्यांत
 व तसेंच ठकारादि 'ठक्, ठन्, ठब्' इत्यादि प्रत्ययांत 'ठ' मधील
 अकार विवक्षित नाहीं; पण त्या सूत्रांत 'इक' हा जो आदेश
 निदिष्ट आहे त्यांतीलच अन्त्य अकार (उच्चारणार्थ नमून) विवक्षित
 आहे. (सारांश 'ठक्' या प्रत्ययांत ठकार हा बल् स्थानी अमून
 त्याचे जागीं 'इक' असा अकारान्त आदेश होतो व येथें स्थानी
 अल् असल्यामुळें, हा अल्विधि ठरतो.) 'ठस्येकः इत्यत्र हि स्थान्या-

देशयोरकार उच्चारणार्थः' असे जें मनोरमेत म्हटले आहे ते बरोबर मानल्यास, 'निपादकर्पू' या देशविशेषाच्या वाचक शब्दाहून 'ओदेशे ठञ्' सू. १३४३ या सूत्रानें ('तत्र भव' या अर्थार्थिध्वे) 'ठञ्' प्रत्यय केला असता, ('निपादकर्पू' हा शब्द उगन्त असल्यामुळें 'इसुसुक्तान्तात्कः' सू. १२३१ या सूत्रानें ठकाराचे जागी कादेश पावत असल्यामुळें) जर 'ठ्' या व्यञ्जनमात्राचे जागी व्यञ्जनरूप ककारादेश होतो असे मानले तर, म्हणजे 'क' या आदेशांतील अकार उच्चारणार्थ आहे असे मानले तर, तसा व्यञ्जनरूप ककारादेश लाक्षणिक असल्यामुळें, 'केऽणः' सू. ८३४ (या सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या 'क' या प्रतिपदोक्त प्रत्ययानें त्या लाक्षणिक व्यञ्जनरूप ककारादेशाचे ग्रहण होऊ शकणार नाही व त्यामुळें) या सूत्रानें होणारे न्हस्वकार्य न होण्याची आपत्ति येईल. ('लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' ~ परि. ११४ - या परिभाषान्वये, 'केऽणः' या सूत्रात अकारसहित प्रतिपदोक्त ज्या 'क' प्रत्ययाचे ग्रहण केले आहे त्या प्रतिपदोक्त प्रत्ययानें व्यञ्जनरूप 'क्' या लाक्षणिक प्रत्ययाचे ग्रहण करता येत नाही व त्यामुळें 'केऽणः' हे सूत्र 'निपादकर्पू ठञ् = निपादकर्पूक्' या स्थली प्रवृत्त होऊं शकत नाही व ते सूत्र प्रवृत्त न झाल्यास 'निपादकर्पुकः' असे इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते.) म्हणून मनोरमेच्या बरील पक्तीतील 'स्थान्यादेशयोः' या पदाचा 'इकादेश स्थानिभूतप्रत्यये, आदेशविधायके सूत्रे च' असा अर्थ करावा, म्हणजे 'इक' या आदेशाचा 'ठक् ठञ्' इत्यादि प्रत्ययांतील 'ठ' हा जो स्थानी आहे त्यातील अकार व तसेच 'ठस्येक.' सू. ११७० या आदेशविधायक सूत्रातील 'ठ' मधील अकार उच्चारणार्थ आहे असा अर्थ करावा. 'ठस्येकः' सू. ७-३-५० या सूत्रावरील भाष्यांत व त्या भाष्यावरील कैयटवृत्तींत हें स्पष्ट केले आहे. ('ठस्येकः' या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणताना - 'विमिदं ठादेशे वर्णग्रहणमाहोस्वित् सङ्घातग्रहणम् ? ... सङ्घात-

ग्रहणं चेदुणादिमाथितिकादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ... इह च मथितं पण्यमस्य माथितिक इति, अकारलोपे कृते तान्तादिति कादेशः प्राप्नोति । वर्णग्रहणे पुनः सत्यत्विधिरयं भवति । तस्मात् विशिष्टग्रहणम् । तस्मात् विशिष्टस्य ठकारस्य ग्रहणं कर्तव्यम् । तर्हि कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् । अस्तु तावद्वर्णग्रहणम् ।' या भाष्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, भाष्यकारांनीं 'ठक्, ठब्' इत्यादि प्रत्ययांतील 'ठ' हा संघात आदेशाचा स्थानी मानला नसून, 'ठ' मधील ठकार हा अल् आदेशाचा स्थानी मानला आहे. सारांश 'ठ' यांतील अकार अनुनासिक मानल्याने, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सू. ३ या सूत्रानें तो अकार इत्संज्ञक ठरून केवळ ठकार हा अल् 'इक' या आदेशाचा स्थानी ठरतो.) 'अत्विधित्वात्' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे तें उपलक्षण आहे. सन्निपातपरिभाषान्वयें देखील कादेशाचें निवारण करतां येतें हें 'ठक्छसोश्च'—सू. ८३६ वरील वार्तिक—या वार्तिकावरील भाष्यावरून स्पष्ट होतें. ('तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' सू. ६-३-३५ या सूत्रावरील भाष्यांत वरील वार्तिक पठित केलें आहे व त्या वार्तिकाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात—'मथितं पण्यमस्य माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तादिति कादेशो न भवति ।' व 'तान्तादिति कादेशो न भवति' हें प्रतीक घेऊन कैयटानें 'ठस्येति वर्णमात्रस्य स्थानित्वेऽत्विधित्वात् स्थानिवत्त्वाभावात् । सङ्घातस्य तु स्थानित्वे सन्निपातपरिभाषोपस्थानात् ।' असें म्हटलें आहे. या कैयटाच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे कीं, जर 'ठ' प्रत्ययांतील अकार उच्चारणार्थ आहे असें मानलें तर, ठकार या अल् रूप स्थानीचे जागीं जो 'इक' आदेश होतो तो अत्विधि ठरत असल्यामुळें व 'अनत्विधो' हा प्रतिषेध असल्यामुळें, 'इक' हा ठकारच आहे असें स्थानियद्वाचानें मानतां येत नाही व त्यामुळें 'इमुसुक्तान्तात्कः' सू. २२२१ या सूत्रानें तकारान्त अद्भाषुढील ठकाराचे जागीं होणारा 'क' हा आदेश 'इक' चे जागीं होऊं

शकत नाही आणि 'माथितिक.' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकते. आता 'ठ' प्रत्यासील अकार उच्चारणार्थ नसून 'ठ' हे सङ्घात-ग्रहण आहे असे मानले तरी, 'मथित ठक् = माथित इक' या स्थली 'यस्येति च' सू. ३११ या सूत्रानें ज्या 'इक' च्या सन्निपाता-मुळें 'माथित' यातील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन 'माथित्' असे तकारान्त अङ्ग होते ते तकारान्त अङ्ग सन्निपातपरिभाषान्वयें 'इक' च्या नाशाला कारणीभूत होऊ शकत नाही व जरी हा अनल्विधि असल्यामुळें 'इक' हा 'ठ' च आहे असे 'स्थानिव-दादेश' सू. ४९ या सूत्रान्वयें स्थानिवद्भावाणें मानता येते तरी, 'इक' चे जागी, सन्निपातपरिभाषान्वयें, कादेश होऊ शकत नाही व त्यामुळें देखील 'माथितिकः' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकते)

शब्दरत्न—बलीयस्त्वादिति । एतच्च “यस्य विभाषा” “विस्तो भोग—” इति सूत्रस्थकैयटे स्पष्टम् । एतत्सर्वं “अपर-विधाविति तु पथतव्यम्” इति वास्तिकस्थकैयटानुरोधेन । दिगिति । दिगर्थस्तु एतदर्थं पञ्चमीसमासस्यावश्यकत्वम् । तथा हि परसाह-चर्यस्य बलवत्त्वे मानाभावः विप्रतिषेधसूत्रे कार्यशब्देन शास्त्रीयस्यैव ग्रहीतुमौचित्येनात्र तदप्राप्तेः ।

“नित्य.परयणादेशः परश्चासौ ध्यवस्थया ।

युगपत्सम्भयो नास्ति बहिरङ्गेण सिध्यति ॥”

इति “अचः परस्मिन्” इति सूत्रस्य भाष्योक्तरीत्या पूर्वं साह-चर्यस्यान्तरङ्गत्वेन तस्यैव ग्रहीतुमौचित्याच्च । “विभाषा गमहन-विद्विनाम्” इत्यत्र लुप्तिवर्णपरिभाषानुग्रहाय परसाहचर्याश्रयणं “नृद्विदोन्मथा” इत्यप्राप्यन्तरङ्गपरिभाषाऽनित्यत्वाद् व्याख्यानान्न परसाहचर्याश्रयणमिति बोध्यम् । प्रत्येपि पवित्रावो लङि “उभे अभ्यस्तम्” इति सूत्रस्य भाष्यसमने । एवमपि दोषाच्च । पूर्वोत्तर-साहचर्येण भाष्यरूपादेशानपहृतविशरणान्व्यस्तस्यैव घट्टणमित्य-त्यतिश्लिष्टं ततो षर पञ्चमीसमास एव । “अपर विधाविति तु

वक्तव्यम्” इति न्यासान्तरेऽपि पञ्चमीसमासो वक्तुं शक्यः ।
न्यासान्तरन्तु स्वविधेरपि सङ्ग्रहायेति स्पष्टमेव । अतिप्रसङ्गस्त्व-
नित्यत्वेन परिहरणीय इति ॥

‘पूर्वसाहचर्यात्परसाहचर्यस्य बलीयस्त्वात्’ असें जें मनोरमेत
म्हटलें आहे तें ‘यस्य विभाषा’ सू. ७-२-१५ व ‘वित्तो भोग-
प्रत्यययोः’ सू. ८-२-५८ या सूत्रांवरील भाष्याच्या वृत्तींत कैयटानें
स्पष्ट सांगितलें आहे. (‘विभाषा गमहनविदविशाम्’ सू. ३०९९
या सूत्रांत निर्दिष्ट असलेला ‘विद्’ धातु अदादि ‘हन्’ धातूच्या
साहचर्यामुळें अदादि मानतां येतो, पण तुदादि ‘विश्’ धातूच्या
साहचर्यामुळें तो तुदादि मानतां येतो. परंतु ‘विद्’ धातूला ‘हन्’
धातूचें पूर्वसाहचर्य असून ‘विश्’ धातूचें परसाहचर्य असल्यामुळें
व पूर्व शब्दाच्या साहचर्यापेक्षां परशब्दाचें साहचर्य बलवत्तर ठरत
असल्यामुळें, वरील सूत्रांत अदादि ‘विद्’ धातूचें ग्रहण केलें नसून
तुदादि ‘विद्’ धातूचें ग्रहण केलें आहे हें सिद्ध होतें असें
कैयटानें म्हणणें आहे. ‘यस्य विभाषा’ या सूत्रावरील
भाष्यांत ‘यस्य विभाषाऽविदेः’ हें वातिक पठित करून
त्या वातिकाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात—
‘यस्य विभाषाऽविदेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत्, विदितः विदित-
यानिति । तत्ताहि वक्तव्यम् ? । न वक्तव्यम् । यदुपाधेर्विभाषा
तदुपाधेः प्रतिषेधः । शविकरणस्य विभाषा, लुक्विकरण-
श्चायम्’ या भाष्याच्या वृत्तींत कैयटानें ‘यद्यपि हन्तिना
साहचर्यं विदेरस्ति तथापि शब्दपरविप्रतिषेधाद् विशिर्व्यवस्थाहेतुर्न
हन्तिः ।’ असें म्हटलें आहे. तसेंच ‘नुदविदोन्दवाद्या’ सू. ३०३८ या
सूत्रांत तुदादि ‘नुद्’ धातूच्या साहचर्यामुळें ‘विद्’ धातु तुदादि
मानतां येतो. पण ‘उन्द्’ रूधादि धातूच्या साहचर्यामुळें ‘विद्’
धातु रूधादि मानतां येतो. परंतु पूर्व शब्दाच्या साहचर्यापेक्षां पर
शब्दाचें साहचर्य बलवत्तर असल्यामुळें, वरील सूत्रांतील ‘विद्’
धातु रूधादि ठरतो असें कैयटानें म्हटलें आहे. ‘वित्तो भोगप्रत्य-

ययोः' या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तीत कंयटानें 'यद्यपि' नुदिना तोदादिकेन साहचर्यं तथापि शब्दपरविप्रतिषेधादुन्दिरेन व्यवस्थाहे-
 तुनं नुदिः ।' असे म्हटले आहे.) पञ्चमीसमासपक्षाचे खण्डन
 करिताना दीक्षितानी जें मनोरमेंत म्हटले आहे ते सर्व 'अपरविधा-
 विति तु वक्तव्यम्' या वातिकावरील भाष्याच्या वृत्तीत कंयटानें
 जें व्याख्यान केले आहे त्या व्याख्यानाला अनुसरून म्हटले आहे.
 ('अचः परस्मिन्' सू. १-१-५७ या सूत्रावरील भाष्यात पठित
 असलेल्या 'अपरविधाविति तु' या वातिकावरील भाष्याच्या वृत्तीत
 कंयटानें 'नन्वपरविधावित्युच्यमाने कथं वेभिदितेत्यादयः सगृह्यन्ते ।
 उच्यते-निमित्तापेक्षापरत्वविज्ञानात् । तथाहि । वेभिदितेत्यत्राकार-
 लोपस्य निमित्तमार्धधातुकम् । न च तस्मात्परस्य विधिः । किं
 तर्हि ? तस्यैवेति सिद्धः स्थानिवद्भावः । एव माधितिकं
 अपीपचन्नित्यत्र बोद्धव्यम् ।' असें म्हटले आहे.) 'इति दिक्'
 असे जें मनोरमेंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की,
 'अपीपचन्' हे रूप सिद्ध करण्याकरिता 'पूर्वविधी' हा पञ्चमीसमास
 मानणे आवश्यक आहे; कारण पूर्वं शब्दाच्या साहचर्यापेक्षा पर
 शब्दाचे साहचर्य बलवत्तर असते असे जें कंयटानें म्हटले आहे तें
 बरोबर मानण्यास काहीं प्रमाण नाही. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'
 सू. १७५ या सूत्रातील 'कार्यम्' या शब्दानें, विधायक सूत्रांनी जी
 शास्त्रीय कार्ये होण्याचे विधान केले आहे तशाच शास्त्रीय
 कार्यांचे ग्रहण करणे उचित ठरत असल्यामुळे, पूर्वं शब्द व पर शब्द
 यांच्या साहचर्याच्या विषयामध्ये त्या सूत्राची प्राप्ति होऊं शकत
 नाही. ('मुत्पद्यलयोः शास्त्रयोः एवस्मिन् लक्ष्ये युगपत् प्राप्ती
 परशास्त्रविहित कार्यमेव वक्तव्यम्' अगा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'
 या सूत्राचा अर्थ आहे. या अर्थावरून हे स्पष्ट होते की, जेथे एखाद्या
 शास्त्राचे टिकाणी दोन मुत्पद्यल शास्त्रांची युगपत् प्राप्ति होते तशाच
 स्थिती पर सूत्रानें विहित अगळे के कार्ये करणे भाग पडतें. जेथे पूर्वं शब्द
 व पर शब्द यांचे एखाद्या शास्त्राचा साहचर्य आहे तेथे दोन मुत्पद्यल

शास्त्रांची युगपत् प्राप्ति होते किंवा अप्राप्त व अपूर्व अशा कोणत्या तरी शास्त्रीय कार्याची प्राप्ति होते असें मुळींच म्हणतां येत नाही. त्यामुळे पूर्वेपर शब्दांच्या साहचर्याच्या विषयांत 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' हे सूत्र लागू पडत नाही हे उघड आहे. म्हणून विप्रतिषेध सूत्रान्वये परशब्दाचे साहचर्य पूर्वं शब्दाच्या साहचर्यापेक्षां बलवत्तर ठरतें असें मानतां येऊं शकत नसल्यामुळे, 'सिजम्यस्तविदिभ्यश्च' सू. २२२६ या सूत्रांतील 'विद्' या पर शब्दाच्या साहचर्यामुळे लङ् लकारांतच अभ्यस्त धातूपुढील 'सि'चे जागी 'जुस्' आदेश होतो असें सिद्ध होत नाही. 'सिच्' या पूर्वं शब्दाच्या साहचर्यामुळे लुङ् लकारांत देखील अभ्यस्त धातूपुढील 'सि'चे जागी 'जुस्' आदेशाची प्राप्ति होते असें देखील म्हणतां येऊं शकतें व 'पूर्वविधी' हा पञ्चमीसमास मानल्यानेच, 'अपीपचन्' या स्थलीं 'सि'चे जागी 'जुस्' आदेश होण्याची आपत्ति टाळतां येते. म्हणून 'पूर्वविधी' हा पञ्चमीसमास देखील मानणें आवश्यक आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) दुसरें असें कीं, 'अचः परस्मिन्' १-१-५७ या सूत्रावरील भाष्यांतील 'नित्यः परयणादेशः परदचासी व्यथस्थया । युगपत्सम्भवो नास्ति बहिरङ्गेण सिध्यति ।' या वचनांत जी रीति प्रदर्शित केली आहे तिचें अनुसरण केल्याने (पर शब्दाच्या साहचर्याच्या मानानें) पूर्वं शब्दाचे साहचर्य अन्तरङ्ग ठरत असल्यामुळे ('असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'—परि. ५०—या परिभाषान्वये) पूर्वं साहचर्याचें ग्रहण करणें, म्हणजे पूर्वं साहचर्यच बलवत्तर मानणें, उचित ठरतें. (भाष्यांतील घरील कारिकाचा भावार्थ हा आहे कीं, 'पटु ई टा आ') या स्थलीं पूर्वं यणादेश प्रथम केला गিয়া मागून केला तरी, पर यणादेशाची प्राप्ति आदेश. 'पट्वी' असा पूर्वं यणादेश प्रथम केल्यावर घरील पर यणादेश होऊं शकतो व 'पट्व्या' असें रूप मिळू शकतें. पूर्वं यणादेश प्रथम न केला तरी, पर यणादेश करतां येतो व तमें केल्याने 'पट्व्या' असें रूप होतें. पण पर यणादेश प्रथम केला,

म्हणजे 'पट्टया' असे रूप प्रथम केले, तर, 'पट्ट' यातील उकारापुढे यकार येत असून अच् येत नसल्यामुळे, पूर्व यणादेश होऊ शकत नाही. म्हणून 'वचिच् कृताकृतप्रसङ्गमानेणापि नित्यता'—परि. ४६—या न्यायान्वये पर यणादेश पूर्व यणादेशाच्या मानाने नित्य ठरतो व तो वर्णक्रमानुसार पर देखील आहे. दोन्ही यणादेश एकेच वेळी होणे शक्य नाही, कारण वर सांगितल्याप्रमाणे पर यणादेश प्रथम करून 'ई आ = या' असे रूप केल्यास, पूर्व यणादेशाची प्राप्तीच होत नाही म्हणून पर यणादेश पर असल्यामुळे, 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' सू. १७५ या सूत्राने तो प्रथम झाला पाहिजे, कारण दोन कार्ये युगपत् प्राप्त झाली असता, पर कार्य प्रथम करावे अशी व्यवस्था सांगणारे ते सूत्र आहे पण पर यणादेश प्रथम केल्यास, 'पट्ट्या' असे द्रष्ट रूप सिद्ध न होता, 'पट्टया' असे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. ती आपत्ति टाळण्याकरिता भाष्यकार असे म्हणतात की, जरी पर यणादेश नित्य आहे तरी तो पूर्व यणादेशाच्या मानाने बहिरङ्ग आहे, कारण पूर्व यणादेशाचे निमित्त 'ई' हे प्रथम उपस्थित असून, पर यणादेशाचे निमित्त 'आ' हे त्याच्या नंतर उपस्थित आहे व 'नित्यादप्यन्तरङ्गवलीय.' हा न्याय असल्यामुळे आणि तसेच 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ही परिभाषा असल्यामुळे, अन्तरङ्ग पूर्व यणादेश पर व नित्य उत्तर यणादेशाला बाधून प्रथम होतो व त्यामुळे 'पट्ट्या' असे द्रष्ट रूप सिद्ध होते. या बरोल भाष्यावरून हे स्पष्ट होते की, ज्या कार्याचे निमित्त शब्दस्वरूपामध्ये वर्णक्रमानुसार प्रथम उपस्थित होते ते कार्य अन्तरङ्ग ठरत असून, ज्या कार्याचे निमित्त पुढे—पलीकडे—उपस्थित होते ते कार्य बहिरङ्ग ठरते व अशा रीतीने 'पूर्वोपस्थितनिमित्तमन्तरङ्ग परोपस्थितनिमित्तव बहिरङ्गम्' हा न्याय या भाष्यावरून सिद्ध होतो हे जे बरोल भाष्यांत सांगितले आहे त्याचे पूर्वपरशब्दताहपर्याच्या विषयांत अनुसरण बरेसाच,

‘सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च’ सू. २२२६ या शब्दस्वरूपांत ‘अभ्यस्त’ या शब्दाला ‘सिच्’ या पूर्व शब्दाचें जें साहचर्य आहे तें प्रथम उपस्थित असून ‘विद्’ या पर शब्दाचें जें साहचर्य आहे तें नंतर-पलोकडे-उपस्थित असल्यामुळें, पूर्वसाहचर्य अन्तरङ्ग ठरून त्याच्या मानानें परसाहचर्य बहिरङ्ग ठरतें व परापेक्षा अन्तरङ्ग बलवत्तर ठरत असल्यामुळें, पूर्व साहचर्य बलवत्तर ठरून त्याच्या सामर्थ्यानें लुङ् लकारांत अभ्यस्त धातूपुढील ‘क्षि’ चे जागीं ‘जुस्’ आदेशाची प्राप्ति होते व तो आदेश केल्यास, ‘अपीपचन्’ असें इष्ट रूप सिद्ध न होतां ‘अपीपचुः’ असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. ती आपत्ति टाळण्याकरितां पञ्चमी-समासपक्ष मानणें आवश्यक आहे व तो पक्ष मानल्यानें ती आपत्ति कशी टळते हें पूर्वी सांगितलेंच आहे. पण अशा रीतीनें वरील भाष्यानुसार परसाहचर्यापेक्षा पूर्वसाहचर्य बलवत्तर मानल्यास, ‘विभाषा गमहनविदविशाम्’ सू. ३०९९ या सूत्रांतील ‘विद्’ धातु ‘हन्’ या अदादि धातूच्या पूर्वसाहचर्यामुळें अदादि मानण्याची आपत्ति येते व तसेंच ‘नुदविदोन्दन्नाघ्रा’ सू. ३०३८ या सूत्रांतील ‘विद्’ धातु ‘नुद्’ या तुदादि धातूच्या पूर्वसाहचर्यामुळें तुदादि मानण्याची आपत्ति येते अशी कोणी शंका केल्यास, त्या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं,) ‘विभाषा गमहनविदविशाम्’ या सूत्राच्या विषयांत ‘लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य’-परि. ९१-या परिभाषानुसार पर साहचर्याचें अवलंबन केलें आहे हें जाणावें. (‘अदिप्रभृतिभ्यः शपः’ सू. २४२३ या सूत्रान्वयें अदादिगणांत पठित असलेल्या धातूपुढील विकरणाचा लृक् होत असल्यामुळें, अदादि धातूंना लुग्विकरण म्हणतात. इतर गणांतील धातू-पुढील विकरणाचा लृक् होत नसल्यामुळें, त्या धातूंना अलुग्विकरण म्हणतात. सूत्रांत निर्दिष्ट असलेला एखादा धातु लुग्विकरण व तसेंच अलुग्विकरण मानतां येत असल्यास, तो अलुग्विकरण मानावा या अर्थाची वरील परिभाषा असल्यामुळें व ‘विभाषा गमहनविदवि-

धाम् ' या सूत्रात ' विद ' धातूच्या पूर्वी लुग्विकरण ' हन् ' धातूचा निर्देश असून, ' विद ' धातूच्या नंतर अलुग्विकरण ' विश् ' धातूचा निर्देश असल्यामुळे या दोन धातूंच्या साहचर्यामुळे ' विद ' धातु लुग्विकरण मानावा किंवा अलुग्विकरण मानावा असा प्रश्न उपस्थित झाल्यास, वरील परिभाषा असे सांगते की, ' विद ' धातु अलुग्विकरण मानावा. तो जो धातु अशा रीतीने अलुग्विकरण मानला जातो तो पर साहचर्य बलवत्तर आहे असे मानून मानला जात नसून, वरील परिभाषेच्या आधारे तो अलुग्विकरण मानला जातो व तो तसा मानतेवेळी पर शब्दाच्या साहचर्याचे अवलंबन केले जाते. आता ' नुदविदोन्दत्रा ' या सूत्रात जे धातु निर्दिष्ट आहेत ते सर्व अलुग्विकरण असल्यामुळे, त्या सूत्रास वरील परिभाषा लागू पडत नाही आणि पर साहचर्यपिशा पूर्वं साहचर्य अन्तरङ्ग व बलवत्तर असते असे वर सांगितले असल्यामुळे, तुदादि ' नुद ' धातूच्या पूर्वं साहचर्यामुळे ' विद ' धातु वास्तविक तुदादि मानला पाहिजे. पण तो तुदादि न मानता रुधादि ' उन्द् ' धातूच्या पर साहचर्यामुळे रुधादि वा मानला आहे असा कोणी प्रश्न केल्यास, त्यावर शब्दरत्नवार असे उत्तर देतात की) ' असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे '— परि. ५० — ही अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य मानली असल्यामुळे, तिच्या अनित्यत्वाचा आश्रय करून व्याख्यान केल्याने, ' नुदविदोन्द ' या सूत्रात देखील पर साहचर्याचे अवलंबन केले आहे हे जाणावे (शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, अन्तरङ्गपरिभाषा — परि. ५० — ही भाष्यकारांनी अनित्य मानली असल्यामुळे, जेथे ती प्रवृत्त केली अगतां अनिष्ट रूपे होण्याची आपत्ति येते तेथे ती प्रवृत्त न करता द्रष्टव्य केली पाहिजे. सारास पूर्वं साहचर्य अन्तरङ्ग व पर साहचर्य बहिरङ्ग असून देतील, प्रवृत्त स्थली द्रष्टव्यकरिता पूर्वं साहचर्य बलवत्तर न मानता पर-साहचर्याचे अवलंबन करून त्याच्या आश्रयाने ' विद ' धातु रुधादि मानणे योग्य आहे. ' सम्प्रगारणाश्च ' सू. १-१-१०८ या सूत्रावरील

भाष्यांत अन्तरङ्गपरिभाषेसंबंधाने भाष्यकारांनी 'आद्ये योगे बहूनि प्रयोजनानि सन्ति यदर्थभेषा परिभाषा कर्तव्या । प्रतिविधेयं दोषेषु ।' असे म्हटले असल्यामुळे त्यावरून हे ध्वनित होते की, ती परिभाषा अनित्य आहे असे परिभाषेन्दुशेखरांत सांगितले आहे - पहा परिभाषेन्दुशेखराचे मराठी भाषान्तर पान २३२) आणखी असें की पूर्वसाहचर्यपिकां परसाहचर्यं बलवत्तर असतें असें मानले तर, 'उभे अम्यस्तम्' सू. ६-१-५ या सूत्रावरील भाष्यांत दिलेल्या रूपांनुसार 'प्रत्यैषिण्' असें जें भाष्यसंगत रूप ठरतें त्या रूपामध्ये देखील 'शि' चे जागीं लङ् लकारांत 'जुस्' आदेश होण्याची आपत्ति येते. ('कटी गती' वा. नं. ३२० या भ्वादिगणांत निर्दिष्ट असलेल्या धातूंत प्रश्लिष्ट मानलेल्या 'इ' या भ्वादि धातूच्या 'सन्' च्या लडाचे 'प्रत्यैषिण्' हें प्रथम पुरुषाचे बहुवचनाचे रूप आहे. 'इण्' धातूच्या 'सन्' चे हें रूप नव्हे. 'इण्' धातूहून 'सन्' प्रत्यय केला असता, त्या धातूचे जागीं 'सनि च' सू. २६१५ या सूत्राने गमादेश होणे सांगितले आहे. प्रश्लिष्ट 'इ' या भ्वादि धातूहून 'सन्' प्रत्यय केला असता, 'अञ्जनगमां सनि' सू. २६१४ या सूत्राने 'इ' धातु दीर्घ होऊन 'ईसन्' अशी स्थिति होते. या स्थळीं 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सू. २१६८ या सूत्राने इगन्त अञ्जाला होणारा गुण होत नाही; कारण 'इ' हा धातु एकाच् अनुदात्त असल्यामुळे, 'एकाच् उपदेशेऽनुदात्तात्' सू. २२४६ या निषेधक सूत्रान्वये 'सन्' प्रत्ययाला इडागम होत नाही व अशा रीतीने इडागमरहित 'सन्' अलादि राहत असल्यामुळे, 'इको ञल्' सू. २६१२ या सूत्रान्वये तो कित् ठरतो आणि म्हणून 'कितिच' सू. २२१७ या निषेधक सूत्रान्वये 'ई' या अञ्जाला गुण होत नाही. 'प्रति' या उपसर्गपूर्वक 'इ' धातूच्या सन्ने लडाचे प्रथम पुरुषाच्या बहुवचनाचे रूप करितांना 'आञ्जादीनाम्' सू. २२५४ या सूत्राने 'इ' या अजादि धातूला 'आट्' आगम होऊन 'प्रति आ ई सन्

गप् 'क्षि' अशी स्थिति झाली असता 'सम्यङोः' सू. २३९५ या सूत्रानें 'ईत्' या सन्नन्त अजादि धातूच्या 'स' या द्वितीय एकाचाचें 'अजादेद्वितीयस्य' सू. २१७६ या सूत्रानें द्वित्व व 'सम्यतः' सू. २३१७ या सूत्रानें अम्यासातील अकाराचा इकार व 'आट्ठच' सू. २६९ या सूत्रानें वृद्धिरूप एकादेश करून नंतर 'इको यणचि' या सूत्रानें यणादेश आणि 'अतो गुणे' सू. १९१ या सूत्रानें पररूप एकादेश व 'आदेशप्रत्यययो' सू. २१२ या सूत्रानें दोन्ही सकाराचे पत्व केल्यावर, 'प्रत्यैपिप क्षि' अशी स्थिति होते. 'सिजम्यस्तविदिम्यश्च' सू. २२२६ या सूत्रात अम्यस्त धातूला अदादि 'विद्' धातूचे परमाह्वय असल्यामुळे 'क्षि' चे जागी लङ् या डित् लकारात 'जुस्' आदेश होतो असे मानले तर, या वरील उदाहरणात 'क्षि' चे जागी 'जुम्' आदेश होण्याची व 'प्रत्यैपिपन्' असे रूप न होता 'प्रत्यैपिपुः' असे रूप होण्याची आपत्ति येते. पण 'उभे अम्यस्तम्' या सूत्रावरील भाष्यात तर भाष्यकारांनी 'ऐरसन्, ऐस्तन्' अशी 'नृप्' व 'आप्' या सन्नन्त अम्यस्त धातूच्या लटाची रूपे देताना 'क्षि' चे जागी 'जुत्' आदेश न करिता 'अन् = अन्' आदेश केला आहे व तदनुसार वरील उदाहरणात 'क्षि' चे जागी 'अन्' आदेश करून 'प्रत्यैपिपन्' असेच रूप होणे इष्ट आहे मारास 'सिजम्यस्त-विदिम्यश्च' या सूत्रात पूर्वमाह्वयपिप्ता परमाह्वयं बलवत्तर मानले तर, 'प्रत्यैपिपन्' असे वरील भाष्यात दिलेल्या रूपासारखें इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकत नसल्यामुळे, पूर्वमाह्वयपिप्ता परमाह्वयं बलवत्तर मानता येत नाही हे उपाट आहे यातों 'सिजम्य-स्तविदिम्यश्च' या सूत्रात अम्यस्त धातूला 'सिप्' चे पूर्वमाह्वयं अगून 'विद्' या अदादि धातूचे परमाह्वयं असल्यामुळे, या) पूर्वोत्तर माह्वयाच्या सामर्थ्याने 'सिजम्यस्तविदिम्यश्च' या सूत्रा-नीस 'अम्यस्त' या सन्नानें अगाच अम्यस्त धातूचे प्रहृत करता येने की, उपापुटील विवरणाचा भावून आदेशानें अपहार-नाश-

होत नाही असें कोणी म्हण्टल्यास, त्याला उत्तर हें आहे कीं, तसें व्याख्यान देखील अत्यन्त क्लिष्ट आहे. म्हणून तसें व्याख्यान करण्यापेक्षा पञ्चमीसमासपक्ष मानणेंच अधिक श्रेयस्कर आहे. (कित्येक वैयाकरणांचें असें म्हणणें आहे कीं, पूर्वसाहचर्यापेक्षा परसाहचर्य बलवत्तर न मानलें व 'पूर्वविधी' हा पञ्चमीसमास न मानला तरी 'प्रत्यैषिषन्' असें रूप सिद्ध करतां येतें. 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' सू. २२२६ या सूत्रांत अभ्यस्त धातूला 'सिच्' चें पूर्वसाहचर्य असल्यामुळें व जेथें 'सिच्' हें विकरण विद्यमान आहे, किंवा त्याचा लुक् झाला आहे व त्या सिच्चे जागीं कोणताहि भावरूप आदेश झाला नाही, तेथेंच 'क्षि' चे जागीं 'जुस्' आदेश होत असल्यामुळें हें स्पष्ट होतें कीं, जेथें अभ्यस्त धातूपुढील विकरणाचे जागीं भावरूप आदेश झाला नाही तशाच ठिकाणीं त्या अभ्यस्त धातूपुढील 'क्षि' चे जागीं 'जुस्' आदेश होतो. त्याचप्रमाणें वरील सूत्रांत अभ्यस्त धातूला लुग्विकरण अर्थादि 'विद्' धातूचें परसाहचर्य असल्यामुळें त्यावरून देखील हेंच सिद्ध होतें कीं, ज्या अभ्यस्त धातूपुढील विकरणाचा जरी लुक् झाला आहे तरी त्या विकरणाचे जागीं जेथें भावरूप आदेश होत नाही तशाच अभ्यस्त धातूपुढील 'क्षि' चे जागीं 'जुस्' आदेश होतो. अशा रीतीनें वर दर्शविलेल्या पूर्वोत्तर साहचर्याच्या सामर्थ्यानें हाच नियम निष्पन्न होतो कीं, ज्या अभ्यस्त धातूपुढील विकरणाचा भावरूप आदेशानें अपहार झाला नाही तशाच अभ्यस्त धातूपुढील 'क्षि' चे जागीं 'जुस्' आदेश होत असून ज्या अभ्यस्त धातूपुढील विकरणाचा लुक् न होतां एकादेशानें अपहार झाला आहे तशा अभ्यस्त धातूपुढील 'क्षि' चे जागीं 'जुस्' आदेश न होतां 'अन्' आदेश होतो आणि असा नियम मानल्यानें सर्व इष्ट रूपांची सिद्धि होत असल्यामुळें, परसाहचर्यापेक्षा प्रथमोपस्थित पूर्वसाहचर्य बलवत्तर ठरतें हें मानण्याची कांहीं गरज राहत नाही असें त्या वैयाकरणांचें म्हणणें आहे आणि 'अपीपचन्, प्रत्यैषिषन्' इत्यादि उदाहरणांत

विकरणाचा लुक् झाला नमून 'अतो गुणे' सू. १९१ या सूत्राने होणाऱ्या पररूप-भावरूप-एकादेशाने अपहार झाला 'असत्यामुळे', त्या उदाहरणात 'झि' चे जागी 'जुस्' आदेश होऊ शकत नाही व वरील नियमान्वये 'अन्' आदेशच होतो. यावर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, अनेक क्लिष्ट कल्पना केल्याशिवाय 'सिज-भ्यस्तविदिभ्यश्च' या सूत्रानून वर दिलेला नियम निघू शकत नसल्यामुळे, तशा अनेक क्लिष्ट कल्पना न करिता, 'पूर्वविधौ' या स्थली पञ्चमीसमासपक्ष मानणे हेच अधिक उचित आहे, कारण तसे मानण्यात कोणतीही क्लिष्ट कल्पना करण्याची गरज पडत नाही आणि पञ्चमीसमासपक्ष मानला असता अजादेशाचे ठिकाणी 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सू. ५० या सूत्राने स्थानिवद्भाव केल्याने व अशा रीतीने अभ्यस्त घातपुढे 'झि' नमून दोहोमध्य 'अ' चे व्यवधान आहे असे मानणे भाग पडत असल्यामुळे, 'अपीपचन्, प्रत्यपिपन्' इत्यादि उदाहरणात 'झि' चे जागी 'जुस्' आदेश होण्याची आपत्ति सहज टाळता येते.) 'अपरविधौ तु यवतध्यम्' या माध्यवचनान्वये न्यायान्तर केले, म्हणजे 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' या सूत्राऐवजी 'अच. परस्मिन्नपरविधौ' असे सूत्र पठित केले तरी, 'अपरविधौ' या स्थली देखील पञ्चमीसमास होतो असे म्हणता येऊ शकते. ('अचः परस्मिन्नपरविधौ' असे सूत्र केले तर, स्थानिभूत अचापुढील वर्णाला कार्य करतेवेळी स्थानिवद्भावाचा निषेध होईल व तसे झाल्यास 'वेभिदिता' इत्यादि रूपाची सिद्धि होऊ शकणार नाही असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, 'अपरविधौ' या न्यायान्तरा-मध्ये देखील पञ्चमीसमास मानल्याने त्या रूपाची सिद्धि करता येते. 'अपरम्मान् विधौ' असा समाग केला असता, 'वेभिदिता' इत्यादि स्थली स्थानीच्या पूर्वी असणाऱ्या वर्णाला किंवा स्थानीच्या कार्य करणे नमून 'तुष्' इत्यादि पर वर्णाला कार्य करणे असल्या-मुळे, अजादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव करता येतो व त्यामुळे

इडागमादि कार्ये होऊं शकतात.) 'अपरविधी' हें पद 'अचः परस्मिन्' १-१-५७ या सूत्रांत घालण्याचें प्रयोजन हें आहे कीं, स्थानीला किंवा आदेशाला कार्ये करणें असल्यास देखील अजादेशाचें ठिकाणीं स्थानिवद्भाव व्हावा व हें त्या सूत्रावरील भाष्यावरून अगदीं स्पष्ट होतें. (त्या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात— 'अपरविधाविति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । स्वविधावपि स्थानिवद्भावो यथा स्यात् । कानि पुनः स्वविधी स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ? । आयन्, आसन् । धिन्वन्ति, कृष्वन्ति । दध्यन्न, भवन्न । चक्रुः, चक्रुः ।' या भाष्यांतील 'स्वविधी' या शब्दांत असणान्या 'स्व' या शब्दाचा उद्योतांत 'स्थानी' व 'आदेश' असा अर्थ केला आहे. उद्योतकार म्हणतात 'भाष्ये स्वशब्देन स्थान्यादेशश्चोच्यते ।') पञ्चमीसमासपक्ष मानल्यानें जेथें इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येत असेल तशा स्थलीं तो पक्ष अनित्य मानून (व त्या पक्षाचा आश्रय न करितां षष्ठीसमासपक्षाचा आश्रय करून) इष्ट रूपांची सिद्ध करावी.

मनोरमा—पूर्वत्रासिद्धे नेति । एतच्च न्यायसिद्धमित्यवोचाम । त्रिपाद्या असिद्धत्वेन तत्रत्ये कार्ये कर्तव्ये "अचः परस्मिन्" इत्यतिदेशस्याप्रवृत्तेः । तस्येति । तस्य 'पूर्वत्रासिद्धे' इत्यस्य तथा च स्वलक्षणे स्थानिवद्भावो वक्तव्य इत्यर्थः । संयोगादिलोपे चक्रध्वन । लत्वे निगाल्यते । णत्वे मापवपनी । इह "यस्येति च" इति अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन सकारस्य प्रातिपदिकान्तत्वाभावाद् णत्वं न ।

'रपाभ्यां नो णः' सू. २३५ या सूत्रावरील कीमुदीत 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' हें जें यातिक पठित केलें आहे तें न्यायसिद्ध आहे हें आम्ही पूर्वी सांगितलेंच आहे. (तें यातिक अपूर्व वचन नसून 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू. १२ या सूत्रानेंच तें वचन सिद्ध होतें; कारण त्या सूत्रान्वये सपादसप्ताध्यायीच्या दृष्टीनें) त्रिपादी असिद्ध असल्यामुळे, त्रिपादिक कार्ये करतेवेळीं 'अच = परस्मिन्' सू. ५०

हे सापादिक अतिदेशशास्त्र त्रिपादीत प्रवृत्त होऊं शकत नाही (य त्यामुळे त्रिपादिक कार्यं करतेवेळी अजादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव मानता येत नाही हे आपोआपच सिद्ध होत असल्यामुळे, वरील वातिक गतार्थ होतें, म्हणजे ते मानण्याची काही गरज नाही) 'तस्य दोषः सयोगादिलोपलत्वणत्वेपु' हे जें भाष्यवचन प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत पठित केले आहे त्यातील 'तस्य' या पदाचा 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इत्यस्य वातिकस्य' असा अर्थ आहे. (सयोगादिलोपकार्यं, लत्वकार्यं व णत्वकार्यं ही तीन त्रिपादिक कार्यं करतेवेळी 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' हे वातिक प्रवृत्त होत नाही, म्हणजे अजादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव होतो, असा त्या भाष्यवचनाचा अर्थ आहे.) त्यामुळे वरील तीन स्थली स्थानिवद्भाव होतो असे सांगितले पाहिजे असा त्या भाष्यवचनाचा अर्थ होतो. सयोगादिलोपाचे 'चक्रघन' हे उदाहरण आहे ('चत्री अत्र' या स्थली 'इको यणचि' सू. ४७ या सूत्रानें 'चत्री' या पदातील अस्य ईकाराने जागो यकार होऊन 'चक्रप्' असे सयोगान्त पद होतें. पदान्ती अमणान्या 'त्रघ' या सयोगांत यकार आदि असल्यामुळे, 'स्को सयोगाद्योः' सू. ३८० या त्रिपादिक सूत्रानें यकाराचा णोप होण्याची आपत्ति येते, पण यकार हा ईकारच आहे अशी स्थानिवद्भावानें बुद्धि केल्याने ते पद सयोगान्त ठरत नसून अजन्त ठरत असल्यामुळे, यकारलोप होण्याची आपत्ति टळते व 'चक्रघन' असा द्रष्ट प्रयोग सिद्ध होतो म्हणून त्रिपादिक सयोगादिनामकार्यं करतेवेळी अजादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव होतो याचे शीशनाती 'चक्रघन' हे उदाहरण दिले आहे) त्रिपादिक लत्वकार्यं करतेवेळी अजादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव होतो याचे 'निगास्यने' हे उदाहरण आहे. ('नि गु नि यत् ते' या स्थली, 'अथो जिनति' सू. ०५४ या सूत्रानें 'नि' च्या निनिष्ठांमुळे 'गु' चागोप अग्न्य ऋकाराची 'गार्' अशी बुद्धि होऊन व 'गोर्निटि' सू. २२१२ या सूत्रानें निनिष्ठा होऊन 'निगास्यन' असे रूप होतें.

येथें 'णि = इ' लोपाचे ठिकाणीं 'अचः परस्मिन्' या सूत्रानें स्थानिवद्भाव केल्यानें व 'णि = इ' विद्यमान आहे असें मानल्यानें, 'अचि विभाषा' सू. २५४१ या त्रैपादिक सूत्रानें 'गार्' यांतील रकाराचा लकार होऊन 'निगाल्यते' असें पाक्षिक रूप सिद्ध होतें.) त्रैपादिक णत्वकार्य करतेवेळीं अजादेशाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव होतो याचें 'माषवपनी' हें उदाहरण आहे. या उदाहरणांत 'यस्येति च' सू. ३११ या सूत्रानें जो अकाराचा लोप होतो त्याचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव केल्यानें प्रातिपदिकाच्या अन्तीं नकार येत नसल्यामुळे, णत्व होत नाही. ('वप बीजसन्ताने' या भ्वादिगणांतील 'वप्' वातूहून 'करणाधिकरणयोश्च' सू. ३२९३ या सूत्रानें 'ल्युट् = अन' प्रत्यय केल्यानें 'वपन' असें रूप होतें. 'वपन' या टित्प्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिकाहून टिड्ढाणञ्' सू. ४७० या सूत्रानें 'ङीप् = ई' हा स्त्रीप्रत्यय केला असतां 'वपन' हें अङ्ग भसंज्ञक ठरत असल्यामुळे, त्यांतील अन्त्य अकाराचा 'यस्येति च' या सूत्रानें लोप होऊन 'वपनी' असें स्त्रीप्रत्ययान्त रूप होतें. 'माषाणां वपनी माषवपनी' या स्थलीं 'माष' या पूर्व पदांत णत्वाचें निमित्त पैकार असल्यामुळे व 'यस्येति च' या सूत्रानें 'वपन' या कृदन्त प्रातिपदिकांतील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन 'वपन्' असें नकारान्त प्रातिपदिक होत असल्यामुळे, 'प्रातिपदिकान्तनुम्बि-भक्तिपु च' सू. १०५५ या त्रैपादिक सूत्रानें त्या अन्त्य नकाराचें णत्व होण्याची आपत्ति येते. पण 'यस्येति च' या सूत्रानें वर सांगितल्याप्रमाणें जो अकारलोप झाला आहे त्याचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव केल्यानें व अकार विद्यमानच आहे असें मानल्यानें 'वपन' असें अदन्त प्रातिपदिक ठरत असल्यामुळे, णत्व होण्याची आपत्ति टळते.)

शब्दरत्न-चक्रचत्रेति । तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां विवपि लोपाभावोऽपि फलं । निगाल्यते इति । न चात्र णिलोपात्पूर्व सत्यम् । सपादसप्ताध्यायीस्यकार्यस्य प्रवृत्तियोग्यतया तदप्रवृत्तेः । न

च स्थानिवत्त्वमल्लिखितत्वात् । प्रत्ययलक्षणं तु नियमार्थमिति भावः ।
अत्र बहिरङ्गासिद्धत्वं न, नाजानन्तर्यं इति तन्निषेधात्, त्रिपाद्या
सदप्रवृत्तेरेव विसर्जनीयसूत्रस्थभाष्यसम्मतत्वाच्चेत्यन्यत्र प्रपञ्चितम् ।
एवं प्लायत इत्यप्ययतावित्यस्योपसर्गविशेषणत्वे फलम् । मापवप-
नोति । इह डीवृत्पत्तेः प्राक् समासे डीपि अल्लोपे समासरूपप्रातिपदि-
कान्तत्वाण्णत्वं प्राप्तम् । पूर्वपदाक्षिप्तसमासरूपप्रातिपदिकान्तस्य तेन
णत्वविधानात्तस्यापि पूर्वपरोभयसापेक्षत्वेन, समासत्वज्ञानसापेक्षत्वेन
च समानत्वात् त्रिपादीस्यत्वाच्च बहिरङ्गासिद्धत्वाद्वाङ्का नाथेति
बोध्यम् ।

('यणः प्रतिषेधो वाच्य' या वातिकाचा जर असा अर्थ
केला की, पदान्ती यणन्त सयोग अमून तो सयोग सकारानें किंवा
ककारानें मुरु होणारा सयोग असल्यास त्याला 'स्को. सयोगाद्योः'
हे सूत्र लागू पडत नाही तर, 'चक्रघ' या पदाच्या अन्ती असणाऱ्या
यणन्त 'त्रय' या सयोगातील आद्य ककाराचा लोप पावतच नाही व
अशा रीतीने 'चक्रघत्र' हे अन्यथासिद्ध उदाहरण ठरत असल्यामुळे,
शब्दरत्नकार संयोगादिलोपाची दुसरी उदाहरणे देतात.) 'तक्ष'
किंवा 'रक्ष' या घातूहून 'णिच्' करून नंतर विवप् प्रत्यय केल्यास
सयोगातील आद्य ककाराचा लोप होत नाही हे देखील (अजादेशाचे
ठिकाणी स्थानिवद्भाव मानण्याचे) फल आहे ('तक्ष् णि विवप्
सु' या स्थली 'णेरनिटि' सू. २३१३ या सूत्रानें णिलोप होऊन व
'वेरपूवतस्य' सू. ३७५ या सूत्रानें 'विवप् = व्' या अपूवत प्रत्ययाचा
लोप होऊन आणि 'हल्ङ्याभ्य.' सू. २५२ या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचा
लोप होऊन, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सू. २६२ या सूत्रावय्वें
'तक्ष्' हें प्रत्ययलक्षणानें पदसंज्ञक ठरते. या पदाच्या अन्ती
'क्ष्' हा सयोग आहे. हा सयोग यणन्त नमून पकाराना सयोग
आहे व ककारानें मुरु होणारा हा सयोग असल्यामुळे, 'स्कोः
सयोगाद्योः' सू. ३८० या सूत्रानें त्या ककाराचा लोप होण्याची
आपत्ति येते. पण णिलोपाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव केल्याने 'क्ष्'

हा संयोग पदान्तीं आहे असें मानतां येत नसल्यामुळे व 'तक्षि' असें अजन्त रूप आहे असें मानावें लागत. असल्यामुळे, ककारलोप होण्याची आपत्ति टळते.) 'निगाल्यते' या स्थलीं णिलोप करण्यापूर्वी लत्व करतां येत नाही; कारण या उदाहरणांत सापादिक कार्याची प्रथम प्रवृत्ति होणें योग्य असल्यामुळे, त्रैपादिक लत्वकार्य प्रथम करतां येत नाही. (वरील उदाहरणांत 'णेरनिटि' या सापादिक सूत्रानें णिलोपकार्याची प्राप्ति होते व 'अचि विभाषा' सू. २५४१ या त्रैपादिक सूत्रानें लत्वकार्याची प्राप्ति होते आणि 'पूर्वत्रासिद्धम्' या सूत्रान्वये सपादसप्ताध्यायीच्या दृष्टीनें त्रिपादी असिद्ध असल्यामुळे, सापादिक कार्य प्रथम केल्यावरच नंतर त्रैपादिक कार्य करतां येतें. म्हणून णिलोप प्रथम होत असल्यामुळे, लत्व होण्याकरितां णिलोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव मानणें आवश्यक आहे. तसें मानलें असतां, रकारापूर्वे 'णि = इ' हा अच् आहे असें मानतां येत असल्यामुळे, त्याचें विकल्पें करून लत्व होतें. आतां 'तस्य लोपः' या भाष्यवचनान्वये त्रैपादिक लत्वकार्य करतेवेळीं अजादेशाचे ठिकाणीं जो स्थानिवद्भाव करतां येतो तो 'अचः परस्मिन्' या सूत्रान्वये कां करावा व 'स्थानिवदादेशः' या सूत्रान्वये वरील उदाहरणांत कां करूं नये असा कोणी प्रश्न केल्यास, त्यावर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'स्थानिवदादेशः' या सूत्रानें वरील उदाहरणांत स्थानिवद्भाव करतां येत नाही.) कारण हा अत्वविधि आहे (ज्या 'णि = इ' चा लोप झाला आहे तो अत्वरूप स्थानी असल्यामुळे व 'अनत्वघो' हा प्रतिषेध असल्यामुळे, णिलोपाचे ठिकाणीं 'स्थानिवदादेशः' या सूत्रानें स्थानिवद्भाव करतां येत नाही व 'णि' विद्यमान आहे असें मानतां येत नाही. 'अचः परस्मिन्' या अत्वविध्यर्थक सूत्रानेंच 'णि' लोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव करतां येतां असें वाचस्पत्यकारांचें म्हणणें आहे.) 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सू. २६२ या सूत्रांत 'प्रत्ययलक्षणम्' हें पद नियमार्थ घातलें आहे. ('निगाल्यते' या स्थलीं जरी सापादिक

सूत्राने होणारा णिलोप प्रथम होतो तरी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' या सूत्रान्वये 'णि' विद्यमानच आहे असे मानून नंतर त्रैपादिक सूत्राने होणारे लत्व करता येते असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही, कारण 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' १-१-६२ हे सूत्र अशाच ठिकाणी प्रवृत्त करता येत की, जेथे प्रत्ययाच्या असाधारण रूपाच्या निमित्तामुळे पावलेले कार्य करणे आहे त्या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात - 'न तर्हीदानीमथ मंगो वनतव्य ? । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् ? । प्रत्यय गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्यय-लक्षणेन यथा स्यात् । शब्द गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्ययलक्षणेन ना भूदिति ।' या भाष्याचा अर्थ असा आहे की, 'प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्' हे सूत्र मग करावयास नको काय ? ते सूत्र केलेच पाहिजे व ते असाकरिता की, प्रत्ययाच्या निमित्ताने जे कार्य होणे सांगितले आहे ते कार्य प्रत्ययाचा लोप झाला असता प्रत्ययलक्षणाने दहावे व एखाद्या शब्दाच्या निमित्तामुळे जे कार्य होणे सांगितले आहे ते कार्य प्रत्ययाचा लोप झाला असता प्रत्ययलक्षणाने होऊ नये. 'निगम्यते' या उदाहरणात 'णि' या विशिष्ट प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे होणारे लत्वकार्य नगून, 'अचि विभाषा' सू. २५४१ या सूत्राने वेबळ 'अच्' च्या निमित्तामुळे होणार ते कार्य आहे तारात 'अचि विभाषा' या लत्वविषयक सूत्रात कोणत्याहि विशिष्ट प्रत्ययाचे निमित्तत्वाचे ग्रहण केले नगून त्या सूत्रात 'अचि' या शब्दाचे निमित्तत्वाचे ग्रहण केले असल्यामुळे, 'निगम्यते' या स्थली णिलोप झाला असता, लत्व कार्य वरतेवेळी, 'णि' विद्यमान आहे असे प्रत्ययलक्षणाने मानता येत नाही म्हणून 'अथ परस्मिन्' या अल्विध्ययेंक सूत्रान्वयेच, 'तस्य दोष' हे भाष्यकारन असल्यामुळे, येथे णिलो-पाने ठिकाणी त्रैपादिक सत्त्वकार्य वरतेवेळी त्यानिबद्धाव बरतो येऊ शकतो) येथे णिलोप ग्रहित आहे तरी, 'नात्रातये-यद्विष्टप्रवृत्ति' -गटि. ५१-ही निर्देश परिभाषा असल्यामुळे,

णिलोप असिद्ध ठरत नाही. दुसरें असें कीं, 'स्वरवसानयोर्विसर्जनीयः' सू. ८-३-१५ या सूत्रावरील भाष्यान्वयें 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'—परि. ५०—ही बहिरङ्गपरिभाषा त्रिपादीत प्रवृत्त होत नाहीं हें इतर स्थलीं सांगितलें आहे. ('नि गृ णि यक् ते' या स्थलीं 'यक्' या पुढील निमित्तामुळें णिलोप होत असून 'णि' या पूर्वं निमित्तामुळें लत्वाची प्राप्ति होत असल्यामुळें, 'पूर्वोपस्थितनिमित्तकमन्तरङ्गं परोपस्थितनिमित्तकं बहिरङ्गम्' या न्यायान्वयें, लत्वकार्य अन्तरङ्ग ठरतें व त्याच्या मानानें णिलोपकार्य बहिरङ्ग ठरतें आणि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' या परिभाषान्वयें तें णिलोपकार्य लत्वकार्याच्या दृष्टीनें असिद्ध ठरतें. म्हणून अन्तरङ्ग लत्वकार्य करतेवेळीं णिलोप झालाच नाहीं असें मानल्यानें लत्वकार्य होऊं शकतें असें शंकाकाराचें म्हणणें आहे. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'णि = इ' या लगेच पुढें असलेल्या अच्चाच्या निमित्तामुळें 'निगार्' यांतील रकाराचें लत्व करणें असल्यामुळें, णिलोप बहिरङ्ग असून देखील 'नाजानन्तर्ये' या परिभाषान्वयें तो बहिरङ्ग व असिद्ध ठरत नाहीं व त्यामुळें तो झालाच नाहीं असें मानतां येत नाहीं. म्हणून येथें लत्व होण्याकरितां णिलोपाचे ठिकाणीं 'अचः परस्मिन्' या सूत्रान्वयें स्थानिवद्भाव मानणें आवश्यक आहे. दुसरें असें कीं, त्रैपादिक कार्य करतेवेळीं बहिरङ्ग परिभाषा प. ५० त्रिपादीत प्रवृत्त होत नाहीं हें पूर्वी सन्धिप्रकरणांत सांगितलेंच आहे. त्यामुळें देखील त्रैपादिक अन्तरङ्ग लत्वकार्य करतेवेळीं सापादिक णिलोप बहिरङ्ग असून देखील असिद्ध ठरत नाहीं आणि म्हणून णिलोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव मानणें आवश्यक आहे.) 'उपसर्गस्यायती' सू. २३२६ या सूत्रांत ('अयतिपरकस्य उपसर्गस्य यो रेफः तस्य लत्वं स्यात्' अशा रीतीनें) 'अयती' हें उपसर्गाचें विशेषण होत असल्यामुळें, लत्वकार्य करतेवेळीं अजादेशाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव होतो याचें 'प्लायते' हें देखील उदाहरण देतां येतें. ('अय गती' हा घातु भ्वादिगणांत

आत्मनेपदी पठित आहे. 'प्र अय् धप् ते = प्र अय् अ ते = प्र अयते' या स्थली 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' या न्यायान्वये धातु व उपसर्ग याचे अन्तरङ्ग सन्धिकार्य प्रथम केल्यावर 'प्रायते' असे रूप होते. येथे 'अक' सवर्णे दीर्घ.' सू. ८५ या मूत्राने सवर्ण-दीर्घरूप एकादेश झाला असल्यामुळे, 'प्र' असा उपसर्गहि दिसत नाही व त्यापुढे लत्वाचे निमित्त असा जो 'अय्' धातु तो देखील भिन्न-पृथक्-रूपाने दिसत नाही आणि त्यामुळे 'प्र' या उपसर्गातील रकाराचे लत्व व्हावे कसे? 'आ' या एकादेशाला परादि-वद्भाषाने 'अय्' धातूचा आदि मानल्यास 'प्र' असा उपसर्ग राहत नसून त्याचे 'प्र' असे विकृत रूप होते व या उपसर्गातील दोन मात्रांपैकी एक मात्रा नाहीशी होत असल्यामुळे, अर्धविकृत 'प्र' याला 'एकदेशविकृतमनन्यवत्'-परि. ३७-या परिभाषा-न्वये तो 'प्र' उपसर्ग आहे असे मानता येत नाही. दुमरे असे की, भैरवीत सांगितल्याप्रमाणे उपसर्गत्व हा धर्म 'अवतपरिमाणनिष्ठ' आहे, म्हणजे प्रादिगणात ज्या रूपाने प्रातिशब्द पठित आहेत त्यानाच उपसर्गसंज्ञा होऊ शकते व त्याच्या एकादेशविकृतस्वरूपाला उपसर्गसंज्ञा होऊ शकत नाही. त्यामुळे देखील 'प्र' याला उपसर्ग मानता येत नाही आता 'आ' या एकादेशाला पूर्वान्तवद्भाषाने 'प्र' या उपसर्गाचा अन्त मानल्यास, 'प्र' या उपसर्गापुढे लत्वाचे निमित्त जो 'अय्' धातु तो राहत नसून 'प्र' पुढे केवळ 'य्' राहतो व 'य्' हा धातु नष्ट. तो 'य्' 'अय्' धातूच आहे असे एकदेशविकृतन्यायान्वये मानता येत नाही, कारण अप्यपिदा अधिक भाग एकदेशाने नाहीसा झाला आहे. 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' या माध्यवचनान्वये एकादेशाला 'प्र' या उपसर्गाचा अन्त व 'अय्' या धातूचा आदि मानता येत नाही. म्हणून येथे लत्व होण्याकरिता 'आ' या एकादेशाचे ठिगानी तो 'अ अ' व आहे अशी 'स्थानिवशादेश.' सू. ४९ या मूत्रान्वये, स्थानिवद्भाषाने बुद्धि करणे भावश्यक आहे.

तशी वृद्धि केल्यानं, 'प्र' हा उपसर्ग विद्यमान आहे व त्याच्या लगेच पुढे लक्षाचें निमित्त 'अय्' धातु हा देखील विद्यमान आहे असें मानतां येतें व त्यामुळें लत्व होऊन 'प्लायते' असें रूप सिद्ध होतें.) 'मापवपनी' या स्थली 'ङीप्' प्रत्यय होण्यापूर्वी समास होतो व 'ङीप्' प्रत्यय केल्यावर अकाराचा लोप झाला असतां, 'मापवपन्' असें जें समासरूप प्रातिपदिक होतें त्याच्या अन्त्य नकाराला णत्वाची प्राप्ति होते. या स्थलीं पूर्वं पदाचा आक्षेप-अनुवृत्ति- होत असल्यामुळें हें सिद्ध होतें कीं, ('प्रातिपदिकान्त' सू. १०५५ या सूत्रानें) समासरूप प्रातिपदिकाच्या अन्तीं असणाऱ्या नकाराचें णत्व होण्याचें विधान केलें आहे व अशा रीतीनें तें णत्व-कार्य देखील पूर्वपद व उत्तरपद या दोहोंच्याहि अपेक्षेनें होणारें कार्य असल्यामुळें व तें णत्वकार्य होण्याकरितां ज्या नकाराचें णत्व करणें आहे तो नकार सामासिक शब्दाचा अन्त्य वर्ण आहे या ज्ञानाची देखील अपेक्षा असल्यामुळें, णत्वकार्य व अकारलोप हे दोन्ही सारखेच ठरतात, म्हणजे एक अन्तरङ्ग असून दुसरें बहिरङ्ग आहे असें मानतां येत नाहीं. दुसरें असें कीं, त्रैपादिक णत्वकार्य करतेवेळीं सापादिक बहिरङ्गपरिभाषा-परि. ५०-त्रिपादींत उपस्थित होत असल्यामुळें, अकारलोप असिद्ध आहे अशी दांकाच उद्भवू शकत नाहीं हें जाणावें. ('गति-कारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः'-परि. ७६-या परिभाषेतील 'सुबुत्पत्तेः' हें पद उपलक्षणात्मक असून त्या पदानें 'स्त्रीप्रत्ययोत्पत्तेः' याचें देखील ग्रहण होतें-पहा परिभाषेन्मु-द्येपराचें मराठी भाषान्तर पान ३६६. त्यामुळें 'करणेत्पुट्' प्रत्ययान्त 'वपन्' या कृदन्ताहून सुबुत्पत्ति होण्यापूर्वी जगा समास होतो समान पदीक परिभाषान्वये ती समान स्त्रीप्रत्यय होण्यापूर्वीच होतो. म्हणून 'वपन्' पदग्रहून 'ङीप्' प्रत्यय होण्यापूर्वीच त्याचा 'माप' शब्दाशी समास लाग्ता असतां, समानांतील पूर्वपदांच अगणान्या निमित्तानांमुळें होणारें णत्वकार्य असून पदीकदे अगणान्या

‘हीप्’ प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे अकारलोप पावत असल्यामुळे, अकारलोप, णत्वकार्याच्या मानाने, बहिरङ्ग ठरतो व ‘असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे-’ या परिभाषान्वये तो बहिरङ्ग अकारलोप असिद्ध ठरत असल्यामुळे, म्हणजे झालाच नाही असे मानता येत असल्यामुळे, ‘वपन’ हे प्रातिपदिक नकारान्त न ठरता अदन्त ठरते व त्यामुळे ‘मापवपनी’ या स्थली ‘प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिपु च’ सू. १०५५ या सूत्राने होणाऱ्या णत्वाची प्राप्तीच होत नाही असे शकाकाराचे म्हणणे आहे. या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, ‘प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिपु च’ या सूत्रात ‘पूर्वपदात्सज्ञायामग.’ या पूर्वं सूत्रातून ‘पूर्वपदात्’ हे पद अनुवृत्त होत असल्यामुळे त्या अनुवृत्त पदाच्या सामर्थ्याने हे स्पष्ट होते की, ज्यात पूर्वं पद व उत्तर पद आहे अशा समासरूप प्रातिपदिकाच्या अन्ती असणाऱ्या नकाराचे त्या सूत्राने णत्व होते. म्हणून ज्याअर्थी दोन पदाशिवाय समास होऊ शकत नाही व समासातील पूर्वं पदात णत्वाचे निमित्त असणे व उत्तर पदाच्या अन्ती कार्यो नकार असणे अशा प्रकारचे पदद्वयापेक्ष णत्व-कार्य आहे त्याअर्थी अकारलोप बहिरङ्ग ठरतो व णत्वकार्ये अन्तरङ्ग ठरते असे मुळीच म्हणता येत नाही व अशा रीतीने दोन्ही कार्ये सारख्याच दर्जाची ठरत असल्यामुळे, अकारलोपाच्या मानाने णत्वकार्ये अन्तरङ्ग आहे असे मानता येत नाही व अकारलोप णत्वकार्याच्या मानाने बहिरङ्ग ठरत नाही त्यामुळे णत्वकार्ये वरनेवेळी अकारलोप असिद्ध ठरत नाही व तो झाला आहे असेच मानते पाहिजे. त्यामुळे ‘मापवपनी’ या स्थली णत्व टाठण्या-करिता अकारलोपाचे ठिकाणी ‘अथ परस्मिन्’ या सूत्रान्वये स्थानिवद्भावा मानणे आवश्यक आहे दुमरे अने की, ‘वाह ऊङ्’ या मापादिक सूत्रांतील ‘ऊङ्’ ग्रहण ‘असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे’ या बहिरङ्गपरिभाषेचे भाष्यकारांनीं तापस मानले असल्यामुळे, ती परिभाषा सापादिक ठरवे आणि निष्ठा दृष्टीने निपादी असिद्ध

असल्यामुळे ती, त्रैपादिक णत्वकार्य करतेवेळीं, त्रिपादींत प्रवृत्त होऊं शकत नाहीं. त्यामुळे सापादिक अकारलोप बहिरङ्ग मानला तरी, त्रैपादिक णत्वकार्य करतेवेळीं तो अकारलोप असिद्ध ठरत नाही आणि म्हणून देखील णत्व टाळण्याकरितां अकारलोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भावा मानणें आवश्यक आहे. तसें मानलें असतां, 'माषवपन्' असें नकारान्त प्रातिपदिक न ठरतां 'माषवपन' असें अकारान्त प्रातिपदिक ठरत असल्यामुळे, 'प्रातिपदिकान्तनुम्बिभ-वितपु च' या सूत्रानें होणारें णत्व होण्याची आपत्ति टळते.)

मनोरमा—यस्वाहुः कथं चित्स्थानिवत्त्वाभावेऽपि यूष्ण इत्यादौ “रषाभ्याम्” इत्यस्य नोपयोगः, ष्टुत्वेन सिद्धेः । तथा च षग्रहण-मुत्तरार्थमिति आकरे स्थितम् । ततश्च रभसवादेनैतदुपन्यस्तमिति स एवायं रभसवादः । तथा हि उत्तरार्थतयाऽपीह षग्रहणं स्थितम् । ततश्च यूष्णः पुष्णातीत्यादौ “रषाभ्याम्” इति णत्वस्य प्रवृत्तिः केन वार्यताम् । ष्टुत्वेनेति चेन्न । तस्यासिद्धत्वात् । न च वचन-प्रामाण्यात् सिद्धत्वम् । पुष्टिरित्यादौ चरितार्थत्वात् तस्य षयोगे ण इत्यंशोऽचरितार्थ इति चेन्न । तस्य पृथगनुक्तेः । इह षात्परस्येत्यु-क्तितरचितार्थेत्यस्यापि तुल्यत्वाच्च । आकरे हि इह षग्रहणं विना लक्ष्यासिद्धिर्नास्ति इत्येवाभिप्रेतं न तु पुष्णातीत्यादौ “रषाभ्याम्” इत्यस्याप्रवृत्तिरिति दिक् ।

प्रकाशकारांचें असें म्हणणें आहे कीं, 'यूष्णः' इत्यादि स्थलीं कौणत्या तरी रीतीनें स्थानिवद्भाव न केला तरी, 'रषाभ्यां नो णः' सू. २३५ हें प्रकृत सूत्र प्रवृत्त करण्याची कांहीं गरज नाहीं; कारण 'प्टुना प्टुः' सू. ११३ या सूत्रानें प्टुत्व केल्यानें त्या उदाहरणांत णत्वाची सिद्धि होऊं शकते, आणि म्हणूनच भाष्यकारांनीं असें म्हटलें आहे कीं, 'रषाभ्यां नो णः' या सूत्रांत पकाराचें जें ग्रहण केलें आहे तें त्या पकाराची उत्तर सूत्रांत अनुवृत्ति व्हावी याकरितां केलें आहे. म्हणून 'रषाभ्यां नो णः' या सूत्राचा, 'यूष्णः' या

स्थली णत्वाची सिद्धि होण्याकरिता प्रक्रियाकौमुदीकारानी, जो उपन्यास केला आहे तो योग्य विचार न करिता केला आहे. पण प्रक्रियाकौमुदीकारानी त्या सूत्राचा जो उपन्यास केला आहे तो योग्य विचार न करिता केला नसून, त्या उदाहरणासंबधाने प्रकाश-कारानी जें म्हटले आहे तेच वास्तविक योग्य विचार न करिता म्हटले आहे. (प्रकाशकाराचे असे म्हणणे आहे की, 'यूष्णः' या उदाहरणात 'अल्लोपोऽनः' सू. २३४ या सूत्राने ज्या अकाराचा लोप झाला आहे त्याचे ठिकाणी, पञ्चमीसमासपक्ष अनित्य मानून त्याची प्रवृत्ति न करिता स्थानिवद्भाव न केल्यास, पकार व तवर्गातील नकार या दोहोगर्भ्ये कोणत्याहि वर्णाचे व्यवधान होत नसून त्या दोन वर्णांचा संयोग होत असल्यामुळे, 'प्लुता प्लुः' सू. ११३ या सूत्राने त्या नकाराचे णत्व करता येते व प्रवृत्त सूत्रातील पकाराचे ग्रहण भाष्यकारादिकांनी उत्तरार्थ मानले असल्यामुळे व अशा रीतीने ते पकारग्रहण प्रवृत्त सूत्रात नाहीच असे मानता येत असल्यामुळे, प्रवृत्त सूत्राने 'यूष्णः' या स्थली णत्व करता येत नाही. पञ्चमीसमासपक्ष अनित्य आहे तरी त्याची प्रवृत्त उदाहरणात प्रवृत्ति केल्यास, त्या पक्षात अवारलोपाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव करता येतो व अशा रीतीने पकार व नकार या दोहोगर्भ्ये अवकाराचे व्यवधान आहे असे मानावे लागत असल्यामुळे, प्रवृत्त सूत्रानी प्रवृत्ति होऊच शकत नाही व 'अटकुप्वाडनुम्यवायेऽपि' सू. १९७ या सूत्रानेच 'यूष्णः' या स्थली णत्व करता येते सारास स्थानिवद्भाव मानला गेला न मानला तरी, 'यूष्णः' या स्थली प्रवृत्त सूत्राने णत्व करता येत नसल्यामुळे, प्रवृत्त सूत्राचे 'यूष्णः' हे जें प्रक्रियाकौमुदीकारानी उदाहरण दिले आहे ते खूब ठरते असे प्रवाणकारांच्या म्हणण्याचे तात्पर्य आहे. यावर दीक्षित असे म्हणतात की, प्रक्रियाकौमुदीकारानी 'यूष्णः' हे जें प्रवृत्त सूत्राचे उदाहरण दिले आहे ते खूब विज्ञा अपोष्य नसून, त्या उदाहरणासंबधाने प्रवाणकारांनी जें म्हटले आहे तेंच वास्तविक खूब आहे. ते असे खूब आहे हे दीक्षित

पुढील पंक्तींत सांगतात.) 'रषाम्यां नो णः' या प्रकृत सूत्रांत केलेले पकारग्रहण उत्तर सूत्रांत अनुवृत्ति होण्याकरितां केलेले असले तरी, तें पकारग्रहण प्रकृत सूत्रांत विद्यमान असल्यामुळे, 'यूष्णः, पुष्णाति' इत्यादि स्थलीं गत्वाची सिद्धि करण्याकरितां प्रकृत सूत्राची प्रवृत्ति कशी बंद करतां येऊं शकणार? 'प्टुना प्टुः' या सूत्रानें त्या दोन्ही उदाहरणांत नकाराचें गत्व करतां येतें हें म्हणणें बरोबर नाही; कारण ('रषाम्यां नो णः' या त्रैपादिक पूर्वं सूत्राच्या दृष्टीनें, 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू. १२ या वचनान्वये) 'प्टुना प्टुः' हें त्रैपादिक उत्तर सूत्र असिद्ध ठरतें. (सारांश जेथें त्रैपादिक पूर्वं सूत्रानें इष्ट कार्य करतां येतें तेथें तें कार्य करण्याकरितां त्या पूर्वं सूत्राच्या दृष्टीनें असिद्ध असलेल्या उत्तर सूत्राची प्रवृत्ति करणें अयोग्य आहे.) 'प्टुना प्टुः' हें सूत्र मुद्दाम केले असल्यामुळे तें सूत्र त्या वचनाच्या प्रामाण्यामुळे, 'रषाम्यां नो णः' या पूर्वं सूत्राच्या दृष्टीनें (पकारापुढील नकाराचें गत्व करण्याच्या विषयांत) सिद्ध मानलें पाहिजे (तसें न मानल्यास, त्या विषयापुरतें तें सूत्र अचरितार्थ ठरण्याची आपत्ति येईल) असें म्हणणें असल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण तें सूत्र 'पुष्टिः' इत्यादि स्थलीं चरितार्थ ठरतें. (सारांश तें सूत्र पकाराच्या विषयांत अनवकाश ठरत नसून, पकाराचा सकाराशीं व, तवर्गातील पुढें येणारा नकार सोडून, इतर वर्णाशीं संयोग झाला असतां त्यांचें प्टुत्व करून तें सूत्र 'पुप्' धातूहून 'स्थियां वितन्' सू. ३२७२ या सूत्रानें 'वितन् = ति' प्रत्यय केला असतां, तकाराचें प्टुत्व होऊन 'पुष्टिः' इत्यादि उदाहरणांत चरितार्थ ठरत असल्यामुळे, 'येन नाप्राप्ते'—परि. ५८—या न्यायान्वये तें सूत्र पत्वनिमित्त कणत्वाच्या विषयांत प्रकृत सूत्राचें बाधक ठरूं शकत नाही व तें त्रैपादिक उत्तर सूत्र प्रकृत त्रैपादिक पूर्वं सूत्राच्या दृष्टीनें मुळींच सिद्ध ठरूं शकत नाही.) नकाराचा पकाराशीं संयोग झाल्यास त्या नकाराचें गत्व होणें या कार्यापुरतें 'प्टुना प्टुः' हें सूत्र अचरितार्थ ठरतें (आणि म्हणून तसें गत्व करतेनेही

ते सूत्र अनवकाश ठरत असल्यामुळे, 'रपाभ्यां नो णः' या सूत्राचे तेवढ्यापुरते ते वाचक ठरते) असे म्हणणे असल्यास, ते म्हणणे देखील बरोबर नाही; कारण त्या सूत्रात (पकारापुढे नकार आल्यास त्याचे णत्व करावे असे) पृथक् विशेष विधान केले नाही. (पकारापुढे नकार आला असता त्या नकाराचे 'प्लुता प्लुः' या सूत्राने णत्व न केल्यास तेवढ्यापुरते ते सूत्र अचरितार्थ व व्यर्थ ठरते असे त्या सूत्रासंबंधाने जसे प्रकाशकारातर्फे म्हणण्यात येते त्याचप्रमाणे) प्रकृत सूत्रात 'पात्परस्य नस्य णत्व स्यात्' असे जे विधान केले आहे ते देखील (तसा स्थली 'प्लुता प्लुः' या सूत्राने णत्व केल्यास) तेवढ्यापुरते सारखेच व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. (साराश प्लुत्वाचे विधान करणारे 'प्लुता प्लुः' हे सामान्य सूत्र असून, पकारापुढे नकार आला असता त्याचे णत्व व्हावे हे विधान करणारे प्रकृत सूत्र विशेष सूत्र आहे म्हणून पकारापुढील नकाराचे णत्व वरतेवेळी ते सामान्य सूत्र प्रवृत्त न करिता तसा स्थली णत्वाचे विशेष विधान करणारे प्रकृत सूत्रच प्रवृत्त करणे योग्य आहे असा दोशिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) भाष्यकारांनी भाष्यात जे म्हटले आहे (व ज्याचा प्रकाशकारांनी उल्लेख केला आहे) त्या म्हणण्याचा आशय एवढाच आहे की, 'रपाभ्यां नो णः' या प्रकृत सूत्रात पकाराचे ग्रहण केले नसले तरी, कोणापाहि उदाहरणाने पकारापुढे येणाऱ्या नकाराचे 'प्लुता प्लुः' या सूत्राने णत्व करून इष्ट रूपाची निधि करणां आली असली भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा अन्त मुळीच आशय नाही की, 'पुण्याति' इत्यादि स्थली णत्व करण्याकरिता 'रपाभ्यां नो णः' या सूत्राची प्रवृत्ति करणे योग्य नाही. ('सूत्रा', 'पुण्याति' इत्यादि उदाहरणाने पकारापुढे आलेल्या नकाराचे 'प्लुता प्लुः' या सूत्रानेच णत्व करणां येते व 'रपाभ्यां नो ण' या सूत्राने तेथे णत्व करणां येत नाही असे जर भाष्यकारांनी म्हटले असले तर प्रकाशकारांचे म्हणणे योग्य ठरणे असले. पण भाष्यकारांनी असे म्हटले नसून, बरोबर उदाहरणाने

‘ ष्टुना ष्टुः ’ या सूत्रानें देखील णत्व करतां येऊं शकलें असतें एवढेंच म्हटलें असल्यामुळें, प्रकाशकारांचें म्हणणें योग्य ठरत नाही व प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं प्रकृत सूत्राचें ‘ यूष्णः ’ हें जें उदाहरण दिलें आहे तें चूक ठरत नसून अगदीं योग्य उदाहरण ठरतें असें दीक्षितांचें म्हणणें आहे.)

शब्दरत्नः— अप्रवृत्तिरिति । अभिप्रेतेति शेषः ।

‘ रषाम्याम् इत्यस्याप्रवृत्तिरिति दिक् ’ या मनोरमेच्या पंक्तीतील ‘ अप्रवृत्तिः ’ या पदापुढें ‘ अभिप्रेता ’ हें पद अध्याहृत आहे. (याचें विवरण वर मनोरमेत केलेंच आहे.)

मनोरमाः— “ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ” । लुप्तपण्ठीके इति । सौत्रत्वान्न तु । पण्ठीतत्पुरुषयोः पूर्वपदे, सापेक्षत्वेन समासासम्भवात् । प्रातिपदिकस्य पदविशेषणत्वाच्चेति भावः । तदन्तस्येति । पण्ठीतत्पुरुषः । तस्यान्तो यो नकारस्तस्येत्यर्थः । उक्तं च हरदत्तेन— विशेष्यमन्तस्येत्यस्य नेत्येतदविभक्तिकम् । तथैव प्रातिपदिकेत्येतत्पदविशेषणमिति । यत्तु प्राचीकृतम्—प्रातिपदिकान्तस्य पदान्तस्य नस्येति । यच्च व्याख्यातम् । अन्तस्येत्युभाभ्यां संबध्यते इति । तद्गीरवग्रस्तम् । अन्तस्येत्यस्यावृत्तिप्रसङ्गात् । व्यधिकरणपण्ठीद्वयापत्तेरच, यदि तु अभेदेनैव संबन्धेन प्रातिपदिकेनेव नेत्यनेनापि पदं विशेष्यते तदा विशेषणेन तदन्तविधी सौत्रमन्तग्रहणं शक्यमकर्तुम् ।

‘ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ’ सू. २३६ या सूत्रांतील ‘ न ’ व ‘ प्रातिपदिक ’ हीं लुप्तपण्ठीक पदें आहेत असें जें या सूत्रावरील कौमुदींत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, सौत्र प्रयोगामुळें त्या दोन्ही पदांपुढील पण्ठीविभक्तीच्या प्रत्ययाचा (‘ छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति ’ या भाष्यवचनान्वये ‘ मुपां मुळुक् ’ सू. ३५६१ या सूत्रानें) सौत्र—आर्प—लुक् झाला आहे. ‘ न ’ व ‘ प्रातिपदिक ’ हीं पण्ठीतत्पुरुषसमागाचीं पूर्व पदें नव्हत. तीं दोन्ही पदें सापेक्ष असल्यामुळें, त्यांचा

इतर पदाशी समास होणे असंभवनीय आहे आणि 'प्रातिपदिक' हे पद 'पदस्य' या पदाचे विशेषण आहे. (प्रकृत सूत्रातील 'न = नस्य' हे स्थानपठचन्द्र पृथक् पद असून त्यापुढील पंढी-विभक्तीच्या प्रत्ययाचा वर सांगितल्याप्रमाणे सौत्र लुक् आला आहे. हे पद 'लोपः' या सूत्रनिर्दिष्ट पुढील पदाशी अन्वित होत असून 'नकारस्य लोपः स्यात्' असा 'न, लोप' या दोन पृथक् पदाचा अर्थ होतो. 'नलोपः' हे पंढीतत्पुरुषाचे सामासिक पद आहे असे मानता येऊ शकत नाही, कारण प्रकृत सूत्रातील 'अन्तस्य' हे अक्षरेचे पद 'न' या पदाचे विशेषण आहे व 'अन्तस्य नस्य लोपः स्यात्' असा 'न लोपः अन्तस्य' या तीन पृथक् पदाचा मिळून अर्थ होतो सारांश 'न' हे पद विशेषणसापेक्ष असल्यामुळे व 'समर्थः पदविधिः' सू. ६४७ हे सूत्र असल्यामुळे व 'सापेक्षमसमर्थवत्' आणि 'सविशेषणाना वृत्तिर्न' असा भाष्य-मिद्धान्त असल्यामुळे, त्या पदाचा 'लोपः' या पदाशी, सामर्थ्याच्या अभावामुळे, समास होऊ शकत नाही, कारण 'नस्य लोपः नलोप' असा पंढीसमास वरून 'अन्तस्य नलोपः' असा प्रयोग केल्यास, त्याचा 'अन्तस्य नस्य लोपः स्यात्' असा अर्थ होऊ शकत नाही, म्हणजे त्या अर्थामध्ये तसा प्रयोग होऊ शकत नाही म्हणून इष्ट, अन्वय व इष्ट अर्थ होण्याकरिता 'न' हे लुप्तपंढीव पृथक् पद मानणे आवश्यक आहे त्याचप्रमाणे प्रकृत सूत्रातील 'प्रातिपदिकान्तस्य' हे सामासिक पद न मानतां, 'प्रातिपदिक' हे देखील लुप्तपंढीव पृथक् पद मानणे आवश्यक आहे प्रकृत सूत्र पदाधिकारात पठित असल्यामुळे, या सूत्रांत 'पदस्य' सू. ८-१-१६ हे अधिकारमूल अनुवृत्त होत व या अनुवृत्त होणाऱ्या 'पदस्य' या अवयवपंढीचे 'प्रातिपदिक' हे लुप्तपंढीव पद विशेषण होत असून, 'प्रातिपदिकमग्नस्य पदस्य अन्त्यावयवो यो नकारः तस्य लोपः स्यात्' असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होतो सारांश 'प्रातिपदिक' हे पद विशेषणापेक्ष असल्यामुळे, त्याचा 'अन्तस्य' या सूत्रनिर्दिष्ट

अन्त्य पदांशीं सामर्थ्याभावामुल्लेखं समाप्त होऊं शकत नाहीं; कारण 'प्रातिपदिकान्तस्य पदस्य न लोपः' असा प्रयोग वरील इष्ट अर्थामध्ये होऊं शकत नाहीं, म्हणजे तसा इष्ट अर्थ तसा प्रयोगातून निष्पन्न होऊं शकत नाहीं.) प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान करितांना कौमुदीत 'तदन्तस्य' हें जें पद घातलें आहे तें पष्ठीतत्पुरुषाचें सामासिक पद होय व, 'तस्य पदस्य अन्तः अन्तावयवो यो नकारः तस्य' असा त्या पदाचा अर्थ आहे. हरदत्तानें देखील प्रकृत सूत्रावरील पदमञ्जरीत असेंच म्हटलें आहे कीं, 'न' हें अविभक्तिक पद, म्हणजे लुप्तपष्ठीक पद, 'अन्तस्य' याचें विशेष्य आहे आणि त्याचप्रमाणें 'प्रातिपदिक' हें अविभक्तिक पद 'पदस्य' याचें विशेषण आहे. प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं 'प्रातिपदिकान्तस्य पदान्तस्य नस्य लोपः स्यात्' असें जें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे व त्या पंक्तीचें विवरण करितांना प्रसादकारांनीं 'अन्तस्येति उभाभ्यां सम्बध्यते', म्हणजे 'अन्तस्य' हें पद 'प्रातिपदिकस्य' व 'पदस्य' या दोन्ही पदांशीं 'प्रातिपदिकान्तस्य' व 'पदान्तस्य' अशा रीतीनें अन्वित होतें, असें जें म्हटलें आहे तसें व्याख्यान करण्यांत गौरव आहे; कारण तसें व्याख्यान करितांना 'अन्तस्य' हें पद दोनदां उच्चारारवें लागतें आणि 'प्रातिपदिकस्य' व 'पदस्य' या दोन्ही व्यधिकरणपष्ठी मानण्याची आपत्ति येते. ('प्रातिपदिकसंज्ञं यत्पदं तदन्तस्य' असा सामानाधिकरण्यानें अन्वय करणें संभवत असतां, 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्यायम्' या न्यायान्वयें वैयधिकरण्यानें अन्वय करणें अयोग्य आहे असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) ज्याप्रमाणें 'प्रातिपदिक' या पदाचा 'पदस्य' या पदाशीं अभेदान्वय, म्हणजे विशेषणविशेष्य-भावरूप अन्वय, गेला जातां त्याचप्रमाणें 'न' या पदाचा 'पदस्य' या पदाशीं अभेदान्वय केला तर, विशेषणत्वामुल्लेख तदन्तविति केल्यानें, म्हणजे 'न' हें लुप्तपष्ठीक विशेषण 'नान्तस्य' अशा रीतीनें 'येन विधिस्यदन्तस्य' सू. २६ या सूत्रान्वयें तदन्ताचें वाचक होऊं

शकत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्रातून 'अन्तस्य' हे पद गाळता येणे शक्य आहे. ('न लोपः प्रातिपदिकस्य' एवढेच जरी सूत्र केले व 'न = नस्य' आणि 'प्रातिपदिकस्य' ही दोन्ही पदे 'पदस्य' या प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त होणाऱ्या पदाची विशेषणे मानली तर, 'विशेषण तदन्तस्य सज्ञा स्यात्' या अर्थाच्या वाचक 'येन विधिस्तदन्तस्य' सू. २६५ या सूत्रान्वये 'नस्य' याचा 'नकारान्तस्य' असा अर्थ होऊन 'नकारान्तस्य प्रातिपदिकसंज्ञकस्य पदस्य लोपः स्यात्' असा सूत्रार्थ होईल व 'पदस्य' ही स्थानपंथी मानल्याने 'अलोऽन्त्यस्य' या परिभाषान्वये अन्त्य नकाराचाच लोप होईल आणि अशा रीतीने प्रवृत्त सूत्रातून 'अन्तस्य' हे पद गाळले तरी इष्ट रूपाची सिद्धि होऊ शकते असे दीक्षिताचे म्हणणे आहे परंतु प्रवृत्त सूत्रावरील भाष्यावरून हे स्पष्ट होतं की, भाष्यकारांनी प्रवृत्त सूत्रात 'अन्तस्य' हे पद असणे आवश्यक मानले आहे. त्या भाष्यात-८-२-७-'नलोपेऽन्तग्रहणं विमर्शम् ? ।', म्हणजे प्रवृत्त सूत्रात 'अन्तस्य' या पदाचे ग्रहण को केले आहे, असा प्रश्न करून त्या प्रश्नाचे उत्तर देताना भाष्यकार 'नलोपेऽन्तग्रहण पदाधिकारस्य विशेषणत्वात्' हे वातिक पठित करितात व म्हणतात- 'नलोपेऽन्तग्रहणं त्रियते । किं कारणम् ? । पदाधिकारस्य विशेषणत्वात् । पदाधिकारो विशेषणम् । कथम् ? । पदस्येति नैया स्थानपंथी । का तर्हि ? । विशेषणपंथी ।' कैयटाने भाष्यकारांनी जो प्रश्न केला आहे त्याचा 'नलोपः प्रातिपदिकस्येत्येवास्तु पदस्येति यतंते, तत्र नकारेण पदे विशेष्यमाणे तदन्तविध्या नकारान्तस्य पदस्य प्रातिपदिकस्य लोपो विधीयमानोऽलोऽन्त्यस्येत्यन्त्यस्य भविष्यतीति प्रश्नः' असा आक्षेप आहे ह्यामुळे पुढे भाष्याचे 'अन्तग्रहणे प्रातिपदिकस्य पदस्य योऽन्त्यस्यो नकारान्तस्य यत्र तत्र न्ययस्य लोपः स्यात् । तत्रस्य नकाराभ्यामित्यत्र स्यात्' असे व्याख्या केले आहे बरीच भाष्यावरून हे स्पष्ट होतं की, भाष्यकारांनी 'पदस्य' हे अनुवृत्त पद 'प्रातिपदिकस्य' याचे विशेषण मानले

असून दीक्षितांनीं 'प्रातिपदिकस्य' हें 'पदस्य' याचें विशेषण मानलें आहे. तसेंच भाष्यकारांनीं 'प्रातिपदिकस्य' हें विशेष्य अवयवपण्ठी मानली असून, दीक्षितांनीं 'पदस्य' हें विशेष्य स्थानपण्ठी मानली आहे; कारण ती स्थानपण्ठी मानल्याशिवाय तिचे ठिकाणीं 'अलोऽन्त्यस्य' ही परिभाषा उपस्थित होऊं शकत नाहीं. भाष्यकारांनीं 'प्रातिपदिकस्य' हें विशेष्य अवयवपण्ठी मानली असल्यामुळें व अशा रीतीनें त्या पण्ठीचे ठिकाणीं 'अलोऽन्त्यस्य' ही परिभाषा उपस्थित होऊं शकत नसल्यामुळें, कथंडानें सांगितल्याप्रमाणें कोणत्याहि नकाराचा लोप होण्याची जी आपत्ति येते व 'नर + म्याम् = नराम्याम्' या स्थलीं 'नर' हें प्रातिपदिक असून 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सू. २३० या सूत्रान्वये पदसंज्ञक देखील असल्यामुळें, त्या प्रातिपदिकसंज्ञक पदांत असणाऱ्या आद्य नकाराचा लोप होण्याची जी आपत्ति येते ती टाळण्याकरितां प्रकृतसूत्रांत 'अन्तस्य' या पदाचें ग्रहण केलें आहे असें जें वार्तिककाराचें व भाष्यकाराचें म्हणणें आहे त्याशीं दीक्षितांचें म्हणणें विरुद्ध ठरतें हें उघड आहे. या विषयाचें अधिक विवरण शब्दरत्नांत करण्यांत येईल.)

शब्दरत्न- सापेक्षत्वेनेति । नलोप इत्येतद्विषयमिदम् । अन्त्ये आह-पदविशेषणत्वाच्चेति । व्यधिकरणपण्ठीति । प्रातिपदिकस्य पदस्येत्यनयोः परस्परानन्वितयोरस्तेनान्वयादिति भावः । अभेदेन-चेति । सम्बन्धान्तरासत्वेऽपि विशेष्यविशेषणभावसम्बन्धेनेत्यर्थः । शक्यमकर्तुमिति । पदस्येत्यस्य क्वचिद्व्यधिकरण्येनान्वयेऽस्य तात्पर्य-ग्राहकत्वं भाष्ये उक्तम् । तत्तु लक्ष्यानुसारिव्याख्यानादेव ज्ञापकं विनाऽपि सिद्धमित्यभिमानः ।

'सापेक्षत्वेन समासासम्भवात्' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे तें 'न लोपः' या दोन पदांसंबंधानें म्हटलें आहे, व 'पदविशेषणत्वात्' असें जें म्हटलें आहे तें 'प्रातिपदिक' या पदासंबंधानें म्हटलें आहे. 'व्यधिकरणपण्ठीद्वयापत्तेश्च' असें जें मनोरमेंत म्हटलें

आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, 'प्रातिपदिक = प्रातिपदिकस्य' व 'पदस्य' या दोन पदाचा विशेषणविशेष्यभावरूप अन्वय न करिता परस्पराशी अन्वित न केलेल्या त्या दोन पदाचा 'अन्तस्य' या पदाशी स्वतंत्र रीतीने अन्वय केल्यास, 'प्रातिपदिकस्य' व 'पदस्य' या दोन्ही व्यधिकरणपट्टी ठरण्याची आपत्ति येईल मनोरमंतील 'अभेदेनैव सम्बन्धेन' या पदाचा 'सम्बन्धान्तरासत्वेऽपि विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धेन', म्हणजे 'न' व 'प्रातिपदिक' या दोन पदाचा 'पदस्य' या पदाशी इतर कोणत्याहि प्रकारचा अवयवावयवि-भावादिरूप सबध नसला तरी त्याच्यामध्ये विशेषणविशेष्यभावरूप सबध मानता येतो, असा अर्थ आहे 'अन्तग्रहण शक्यमकर्तुम्' असे जे दीक्षितानी मनोरमंत म्हटले आहे ते अशा आशयाने म्हटले आहे की, जरी भाष्यात असे म्हटले आहे की, 'पदस्य' या पदाचा क्वचित् स्थली व्यधिकरण्याने अन्वय होतो याचे प्रवृत्त सूत्रातील 'अन्तस्य' या पदाचे ग्रहण जापक आहे तरी ते पद तशा अर्थाचे जापक न मानता देखील इष्ट रूपाच्या सिद्धीकरिता जेथे जसे व्याख्यान करणे योग्य आहे तसे तेथे व्याख्यान केल्याने, 'पदस्य' या पदाचा क्वचित् स्थली व्यधिकरण्याने अन्वय करता येऊ शकतो (शब्दरत्नवाराच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, प्रवृत्त सूत्रात 'अन्तस्य' या पदाचे ग्रहण केले असल्यामुळे त्यावरून हे जापित होतं की, पदाधिकारात पठित असलेल्या सूत्रात अनुवृत्त होणाऱ्या 'पदस्य' या पदाचा क्वचित् स्थली सामानाधिकरण्याने अन्वय न होता व्यधिकरण्याने अन्वय होतो व प्रवृत्त सूत्रात 'पदस्य' या अनुवृत्त पदाचा व्यधिकरण्याने अन्वय केल्यास, पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे, प्रातिपदिकसंज्ञक पदांतील कोणत्याहि नकाराचा रूप होण्याची जी आपत्ति येते ती टाळण्याकरिता प्रवृत्त सूत्रात 'अन्तस्य' या पदाचे ग्रहण केले आहे आणि अशा रीतीने ते अन्त-ग्रहण प्रवृत्त सूत्रात आवश्यक व धरितार्थ ठरत असल्यामुळे, प्रवृत्त सूत्रातून 'अन्तस्य' हे पद गाळता येऊ शकत नाही पण दीक्षितांच

असें म्हणणे आहे कीं, पदाधिकारांत पठित असलेल्या सूत्रांत अनुवृत्त होणाऱ्या 'पदस्य' या पदाचा क्वचित् स्थलीं वैयधिकरण्यानें अन्वय होतो याचें पदाधिकारांत पठित असलेल्या प्रकृत सूत्रांतील 'अन्तस्य' या पदाचें ग्रहण जापक न मानतां देखील, जेथें इष्ट रूपांची सिद्धि करण्याकरितां वैयधिकरण्यानें अन्वय करणें योग्य आहे तेथें व्याख्यानद्वारा वैयधिकरण्यानें अन्वय करतां येतो व जेथें सामानाधिकरण्यानें अन्वय करणें योग्य आहे तेथें तसा अन्वय व्याख्यानद्वारा करतां येतो. सारांश लक्ष्यानुसारि व्याख्यान केल्यानें इष्ट रूपांची सिद्धि करण्यांत कोणतीहि अडचण येत नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्रांतील 'अन्त' ग्रहण वरप्रमाणें जापक मानण्याची कांहीं गरज राहत नाही आणि म्हणून प्रकृत सूत्रांतील 'अन्त' ग्रहण व्यर्थच ठरतें व त्यामुळे तें प्रकृत सूत्रांतून गाळल्यानें कांहीं दोष येत नाही. यावर असें म्हणतां येऊं शकतें कीं, भाषेत इष्ट रूपें कोणतीं व अनिष्ट रूपें कोणतीं व इष्ट रूपें सिद्ध करण्याकरितां कोठें वैयधिकरण्यानें व कोठें सामानाधिकरण्यानें 'पदस्य' या अनुवृत्त पदाचा अन्वय करणें योग्य आहे याचें ज्ञान लक्षणैकचक्षुष्क पुरुषांनाच असूं शकतें व लक्षणैकचक्षुष्क पुरुषांना तें ज्ञान असूं शकत नाही. म्हणून 'पदस्य' या अनुवृत्त पदाचा वैयधिकरण्यानें देखील कोठें कोठें अन्वय करतां येऊं शकतो हें लक्षणैकचक्षुष्क पुरुषांना समजण्याकरितां प्रकृत सूत्रांतील 'अन्तस्य' या पदाचें ग्रहण चरितार्थ ठरत असल्यामुळे, तें पद प्रकृत सूत्रांतून गाळतां येत नाही असा शब्द-रत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे आणि त्यांना दीक्षितांचें म्हणणें मान्य नाही हें सूचित करण्याकरितांच त्यांनीं प्रकृत पंक्तींत 'इत्यभिमानः' हीं अरुचिप्रदर्शक पदे घातलीं आहेत.)

मनोरमा— "विभाषा द्विष्योः" ॥ शीति "नपुंसकाच्च" इति विहितो न तु जडशतोः शिः, तस्मिन् भत्यासम्भवात् । "भस्य" इत्यनेनात्तर्यनामस्थानस्यैव यजादेराक्षेपात्तदेतवाह—असर्वनामस्थानेति । अत एवेति । दोषणी इति प्रयोगात् । यद्यपि समाहारद्वन्द्वस्य

एकशेषे कृतेऽपि भाष्यं सुयोज, तथापि ककुदित्यस्य पृथक्पदत्वं न्याय्यम् । अन्यथा ककुद एकत्वं बाह्वोद्वित्वं च न लभ्येत इति भावः ।

“तमुपाद्रवद्वयस्य दक्षिणं दोरिशाचरः”

इति रघुः । तत्र दक्षिणं दोरिति उच्यम्येत्यनेन कर्मतया सम्बध्यते । दोरं तस्येति—

“दोरं तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणम्” ।

इति श्रीहर्षप्रयोगः । तत्र दोरं हस्तं दूषणं च भजतश्चापस्य गुणं मौर्वीमतिशयं च गृह्णन् इति सम्बधः । अमरव्याख्यातारस्तु दोषशब्दं स्त्रिषामपि स्वीकृत्य भागुरिमतेन टापि दोषेत्युक्त्वा—

“दोर्दोषा च भुजो बाहुः पाणिर्हस्तः करस्तथा” ॥

इति धनञ्जयनिघण्टुमुदाजहः ॥

‘विभाषा ङित्यो.’ सू. २३७ या सूत्रात् ‘शी’ हा जो निर्देश वेला आहे तो ‘नपुमकाच्च’ सू. ३१० या सूत्राने (‘ओ’ प्रत्ययाचे जागी होणारा) ‘शी’ हा आदेश असून, ‘जदशसोः शि.’ सू. ३१२ या सूत्राने होणारा ‘शि’ हा आदेश नव्हे; कारण तो निर्देश ‘शि’ या आदेशाला लागू पडतो असे मानल्यास, अज्ञाता भसज्ञा होणे संभवनीय नाही. (प्रकृत सूत्र ‘भस्य’ या अधिकारात पठित असल्यामुळे, या सूत्राने होणारे कार्य भसज्ञक अज्ञाताच होऊ शकते ‘जदशसोः शि’ या सूत्राने होणारा ‘शि’ हा आदेश ‘शि सर्वनामस्थानम्’ सू. ३१३ या सूत्रान्वये सर्वनामस्थानसज्ञक असल्यामुळे, तो ‘शि’ पुढे असताना अज्ञाता भसज्ञा होऊ शकत नाही, कारण ‘यच्चि भम्’ सू. २३१ या सूत्रान्वये यजादि अगर्व-नामस्थानप्रत्यय पुढे असतानाच अज्ञाता भसज्ञा होत अनेक नपुमकात् ‘ओ’ चे जागी होणारा ‘शी = ई’ हा तगा यजादि अगर्वनामस्थानप्रत्यय आहे) प्रकृत सूत्रात अनुधुत असलेल्या ‘भस्य’ या पदाने असर्वनामस्थान यजादि प्रत्ययाचाच आशेप—ग्रहण—होत

असल्यामुळे, प्रकृत सूत्राचें कौमुदींत 'अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-
यजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा स्यात्' इत्योः
परयोः' असें व्याख्यान केलें आहे. 'दोष्'शब्दस्य नपुंसकत्वमप्यत एव
भाष्यात्' असें जें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत म्हटलें आहे त्याचें
कारण हें कीं, भाष्यकारांनीं 'दोषणी' असा 'दोष्' शब्दाचा
नपुंसकलिङ्गांत प्रयोग केला आहे. समाहारद्वन्द्व करून एकशेष
केल्यानें देखील जरी वरील भाष्याची सङ्गति लावतां येते तरी
('ककुद्दोषणी' या भाष्योदाहरणांतील) 'ककुद्' हें पृथक् पद
मानणें योग्य आहे. तसें न मानल्यास, त्या पदाचा 'एक ककुद् व
दोन हात' असा जो अर्थ होणें इष्ट आहे तो होऊं शकणार नाही.
('दोष्' हा शब्द नपुंसकलिङ्गी न मानतां पुलिङ्गी मानला तरी,
'ककुच्च दोश्चानयोः समाहारः ककुद्दोः' असा समाहारद्वन्द्व करून
नंतर 'ककुद्दोश्च ककुद्दोश्च' असा एकशेष केल्यानें व 'स नपुंसकम्'
सू. ८२१ या सूत्रान्वये समाहारद्वन्द्व नपुंसक ठरत असल्यामुळे,
'ककुद्दोषणी' असें द्वितीयेच्या द्विवचनाचें एकशेषाचें रूप सिद्ध
होऊं शकतें; पण तसें केल्यानें त्या पदाचा 'दोन ककुद् व दोन
हात' असा अर्थ होण्याची आपत्ति येते. परंतु 'ककुद्दोषणी याचते
महादेवः' या भाष्योदाहरणांतील 'ककुद्दोषणी' याचा 'एक ककुद्
व दोन हात' असा अर्थ होणें इष्ट आहे असें दीक्षित म्हणतात व तसा
अर्थ सिद्ध होण्याकरितां 'ककुद्दोषणी' हें सामासिक पद न मानतां
'ककुद्' व 'दोषणी' हीं भिन्न पदे मानणें आवश्यक आहे. तसें मानलें
असतां, 'दोष्' हा शब्द नपुंसकलिङ्गी आहे व त्याच्या द्वितीयेच्या
द्विवचनाचें 'दोषणी' हें रूप आहे हें उघड होतें. 'पदत्रोमास्' सू. ६-१-
६३ या सूत्रावरील भाष्यवृत्तींत कैयटानें 'दोषणी याचते' हें
भाष्यप्रतीक घेऊन 'औटि दोःशब्दस्य दोषनादेशः' असें जें
म्हटलें आहे त्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, वरील भाष्योदाहरणांतील
'ककुद्दोषणी' हें एक सामासिक पद नसून 'ककुद्' व 'दोषणी'
हीं दोन पृथक् पदे आहेत; नाहीं तर कैयटानें 'ककुद्दोषणी याचते'

असे प्रतीक घेऊन 'ककुद्दोपणी' या पदाचे व्याख्यान केले असते. या कॅयटवृत्तीवर टीका करिताना उद्योतकारानी 'यत्तु ककुद्दोपणी इत्यत्र प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वगर्भं एकशेष इति तत्र, अल्पात्तरत्वेन दो शब्दस्य पूर्वनिपातापत्तेः, तस्मात्ककुदिति पृथक्पदन्तद्ध्वनयन् तद्वहित प्रतीक गृह्णाति दोपणी याचत इति' असे म्हटले आहे साराश भाष्योदाहरणातील 'ककुद्' हे द्वितीयेचे एकवचन असून 'दोपणी' हे द्वितीयेचे द्विवचन आहे आणि ही दोन्ही पृथक् पदे 'याचने' या क्रियेशी कर्मरूपाने अन्वित आहेत हे जाणावे) 'तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिण दोनिशाचर' (रघुवश, सर्ग १५, श्लोक २३) असा रघुवशातील श्लोक आहे व या श्लोकात 'दक्षिण दो' ही पदे 'उद्यम्य' याशी कर्मरूपाने अन्वित होतात (या श्लोकातील 'दो' हे नपुंसकलिङ्गी 'दोप्' शब्दाच्या द्वितीयेचे एकवचन आहे येथे 'दो' या शब्दाचा भाष्यातील प्रयोगाप्रमाणे नपुंसकलिङ्गात प्रयोग केला आहे) 'दोप तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृह्णन् गुणम्' (नैषधकाव्य, सर्ग १२, श्लोक ९७) असा श्रीहर्षाचा प्रयोग आहे या श्लोकाना 'दोप हस्त दूषण च भजतश्चापस्य गुण मौर्वीमतिशय च गृह्णन्' असा अन्वय आहे. (या श्लोकात 'दोप्' या शब्दाचा पुल्लिङ्गात प्रयोग केला असून 'दापम्' हे द्वितीयेचे एकवचन आहे) अमरकोषाचे टीकाकार यानी 'दोप्' हा शब्द स्त्रीलिङ्गी देखील मानला आहे व ('वटि' भागुरिरल्लोपमवाप्योरूपसर्गाया । आप खैव हलन्ताना यया याचा दिशा निशा ।' या) भागुरिमतान्वये 'दोप्' शब्दाहून 'टाप्' प्रत्यय केला असता, 'दोपा' असा रूप होतो हे मांगून, 'दोर्दोपा च भुजो बाहु पाणिर्हस्त करस्तपा' या धनञ्जयवापाचे प्रमाण दिले आहे ('दोप्' हा शब्द स्त्रीलिङ्गी देखील आहे हे या कोषावरून स्पष्ट होते 'दाग्यस्यनेन । दम् उवगमे । दमडोम् । भागुरिमते टाप्' असे रामाधर्मात म्हटले आहे)

शब्दरत्न- भत्वासम्भवादिति । सर्वनामस्थानत्वेनति भावः ।
समाहारद्वन्द्वस्येति । प्राण्यङ्गत्वात्कृतसमाहारद्वन्द्वस्य ककुद्दोः शब्द-
स्येत्यर्थः । सुयोजम्-दोःशब्दस्य पुंस्त्वेऽपि सुनिर्वाहम् । न्याय्यम् ।
अल्पाक्षतरत्वेन दोःशब्दस्य द्वन्द्वे पूर्वनिपातापत्तेः । किं च तदन्ते
आदेशो दुर्लभः । विशेष्यासन्निधानादिति भावः । ककुद् एकत्वमिति ।
प्रकरणात् श्रुती तथार्थकमेवेदमिति भावः । दक्षिणं तमुद्यम्य दोर्नामा
निशाचर इत्यन्वयभ्रमवारणाय-तत्रेति ।

‘तस्मिन् भत्वासम्भवात्’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे
त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ‘शि’ हें सर्वनामस्थानसंज्ञक आहे
(व तो प्रत्यय पुढें असतांना अङ्गाला भसंज्ञा होत नसते. नपुंसकांत
होणारा ‘औ’ हा प्रत्यय ‘सुडनपुंसकस्य’ सू. २२९ या
सूत्रान्वये सर्वनामस्थानप्रत्यय नाही व त्याचें जागीं होणारा
‘शी = ई’ हा अजादि आदेश स्थानिवद्भावानें असर्वनामस्थान प्रत्यय
ठरतो आणि तो पुढें असतांना अङ्गाला भसंज्ञा होत असून ‘शि’ पुढें
असतांना तशी संज्ञा होत नसल्यामुळें, प्रकृत सूत्रांतील ‘डिश्योः’
या निर्देशानें ‘नपुंसकाच्च’ सू. ३१० या सूत्रानें होणाऱ्या ‘शी’चेच
ग्रहण करतां येतें. याचें विवरण मनोरमेंत केलेच आहे.) ‘समाहार-
द्वन्द्वस्य एकक्षेपे कृतेऽपि भाष्यं सुयोजम्’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें
आहे त्याचा अर्थ हा आहे कीं, ‘ककुद्’ व ‘दोप्’ हे दोन्ही प्राण्यङ्ग
असल्यामुळें (‘द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्’ सू. ९०६ या सूत्रानें
‘ककुच्च दोश्चानयोः समाहारः ककुद्दोः’ असा) समाहारद्वन्द्व करून
‘ककुद्दोः’ हा जो (नपुंसकलिङ्गाच्या एकवचनाचा) शब्द सिद्ध
होतो त्याचा एकक्षेप केल्यानें, भाष्य सुसङ्गत ठरूं शकतें. या
पंथींतील ‘सुयोजम्’ या पदाचा ‘दोः शब्दस्य पुंस्त्वेऽपि सुनि-
र्वाहम्’, म्हणजे ‘दोप्’ शब्द पुल्लिङ्गी मानला तरी भाष्याची
सङ्गति लावतां येते, असा अर्थ आहे. ‘ककुदित्यस्य पृथक्पदत्वं
न्याय्यम्’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं,
(‘ककुद्’ या शब्दाच्या मानानें ‘दोः’ या शब्दांत) कमी अच्

असत्यामुळे ('अल्पात्तरम्' सू. १०५ या सूत्रान्वये 'दो' या शब्दाचा) पूर्वनिपात होण्याची आपत्ति येते. (पूर्वनिपातप्रकरण अनित्य असत्यामुळे 'ककुद्दोषणी' या द्वन्द्वसमासातील 'दोप्' शब्दाचा पूर्वनिपात केला नाही आणि म्हणून तो प्रयोग असाधु ठरत नाही असे कोणी म्हटल्यास, ती अरुचि मनात धरून शब्दरत्नकार दुसरा दोष देतात. 'ककुद्दोषणी' हा समाहारद्वन्द्व मानल्यास, त्या सामासिक पदातील 'दोप्' या अन्त्य पदाचे जागी 'दोपन्' असा तदन्तविधीने) आदेश करता येणे शक्य नाही, कारण कोणतेहि विशेष्य, जवळ उपलब्ध नाही ('येन विधिस्तदन्तस्य' सू. २६ या सूत्राने विशेषणाचे ठिकाणी तदन्तविधि करता येतो परंतु 'पद्मोमास्' सू. २२८ या सूत्रात कोणतेहि विशेष्यरूप पद निर्दिष्ट नाही किंवा अनुवृत्त होत नाही य 'शब्दस्वरूप विशेष्यमादाय तदन्तविधिस्तु सरयैव गमके' असे भरवीत स्पष्ट म्हटले आहे तसेच ते सूत्र अङ्गाधिकारात पठित नसल्यामुळे, 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य' ही परिभाषा त्या सूत्राचे ठिकाणी प्रवृत्त होऊ शकत नाही. त्यामुळे देखील 'ककुद्दोषणी' हे सामासिक पद मानल्यास, त्या सामासिक पदाच्या अन्ती असणाऱ्या 'दोस्' शब्दाचे जागी तदन्तविधीने 'दोपन्' असा आदेश करता येऊ शकत नाही. पण 'ककुद्दोषणी' या स्थली 'दोपन्' असा आदेश केला असल्यामुळे, 'ककुद्' हे पृथक् पद आहे हे मानणे आवश्यक आहे असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे) 'ककुद् एकत्वम्' असे जे मनोरमेंत म्हटले आहे त्याचे कारण ह की, ज्या प्रकरणात भाष्यात उदाहरणरूपाने दिलेली श्रुति, म्हणजे 'ककुद्दोषणी याचते महादेव' ही श्रुति, पठित आहे त्या प्रकरणावरून हे ज्ञात होते की, त्या श्रुतीत 'एक ककुद् य दोन हात' असाच अर्थ विवक्षित आहे 'दक्षिण तमुद्यम्य दोर्नामा निशाचर' असा कोणी (मनोरमेंत दिलेल्या रघुशशातील श्लोकाचा) चुकीने अन्वय करू नये याकरिता दीक्षितांनी त्या श्लोकाचा मनोरमेंत अन्वय करून दाखविला आहे.

मनोरमा—द्वयोरहोर्भव इति । “तद्धितार्थ” इति समासः, कालाट्ठम् । “द्विगोर्लुगनपत्ये” इति लुक् । “राजाहःसखिभ्यः” इति टच् । “अहोऽह एतेभ्यः” इत्यहोदेशः ।

‘विभाषा डिश्योः’ सू. ३३७ या सूत्रावरील कीमुदीत ‘द्वयोरहोर्भवः व्यह्नः’ असें जें अखेरीस म्हटलें आहे त्या उदाहरणांत ‘तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च’ सू. ७२८ या सूत्रान्वये तद्धितार्थं द्विगु होऊन व ‘कालाट्ठम्’ सू. १३८१ या सूत्रानें (‘तत्रभः’ या अर्थामध्ये तद्धित) ‘ठञ्’ प्रत्यय होऊन व ‘द्विगोर्लुगनपत्ये’ सू. १०८० या सूत्रानें त्या ‘ठञ्’ प्रत्ययाचा ‘लुक्’ होऊन व ‘राजाहःसखिभ्यष्टच्’ सू. ७८८ या सूत्रानें समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय होऊन आणि ‘अहोऽह एतेभ्यः’ सू. ७९० या सूत्रानें ‘अहन्’ चे जागीं ‘अह्’ असा आदेश होऊन ‘व्यह्नः’ असें रूप सिद्ध झालें आहे.

मनोरमा—अह्नः साय इति । स्यतेर्घञि अवसानवचनः सायशब्दः । “संख्याविसाय—” इति शापकादेकदेशिसमासः ॥ इत्यदन्ताः ॥

‘संख्याविसायपूर्वस्य’ सू. २३८ या सूत्रावरील कीमुदीत ‘अह्नः सायः सायाह्नः’ हें जें उदाहरण दिलें आहे त्यांतील ‘सायः’ हा अवसानवाचक शब्द (‘पो अन्तर्कर्मणि’ धातु नं. ११४७ या दिवादिगणांत पठित असलेल्या) धातूहून ‘घञ् = अ’ प्रत्यय होऊन सिद्ध झाला आहे. (‘पो’ धातूहून ‘घञ्’ प्रत्यय केला असतां, ‘धात्वादेः पः सः’ सू. २२६४ या सूत्रानें धातूतील आद्य पकाराचे जागीं सकारादेश होऊन व ‘आदेच उपदेशे’ सू. २३७० या सूत्रानें त्या एजन्त धातूचें आत्व होऊन ‘सा घञ्’ अशी स्थिति झाली असतां, ‘मातो युक् चिण्कुतोः’ सू. २७६१ या सूत्रानें ‘युक्’ आगम होऊन ‘साय’ असें रूप सिद्ध झालें आहे व) ‘संख्याविसाय’ (या प्रकृत सूत्रांत ‘साय’ या शब्दाचें ग्रहण केलें असल्यामुळे) या

ज्ञापकाच्या आधारे हा एकदेशसमास ज्ञाला आहे. ('पूर्वापरा-
धरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' सू ७१२ या एकदेशसमासविधायक
सूत्रात एकदेशीचा-अवयवीचा-या सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या 'पूर्व,
अपर, अधर, उत्तर' या चार एकदेशवाचक-अवयववाचक-शब्दांशी
तत्पुरुषसमास होणे सांगितले आहे या सूत्रात 'साय' एकदेशवाचक
शब्दाचे ग्रहण केले नसल्यामुळे, 'अहन्' या एकदेशीचा 'साय' या
एकदेशाशी तत्पुरुषसमास कसा होऊ शकणार ? या प्रश्नाचे
'सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते । सङ्ख्याविसाय इति ज्ञापकात् ।
मध्याह्न सायाह्न ।' असे उत्तर दीक्षितानी 'पूर्वापराधर' या
सूत्रावरील कौमुदीत दिले आहे आणि या सूत्रावरील व तसेच
प्रकृत सूत्रावरील वृत्तीत काशिकाकारानी देखील असेच म्हटले
असून, दीक्षितानी त्याचाच अनुवाद केला आहे दीक्षिताच्या
म्हणण्याचा भावार्थ हा आहे की, 'साय' शब्दपूर्वक 'अह्न्'
शब्दापुढे सप्तमीच्या एवचननाचा 'डि' प्रत्यय आला असता, त्या
'अह्न्' शब्दाचे जागी विकल्पीकरून 'अहन्' आदेश होण्याचे प्रकृत
सूत्राने विधान केले असल्यामुळे व 'साय' या अवयववाचक शब्दापुढे
'अहन्' हा अवयववाचक शब्द समासातच येऊ शकत असून त्याचे
जागी 'अहोऽह्न् एतेभ्य' सू ७१० या सूत्रान्वये, समासान्त 'टच्'
प्रत्यय पुढे असता, जो नित्य अह्नादेश होतो त्याचेच जागी प्रकृत
सूत्राने 'अहन्' असा पाक्षिक आदेश होणे सांगितले असल्यामुळे,
त्यावरून हे सिद्ध होते की, जरी 'साय' हा शब्द 'पूर्वापराधरोत्तर'
सू ७१२ या सूत्रात निर्दिष्ट नाही तरी, त्या एकदेशवाचक शब्दाचा
'अहन्' या एकदेशीशी तत्पुरुषसमास होत असतो, आणि
'साय' या एकदेशवाचक शब्दाचा 'अहन्' या एकदेशीशी
तत्पुरुषसमास व्हावा व इतर अवयववाचक 'मध्य' इत्यादि शब्दाचा
त्या एकदेशवाचक शब्दाशी समास होऊ नये असा भेद करण्यास
कोणतेहि प्रमाण बिंबा कोणतीहि युक्ति उपलब्ध नसल्यामुळे, प्रकृत
सूत्रातील 'साय' या एकदेशवाचक शब्दाच्या ग्रहणाने 'सर्वोऽप्येक-

देशोऽह्ला समस्यते' हैं जापित होते। दूसरें असें कीं, 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः' व 'अहस्सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः' या पञ्चमाध्यायांतील दोन सूत्रांच्या लगेच पुढें 'अह्लोऽह्ला एतेभ्यः' हैं सूत्र पठित असून या सूत्रांतील 'एतेभ्यः' या सर्वनामानें 'सर्वे, एकदेश' इत्यादि 'अहस्सर्वैकदेश' या पूर्वे सूत्रांत निर्दिष्ट असलेल्या शब्दांचा परामर्श होत असल्यामुळें व या सूत्राचा 'सर्वेत्यादिभ्यः उत्तरस्य अह्नित्येतस्य अह्लादेशो भवति समासान्ते टचि परे सति' असा अर्थ होत असल्यामुळें, त्यावरून देखील हें सिद्ध होतें कीं, 'अहन्' या एकदेशीचा त्याच्या एकदेशवाचक शब्दांशीं तत्पुरुषसमास होत असतो; कारण समासांतच एकदेशवाचक शब्दापुढें 'अहन्' शब्द येऊं शकतो व तथा 'अहन्' शब्दान्त सामासिक शब्दाहून तत्पुरुषसमासांतच 'राजाहस्सखि-भ्यष्टच्' सू. ७८८ या सूत्रानें समासान्त 'टच्' प्रत्यय होणें सांगितलें आहे.) येथें अदन्तप्रकरण संपलें.

शब्दरत्न—एकदेशिसमास इति । तत्प्रत्याख्याने तु कर्मधारय इति बोध्यम् ।

एकदेशिसमासाचें प्रत्याख्यान केल्यास, म्हणजे एकदेशिसमास होत नाही असें मानल्यास, ('सायमहः सायाह्लाः' असा) कर्मधारय-समास मानला पाहिजे हें जाणावें. ('समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते' या भाष्यवचनान्वये एकदेशिसमासाचें प्रत्याख्यान केल्यास, प्रकृत स्थली कर्मधारयसमास करणें आवश्यक आहे असा शब्दरत्न-काराच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.)

मनोरमा—हाहानिति । गन्धर्वविशेषयाचकमव्युत्पन्नं प्राति-पदिकमिदम् । फौमारास्तु—जहातीति हाहा इति क्रियाशब्दं वदन्तो चिदयपायद्रूपमाहः । तन्मते प्रत्युदाहरणं तु 'अकारो चागुदेवः स्यात्' तेन सह वर्तन्न इति साः तान् सान् इति बोध्यम् ॥ इत्यादन्ताः ।

(‘आतो घातो.’ सू. २४० या सूत्रावरील कीमुदीत ‘हाहान्’ हें जें त्या सूत्राचे प्रत्युदाहरण दिले आहे ते ‘हाहा’ या आकारान्त शब्दाचे द्वितीयेचे बहुवचन आहे. ‘हाहान्’ यातील प्रकृति) ‘हाहा’ हे अव्युत्पन्न प्रातिपदिक असून गन्धर्वविशेषाचे वाचक आहे. (‘हाहाहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवीकसाम्’ हा अमरकोपातील श्लोक प्रसिद्धच आहे.) कोमार-कटापतन्नानुसारी-वैयाकरणाचे असे म्हणणे आहे की, ‘जहाति इति हाहा’ अशा रीतीने (‘ओ हाक् त्यागे’ या जुहोत्यादिगणात पठित असलेल्या घातूह्ण) सिद्ध झालेला ‘हाहा’ हा क्रियावाचक शब्द, म्हणजे व्युत्पन्न प्रातिपदिक, आहे व त्याच्या मते या शब्दाच्या विभक्तीची रूपे ‘विश्वपा’ शब्दासारखीच होतात (‘हाहा’ यातील ‘हा’ हा प्रथम शब्द शोकव्यञ्जक उपपद मानून ‘हा इति शब्द जहातीति हाहा’-नित्य आनदी-अशा रीतीने ते कोमार वैयाकरण ‘हाहा’ या शब्दाची व्युत्पत्ति सांगतात व असे म्हणतात की, ‘हा’ या घातूह्ण ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते’ सू. २९८० या सूत्रान्वये ‘विष्’ प्रत्यय होऊन ‘हाहा’ हें व्युत्पन्न प्रातिपदिक सिद्ध झाले आहे वर दिलेल्या अमरकोपातील श्लोकावरील रामा-श्रमीटीकेत अशाच तऱ्हेची ‘हाहा’ या शब्दाची व्युत्पत्ति भट्टोजि दीक्षिताचे पुत्र भानुजी दीक्षित यांनी दिली आहे) त्या कोमार वैयाकरणाच्या मते ‘अवारो वामुदेव स्यात्’ या कोषवचनान्वये ‘वामुदेव’ या अर्थाचा वाचक जो ‘अ’ हा शब्द आहे त्याचा ‘सह’ या शब्दाशी (‘एन सह वसन्ते’ अशा रीतीने बहुव्रीहिसमास करून ‘वोपसर्जनस्य’ सू. ८४९ या सूत्राने ‘सह’ चे जागी ‘स’ असा आदेश केल्यावर ‘स+अ =) सा’ असे जें आकारान्त प्रातिपदिक होणे त्याच्या द्वितीयेचे बहुवचन ‘सान्’ हें ‘आतो घातोः’ या प्रवृत्त सूत्राचे प्रत्युदाहरण आहे हे जाणावे. येथे आदन्त-प्रवरण संपले.

शब्दरत्न-जहातीति । हा इति शोकव्यञ्जकशब्द मित्यादिः ।

मनोरमंतील 'जहातीति हाहा' या पदापूर्वी 'हा इति शोकव्यञ्जकशब्दम्' हीं पदे अव्याहृत आहेत (असेंच मानून वर मनोरमंत विवरण केलें आहे.)

मनोरमा-“आडो नाऽस्त्रियाम्” ॥ पुंसोति तु नोवतम् । अमुना कुलेनेत्यत्र यथा स्यात् । न च नुमा रूपसिद्धिः, मुत्वस्यासिद्धत्वात् । “इकोऽचि” इति नुमोऽप्राप्तेः । नादेशे तु नासिद्धत्वं “न मु ने” इति निषेधात् । न च “न मु ने” इति निषेधो नुम्येप्यस्तु ने इत्यकारस्योच्चारणार्थत्वादिति वाच्यम् । अमुष्मं कुलापेत्पाद्यसिद्ध्यापत्तेः ।

‘आडो नाऽस्त्रियाम्’ सू. २४४ या सूत्रांत (‘अस्त्रियाम्’ या शब्दाचें ग्रहण केलें असून त्या शब्दाऐवजीं) ‘पुंसि’ हा शब्द वापरला नाही. त्याचें कारण हें कीं, ‘अमुना कुलेन’ या उदाहरणांत ‘अमुना’ या नपुंसकलिङ्गाच्या रूपांत ‘टा’ चे जागीं ‘ना’ हा आदेश व्हावा. नुमागम केल्यानें ‘अमुना’ या रूपाची सिद्धि होऊं शकते असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण मुत्व असिद्ध आहे व मुत्व केलें असतां, ‘इकोऽचि विभवती’ सू. ३२० या सूत्रानें होण्याच्या नुमागमाची प्राप्ति होऊं शकत नाही; पण ‘न मु ने’ सू. ४३९ हें निषेधक सूत्र असल्यामुळें, ‘टा’ चे जागीं ‘ना’ हा आदेश करतेवेळीं मुत्व असिद्ध ठरत नाही. ‘न मु ने’ या सूत्रानें सांगितलेला निषेध नुमागम करतेवेळीं देखील लागू पडतो, कारण ‘ने’ यांतील अकार उच्चारणार्थ आहे असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण तें म्हणणें बरोबर मानल्यास, ‘अमुष्मं कुलाय’ इत्यादि प्रयोग सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. (‘अदस् टा’ या स्थळीं ‘त्यदादीनामः’ सू. २६५ या सूत्रानें ‘अदस्’ यांतील अन्त्यसकाराचे जागीं अकार होऊन व ‘अतो गुणे’ सू. १९१ या सूत्रानें परस्पर एकादेश होऊन ‘अदटा’ अशी स्थिति झाली असतां, ‘अदमोऽन्तेः’ सू. ४१९ या त्रैपादिक सूत्रानें ‘अद’ यांतील ‘द’ चें मूत्व

होऊन 'अमु टा = अमु आ' अशी जेव्हा स्थिति होते तेव्हा 'आ' हा अजादि विभक्तिप्रत्यय पुढे असल्यामुळे 'इकोऽचि विभक्ती' सू ३२० या सूत्राने 'अमु' या इगन्त अङ्गाला नुमागम केल्याने 'अमून् आ = अमुना' असे नपुसकाचे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकतेच आणि म्हणून प्रकृत सूत्रात 'अस्त्रियाम्' हे पद न घालता 'पुसि' ह पद घातले असते तरी 'अमुना' हे नपुसकाचे रूप सिद्ध होऊ शकलेच असते अशी शकाकाराची शका आहे या शकेवर दीक्षित अम उत्तर देतात की, ही शका बरोबर नाही, कारण 'इकोऽचि विभक्ती' या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने 'अदसोऽसे' या त्रैपादिक सूत्राने झालेले मुत्व, 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू १२ या वचना-न्वये, असिद्ध ठरत असल्यामुळे, 'अमु' असे इगन्त अङ्ग आहे असे मानता येत नसून 'अद' असे अदन्तच अङ्ग आहे अस मानावे लागते त्यामुळे 'इकोऽचि विभक्ती' या सूत्राची प्राप्तीच होत नाही व नुमागम होऊ शकत नाही परंतु प्रकृत सूत्र असल्यामुळे, 'अमु टा = अमु आ' या स्थली 'आ' चे जागी 'ना' असा आदेश होतो व ता आदेश वरतेवेळी 'न मु ने' सू ४३९ या निषेधक सूत्रान्वये मुत्व असिद्ध ठरत नसल्यामुळे, 'ना' हा आदेश हाऊन 'अमुना' असे इष्ट रूप सिद्ध होते सारास प्रकृत सूत्रात 'पुसि' ह पद घातले असते तर, 'अमुना' असे नपुसकाचे रूप सिद्ध होऊ शकले नसत तसे रूप देखील सिद्ध व्हावे यावरिता प्रकृत सूत्रात 'पुसि' हे पद न घालता 'अस्त्रियाम्' ह पद घातले आहे पुन्हा सवाकार अशी शका करतो की, 'न मु ने' हा निषेध 'टा' चे जागी नादेश करते-वेळीच लागू पडणारा नसून नुमागम करतेवेळी देखील लागू पडणारा आहे कारण त्या निषेधक सूत्रातील 'ने' हे पद जसे 'ना' या आदेशाचे सप्तमीचे एकवचन आहे तसेच 'नुम् = न्' याला अकार उच्चारणार्थ जोडल्यास 'न' असा जो नुमागमाचा वाचव शब्द हातो त्याच्या सप्तमीचे देखील 'न' हेंच एकवचन आहे आणि त्यामुळे 'न मु ने' या सूत्राचा 'ना' भावे नुमागमे च कर्तव्ये वृत्तेच

नुभाषो नासिद्धः स्यात्' असा अर्थ होत असल्यामुळे, जसा 'ना' हा आदेश करतेवेळीं पूर्वी केलेलें मुत्व असिद्ध ठरत नाहीं त्याच-प्रमाणें 'इकोऽचि विभक्ती' या सूत्रानें नुमागम करतेवेळीं देखील मुत्व असिद्ध ठरत नाहीं. म्हणून 'अमु टा = अमु आ' या स्थलीं 'इकोऽचि विभक्ती' या सूत्रानें नुमागम होऊन 'अमुन् आ = अमुना' असें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्रांत 'पुंसि' हें पद घातलें असतें तरी चालूं शकलें असतें. या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं, शंकाकाराचें म्हणणें बरोबर मानल्यास जरी 'अमुना' हें नपुंसकाचें रूप सिद्ध होऊं शकतें तरी 'अमुष्मै कुलाय' इत्यादि प्रयोगांची सिद्धि न होण्याची आपत्ति येते; कारण 'अदस् डे = अद डे' या स्थलीं 'द'चें मुत्व करून 'अमु डे' अशी स्थिति झाली असतां, नुमागम करतेवेळीं मुत्व सिद्ध ठरतें असें शंकाकाराच्या म्हणण्याप्रमाणें मानल्यास, 'इकोऽचि विभक्ती' या पर सूत्रानें प्रथम नुमागम होऊन 'अमुन्' असें नकारान्त अङ्ग झाल्यावर 'सर्वनाम्नः स्मै' सू. २१५ या पूर्वं सूत्रानें अदन्त सर्वनामापुढील 'डे'चें जागीं होणारा 'स्मै' आदेश होऊं शकणार नाही. त्यामुळे 'अमुष्मै' असें इष्ट रूप सिद्ध न होतां, 'अमुन् डे = अमुन् ए = अमुने' असें चतुर्थाच्या एकवचनाचें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येईल. सारांश 'न मु ने' या सूत्रांतील 'ने' हें नुमादेशवाचक 'न' चें सप्तमीच्या एकवचनाचें देखील रूप नमूद प्रकृत सूत्रानें होणाऱ्या 'ना' या आदेशाचेंच सप्तमीचें एकवचन आहे आणि तो आदेश करतेवेळीं न मुत्व निद्र ठरत असून, नुमागम करतेवेळीं मुत्व सिद्ध ठरत नाहीं आणि त्यामुळे 'अमुना' हें नपुंसकाचें रूप सिद्ध होण्याकरितां प्रकृत सूत्रान 'अस्मिन्नाम्' हें पद जमणें आवश्यक आहे असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न-नुम्यप्यस्त्विति । अयं भाषः-तन्प्रेण नाभावे, नकारे च कार्ये तं प्रति अयं प्रति च, कृते च कार्यान्तरं प्रति नुभाषो नासिद्ध इति तदर्थः । एतेन नुम्यप्यासिद्धत्वेनादेशो, गुणे नुमादेश-

प्राप्तिरिति परास्तम् । नुम्पेवास्त्विति पाठे एवकारोऽप्यर्थः ।
 उच्चारणार्थत्वादिति । तन्त्रेणोच्चरिते द्वितीयनेशब्दे इत्यर्थः ।
 अमुष्मे इति । “न मु ने” इति सूत्रविषये पूर्वं विभक्तिनिमित्त-
 कार्याप्रवृत्तौ मुत्वे तस्य नकारविषये कमपि प्रत्यसिद्धत्वाभावेन विभ-
 क्त्यादेशं प्रत्यसिद्धत्वेऽपि यास्य स्मभावात्परत्वेन नुमापत्तेः ।
 आदिना अमू कुले अमुयोरिति तयोरेत्वस्याप्रवृत्तौ मुत्वे नुमि चानिष्टं
 स्पष्टमेव । “नमुटादेश” इति वार्तिकस्वारस्येन नादेश इत्येव
 तदर्थं उचित इत्यपि बोध्यम् ।

‘न मु ने इति निषेधो नुम्यप्यस्तु’ असे जें मनोरमंतील
 शकाग्रन्थात म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, तन्त्राचा
 आश्रय केल्याने, म्हणजे ‘न मु ने’ या सूत्रातील ‘ने’ हे पद दोनदा
 उच्चारल्याने व प्रथम उच्चारलेल्या त्या पदाचा ‘नाभावे कर्तव्ये’
 असा अर्थ करून दुसऱ्याने उच्चारलेल्या त्या पदाचा ‘नुमागमे च
 कर्तव्ये’ असा अर्थ केल्याने, ‘न मु ने’ या सूत्राचा असा अर्थ होतो
 की, नादेश व नुमागम करतेवेळी त्या कार्याच्या दृष्टीने व तसेच
 (विभक्तिप्रत्ययसम्बन्धि इनादेश इत्यादि) जी इतर कार्ये पावली
 आहेत त्या कार्याच्या दृष्टीने आणि त्याचप्रमाणे नादेश व नुमागम
 केल्यावर ज्या इतर कार्याची प्राप्ति होते त्या कार्याच्या दृष्टीने
 मुत्व असिद्ध ठरत नाही. असा त्या सूत्राचा अर्थ केल्याने, जे कोणी
 म्हणतात की, मुत्व असिद्ध ठरत असल्यामुळे (‘अद टा’ या स्थली
 मुत्व न करिता अदन्त अङ्गापुढे असलेल्या ‘टा’चे जागी
 ‘टाडसिडसाम्’ सू. २०१ या सूत्राने) ‘इन’ असा आदेश करून
 (‘आद्गुण’ सू. ६९ या सूत्राने) गुणादेश केला असता नुमादेशाची
 प्राप्तीच होत नाही, ते त्याचे म्हणणे चूक ठरते; (कारण ‘अमु
 टा = अमु आ’ या स्थली नुमागम करतेवेळी, वरील अर्थान्वये,
 पूर्वी केलेले मुत्व सिद्ध ठरत असल्यामुळे, ‘अमु’ हें अङ्ग नुमागम-
 कार्याच्या दृष्टीने इगन्त ठरून ‘इकोऽचि विभवती’ सू. ३२० या
 सूत्राने त्या इगन्त अङ्गाला नुमागम होऊं शकतो आणि नुमागम

केल्यावर 'अमुन्' असें हलन्त अङ्ग होत असल्यामुळे, 'टाडसिङ्ग-साम्' सू. २०१ या सूत्राची प्राप्तीच होत नाही. त्यामुळे 'टा' चे जागी इनादेश होण्याची व इनादेश केल्याने 'आद्गुणः' या सूत्राने गुणादेश होण्याची जी आपत्ति दिली आहे ती आपत्ति मुळीच येत नाही आणि 'अमुन् आ = अमुना' असें इष्ट रूप, प्रकृत सूत्रांत 'पुंसि' हें पद असले तरी, सहज सिद्ध होऊं शकतें असा मनोरमेतील त्या शंकाग्रन्थाचा आशय आहे. येथें हें लक्षांत ठेवावें कीं, शब्दरत्न-कारांनीं 'नुम्येवास्तु' असा मनोरमेचा पाठ न मानतां त्या ऐवजीं 'नुम्यप्यस्तु' असा पाठ मानून मनोरमेतील शंकाग्रन्थाचें वरप्रमाणें व्याख्यान केलें आहे व ते पुढें म्हणतात कीं, 'नुम्येवास्तु' असा जरी मनोरमेचा पाठ मानला तरी, त्यांतील 'एव' हा शब्द 'अपि' या अर्थाचा वाचक आहे असें समजावें. 'ने' इत्यकारस्योच्चारणार्थ-त्वात्' असें जें मनोरमेत म्हटलें आहे त्याचा अर्थ हा आहे कीं, 'न मु ने' या सूत्रांतील तन्ग्रानें 'ने' हें पद दोनदां उच्चारलें असतां, त्यापैकीं दुसऱ्यानें उच्चारलेल्या 'ने' यांतील अकार, म्हणजे ज्या अदन्त प्रातिपदिकाचें 'ने' हें सप्तमीचें रूप आहे त्या 'न' मधील अकार, उच्चारणार्थ आहे. (प्रथम उच्चारलेलें 'ने' हें पद 'ना' यांनें सप्तमीचें एकवचन आहे व या 'ना' मधील अकार उच्चार-णार्थ नसून, प्रकृत सूत्रानें 'टा' चे जागीं होणाऱ्या 'ना' या आदेशाचा तो 'ना' शब्द वाचक आहे व 'ना टि = ना इ = ने' असें 'आद्गुणः' या सूत्रानें गुणादेश होऊन 'ने' असें 'ना' चें सप्त-मीच्या एकवचनाचें रूप होतें व त्या पदाचा 'नाभावे कर्तव्ये' असा अर्थ होतो. पण दुसऱ्यानें उच्चारलेल्या 'ने' या पदाचा 'नुमागमे षम्ये' असा अर्थ करणें असल्यामुळे, 'न' यांतील अकार उच्चार-णार्थ आहे व 'न' हा 'न्म् = न्' या वाचक आहे असें मानणें सापत्तक आहे व त्या 'न' चें द्वितीय 'न टि = न इ = ने' असें व पुढीं सादिल्ल्याप्रमाणे 'आद् गुणः' या सूत्रान्तरें सप्तमीच्या एकवचनाचें रूप होतें) 'अमुर्मे गुणार्थस्यासिद्धतापत्तिः' तसें जें

मनोरमेत म्हटलें आहे त्याचे कारण हे की, 'न मु ने' या सूत्राच्या विषयात, म्हणजे ज्या ज्या ठिकाणी 'न मु ने' हे सूत्र लागू पडते नशा ठिकाणी, विभक्तिप्रत्ययनिमित्तक कार्याची प्रवृत्ति प्रथम न करिता प्रथम मुत्व केले तर ते मुत्व, नुमागम कर्तव्य असता, बोण-स्थाहि कार्याच्या दृष्टीनें असिद्ध ठरत नसल्यामुळे, जरी विभक्ति-प्रत्ययाचे जागी आदेश वरतेवेळी ते मुत्व त्या आदेशरूप कार्याच्या दृष्टीनें असिद्ध आहे तरी, 'स्मै' आदेश होणे या कार्याच्या मानानें नुमागमकार्य पर असल्यामुळे, नुमागम होण्याची आपत्ति येते (या 'या पक्तीतील 'वा' हा शब्द भैरवीत सांगितल्याप्रमाणे 'अनास्थायाम्' या अर्धामध्ये वापरला आहे हे लक्षात ठेवावे 'अदस् डे' या स्थली 'अदस्' यात सकार असल्यामुळे 'अदसोऽस्ते' सू. ४१९ हे मुत्वविधायक सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही व जोपर्यंत मुत्व होऊन इगन्त अङ्ग होत नाही तोपर्यंत 'इकोऽचि विभक्ती' सू. ३२० या सूत्रानें होणारा नुमागम होऊ शकत नाही म्हणून नुमागम होण्याकरिता पूर्वी मुत्व झाले पाहिजे व मुत्व होण्याकरिता 'अदस्' यातील सकार नाहीसा झाला पाहिजे आणि तो सकार नाहीसा होण्याकरिता 'त्यदादीनाम' सू. २६५ व 'अतो गुणे' सू. १९१ ही सूत्रे प्रथम प्रवृत्त करणे भाग आहे ती दोन सूत्रे प्रथम प्रवृत्त करून 'अदस्' यातील सकाराचे जागी अकार व नंतर पररूप एकादेश केल्यावर 'अद डे' अशी स्थिति झाली असताच, 'अदसोऽस्ते' ह सूत्र प्रवृत्त होऊ शकते त्यापूर्वी ते प्रवृत्त होऊ शकत नाही म्हणून 'पूर्वं विभक्तिनिमित्तकार्याप्रवृत्तौ मुत्वे' असे जें शब्दरत्नातील प्रकृत पक्तीत म्हटले आहे त्यातून 'त्यदादीनाम' या सूत्रानें होणारे विभक्तिनिमित्तककार्य व तसेच ते कार्य वल्यानें प्राप्त होणार पररूप कार्य ही दोन कार्ये वगळणे भाग आहे ही दोन कार्ये प्रथम करून 'अद डे' अशी स्थिति झाल्यावर प्राप्त होणारे मुत्वकार्य लगेच केल्यानें 'अमु डे' अशी स्थिति होते अशा स्थितीत 'सर्वनाम्न स्मै' सू. २१५ या मापादिक सूत्राच्या दृष्टीनें

त्रैपादिक मुत्व असिद्ध असल्यामुळे, तें झालेंच नाही व 'अमु' असें इगन्त अङ्ग नसून 'अद' असेंच अदन्त अङ्ग आहे असें मानणें भाग आहे व त्यामुळे 'डे' चे जागी 'स्मै' आदेशाची प्राप्ति होते. तसेंच शंकाकाराच्या भताप्रमाणें सापादिक नुमागम कर्तव्य असतां पूर्वी झालेलें त्रैपादिक मुत्वकार्य असिद्ध ठरत नाही असें मानल्यास, 'अमु' या इगन्त अङ्गापुढें 'डे = ए' हा अजादि विभक्तिप्रत्यय असल्यामुळे, 'इकोऽचि विभक्तौ' या सूत्रानें नुमागमाची देखील प्राप्ति होते. या प्राप्त होणाऱ्या दोन कार्यांपैकी 'स्मै' आदेश पूर्व सूत्रानें होणारा असून नुमागम पर सूत्रानें होणारा असल्यामुळे, 'विप्रतिपेधे परं कार्यम्' सू. १७५ या वचनान्वये, नुमागम प्रथम होण्याची आपत्ति येते. नुमागम प्रथम करून 'अमुन् डे' अशी स्थिति झाली असतां अङ्ग हलन्त होत असल्यामुळे, अदन्त सर्वनामरूप अङ्गापुढील 'डे' प्रत्ययाचे जागीं होणारा 'स्मै' आदेश या स्थलीं करतां येऊं शकत नाही. त्यामुळे 'अमुष्मै' असें इष्ट रूप सिद्ध न होतां 'अमुन् डे = अमुन् ए = अमुने' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. म्हणून 'न मु ने' या सूत्रांतील 'ने' या पदानें नुमागमाचें देखील ग्रहण होतें असें जें शंकाकाराचें म्हणणें आहे तें बरोबर मानलें असतां वर दर्शविलेली आपत्ति येत असल्यामुळे, 'ने' या पदानें नुमागमाचें ग्रहण न करितां प्रकृत सूत्रानें होणाऱ्या नादेशाचेंच ग्रहण करणें योग्य आहे असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे असें शब्दरत्नकार म्हणतात. तसें मानलें असतां, 'अदस् डे = अद डे = अद स्मै = अमु स्मै = अमुष्मै' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. मुत्व प्रथम केलें तरी, अमु डे' या स्थलीं 'सर्वनाम्नः स्मै' या सूत्राच्या दृष्टीनें पूर्वी केलेलें मुत्व असिद्ध ठरत असल्यामुळे, 'अमु' असें इगन्त अङ्ग नसून 'अद' असेंच अदन्त अङ्ग आहे असें मानतां येतं आणि त्यामुळे 'डे' चे जागीं 'स्मै' आदेश होण्यांत व 'अमुष्मै' हें रूप सिद्ध होण्यांत कांहीं अटचण येत नाही.) 'अमुष्मै' कुलायेत्यासिद्धचापत्तेः'

या मनोरमेच्या पक्तीत जो 'आदि' शब्द घातला आहे त्याने 'अमु
 कुले, अमुयो.' याचे ग्रहण होते. या दोन्ही उदाहरणात एत्वाची
 प्रथम प्रवृत्ति न करिता, प्रथम मुत्व करून नंतर नुमागम केल्याने
 अनिष्ट रूपे होतील हे अगदी स्पष्ट आहे. ('अदस् ओ' या स्थली
 त्यादाद्यत्व व पररूप एकादेश करून आणि 'नपुसकाच्च' सू. ३१०
 या सूत्राने 'ओ' चे जागी 'शो = ई' आदेश करून 'अद ई'
 अशी स्थिति झाली असता, मुत्व केल्याने नुमागम होऊ शकत
 असल्यामुळे, 'आद्गुणः' सू. ६९ या सूत्राने गुणरूप एकादेश,
 ग्रहणजे एत्व, प्रथम न करिता त्रैपादिक मुत्व प्रथम केल्याने जेव्हा
 'अमु ई' अशी स्थिति होते तेव्हा 'आद्गुणः' या सापादिक सूत्राच्या
 दृष्टीने मुत्व असिद्ध असल्यामुळे व 'अद ई' अशीच स्थिति
 आहे असे मानावे लागत असल्यामुळे, 'आद्गुण.' या
 सूत्राने गुणरूप एकादेशाची प्राप्ति होते तसेच शकाकाराच्या
 मतान्वये नुमागम कर्तव्य असता पूर्वी केलेले मुत्व असिद्ध
 ठरत नसल्यामुळे आणि अशा रीतीने इगन्त अङ्गापुढे अजादि प्रत्यय
 आहे असे मानता येत असल्यामुळे, 'इकोऽचि विभवती' या सूत्राने
 नुमागमाची देखील प्राप्ति होते हे नुमागमाचे गूढ 'आद्गुणः' या
 सूत्राच्या मानाने पर सूत्र असल्यामुळे, 'पूर्वात्पर बलवत्' या
 न्यायान्वये, नुमागम प्रथम केल्यास, 'अमुन् ई' अशी स्थिति होणार
 व अशा स्थितीत अवर्णापुढे 'ई' हा अच् येत नसून तो नकारापुढे
 येत असल्यामुळे, 'आद्गुण' हे सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही व
 'अदे' असे एदन्त रूप होऊ शकत नाही त्यामुळे 'अदे' असे रूप
 झाले असता मुत्व केल्याने 'अमू' असे जे इष्ट रूप सिद्ध करता
 येते ते सिद्ध न होता 'अमुन् ई अमुनी' असे अनिष्ट रूप होण्याची
 आपत्ति येते त्याचप्रमाणे 'अदस् ओम् = अद ओस्' या स्थली
 'ओसि च' सू. २०७ या सापादिक सूत्राने प्रथम एत्व न करिता
 शकाकाराच्या मते नुमागमाच्या दृष्टीने सिद्ध ठरत असलेले
 मुत्व प्रथम केल्यास, नंतर नुमागम केल्यावर 'अमुन् ओस् = अमुनोः'

असें अनिष्ट रूप होईल व 'अद ओस् = 'अदे ओस् = अदयोः = अमुयोः' असें इष्ट रूप सिद्ध होणार नाहीं. या सर्व आपत्ति टाळण्याकरितां, वर सांगितल्याप्रमाणें, 'न मु ने' या सूत्रांतील 'ने' या पदानें नुभागमाचें देखील ग्रहण न करितां केवळ नादेशाचेंच ग्रहण करणें योग्य आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'न मु टादेशे' असें जें 'न मु ने' या सूत्रावर वार्तिककारानें वार्तिक पठित केलें आहे त्या वार्तिकाचें स्वारस्य लक्षांत घेतलें असतां, त्यावरून देखील त्या सूत्रांतील 'ने' या पदाचा 'नादेश' असाच अर्थ करणें योग्य ठरतें हें देखील जाणावें. (जर 'न मु ने' या सूत्रांतील 'ने' या पदाचा 'नादेशे नुमि च' असा अर्थ होणें इष्ट असतें तर, वार्तिककाराने 'ने' चे जागीं 'टादेशे' एवढेंच पद न घालतां 'टादेशे नुमि च' हीं पदे घातलीं असतीं. यावरून देखील हेंच सिद्ध होतें कीं, 'न मु ने' या सूत्राचा 'नाभावे नुमिच कर्तव्ये मुत्वं नासिद्धम्' असा अर्थ करणें उचित नसून, त्या सूत्राचा कीमुदीत जसा अर्थ केला आहे तसाच अर्थ करणें योग्य आहे.)

मनोरमा—“अच्च घेः” “इदुङ्गचाम्” इति “ङे” इति “औत्” इति च पदत्रयमनुवर्तते इत्याशयेन व्याचष्टे—“इदुङ्गचामुत्तरस्य” इत्यादिना । घेरुत्तरस्येति तु नोक्तम् । सूत्रे “घेः” इत्यस्य पठ्यन्तत्वात् । तन्त्रावृत्त्यादौ च प्रमाणाभावात् “औत्” इति पूर्वसूत्रे इदुङ्गचामुत्तरस्य, ङेरिति क्लृप्तसम्बन्धस्य त्यागायोगाच्च । औत्स्यादिति । अत्र व्याचष्टुः—औत्स्तित्वं स्वरितार्थम् । “न विभवती” इतीत्त्वनिषेधस्तु न भवति, अनित्यत्वात् । अनित्यत्वं च “इदमस्यमुः” इति थमो मकारस्येत्संज्ञापरित्राणार्थादुदित्करणात्लन्यत इति तत्रैवोक्तमिति । तच्चिन्त्यम् । “न विभवती” इति मूर्ध्ने ङेरीतस्तकार उच्चारणार्थः नेत्संज्ञ इति स्वयमेवोक्तत्वेन पूर्वापरविरोधात् । युक्तं चोच्चारणार्थत्वं न तु स्वरितार्थत्वम् । “स्तोत्रं बहिषि समिधाने अग्नौ” इत्यादौ स्वरितत्वादर्थानात् ।

“अत्” इति तपरत्वं तु युद्धावित्यादावत्वे कृते स्त्रियां टाप् मा भूद् इत्येतदर्थमित्याहुः । तदपि चिन्तयम् । तपरग्रहणाद्धि टापा सह दीर्घो मा भूत् टाप् तु स्यादेव । लक्षणद्वयबाधे मानाभावात् । अत एव “कृन्मेजन्तः” इति सूत्रभाष्यवार्तिकयोर्विवरणे च सन्निपातपरिभाषया टाप् नेत्युक्तम् । टापा व्यपधाने हि आनन्तर्यविघातः स्यादिति । तस्माद् औन इव अतोऽपि तपरकरणमुच्चारणार्थमेवेत्यवधेयम् ।

‘अच्च घेः’ सू. २४७ या सूत्रात् ‘इदुद्भ्रघाम्’ व ‘औत्’ ही पूर्वं सूत्रे व ‘डेराम्’ या पूर्वं सूत्रातील ‘डेः’ हें पद अनुवृत्त होत असल्यामुळे, ‘अच्च घेः’ या सूत्राचा कोमुदीत ‘इदुद्भ्रघामुत्तरस्य डेः औत् स्यात्, घेः अन्तादेशश्च अकारः’ असा अर्थ वेला आहे. ‘घेः उत्तरस्य डेः औत् स्यात्’ असा (जो काशिकाकार व प्रक्रिया-कौमुदीकार यांनी सूत्रार्थ केला आहे तसा) सूत्रार्थ केला नाही; कारण प्रकृत सूत्रातील ‘घेः’ हें पद (परपञ्चमी नसून) पठ्यन्त पद आहे तन्त्र, आवृत्ति इत्यादि मानण्यास, म्हणजे ‘घेः’ या पदाचे ‘घेः उत्तरस्य डेः’ व ‘घेश्च अकारादेशः’ असे दोनदा उच्चारण करण्यास, काहीच प्रमाण नाही आणि तसेच ‘औत्’ या पूर्वं सूत्रात ‘इदुद्भ्रघामुत्तरस्य डेः’ ही पदे परस्परांन्वित अनुवृत्त होत असून ‘डे’ हें पद ‘इदुद्भ्रघामुत्तरस्य’ याशी संबद्ध होऊन जसे अनुवृत्त होते तसा त्या क्लृप्तसंबधाचा प्रकृत सूत्रात त्याग करणे उचित नाही. (‘घे उत्तरस्य डेः औत् स्यात्, घेरन्तादेशश्चाकारः’ असा प्रक्रियाकौमुदीकारांनी काशिकान्वये प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे पण तसा अर्थ केल्यास, ‘घे’ हे पद दोनदा उच्चाराने लागते व प्रथम उच्चारलेले ते पद परपञ्चमी मानून दुसऱ्याने उच्चारलेले ते पद स्थानपठ्ठी मानावी लागते. तसे द्विरुच्चारण करण्यास व तसे मानण्यास काही प्रमाण नाही, म्हणजे वार्तिककार व भाष्यकार यांनी तसे केले नाही. दुसरे असे की, प्रकृत सूत्रात, वर सांगितल्याप्रमाणे, ‘इदुद्भ्रघामुत्तरस्य डेः’ ही पदे अनुवृत्त होत

असल्यामुळे, प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं जसा तन्त्रावृत्तीचा आश्रय करून प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तसें करण्याची कांहीच गरज नाही.) प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान करितांना प्रकाशकारांनीं असें म्हटलें आहे कीं, प्रकृत सूत्रांत 'औ' हा आदेश 'औत्' अशा रीतीनें जो तित् केला आहे तो एवढ्याकरितांच कीं, ('तित्स्वरितम्' सू. ३७२९ या सूत्रानें) स्वरित स्वर व्हावा. (परंतु हें म्हणणें बरोबर मानल्यास, 'औत्' यांतील अन्त्य तकार उच्चारणार्थ न मानतां इत्संज्ञक मानावा लागेल. पण 'न विभवती तुस्माः' सू. १९० हें इत्संज्ञेचें निषेधक सूत्र असल्यामुळे आणि विभक्तिप्रत्ययाचे जागीं आदेश झाल्यावर तो आदेश स्थानिवद्भावानें विभक्तिप्रत्यय ठरत असल्यामुळे 'औत्' यांतील तकार इत्संज्ञक मानतां येत नाहीं असें कोणी म्हटल्यास, त्यावर प्रकाशकार असें उत्तर देतात कीं,) 'न विभवती तुस्माः' हा निषेध 'औत्' या स्थलीं प्रवृत्त होत नाहीं; कारण तो अनित्य आहे व तो निषेध अनित्य आहे याला, 'इदम-स्वमुः' सू. १९७२ या सूत्रानें 'यमु' या प्रत्ययांतील मकाराला इत्संज्ञा होऊं नये याकरितां त्या प्रत्ययाचें जें उदित्करण केलें आहे तें उदित्करण, प्रमाण आहे असें तेथेंच, म्हणजे 'न विभवती तुस्माः' या सूत्रावरील भाष्यांतच, म्हटलें आहे. (जरी 'विभक्तिद्वय' सू. १८४ या सूत्रान्वये 'सुप्' व 'तिङ्' प्रत्ययांनाच विभक्तिसंज्ञा आहे तरी, प्राग्दिशोयप्रकरणांत पठित असलेल्या तद्धित प्रत्ययांना देखील 'प्राग्दिशो विभक्तिः' सू. १९४७ या सूत्रान्वये विभक्तिसंज्ञा आहे आणि 'इदमस्वमुः' हें सूत्र त्या प्रकरणांत पठित असल्या-मुळे, 'यमु' हा तद्धित प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक ठरतो. या विभक्तिसंज्ञक प्रत्ययानं जरी अन्य उकार उच्चारणा नसता तरी, 'न विभवती तुस्माः' या निषेधक सूत्रान्वये त्या प्रत्ययांतील मकाराला 'इदमस्वमुः' सू. १ या सूत्रानें शोणारी इत्संज्ञा झालीच नसती. तरी पण पाणिनीनें 'यम्' प्रत्ययांतील अन्त्य मकाराचा जोव न होतां तो मकार कायम राहता याकरितां त्या प्रत्ययांतील

मकारापुढें उकार जोडून तो प्रत्यय उच्चारला असल्यामुळे, त्या उदित्करणावरून हे शापित होते की, 'न विभवती तुस्माः' हा निषेध अनित्य आहे व त्या निषेधाच्या अनित्यत्वामुळे त्याची 'ओत्' या प्रत्ययाच्या ठिकाणी प्रवृत्ति न वेल्यानें, त्या 'ओत्' प्रत्ययातील तकार इत्सज्ञक आहे व तो प्रत्यय स्वरित व्हावा या प्रयोजनाकरिता तो तित् वेला आहे, म्हणजे त्याला इत्सज्ञक तकार जोडला आहे, असे मानता येते असा प्रकाशकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे. पण दीक्षित म्हणतात की प्रकाशकाराचे हे म्हणणे बरोबर नाही; कारण 'न 'विभवती तुस्माः' या सूत्राचे व्याख्यान करतेवेळी 'डे' ये जागी होणाऱ्या 'ओत्' यातील तकार उच्चारणार्थ असून इत्सज्ञक नाही असे प्रकाशकारानी स्वतःच म्हटले असल्यामुळे त्याच्या पूर्वापर म्हणण्यात विरोध येतो. वास्तविक 'ओत्' यातील तकार उच्चारणार्थ असून, तो 'ओत्' स्वरित व्हावा याकरिता त्याला तकारानुबन्ध जोडला नाही हेच मानणे उचित आहे, कारण 'स्तीर्णे वहिषि समिधाने अग्नी' इत्यादि ध्रुतीत 'अग्नी' इत्यादि पदातील ओकार स्वरित पठित नाही. ('न विभवती तुस्माः' सू. १-३-४ या सूत्रावरील भाष्यात 'विभवती तवगंप्रतिषेधोऽतद्धिते' हे वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकाचे व्याख्यान करिताना भाष्यकार म्हणतात—'विभवती तवगंप्रतिषेधोऽतद्धित इति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । किमोऽत् । .. स तहि प्रतिषेधो वक्तव्यः ? । न वक्तव्यः । आचार्यप्रवृत्ति-शापयति न विभवती तद्धिते प्रतिषेधो भवतीति यदयमिदमस्थमुः इति मकारस्येत्संज्ञापरिज्ञानार्थमुकारमनुबन्ध करोति ।' भाष्यकाराच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, 'इदमस्थमु.' या सूत्रानें होणाऱ्या 'यमु' प्रत्ययातील मकाराला इत्सज्ञा होऊ नये व तो मकार कायम राहावा याकरिता त्या मकारापुढें इत्सज्ञक उकार हा अनुबन्ध आचार्य पाणिनीनें जोडला असल्यामुळे त्यावरून हे शापित होते की, तद्धित विभक्तिसज्ञक प्रत्ययांना 'न विभवती

तुस्माः' हा प्रतिषेध लागू पडत नाही. या भाष्यांच्या आधारेच प्रकाशकारांनी 'न विभक्तौ तुस्माः' या निषेध अनित्य आहे असें म्हटलें असावें व या निषेधाच्या अनित्यत्वामुळें 'अच्च घेः' या प्रकृत सूत्रानें 'डि' प्रत्ययाचे जागीं होणाऱ्या 'औत्' या आदेशाचे ठिकाणीं तो निषेध प्रवृत्त न केल्यास, 'औ' ला जोडलेला तकारा-
नुबन्ध इत्संज्ञक ठरतो आणि कोणत्या तरी विशिष्ट प्रयोजनाकरितां इत्संज्ञेचें विधान केलें जात असल्यामुळें, 'औ' हा आदेश 'तित्स्वरितम्' या सूत्रान्वयें स्वरित व्हावा या प्रयोजनाच्या सिद्धीकरितां त्या आदेशाला तकारानुबन्ध लावला आहे असें प्रकाशकारांचें म्हणणें आहे. यावर दीक्षित असें म्हणतात कीं, प्रकाशकारांचें म्हणणें वरोवर मानल्यास, ज्या शब्दस्वरूपांत प्रकृत सूत्रानें 'औ' आदेश झाला आहे असे श्रुतींत आढळणारे शब्द स्वरितान्त पठित असावयास पाहिजे होते; पण ते तसे पठित केलेले आढळत नसल्यामुळें, प्रकाशकारांचें म्हणणें स्वीकारतां येत नाही. दुसरें असें कीं, प्रकाशकारांनीं स्वतःच म्हटलें आहे कीं, प्रकृत सूत्रानें 'डि' चे जागीं होणाऱ्या 'औत्' या आदेशांतील तकार उच्चारणार्थ असून इत्संज्ञक नाही. अशा रीतीनें त्यांच्या म्हणण्यांत पूर्वापर विरोध येत असल्यामुळें देखील, त्यांचें म्हणणें स्वीकारतां येत नाही. 'तस्य लोपः' सू. १-३-९ या सूत्रावरील भाष्यांत 'कार्य करिष्यामीत्यनुबन्ध आसज्यते, कार्यदिन्यन् मा भूदिति लोपः' असें भाष्यकारांनीं म्हटलें असल्यामुळें, दीक्षित असें म्हणतात कीं, जेथें कांहीं विशिष्ट प्रयोजनाकरितां अनुबन्ध लावला जातो तेथेंच त्याला इत्संज्ञा होते; पण जेथें कोणत्याहि प्रयोजनाकरितां अनुबन्ध लावला जात नसून केवळ उच्चारणार्थ लावला जातो तेथें तसा उच्चारणार्थक निष्प्रयोजनक अनुबन्ध इत्संज्ञक मानतां येत नाही आणि ज्याअर्थी 'औत्' या आदेशाला कोणत्याहि विशिष्ट प्रयोजनाकरितां तकारानुबन्ध जोडला नसून केवळ उच्चारणार्थ—मुखसुखार्थ—जोडला आहे त्याअर्थी तो इत्संज्ञक आहे असें जें प्रकाशकारांचें

म्हणणे आहे ते चूक ठरते या विषयाचे अधिक विवरण शब्दरत्नात करण्यात येईल) प्रकाशकारानी असे म्हटले आहे की, 'अच्च घे.' या प्रकृत सूत्रात 'अत्' असे जें तपरकरण केले आहे ते अशाकरिता केले आहे की, त्या सूत्रानें 'बुद्धी' इत्यादि उदाहरणात (इकाराचे जागी) अकारादेश केल्यावर ('अजाद्यतष्टाप्' सू. ४५४ या सूत्रानें) जो 'टाप्' हा स्त्रीप्रत्यय पावतो तो न व्हावा पण हे म्हणणे देखील बरोबर मानता येत नाही, कारण 'टाप्' प्रत्यय होणे टाळता येत नाही, 'टाप्' प्रत्यय झाल्यावर 'अ' हा आदेश व 'टाप् = आ' हा स्त्रीप्रत्यय या दोहोचे जागी जो ('अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें) सवर्णेदीर्घ एकादेश पावतो तो न व्हावा (व अकारच कायम राहावा) याकरिता 'अत्' असे तपरकरण केले आहे एवढेंच फार तर म्हणता येतें; कारण त्या तपरकरणानें दोन सूत्राचा, म्हणजे 'अजाद्यतष्टाप्' व 'अक. सवर्णे दीर्घः' या दोन सूत्राचा, बाध होतो असे मानण्यास काहीच प्रमाण नाही (म्हणून 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्राचा बाध न होता 'अक. सवर्णे दीर्घः' हेच सूत्र तपरकरणानें बाधित होते हें म्हणणे उचित ठरते.) म्हणूनच 'कुन्मेजन्तः' सू. १-१-३९ या सूत्रावरील भाष्यात, वातिकात व कैयटविवरणात, सन्निपातपरिभाषा-परि. ८६-असल्यामुळें 'टाप्' प्रत्यय होत नाही, असे म्हटले आहे, कारण 'टाप्' केल्यास त्याच्या व्यवधानामुळें (घिसशक अङ्ग व 'जि' हा विभनितप्रत्यय याचे) आनन्तर्य नष्ट होण्याची आपत्ति येते. म्हणून ज्याप्रमाणे 'ओत्' यातील तकार उच्चारणार्थ आहे त्याचप्रमाणे 'अत्' यातील तकार देखील उच्चारणार्थच आहे हे ध्यानात ठेवावे (प्रकाशकार व प्रसादनार या दोघाचेहि असे म्हणणे आहे की, 'बुद्धी' या स्थली प्रकृत सूत्रानें 'बुद्धि' यातील अन्त्य इकाराचे जागी अकारादेश केल्यावर 'बुद्ध' असे जें अदन्त अङ्ग होते त्याहून 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्रानें 'टाप्' प्रत्ययाची प्राप्ति होते व 'टाप्' प्रत्यय केल्यास 'बुद्ध टाप् = बुद्ध आ = बुद्धा' असे 'अकः सवर्णे दीर्घः' या

सूत्रान्वये सवर्णदीर्घरूप एकादेश होऊन आवन्त रूप होत असल्या-
कारणानें 'डेराम्नद्याम्नीम्यः' सू. २७० व 'याडापः' सू. २९० हीं
सूत्रे प्रवृत्त होण्याची व 'बुद्धी' असें इष्ट रूप सिद्ध न होतां
'बुद्धायाम्' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. ती आपत्ति
टळावी याकरितां 'अत्' असें प्रकृत सूत्रांत तपरकरण केले आहे
व त्या तपरकरणामुळे 'अजाद्यतष्टाप्' हें सूत्र प्रवृत्त होत नाहीं;
कारण तें सूत्र प्रवृत्त केल्यास अङ्गाचें अदन्तत्व नाहीसें होऊन तें
अङ्ग आवन्त होण्याची व तपरकरण व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते.
अशा रीतीनें 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्राची निवृत्ति झाल्यानें 'अकः
सवर्णे दीर्घः' या सूत्राची प्रवृत्ति होण्याचा प्रसंगच येत नाहीं. सारांश
'अत्' या तपरकरणानें प्रकाशकार 'अजाद्यतष्टाप्' व 'अकः सवर्णे
दीर्घः' या दोन्ही सूत्रांचा बाध कळू इच्छितात. यावर
दीक्षितांचें असें म्हणणें आहे कीं, जर 'अकः सवर्णे दीर्घः'
एवढ्या एकाच सूत्राचा बाध मानल्यानें काम भागूं शकतें व
तपरकरण चरितार्थ होतें तर 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्राचा देखील
बाध होतो असें मानण्याची गरज काय ? अकारादेश केल्यानें अदन्त
अङ्ग होत असल्यामुळे 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्रानें जी 'टाप्'
प्रत्यय होण्याची प्राप्ति होते तिचें निवारण करणें शक्य नाहीं.
तपरकरणाच्या सामर्थ्यानें एवढेंच म्हणतां येऊं शकतें कीं, 'टाप् =
आ' प्रत्यय केल्यावर 'अ' व 'आ' यांचे जागीं सवर्णदीर्घ
एकादेश न होतां 'अ' हा अकाररूपानेंच कायम राहतो. त्यामुळे
अङ्गाचें अदन्तत्व नष्ट होत नाहीं आणि 'डेराम्' व 'याडापः' या
सूत्रांची प्रवृत्ति होणें आपोआपच टळते व 'बुद्ध' अी = बुद्धी' असें
इष्ट रूप 'बुद्धिरेचि' नू. ७२ या सूत्रान्वये सिद्ध होण्यांत कांहीं
अडचण येत नाहीं. दुसरे असें कीं, 'बुद्धी' इत्यादि उदाहरणांत
'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्राची वास्तविक प्रवृत्तीच होऊं शकत नाहीं;
कारण 'बुद्धि इ' या स्वलीं प्रकृत सूत्रानें 'बुद्धि' यांतील
इकाराचे जागीं अकारादेश केल्यावर 'बुद्धि इ' अशी स्थिति झाली

असता, 'बुद्ध' या अदन्त अङ्गाहून 'टाप्' प्रत्यय वेल्यास घिसज्जक अङ्ग व 'डि' प्रत्यय या दोहोमध्यें 'टाप्' चे व्यवधान होऊन त्या दोहोच्या सन्निपाताचा नाश होण्याची आपत्ति येते साराश 'बुद्धि डि' या सन्निपातामुळें जो इकाराचे जागी अकारादेश झाला आहे तो अकारादेश घिसज्जक अङ्ग व 'डि' प्रत्यय या दोहोच्या सन्निपाताचा नाश करणाऱ्या 'टाप्' प्रत्ययाची प्रवृत्ति होऊ देण्यास कारणीभूत होऊ शकत नाही म्हणून 'अत्' या तपरकरणानें 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्राची निवृत्ति होत नसून, सन्निपातपरिभाषेमुळें वास्तविक त्या सूत्राची निवृत्ति होते व त्यामुळें सपर्णदीर्घाची प्राप्तीच होत नाही म्हणून 'अत्' यातील तपरकरण कोणत्याहि विशिष्ट प्रयोजनाकरिता केले नसून केवळ उच्चारणार्थ केले आहे ह्च मानणे उचित आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे व ते आपल्या मताचे समर्थन करण्याकरिता 'कुन्मेजन्त' सू १-१ ३९ या सूत्रावरील भाष्याचे प्रमाण देतात त्या भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—'शकटी पद्धतौ । अत्वे कृतेऽत-इति टाप्प्राप्नोति । सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विधातस्येति दोषो न भवति ।' या भाष्यावरून हे स्पष्ट होते की, 'अत्' या तपरकरणामुळें 'अजाद्यतष्टाप्' हे सूत्र प्रवृत्त होत नाही असे नसून, वास्तविक सन्निपातपरिभाषा असल्यामुळें त्या सूत्राची प्रवृत्ति होऊ शकत नाही या भाष्याचे व्याख्यान करिताना कैयटानें 'विभक्तिसन्निपातकृतमत्व यदि टापो निमित्त स्याद् आनन्तर्यं विहन्येत । शास्त्रीये च कार्येऽन्तादिवद्भावो नानन्तर्यं लौकिके । टापि च सति शकटायामिति स्यात्' असे म्हटले आहे)

शब्दरत्न—नेत्सज्ज इति । इयमपि तदुक्तिश्चिन्त्या "तस्य लोप" इति सूत्रभाष्ये उच्चारणार्थानामपीत्सज्जकत्वस्य स्पष्टमुक्तत्वात् । स्वरितत्वादशंनादिति । नग्योत स्वरितत्वेऽपि नागनावित्यत्र स्वरितश्च धनमग्निशब्दस्यान्तोदात्तत्वेन "एकादेश उदात्तेन" इत्यनेनोदात्तत्वादिति चेन्न । घृत्ती "अनुदात्तस्य"

इत्यस्य तत्रानुवृत्तितत्वात्, शेषनिघातेनौकारस्वरितत्वमादायाग्नि-
शब्दस्य सर्वानुदात्तत्वाच्च । स्वरि तस्य तु मोदात्तपदेन ग्रहणं
“उदात्तस्वरितयोः” इत्यादौ स्वरितग्रहणात् । उच्चारणार्थानामि-
त्संज्ञकत्वे ऽपि ‘प्रत्ययाप्रत्यययोः’ इत्येव सिद्धे पुनः “तिति प्रत्यय-
ग्रहणं कर्तव्यम्” इति वार्तिकेनौपदेशिकप्रत्ययत्ववस्थेव तत्प्रवृत्त्या
नात्र स्वरितत्वप्रवृत्तिरिति तत्त्वम् । आदेशेषु दकारस्थानिकचत्व-
निष्पन्नतकारस्य सत्त्वेन दिस्वात्तदप्राप्तेः । उच्चारणार्थं इत्यस्य च
वर्णान्तिरोच्चारणे मुख्यस्य वलेशवारणार्थं नवव्यक्त्यर्थं इत्यर्थः ।
अत एव भाष्ये औकारे छितमाश्रित्यादिति प्रत्याख्यातम् । न हि
तदा तित्वमस्ति । न च छित्वे विशतौ तिलोपापत्तिः । भाष्य-
प्रामाण्येन तस्य सप्तम्यामनभिधानादिति दिक् । अदिति । अस्य
यदपीत्यादिः । दीर्घो मा भूदिति । भिन्नकालव्याधृत्यर्थत्वात्तपर-
त्वस्येति भावः । न च “ज्ञोऽविद्वत्स्य” इति प्रकरणेन समासबाध
इवानेन टापोऽपि बाध इति वाच्यम् । “प्रतिपदविधाना षष्ठी न
समस्यते” इति वार्तिकानुरोधेन तत्र तथा कल्पनेऽपीह तथा कल्पने
मानाभावात् ।

‘डेरीतस्तकार उच्चारणार्थः नेत्संज्ञः’ असें जें प्रकाशकारांनीं
‘न विभवती तुस्माः’ या सूत्राचें व्याख्यान करितांना म्हटलें आहे
तें देखील चूक आहे; कारण ‘तस्य लोपः’ १-३-९ या सूत्रावरील
भाष्यांत स्पष्ट म्हटलें आहे कीं, जे वर्ण (अनुबन्धरूपानें प्रत्यय
आदेश इत्यादिकांना) उच्चारणार्थ लावले जात असतात ते देखील
इत्संज्ञक असतात. (वास्तविक ‘उच्चारणार्थानामपि इत्संज्ञकत्वम्’
असें ‘तस्य लोपः’ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं कोठेंहि
स्पष्टपणें म्हटलें नाही. पण त्या भाष्यावरून कित्येक वैयाकरण
असा तात्पर्याय काढतात कीं, उच्चारणार्थ असलेल्या वर्णांना इत्संज्ञा
नसून देखील जर उच्चारणरूप प्रयोजन त्या वर्णांनीं सिद्ध करून
दिल्यावर, कोणत्याहि सूत्राच्या अभावीं, त्यांचा आपोआप लोप होऊं
शकतो तर जे इत्संज्ञक अनुबन्ध कांहीं विशिष्ट प्रयोजनाकरितां

लावले जात असतात ते देखील आपले कार्य केल्यावर आपोआपच निवृत्त होतील व अशा रीतीने 'तस्य लोपः' सू. ६२ हे व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. म्हणून ते सूत्र चरितार्थ ठरण्याकरिता हे मानणे आवश्यक आहे की, जे अनुबन्ध केवळ उच्चारणार्थ लावले जातात व तसेच जे अनुबन्ध काही विशेष प्रयोजनाकरिता लावले जातात त्या दोन्ही प्रकारच्या अनुबन्धाना इत्सज्ञा होत असून त्याचा 'तस्य लोपः' या सूत्राने लोप होतो. साराश 'तस्य लोपः' या सूत्रातील 'तस्य' या पदाने वरील दोन्ही प्रकारच्या अनुबन्धाचा परामर्श होतो 'तस्य लोपः' सू. १-३-१ या सूत्रावरील भाष्यातील 'दिव औत्' हे प्रतीक घेऊन त्याचे व्याख्यान करिताना उद्योतकार म्हणतात—'दिव ओदिति । यद्यप्ययमुच्चारणार्थस्तथापि समभिव्याहृतवर्णोच्चारणे सहायसम्पादकतया तस्य चरितार्थ्येन विधेय-विषये विशिष्टस्यापि विधेयत्वसम्भावनासत्वाद् इत्सज्ञालोपयोः प्रवृत्तयोर्बाधे मानाभावादुच्चारणार्थानामपीत्वमस्त्येष । किं च तदभावे उच्चारितस्य निवृत्तिः कथं स्यादितिभावः । एतेनोच्चारणार्थानामित्सज्ञा नेति नव्योक्तिः परास्ता । स्तीर्णे बर्हिपि समिधानेऽग्नाविन्द्यादौ डेरीति स्वरितत्वाभावस्तु छान्दसत्वादिति बोध्यम् ।' उद्यातात हे जे मत प्रदर्शित केले आहे तेच शब्दरत्नातील प्रकृत पक्वतीत प्रतिपादित केले आहे) 'स्तीर्णे बर्हिपि...स्वरितत्वाद-दर्शनात्' असे जे मनोरमंत म्हटले आहे त्यावर शकाकार असे म्हणतो की, 'औ' हा आदेश स्वरित असून देखील 'अग्नी' या स्थली 'औ' चे ठिकाणी जे स्वरितस्वराचे श्रवण होत नाही त्याचे कारण हे की, 'अग्नि' हा शब्द अन्तोदात्त असल्यामुळे, 'एकादेश. उदात्तेनोदात्त' सू. ३६५८ या सूत्रान्वये 'औ' हा एकादेश उदात्त होतो. (शकाकाराचे असे म्हणणे आहे की, जरी 'औत्' हा तित् आदेश स्वरित आहे तरी, 'फिपोऽन्त उदात्त' फिट् सू. १ या सूत्रान्वये 'अग्नि' हे प्रातिपदिक अन्तोदात्त असल्यामुळे, म्हणजे त्या प्रातिप-दिगातील अन्य इकार उदात्त असल्यामुळे. त्या इकाराचे जागी

‘अच्च घेः’ या प्रकृत सूत्रानें झालेला ‘अ’ हा आदेश ‘स्थानेऽन्तर-
तमः’ सू. ३९ या सूत्रान्वयें आन्तरतम्यानें उदात्त होतो व तो
उदात्त अकार आणि त्या पुढील ‘डि’ प्रत्ययाचे जागीं झालेला
‘ओ’ हा स्वरित आदेश या दोहोंचे जागीं ‘वृद्धिरेचि’ सू. ७२
या सूत्रानें ‘ओ’ असा जो वृद्धिरूप एकादेश होतो तो ‘एकादेशः
उदात्तेनोदात्तः’ या सूत्रान्वयें उदात्त होतो आणि त्यामुळें मनोरमंत
दिलेल्या श्रुतींतील ‘अग्नी’ यांतील ‘ओ’चे ठिकाणीं स्वरित
स्वराचें श्रवण होत नाही. यावर शब्दरत्नकार असें उत्तर
देतात कीं, शंकाकाराचें) हें म्हणणें बरोबर नाही; कारण ‘एका-
देशः उदात्तेनोदात्तः’ या सूत्रांत (‘उदात्तस्वरितयोर्धनः स्वरितोऽ-
नुदात्तस्य’ या पूर्वे सूत्रांतून) ‘अनुदात्तस्य’ हें पद काशिकाकारांनीं
अनुवृत्त केलें आहे. (‘एकादेशउदात्तेनोदात्तः’ सूत्रावरील काशिकेंत
‘उदात्तेन सहानुदात्तस्य य एकादेशः स उदात्तो भवति । अनुदा-
त्तस्येति वर्तते’ असें म्हटलें आहे. ‘अग्नि ओ’ या स्थलीं पूर्वीं
सांगितल्याप्रमाणें ‘अग्नि’ यांतील अन्त्य इकार उदात्त असून त्याचे
जागीं प्रकृत सूत्रानें होणारा ‘अ’ हा आदेश आन्तरतम्यानें उदात्त
होत असल्यामुळें, तथा उदात्त ‘अ’ व स्वरित ‘ओ’ यांचे जागीं
झालेल्या ‘ओ’ या वृद्धिरूप एकादेशाला काशिकेंत दिलेल्या अर्था-
न्वयें ‘एकादेश उदात्तेनोदात्तः’ हें मूत्र लागू पडत नाही हें उघड
आहे. अनुदात्त व उदात्त यांचे जागीं झालेला एकादेशच त्या सूत्रान्वयें
वृत्तिकारमतें उदात्त होतो. म्हणून प्रकृत सूत्रानें होणारा आदेश
स्वरित असला तर, ‘अग्नी’ या स्थलीं ‘ओ’चे ठिकाणीं स्वरित
स्वराचें श्रवण व्हावयास पाहिजे होतें) दुसरें असें
कीं, ‘ओत्’ हा आदेश स्वरित मानल्यास, त्याच्या
स्वरितामुळें घेयनिघानानें, म्हणजे ‘अनुदात्तं पदमेकवर्जम्’
३६/५० या सूत्रान्वयें, ‘अग्नि’ हा शब्द सर्वानुदात्त होतो.
‘एकादेश उदात्तेनोदात्तः’ या सूत्रांतील ‘उदात्तेन’ या पदानें
अग्निपदे वरून होऊं शकत नाही; कारण ‘उदात्तस्वरितयोर्धनः’

इत्यादि सूत्रांत (उदात्ताचें ग्रहण केले असून देखील) स्वरिताचे पृथक् ग्रहण केले आहे. ('अग्नि डि = अग्नि ओ' या समुदायाला 'सुप्तिङन्तं पदम्' सू. २९ या सूत्रानें पदसज्ञा होते व 'अग्नि' यातील अन्त्य अकार, जर सांगितल्याप्रमाणे, जरी उदात्त आहे तरी, 'ओ' हा स्वरित मानल्यास, 'यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्चं स्यात्' या अर्थाच्या वाचक 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' या सूत्रान्वयें 'अग्नि' यातील उदात्त अकार अनुदात्त होतो. या स्थली 'अग्नि' यातील अन्त्य 'अ' जरी अनुदात्त आहे तरी त्यापुढील 'ओ' हा उदात्त नसून स्वरित असल्यामुळें, येथें 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' या सूत्राची प्रवृत्ति मुळीच होऊं शकत नाही. या सूत्रांतील 'उदात्तेन' या पदानें स्वगिताचे देखील ग्रहण होते व 'उदात्तेन स्वरितेन वा सहानुदात्तस्य व एकादेशः स उदात्तो भवति' असा त्या सूत्राचा अर्थ होतो आणि त्या अर्थान्वयें 'अग्नी' इत्यादि स्थली अनुदात्त व स्वरित या दोहोचे जागी होणारा एकादेश उदात्त होत असल्यामुळें 'अग्नी' यांतील 'ओ' चे ठिकाणी स्वरित स्वराचें श्रवण होत नाही असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही; कारण 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' इत्यादि सूत्रात उदात्त व स्वरित या दोहोचेहि पृथक् ग्रहण केले असल्यामुळें, उदात्तानें स्वरिताचे ग्रहण होत नाही हे उघड होते. जर उदात्तानें स्वरिताचे देखील ग्रहण होऊं शकले असते तर, पाणिनीनं 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' इत्यादि सूत्रात उदात्त व स्वरित या दोहोचेहि ग्रहण न करिता, केवळ उदात्ताचेच ग्रहण केले असते सारास अनुदात्त 'अ' व स्वरित 'ओ' याचे जागी होणाऱ्या एकादेशाला 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' हे सूत्र लागू पडत नसल्यामुळें, 'अग्नी' यातील 'ओ' स्वरितस्वरयुक्त श्रुतीत पठित असावयास पाहिजे होता. पण ज्याअर्थी 'अग्नी' यातील 'ओ' श्रुतीत स्वरितस्वरयुक्त पठित नाही त्याअर्थी हे स्पष्ट होतें की, 'डि' प्रत्ययाचे जागी होणारा 'ओ' हा आदेश स्वरित नाही आणि म्हणून

‘ओत्’ यांतील तकारानुबन्धाचें ग्रहण स्वरितार्थ नसून केवळ उच्चारणार्थ आहे असेंच मानणें योग्य आहे.) आणखी असें कीं, उच्चारणार्थक वर्ण जरी इत्संज्ञक होतात तरी ‘प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्’ - परि. १११ - या परिभाषान्वये (‘तित्स्वरितम्’ सू. ३७२९ या सूत्रांतील ‘तित्’ या शब्दानें) तित्-प्रत्ययाचेंच ग्रहण सिद्ध होत असून वार्तिककारानें त्या सूत्रावर ‘तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्’ असें वार्तिक पठित केलें असल्यामुळे त्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, (‘तित्स्वरितम्’ या सूत्रांतील ‘तित्’ या शब्दानें) पाणिनीय सूत्रांत ज्यांचा प्रत्ययरूपानें उपदेश केला आहे तशाच साक्षात् पठित केलेल्या प्रत्ययांचे ठिकाणीं ‘तित्स्वरितम्’ या सूत्राची प्रवृत्ति होते व त्यामुळे ‘ओत्’ हा आदेश स्वरित ठरू शकत नाही हें खरें तत्व-कारण-आहे. (‘आदेश प्रत्ययाचे जागीं सात्यावर जरी त्याला स्थानिवद्भावांनं प्रत्यय मानतां येतें तरी, स्थानिवद्भावांनं प्रत्यय ठरणाऱ्या तशा आदेशाला ‘तित्स्वरितम्’ हें मूत्र लागू पडत नसून, जे अष्टाध्यायींत साक्षात् प्रत्ययरूपानें पठित आहेत त्यांनाच तें सूत्र, ‘तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्’ असें वार्तिक मुद्दाम पठित केलें असल्यामुळे, लागू पडतें. ‘ओत्’ हा प्रत्ययरूपानें पठित नसून आदेशरूपानें पठित असल्यामुळे, तो तित् असून देतील, त्याला तें मूत्र बरोळ वार्तिकान्वये लागू पडत नाही. म्हणून तो आदेश स्वरित ठरत नाही हें खरें मुख्य कारण आहे. त्यामुळे ‘ओत्’ यांतील तकार स्वरितस्वरार्थ नसून केवळ उच्चारणार्थ आहे असेंच मानणें भाग आहे.) आणगी असें कीं, आदेशाचे ठिकाणीं जो असण तकार दिवतो तो मूळचा दणार असून त्या दकाराचे ठिकाणी (‘वाज्यमाने’ सू. २०६ या सूत्रानें) तकार हांत प्रगल्भामुळे व अणा रीतीनें आदेश (तित् ठरत नसून) दित् ठरत प्रगल्भामुळे, आदेशाच्या विषयान ‘तित्स्वरितम्’ हें मूत्र प्रत्यय हांजें शक्य नाही. (तकारानुबन्धमुक्त दिगजारे आदेश जे पर मागितल्याप्रमाणें ‘तित्’ व मानतां ‘दित्’ मानले जातात

त्याप्रमाणे तकारानुबन्धयुक्त प्रत्यय देखील 'दित्' आहेत असे मात्र मानू नये; कारण तसे मानल्यास, 'तित्स्वरितम्' हें सूत्र व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते पण आदेशाचे ठिकाणी जो तकारानुबन्ध दिसतो तो मूळचा दकार असून सन्धिनियमान्वये त्याचा तकार झाला आहे असेच मानते पाहिजे, कारण तसे न मानल्यास, 'तित्स्वरितम्' या सूत्रानें त्याचे ग्रहण होण्याचा संभव आहे व 'प्रत्ययाप्रत्यययोः' ही परिभाषा आणि तसेच 'तिति प्रत्ययग्रहण कर्तव्यम्' हें वातिक असल्यामुळे, तसे ग्रहण होणे इष्ट नाही असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा तात्पर्यार्थ आहे) अनुबन्ध उच्चारणार्थ आहे असे म्हटले असता, त्याचा अर्थ असा होतो की, एखादा वर्ण उच्चारतेवेळी मुखाला जे बलेश होताना त्याचे निवारण करण्याकरिताच त्या वर्णापुढें अनुबन्ध लावला जात असून काही वेगळे स्वतंत्र कार्य त्या योगानें व्हावे या हेतूने लावला जात नसतो. असे आहे म्हणूनच, म्हणजे 'औत्' या आदेशातील तकार स्वरितस्वर होण्याकरिता घातला नसून केवळ उच्चारणार्थ घातला असल्यामुळेच, भाष्यकारानी 'औत्' हा आदेश डित् करून 'अच्च घे' ७-३-११९ या सूत्रातील 'अत्' या पदाचे प्रत्याख्यान केले आहे तो आदेश अशा रीतीने 'डित्' केला असल्यामुळे 'तित्' राहत नाही (अत्र केल्यास 'अजाद्यतष्टाप्' सू ४५४ या सूत्रानें जी 'टाप्' ची प्राप्ति होते तिचा प्रतिषेध करणे आवश्यक आहे या अर्थाचे 'अत्वे टाप्प्रतिषेधः' हे वातिक प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात प्रथम पठित करून त्या वातिकाचे प्रत्याख्यान करणारी 'न वा सन्निपातलक्षणस्यानिमित्तत्वात्' व 'डित्करणाद्वा' ही दोन वातिके नंतर पठित केली आहेत त्यापैकी पहिल्या वातिकाचे विवरण पूर्वी केलेच आहे. द्वितीय वातिकाचे व्याख्यान करिताना भाष्यकार म्हणतात— 'अथवा डिदीकार करिष्यते, औडिच्च घे १.' जर 'औत्' यातील तकारानुबन्ध त्या 'औ' ला स्वरितस्वर होण्याकरिता उच्चारला असता तर, भाष्यकारानी 'अच्च घेः' या सूत्राऐवजी 'औ डिच्च

घेः' असें सूत्र पठित केलें नसतें व 'औ' हा आदेश डित् केला नसता; कारण तो डित् केल्यामुळें त्याचें तित्त्व नष्ट होऊन तो स्वरित होऊं शकत नाहीं. असें असून देखील भाष्यकारांनीं तो डित् केला असल्यामुळें हें स्पष्ट होतें कीं, तो आदेश स्वरित व्हावा याकरितां त्याला पाणिनीनें तकार जोडला असें नसून त्याला तो अनुबन्ध केवळ उच्चारणार्थ लावला. तो आदेश डित् पठित केल्याचा परिणाम हा होतो कीं, 'बुद्धि डि = बुद्धि औड्' या स्थलीं 'टेः' सू. ३१६ या सूत्रानें 'बुद्धि' यांतील 'टि'चा म्हणजे अन्त्य इकाराचा लोप होऊन 'बुद्ध औ = बुद्धी' असें इष्ट रूप एकदम सहज सिद्ध होतें. त्यामुळें घिसंज्ञक अङ्ग अकारान्त न झाल्याकारणानें 'टाप्' ची प्राप्ति होत नाहीं व 'टाप्' चा प्रतिषेध सांगण्याची कांहीं गरज पडत नाहीं.) 'डि' प्रत्ययाचे जागीं होणारा आदेश 'औड्' असा डित् मानल्यास 'विंशती' या स्थलीं 'ति' चा लोप होण्याची आपत्ति येते असें कोणी म्हटल्यास, त्याला उत्तर हें आहे कीं, वरील प्रत्याख्यानपर प्रमाणभूत भाष्याच्या आचारें असें मानलें पाहिजे कीं, 'विंशती' असा सप्तमीचा प्रयोग भाषेत होत नाहीं. ('विंशति' या शब्दाचें सप्तमीचें एकवचन करतेवेळीं 'विंशति डि = विंशति औड्' अशी स्थिति झाली असतां, 'ति विंशतेडिति' सू. ८४४ या सूत्रानें 'विंशति' यांतील 'ति'चा लोप होण्याची व 'विंशती' असें इष्ट रूप सिद्ध न होतां 'विंशी' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते असें शंकाकाराचें म्हणणें आहे. या शंकेवर दादरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'औ' हा आदेश डित् पठित केल्यास 'विंशती' असें रूप सिद्ध होऊं शकणार नाहीं हें सकललक्ष्यकचक्षुष्क सर्वज्ञ भाष्यकारांना माहीत असून देखील त्यांनीं तो आदेश डित् पठित केला असल्यामुळें हेंच मानणें भाग आहे कीं, भाषेत 'विंशती' असा प्रयोग होत नसतो. तसा प्रयोग होत असता तर भाष्यकारांनीं तो आदेश केव्हांहि डित् पठित केला नसता असा दादरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'अत्

इति तपरत्वम् ' या मनोरमेतील पदापूर्वी 'यदपि' ही पदें अध्याहृत आहेत. 'दीर्घो ना भूत्' असे जें मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, भिन्नकालिक 'अ' वर्णाची व्यावृत्ति व्हावी याकरिता प्रकृत सूत्रात 'अत्' असे तपरकरण केले आहे ('अ' व 'आ' यांचे जागी 'अक' सवर्णे दीर्घ' सू ८५ या सूत्रानें 'आ' असा जो सवर्णदीर्घ एकादेश होण्याची आपत्ति येत होती तिचे निवारण करण्याकरिता व 'अ' हा 'ह्रस्वरूपानें' कायम राहावा याकरिता 'तपरस्तत्कालस्य' सू १५ या सूत्रान्वये प्रकृत सूत्रात 'अत्' असे तपरकरण केले आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे असे शब्दरत्नकार म्हणतात) ज्याप्रमाणे 'ज्ञोऽविदर्थस्य' सू ६१२ या प्रकरणानें समासाचा बाध होतो त्याचप्रमाणे प्रकृत सूत्रात 'अत्' असा आदेश पठित केला असल्यामुळें त्या आदेशानें 'टाप्' चा देखील बाध होतो असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही, कारण 'ज्ञोऽविदर्थस्य' या प्रकरणात 'प्रतिपदविधाना पृष्ठी न समस्यते' ह वातिक पठित केले असल्यामुळे, त्या वातिकाच्या आधारे समासाचा बाध होतो अशी जरी त्या ठिकाणी कल्पना करता येते तरी, प्रकृत स्थली ('अत्' या तपरकरणानें 'टाप्' चा बाध होतो) अशी कल्पना करण्यास कोणतेंहि प्रमाण उपलब्ध नाही (घातुविशेष किंवा कारकविशेष याचे सूत्रात साक्षात् ग्रहण करून जेथें पृष्ठी होणे सांगितले जाते तशा पृष्ठीला प्रतिपदविधानापृष्ठी म्हणतात 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' या व या पुढील सूत्रांनी जी पृष्ठी होणे सांगितली आहे ती प्रतिपदविधानापृष्ठी होय या प्रकरणात जो पृष्ठीसमासाचा बाध होतो तो त्या प्रकरणात पठित असलेल्या सूत्रांनी होत नसून, 'प्रतिपदविधाना पृष्ठी न समस्यते' असे जें वातिक त्या प्रकरणात पठित केले आहे त्या वातिकाच्या सामर्थ्यानें होतो 'अच्च घे' या प्रकृत सूत्रानें घिसजक अङ्गाच्या अन्त्य वर्णाचे जागीं अकारादेश केला असता अङ्ग अदन्त होत असल्यामुळें 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्रानें जी 'टाप्'ची

प्राप्ति होते तिते निवारण करणारें कोणतेहि पाणिनीय सूत्र नाही व 'अच्चे टाप्प्रतिषेधः' हें वातिक भाष्यकारांनीं प्रत्याख्यात केलें आहे. 'अच्च घेः' या सूत्राच्या सामर्थ्यानेंच ती आपत्ति टाळता येते असें मुळींच म्हणतां येऊं शकत नाही हें पूर्वी सिद्ध केलेंच आहे. म्हणून 'टाप्' चे निवारण करण्याकरितां सन्निपातपरिभाषेचा आश्रय केला पाहिजे किंवा प्रकृत सूत्रानें होणारा 'ओ' हा आदेश डित् पठित केला पाहिजे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.)

मतोरमाः— "अनङ् सी" ॥ सोऽर्द्धेच सिद्धे अनङ्विधान-
मन्यतोऽपि स्यादिति ज्ञापनार्थम् । तेन उशनसः संवृद्धौ अनङ्
सिद्धयतीति प्राञ्चः । तच्चिन्त्यम् । सोऽर्द्धेषुक्ते हि "ऋदुशनस्"
इत्युत्तरसूत्रेणापि टा स्यात् । ततश्च उशनेत्यत्र "सर्वनामस्थाने
चासंवृद्धी" इति दीर्घः स्यात् । पुनर्दसेत्यत्र "सान्तमहत्" इति
दीर्घः स्यात् । यदा संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति वा अङ्गवृत्तपरि-
भाषया वा समाधानं बोध्यम् ।

प्राचीनांचे—प्रकाशकारांचे—असें म्हणणें आहे कीं, 'सोर्डा' असें
गूत्र केल्यानें इष्टसिद्धि होत असून देखील 'अनङ् सी' सू. २४८
असें गूत्र पठित करून या गूत्रांत 'अनङ्' आदेश होण्याचें जें विधान
केलें आहे तें अनाकरितां कीं, तो आदेश (संवृद्धीचा विनयितप्रत्यय
पूर्व आग्रा अगतां देखील) इतर शब्दांच्या अन्य वर्णांचे जागीं होत असतो
हें जाणित व्हावें, आणि त्यामुळे 'उशनस्' शब्दाचें संवृद्धीचें
रूप करितांना 'अनङ्' आदेश होतो (य 'उशनस्' असें संवृद्धीचें
रूप सिद्ध होवें.) पण ते त्याचें म्हणणें बरोबर नाही; कारण 'सोर्डा'
असें गूत्र केळें असें नव्, 'ऋदुशनस्पुनर्दसेत्यत्र' या सू. २७६
ला उगार मुत्तनें देखील 'मु' प्राप्त्याने जागीं 'श' हा आदेश
होण्याचा आशय आसी असें जाणित व्हावें, आणि त्यामुळे 'उशना' या रूपानें
'गर्भशानस्थाने पामस्युद्धी' सू. २५० ला मुत्तनें उगारा दीर्घ

होण्याची व तसेच 'पुरुदंसा' या स्थली 'सान्तमहतः सयोगस्य' सू. ३१७ या सूत्रानें उपघा दीर्घे होण्याची आपत्ति आली असती. (प्रकृत सूत्रावरील टीकेत प्रसादकारानी 'आकारे विधेये अनङ्विधानं सोर्लोपार्यम् । डादेशस्तहि सोविधेयः । एवं सिद्धे यदनङ्विधान तदनङ् एव वचिच्छ्रुत्यर्थम् । तेन यद्वक्ष्यति उशनसः सम्बुद्धी वानङ्-वाच्यः इत्यारम्भ्य हे उशनन् इत्येतदुपपन्नम्' असे म्हटले आहे व अशाच प्रकारचे व्याख्यान प्रकाशकारांनी केले आहे असे मनोरमेच्या प्रकृत पक्तीत 'प्राञ्चः' हा बहुवचनाचा निर्देश केल्यामुळे दिसून येते. प्रसादकार व प्रकाशकार यांच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, प्रकृत सूत्राऐवजी 'सोर्डा' असे सूत्र केले असतें तरी, 'सखि सु' या स्थली त्या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचे जागी 'डा = आ' असा डित् आदेश होऊन व 'टेः' सू. ३१६ या सूत्रानें 'सखि' या शब्दाच्या टिचा, म्हणजे अन्त्य इकाराचा, लोप होऊन 'सख् आ = सखा' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकलेच असते. असे असून देखील पाणिनीनं तसे सूत्र न करिता 'अनङ् सी' असे जें प्रकृत सूत्र केले आहे त्याचे कारण हें की, 'ऋदुशनम्' या सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या वचिच् शब्दापुढील सबुद्धिप्रत्ययाचे जागी देखील 'अनङ्' आदेश होतो हे ज्ञापित व्हावे, आणि त्यामुळेच प्रक्रिया-कौमुदीकारानी 'पुसोऽमुङ्' या सूत्रावरील वृत्तीत 'सम्बुद्धी वानङ् वाच्यो नलोपश्च वा । हे उशन । हे उशनन्' असे जें म्हटले आहे ते योग्य ठरतें यावर दीक्षित असे म्हणतात की, प्रकाशकारानी केलेले व्याख्यान स्वीकाराहें नाही, कारण 'सोर्डा' असे सूत्र केले असते तर, 'ऋदुशनम्' या उत्तर सूत्रात 'सोर्डा' या सूत्राची अनुवृत्ति होऊन त्या सूत्रात पठित असलेल्या शब्दापुढील 'सु' या सर्वनामस्थानप्रत्ययाचे जागी डादेश होण्याची आपत्ति आली असती व त्यामुळे 'उशनस् सु = उशनस् डा' अशी स्थिति होऊन व 'टे' सू. ३१६ या सूत्रानें 'उशनस्' यातील 'अस्' या टिचा 'टेः' या सूत्रानें लोप होऊन 'उशन् डा = उशन् आ' अशी स्थिति

झाली असतां, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सू. २५० या सूत्रानें उपधा दीर्घ होऊन 'उशान् आ = उशाना' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति आली असती. तसेंच 'पुरुदंसस् सु = पुरुदंसस् डा' या स्थलीं वर सांगितल्याप्रमाणें 'अस्' या टिचा लोप होऊन 'पुरुदंस् डा = पुरुदंस् आ' अशी स्थिति झाली असतां, 'पुरुदन्स्' हा शब्द सान्तसंयोगान्त असल्यामुळें, 'सान्त महतः संयोगस्य' सू. ३१७ या सूत्रानें उपधा दीर्घ होऊन 'पुरुदांस् आ = पुरुदांसा' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति आली असती.) अथवा प्रकाशकारांच्या म्हणण्याचें समर्थन करणें असल्यास, 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः'—परि. ९४—या परिभाषेच्या आधारें किंवा 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः'—परि. ९३ या परिभाषेच्या आधारें समर्थन करावें. ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' व 'सान्त महतः संयोगस्य' या दोन्ही अङ्गाधिकारांत पठित असलेल्या सूत्रांत 'नोपधायाः' हें पूर्वं सूत्र अनुवृत्त होत असून 'द्वलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' या पूर्वं सूत्रांतून 'दीर्घः' या पदाची अनुवृत्ति होते. या दोन्ही सूत्रांनीं जें उपधादीर्घकार्य होण्याचें विधान केलें आहे त्या विधानांत 'अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा' सू. २४९ या सूत्रान्वयें संज्ञावाचक ठरणान्या 'उपधा' या शब्दाचें ग्रहण केलें असल्यामुळें, 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' या परिभाषान्वयें तें उपधादीर्घविधान अनित्य ठरतें व त्या विधानाच्या अनित्यत्वाचा आश्रय करून वरील दोन्ही उदाहरणांत उपधादीर्घकार्य न केल्यानें इष्ट रूपांची सिद्धि करतां येऊं शकते. तसेंच वरील दोन्ही सूत्रें व प्रकृत सूत्र हीं तीन्ही सूत्रें अङ्गाधिकारांत पठित असल्यामुळें, 'अनङ् सी' या सूत्राएवजीं पठित केलेले 'सोडा' हें सूत्र वरील दोन्ही उदाहरणांत प्रवृत्त केल्यावर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' किंवा 'सान्त महतः संयोगस्य' हीं अङ्गाधिकारोक्त सूत्रें, 'अङ्गवृत्ते' या परिभाषान्वयें, त्या उदाहरणांत नंतर प्रवृत्त होऊं शकत नाहींत व त्यामुळें उपधा दीर्घ होण्याची आपत्ति आपोआपच दळते. अशा रीतीनें प्रकाश-

काराच्या म्हणण्याचे समर्थन करता येऊ शकते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न—अनङ् सिद्ध्यतीति । वैकल्पिकत्वमात्रं तु वाच-
निकमिति तद्भावः । संज्ञापूर्वक इत्यस्य भाष्यास्पृष्टत्वादाह—
अङ्गवृत्तेति । इयमगतिकगतिः । सोऽर्द्धेति न्यासे लाघवाभावश्च
द्वित्वसामर्थ्याद्विलोपकल्पने गौरवं च । तस्मादुशनसोऽनङ् तद्वै-
कल्पिकत्वं च चिन्त्यमेव भाष्यानुवृत्तत्वादिति प्रामाणिकाः ।

‘उशनसः सम्बुद्धौ अनङ् सिद्ध्यति’ असे जें प्रकाशकारानीं म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, (‘अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्य ’—सू. ४३६ वरील वार्तिक—या वार्तिकात ‘अनङ्’ आदेश होण्याचे वास्तविक विधान केले नसून) तो आदेश विकल्पेंकरून व्हावा एवढेंच विधान त्या वार्तिकानें केले आहे; (कारण ‘ऋदुशनस्’ सू. २७६ या सूत्रानें ‘सु’ प्रत्यय पुढें अस्ता ‘उशनस्’ या स्थली ‘अनङ्’ आदेश होऊ शकतोच. पण तो आदेश विकल्पेंकरून व्हावा असे त्या सूत्रात विधान केले नसल्यामुळे, वैकल्पिक विधानाकरिताच ते वार्तिक केले आहे असे मानले पाहिजे. तसे मानले असता, ‘उशनस्’ या शब्दाच्या सम्बुद्धीची ‘उशनन्’ व ‘उशन’ अशी पाक्षिक रूपें होतात व नकारलोप केल्यास ‘उशन’ असे देखील सम्बुद्धीचे तिसरे रूप होते) ‘संज्ञापूर्वकी विधिरनित्य’ ही परिभाषा भाष्यात कोठेंहि पठित नसल्यामुळे (व अशा रीतीने ती अप्रमाण ठरत असल्यामुळे) ‘अङ्गवृत्तपरिभाषया वा’ असे मनोरमैत म्हटले आहे, व ती परिभाषा प्रवृत्त करून इष्ट रूपाची सिद्धि करावी असे जें दीक्षितानीं सुचविले आहे ते अगतिकगतिन्यायानें, म्हणजे गत्यन्तर नसल्यामुळे, सुचविले आहे. ‘सोऽर्द्धा’ असे सूत्र करण्यात लाघव नसून उलट द्वित्वाच्या सामर्थ्यानें विलोप करण्यात गौरव आहे. (‘अनङ् सो’ व ‘सोऽर्द्धा’ या दोन्ही स्थली सारख्याच मात्रा असून पदाची सख्या

देखील सारखीच आहे. 'अनङ् सौ' हें सूत्र मानल्यानें टिलोपाची गरज पडत नाही. म्हणून तें यथापठित सूत्र मानण्यांतच लाघव असून, 'सोडा' हें सूत्र मानण्यांत गौरव आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) म्हणून प्रामाणिक, म्हणजे भाष्यानुसारि, वैयाकरणांचें असें म्हणणें आहे कीं, भाष्यांत 'उशनस्' या शब्दाला संबुद्धीचा 'सु' प्रत्यय पुढें असतां 'अनङ्' आदेश करावा व तो विकल्पेंकरून करावा असें कोठेहि म्हटलें नसल्यामुळे, 'उशनस्' शब्दाचीं संबुद्धीचीं 'उशनन्' व 'उशन' अशीं पाक्षिक रूपें होतात हें म्हणणें बरीबर नाही. (कारण 'अनङ्' आदेश होणें जो सांगितला आहे तो केवळ असम्बुद्धि सर्वनामस्थान 'सु' प्रत्यय पुढें असतांच होणें सांगितलें आहे व भाष्यकारांनीं वातिकरूपानें बरील वचन भाष्यांत कोठेहि पठित केलें नसल्यामुळे, त्या वचनान्वये होणारीं 'उशनस्' शब्दाचीं संबुद्धीचीं पाक्षिक रूपें अशुद्धच मानलीं पाहिजेत असें भाष्यानुसारि वैयाकरणांचें म्हणणें आहे.)

मनोरमा—“हल्ङ्याभ्यो” ॥ दीर्घादित्येतन् ङ्यापोरेव विशेषणं न तु हलोऽसंभवात् इत्याह—दीर्घाविति । परमिति । न त्विबं विहितविशेषणं या, सा, का इत्यादावध्याप्तेः । न च तत्र हलन्ताद्विहितत्वेन निर्वाहः, यः, स इत्यादावतिव्याप्तेः, कर्तृत्यादावध्याप्तेष्वेति भावः । हलिति । तस्य च सुतिसीत्येवंरूपत्वमेकदेशविकृतम्यायेन बोध्यम् । लुप्यत इति । यद्यपीह “लोपो व्योः” इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते । तच्च तत्र भावसाधनं तथाऽपीह कर्मसाधनं हलिति प्रथमान्तेन सामानाधिकरण्यादिति भावः । दीर्घग्रहणं किम् अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिः । ननु इह समस्तस्य ङ्यावन्तत्वं नास्ति । न च 'स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमो नास्ति' इति चाच्यम् । अनुपसर्जने हि तथा । इह तुपसर्जनत्वात् तदादिनियमोऽस्त्येव । सत्यम् । तथाऽपि उत्तरपदस्य ङ्यावन्तत्वेन सोस्ततः परत्वानपायात् । न हीदं विहितविशेषणमित्यबोचाम । अत एव बहुश्रेयसीत्यत्र सुलोपः ॥

प्रत्यय होऊं शकत नाही. म्हणून 'त्यदादीनामः' व 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्रांची प्रवृत्ति होण्याकरितां 'यद्' शब्दाहूनच प्रथम 'सु' प्रत्यय केला पाहिजे आणि त्यदाद्यत्व व पररूप करून 'य सु' अशी स्थिति झाली असतां, 'य' या अवन्त प्रातिपदिकाला 'टाप् = आ' हा प्रत्यय होऊन 'य आ सु = या सु' अशी स्थिति होते. येथें विहितविशेषणपक्ष मानल्यास, 'सु' हा प्रत्यय 'या' या आवन्ताहून झाला नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्रांतील 'इयाव्यो दीर्घात्' या अंशानें त्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊं शकत नाही व 'याः' असें प्रथमेच्या एकवचनाचें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. परंतु 'हल्ङ्याव्योः' ही विहितपञ्चमी न मानतां परपञ्चमी मानल्यानें ती आपत्ति टळते; कारण जरी येथें 'यद्' या शब्दाहून 'सु' प्रत्यय झाला असून 'या' या आवन्ताहून तो प्रत्यय झाला नाही तरी, अकारादेश, पररूप, 'टाप्' प्रत्यय व सवर्णदीर्घ होऊन 'या' असें आवन्त रूप झालें असतां, तो 'सु' प्रत्यय त्या आवन्त अङ्गापुढें येत असल्यामुळे, त्या 'सु' प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्रानें लोप होऊन 'या' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. 'यद्' या हलन्त शब्दाहून 'सु' प्रत्यय होत असल्यामुळे, विहितविशेषणपक्ष मानला तरी, प्रकृत सूत्रांतील 'हलन्तात्' या अंशानें 'या' असें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकतें असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण तें म्हणणें बरोबर मानल्यास, 'यः' असें पुल्लिङ्गाचें इष्ट रूप सिद्ध होणार नाही व 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊन 'य' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येईल; कारण येथें देखील 'यद्' या हलन्ताहूनच 'सु' प्रत्यय झाला आहे. परंतु 'हलन्तात्, आवन्तात्' या विहितपञ्चमी न मानतां परपञ्चमी मानल्यानेंच वर दर्शविलेली आपत्ति टळते; कारण 'यद् सु = य अ सु = य सु' अशी स्थिति झाल्यावर 'सु' प्रत्यय हलन्त अङ्गापुढें येत नसून अवन्त अङ्गापुढें येत असल्यामुळे, त्या प्रत्ययाना लोप न होतां 'यः' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें व समेंच वर सांगितल्याप्रमाणें 'यद्' शब्दाहून 'सु'

प्रत्यय करून 'टाप्' प्रत्यय केल्यावर 'या सु' अशी स्थिति झाली असता, 'या' या आवन्त अङ्गापुढे 'सु' प्रत्यय येत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्राने त्या प्रत्ययाचा लोप होऊन 'या' असे इष्ट रूप सिद्ध होते. त्याचप्रमाणे 'कर्तृ सु' या स्थली 'कर्तृ' या अजन्त शब्दाहून 'सु' प्रत्यय केला असता, 'ऋदुशनग्' सू. २७६ या सूत्राने ऋकाराचे जागी 'अनङ्' आदेश होऊन व 'सर्वनाम-स्थाने चासम्बुद्धी' सू. २५० या सूत्राने उपधा दीर्घ होऊन 'कर्तान्' अशी स्थिति होते. येथे 'सु' प्रत्यय हलन्त अङ्गाहून झाला नसून अजन्त अङ्गाहून झाला असल्यामुळे, विहितविशेषणपक्ष मानल्यास, त्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊ शकत नाही. परंतु 'हलन्तात्' ही परपञ्चमी मानल्याने व 'सु' प्रत्यय 'कर्तान्' या हलन्त अङ्गापुढे असल्यामुळे, त्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊन व 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सू. २३६ या सूत्राने अन्त्य नकाराचा लोप होऊन 'कर्ता' असे इष्ट रूप सिद्ध होते. साराश सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होण्याकरिता 'हल्ङ्याबन्धः' ही विहित-पञ्चमी न मानता परपञ्चमीच मानणे आवश्यक आहे (असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) प्रकृत सूत्रात 'सु ति'सि अपृक्त हल्' असे जे म्हटले आहे ते असे मानून म्हटले आहे की, 'सु ति सि' या एकदेशविकृत शब्दांनी 'स् त् स्' या अपृक्त हलाचे ('एक-देशविकृतमनन्यवत्'-परि ३७-या परिभाषान्वये) ग्रहण होते. ('सु' प्रत्ययातील उकार उच्चारणार्थ आहे आणि म्हणून 'सु = स्' हा अपृक्त हल् आहे हे अगदी उघड आहे. पण 'ति, सि' हे समुदाय अपृक्त हल् नाहीत 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्राने जेव्हा त्या दोन प्रत्ययातील इकाराचा लोप होऊन त्याचे 'त्, स्' असे रूप होते तेव्हाच ते अपृक्त हल् होतात आणि तशाच स्थितीत त्यांना प्रकृत सूत्र लागू पडते.) 'लोपो व्योर्बलि' या पूर्वं सूत्रातून प्रकृत सूत्रात 'लोप.' या पदाची अनुवृत्ति होते. पण तो शब्द त्या पूर्वं सूत्रात ('लुप्' या घातून 'मावे' सू. ३१८४ या

सूत्राने) 'भावे' या अर्थामध्ये म्हणजे क्रियार्थक 'घञ्' प्रत्यय होऊन सिद्ध झाला आहे. म्हणून प्रकृत सूत्रांतील द्वितीय 'हल्' या प्रथमान्त शब्दाशी सामानाधिकरण्य होण्याकरितां 'लोपः' हा शब्द ('अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' सू. ३१८६ या सूत्रान्वये) कर्मणि घञ्प्रत्ययान्त मानून त्याचें कीमुद्धीत 'लुप्यते' असें व्याख्यान केलें आहे. (प्रकृत सूत्रांतील 'हल्' हें शेवटचें पद लुप्तवृत्तीक मानलें असतें तरच, 'हलः लोपः स्यात्' असा अन्वय करतां आला असता. पण तें पद वास्तविक प्रथमान्त असल्यामुळें व त्या प्रथमान्त पदाचें 'लोपः' या पदाशीं सामानाधिकरण्य होत नसल्यामुळें, 'लोपः' हें अनुवृत्त पद 'लुप्यते' इति लोपः' असें कर्मणि घञ्प्रत्ययान्त मानून व त्या पदाचा 'लुप्यते' असा अर्थ करून 'हल् लुप्यते' असें कीमुद्धीत व्याख्यान केलें आहे.) प्रकृत सूत्रांत 'दीर्घात्' या पदाचें ग्रहण अशाकरितां केलें आहे कीं, 'अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिः' या उदाहरणांत 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊं नये. ('खट्वामति-क्रान्तः अतिखट्वः' या स्थलीं 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' या वार्तिकानें द्वितीयातत्पुरुष झाला आहे व 'निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः' या स्थलीं 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' या वार्तिकानें पञ्चमीतत्पुरुष झाला आहे. या दोन्ही उदाहरणांत 'खट्वा' हा आवन्त शब्द व 'कौशाम्बी' हा डीवन्त शब्द उपसर्जन-अप्रधान-झाले असल्यामुळें, 'गोस्त्रियोरुपरार्जनस्य' सू. ६५६ या सूत्रानें 'टाप् = आ' व 'डीप् = ई' या स्त्रीप्रत्ययांचा न्त्व झाला आहे. अशा रीतीने 'सु' प्रत्यय दीर्घ 'टाप्' व दीर्घ 'डीप्' यांच्यापुढें येत नमून न्त्वान्त अज्ञापुढें येत असल्यामुळें, त्या 'सु' प्रत्ययान्ता प्रकृत सूत्रानें लोप होत नाही.) आतां येथें धोकाकार अशी शंका करतो कीं, 'अतिखट्वः' व 'निष्कौशाम्बिः' ही सामासिक पदे अनुक्रमें टावन्त व डीवन्त मानतां येऊं शकत नाहीत. हे दोन्ही सामासिक शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त असल्यामुळें त्यांना तदादिनियम न्याम पटत नाही

असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर शकाकार असे उत्तर देतो की, ('स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न'—परि २६—ही परिभाषा असल्यामुळे) जेथे स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द प्रधान असतो तेथेच तदादिनियम लागू पडत नाही. पण वरील दोन्ही उदाहरणात 'खट्वा' व 'कौशाम्बी' हे स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द उपसर्जन झाले असल्यामुळे, येथे तदादिनियम लागू पडतोच (शकाकाराचे असे म्हणणे आहे की, 'अतिखट्व' व 'निष्कौशाम्बि' या स्थली सामासिक शब्दाहून 'टाप्' किंवा 'डोप्' प्रत्यय झाला नसून केवळ 'खट्व' या अदन्त चरमावयवाहून 'अजाद्यतष्टाप्' या सूत्राने 'टाप्' प्रत्यय झाला आहे व तसेच केवळ 'कौशाम्ब' या अणुप्रत्ययान्त शब्दाहून 'टिड्ढाणञ्' मू ४७० या सूत्राने 'डोप्' प्रत्यय झाला आहे व या दोन्ही सामासिक शब्दात अतिक्रान्त होणारा अन्यपदार्थ प्रधान असून 'खट्वा' व 'कौशाम्बी' हे स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द त्या अन्यपदार्थाचे उपसर्जन झाले असल्यामुळे, येथे तदादिनियम लागू पडतो, म्हणजे ज्या 'खट्व' व 'कौशाम्ब' शब्दाहून स्त्रीप्रत्यय झाले आहेत तेवढ्याच तदादितदन्त शब्दाना 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' या परिभाषान्वये स्त्रीप्रत्ययान्त मानता येते व त्याच्या पूर्वी 'अति' व 'निस' हे जे शब्द आहेत त्याच्यासह संपूर्ण सामासिक शब्दसमुदायाना स्त्रीप्रत्ययान्त मानता येत नाही जर वरील दोन उदाहरणात समासाचे चरमावयव स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द प्रधान असते तरच ते दोन संपूर्ण सामासिक शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त मानता आले असते या विषयाचे विस्तृत विवेचन परिभाषेन्दुशेखराच्या मराठी भाषान्तरात पान ९०-९२ मध्ये केले आहे व ते वाचले असता, शकाकाराचे म्हणण उत्तम रीतीने ध्यानात येईल सरास शकाकाराच्या म्हणण्याचा भावार्थ हा आहे की, जेथे समासातील चरमावयव आद्यन्त किंवा डोमन्त शब्द उपसर्जन होतो तेथे 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य' मू ६५६ या सूत्राने तो नित्य न्हस्व होत असल्यामुळे व तसेच ज्या संपूर्ण सामासिक शब्दाहून 'मु' प्रत्यय होतो तो धरील परिभाषान्वये स्त्रीप्रत्ययान्त

मानतां येत नसत्यामुळे, प्रकृत सूत्रांत 'दीर्घात्' हें पद असण्याची कांहींच गरज नाही, व तें पद प्रकृत सूत्रांत नसलें तरी, बरील दोन्ही उदाहरणांत 'सु' लोपाची प्राप्तीच होत नाही. या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं,) बरील दोन उदाहरणांत तदादिनियम लागू पडतो व संपूर्ण सामासिक शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त मानतां येत नाहीत हें जें शंकाकाराचें म्हणणें आहे तें बरोबर आहे. तथापि बरील दोन्ही उदाहरणांत समासांतील उत्तर पद अनुक्रमें आवन्त व डीवन्त असल्यामुळे, 'आप्' व 'डीप्' यांच्या लगेच पुढें 'सु' प्रत्यय आहे हें म्हणणें कोणत्याहि रीतीने वाधित होत नाही. 'ड्यावन्तात्' ही (परपञ्चमी असून) विहित-पञ्चमी नाही हे आम्हीं पूर्वी सांगितलेंच आहे. ('अति खट्वा अम् सु, निस् कीशाम्बी डसि सु' या दोन्ही स्थलीं 'सुपो धातुप्राति-पदिकयोः' सू. ६५० या सूत्रानें 'अम्' व 'डसि' या अन्तर्घटित-विभक्तिप्रत्ययांचा लुक् होऊन 'अति खट्वा सु, निस् कीशाम्बी सु' अशी स्थिति झाल्यावर 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य' या सूत्रानें हे दोन्ही शब्द न्हस्व झाले असतां जरी त्यांचें ड्यावन्तत्वं नष्ट होत नाही तरी, ते न्हस्व झाल्यानें त्यांचें दीर्घत्व नष्ट होत असून त्यांच्या पुढें 'सु' प्रत्यय येत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्रांत 'दीर्घात्' हें पद नसल्यास, 'गु' प्रत्ययाचा लोप हीण्याची जी आपत्ति येते ती टळते व अशा रीतीनें प्रकृत सूत्रांतील 'दीर्घात्' या पदाचें ग्रहण चरितार्थ ठरतें.) असें आहे म्हणूनच 'बहुश्रेयसी' या स्थलीं 'गु' प्रत्ययाचा लोप होतो. ('बहुव्यः श्रेयस्यः यस्य तः बहुश्रेयसी' या अन्य पदार्थ-प्रधानबहुव्रीहिप्रामांतील 'श्रेयसी' हें डीप्प्रत्ययान्त उत्तर पद उपनर्जन आहे. 'प्रशस्य' या शब्दाहून 'द्विवचनविभज्योपपदे' सू. २००५ या सूत्रानें 'ईयन् = ईयन्' प्रत्यय आला असतां, 'प्रशस्यस्य श्रः' सू. २००९ या सूत्रानें 'प्रशस्य' या शब्दाचे जागी 'श्र' असा आदेश होऊन 'श्र ईयन्' असा स्थितीत 'आद्गुणः' सू. ६९ या सूत्रानें गुणस्य एकादेश होऊन 'श्रेयन्' अगें जें रूप

होते त्याहून 'उगितश्च' सू. ४५५ या सूत्रानें 'डोप्' प्रत्यय होऊन 'श्रेयसी' असे डोप् प्रत्ययान्त रूप होते. 'बहुश्रेयसी' या बहुव्रीहिसमासात जरी 'श्रेयसी' हा डोप् प्रत्ययान्त शब्द अन्यपदावधि उपसर्जन झाला असल्यामुळे 'गोस्त्रयोरूपसर्जनस्य' या सूत्रानें त्याला न्हस्वाची प्राप्ति होते तरी, 'इयसो बहुव्रीहेर्न'—सू. ८९४ वरील वार्तिक—हे निषेधक वार्तिक असल्यामुळे, त्याला न्हस्वकार्य होत नाही. 'बहुश्रेयसी सु' या स्थली जरी समासातील चरमावयव 'श्रेयसी' हा शब्द उपसर्जन झाला असल्यामुळे 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' या परिभाषान्वये 'बहुश्रेयसी' हा संपूर्ण सामासिक शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त ठरत नाही व जो 'सु' प्रत्यय झाला आहे तो जरी 'श्रेयसी' या डोबन्त शब्दाहून झाला नसून 'बहुश्रेयसी' या संपूर्ण सामासिक शब्दाहून झाला आहे तरी, तो 'सु' प्रत्यय डोप् प्रत्ययान्त 'श्रेयसी' शब्दाच्या लगेच पुढें असल्यामुळे व येथें 'डोप्' प्रत्यय न्हस्व झाला नसून त्याचे दीर्घत्व कामम असल्यामुळे व अशा रीतीने दीर्घ डोबन्त शब्दापुढें 'सु' प्रत्यय येत असल्यामुळे, प्रवृत्त सूत्रानें त्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप होतो, व अशा रीतीने प्रवृत्त सूत्रातील 'दीर्घात्' या पदाचे ग्रहण चरितार्थ व आवश्यक ठरले. 'हलङ्याभ्य' ही परपञ्चमी न मानता विहितपञ्चमी मानली असती तर, वरील उदाहरणात 'श्रेयसी' शब्दाहून 'सु' प्रत्यय झाला नसून संपूर्ण सामासिक शब्दाहून तो प्रत्यय झाला असल्यामुळे, त्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप न होण्याची आपत्ति आली असती व 'बहुश्रेयसी.' असे अनिष्ट रूप झाले असते)

शब्दरत्न—चेतोति । "तस्मादित्युत्तरस्य" इति जाग्रति विहितविशेषणात्सम्भवश्चशब्दायः । एवदेशविहितन्यायेनेति स्वानि-
वस्वस्योपलक्षणनिबद्धम् । अर्द्धापिक्विविशारेण प्रत्यभिज्ञाभावाच्चिद्विप्र-
बुद्धवद्दृष्टान्तमूलकन्यायस्याप्राप्यतेरिति बोध्यम् । प्रथमान्येनेति ।
यद्यपि "तस्मादित्युत्तरस्य" इत्युक्तेः पठ्यन्ततापि सम्भवति
तथानपि बहुषु पदेषु विभक्तिविपरिणामवत्पनापेक्षयाऽन्यत्र-

लोपशब्दे एवार्थान्तरकल्पनमुचितमिति भावः । ननु सुतिसीति प्रत्ययैः 'यस्मात्स विहितस्तदादेः' इत्युपस्थित्या तस्य हल्ङ्याबन्ध इति विशेषणमिति हल्ङ्याबन्तात्तदादेः परस्येत्यर्थेन प्रकृत्याक्षेपादुप-सर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमसत्त्वात् च प्रकृतेङ्यबन्तत्वाभावेन नात्र दोष इत्यत आह-अत एवेति । एतत्सिध्यर्थं "येन द्विवि" इति परिभाषया शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तविधौ ततः प्रत्ययग्रहणपरिभाषयोक्तं विशेष्यमादाय पुनस्तदन्तविधौ "टिड्ढाणञ्" इति सूत्रेऽणन्तान्तादितिबद् ङ्याबन्तान्तादित्यर्थ-स्यावश्यकत्वेनात्र दोषः । मालेत्यादी तु व्यपदेशिवद्भावेन सिद्धिरिति भावः । श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठ इत्यादी तद्धितलुकि, स्त्रीप्रत्ययलुकि च प्रत्ययलक्षणेन, टावन्तत्वादतिव्याप्ति-धारणार्थं दीर्घग्रहणमित्यपि बोध्यम् ।

'तस्मादित्युरस्य' सू. ४१ हें सूत्र जागृत, म्हणजे विद्यमान, असतां, प्रकृत सूत्रांतील 'हल्ङ्याबन्धः' हें पद विहितविशेषण मानणें असंभवनीय आहे, म्हणजे हें पद विहितविशेषण मानतां येऊं शकत नाहीं, असा 'अव्याप्तेर्येति भावः' या मनोरमेच्या पंचतींतील 'च' या पदाचा अर्थ आहे. ('तस्मादित्युत्तरस्य' हें सूत्र साक्षात् पठित असल्यामुळे, त्या सूत्रान्वये प्रकृत सूत्रांतील 'हल्ङ्याबन्धः' या पञ्चम्यन्त पदाचा 'हल्ङ्याबन्धः परस्य' असाच अर्थ करणें योग्य असून त्या सूत्रा-धिगद 'हल्ङ्याबन्धः विहितस्य' असा अर्थ करणें योग्य नाहीं.) 'एकदेशविकृतन्यायेन बोध्यम्' या मनोरमेच्या पंचतींतील 'एकदेश-विकृतन्यायेन' हें पद स्थानिवद्भावात् उपलक्षण आहे; कारण येथें अस्मात्पुन अधिक विकार आला असल्यामुळे, विकृत रूप हें मूल रूपच आहे अशी ओळख पटू शकत नाहीं व त्यामुळे 'टिड्ढे पुनरे व द्या च्येव न चाद्यो न च गर्जनः' या लौकिक न्यायान्वयें मित्र होणारी 'एकदेशविकृतमनन्ययन्'-परि. ३७-ही परिभाषा येथें लागू पडत नाही. ('गु' प्रत्ययांतील उकार उच्चारणार्थ

आहे हे पूर्वी सांगितलेच आहे त्यामुळे प्रकृत सूत्रातील 'सु' या शब्दाने 'सु=स्' या अपृक्त हल् प्रत्ययाचे ग्रहण होते हे एकदम लक्षात येऊ शकते पण या सूत्रात 'ति, सि' या ज्या शब्दाचे ग्रहण केले आहे त्याच्या सबधाने असे म्हणता येऊ शकत नाही 'ति, सि' या प्रत्ययातील इकाराचा 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्राने लोप होऊन 'त्, स्' असे जे विकृत रूप होतें त्या रूपात एक माना नाहीशी होऊन अर्धभाषाच अवशिष्ट राहते व जेथे अर्धे किंवा अपूर्णाने अधिक शब्दस्वरूप बदलून गेले आहे तशा ठिकाणी 'एकदेशविकृतमन्यवत्' ही परिभाषा लागत नसून 'स्थानिवदादेश' हे सूत्र लागू पडत असे परिभाषेन्दुशेखरात सांगितले असल्यामुळे, -पहा परिभाषे-न्दुशेखराचे मराठी भाषान्तर पान १३३-मनोरमेंतील 'एकदेश-विकृतन्यायेन' या पदाचा 'स्थानिवद्भावेन' असा अर्थ करणे योग्य आहे असे शब्दरत्नकार म्हणतात 'ति, सि' हे अनेकाल् स्थानी असल्यामुळे, येथे 'अनल्लिघौ' हा प्रतिषेध लागू पडत नाही व 'ति, सि' यातील अन्त्य इकाराचा लोप होऊन त्याचे 'त्, स्' असे जे विकृत रूप होते ते स्थानिवद्भावेन 'ति, सि' च आहे असे मानता येते) 'हलिति प्रथमान्तेन सामानाधिकरण्यात्' असे जे मनोरमेंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, जरी 'तस्मादित्युत्तरस्य' असे सूत्र असल्यामुळे (या सूत्रातील 'उत्तरस्य' या पठ्यन्त पदाच्या आधारे 'सु ति सि अपृक्त हल्' या पदाचा 'सुतिसीनामपृक्तस्य हल' असा पठ्ठीविभक्तीत विपरिणाम करून) पठ्यन्त अर्थ करता येऊ शकतो (व तशा अर्थ नेल्याने, प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त असलेल्या 'लोप' या पदाशी त्या पदाचा अन्वय होऊ शकतो) तरी, अनेक पदांच्या विभक्ति बदलण्यापेक्षा, म्हणजे 'मुतिसीनामपृक्तस्य हल लोपः स्यात्' असे विभक्तिविपरिणाम करून वाक्य तयार करण्यापेक्षा, प्रकृत सूत्रातील पदे जशीची तशीच कायम ठेवून, 'लोप' या प्रकृत सूत्रात अनुवृत्त होणाऱ्या आगतुक

पदाचें 'लुप्यते' असें अर्थान्तर करणें योग्य आहे. प्रकृत सूत्रांत 'सु, ति, सि' या प्रत्ययांचें ग्रहण केलें असल्यामुळें 'यस्मात्स विहितस्तदादेः' या (प्रत्ययग्रहणपरिभाषेतील) तदादि अंशाची उपस्थिति होऊन व त्या तदादि अंशाचें 'हल्ङ्याब्भ्यः' हें विशेषण होऊन 'हल्ङ्यावन्तात्तदादेः परस्य' असा अर्थ होत असल्यामुळें व अशा रीतीनें ज्या प्रकृतीहून 'सु, ति, सि' हे प्रत्यय झाले आहेत त्या प्रकृतीचा आक्षेप होत असल्यामुळें आणि जेथें स्त्रीप्रत्यय उपसर्जन झाला आहे त्या ठिकाणीं तदादि नियम लागू पडत असल्यामुळें आणि 'अतिखट्वः' व 'निष्कौशाम्बिः' या उदाहरणांत ज्या प्रकृतीहून 'सु' प्रत्यय झाला आहे ती संपूर्ण प्रकृति आवन्त किंवा डीवन्त ठरत नसल्यामुळें, त्या दोन उदाहरणांत ('हल्ङ्याब्भ्यः' ही विहितपञ्चमी मानल्यानें देखील) कांहीं दोष येत नाही, म्हणजे 'सु' प्रत्ययाच्या लोपाची प्राप्तीच होत नाही, अशी कोणी शंका केल्यास, ती शंका मनांत धरून तिचें निवारण करण्याकरितां वीक्षितांनीं मनोरमैत 'अत एव बहुश्रेयसी-त्यत्र सुलोपः' असें म्हटलें आहे. ('अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिः' या दोन्ही उदाहरणांत जो 'सु' प्रत्यय झाला आहे तो संपूर्ण सामासिक शब्दांहून झाला असून 'खट्वा' किंवा 'कौशाम्बी' या ड्वावन्त शब्दांहून झाला नसल्यामुळें, 'हल्ङ्याब्भ्यः' ही विहितपञ्चमी मानली तरी, त्या 'सु' प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्रान्वयें लोप पावतच नाही व तीं रूपें सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही हें जरी खरें आहे तरी, 'हल्ङ्याब्भ्यः' ही विहितपञ्चमी मानल्यानें, 'बहुश्रेयसी' हें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकत नाही; कारण या उदाहरणांत देखील 'श्रेयसी' या डीवन्त शब्दाहून 'सु' प्रत्यय झाला नसून 'बहुश्रेयसी' या संपूर्ण सामासिक शब्दाहून तो प्रत्यय झाला आहे व या सामासिक अङ्गांतील 'श्रेयसी' हा डीप् प्रत्ययान्त चरमावयव उपसर्जन झाला असल्यामुळें, 'बहुश्रेयसी' हा संपूर्ण सामासिक शब्द डीप्प्रत्ययान्त अङ्ग मानतां येत नाही व त्यामुळें

‘सु’ लोप न होण्याची आपत्ति येते. परंतु ‘हल्ङ्याभ्य.’ ही विहितपञ्चमी न मानता परपञ्चमी मानल्याने ती आपत्ति टळते, कारण येथे ‘श्रेयसी’ या दीर्घ डीवन्त शब्दाच्या लगेच पुढे ‘सु’ प्रत्यय आला असल्यामुळे, त्या प्रत्ययाचा प्रवृत्त सूत्राने लोप होऊन ‘बहुश्रेयसी’ असे इष्ट रूप सिद्ध होते) ज्याप्रमाणे ‘टिड्ढाणञ्’ सू. ४७० या सूत्रातील ‘अण्’ इत्यादि प्रत्ययाचा ‘अणन्तात्’ अशा प्रकारे (प्रत्ययग्रहणपरिभाषान्वये) अर्थ केला जातो त्याचप्रमाणे, ‘बहुश्रेयसी’ हे रूप सिद्ध करण्याकरिता, प्रकृत सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या ‘डोप्, आप्’ या प्रत्ययांचा प्रत्ययग्रहणपरिभाषान्वये ‘इयन्त, आवन्त’ असा अर्थ करून व नंतर ‘येन विधिस्तदन्तस्य’ सू. २६ या सूत्रान्वये ‘इयन्त, आवन्त’ हे शब्द शब्दस्वरूपाचे विशेषण मानून, इयन्त, आवन्त शब्द ज्या शब्दस्वरूपाच्या अन्ती आहेत अशा शब्दस्वरूपाच्या लगेच पुढे असणाऱ्या ‘सु’ प्रत्ययाचा लोप होतो असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ करणे आवश्यक आहे व तसा अर्थ केल्याने, ‘अतिखट्व, निष्क्रीशाम्बि’ या उदाहरणात दोष येतो, म्हणजे ‘सु’ लोप होण्याची आपत्ति येते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे. (‘अन प्रत्ययग्रहणपरिभाषयोक्त विशेष्यमादाय तदन्तविधौ, पुनर्येन विधि इति परिभाषया शब्दस्वरूपविशेष्यमादाय तदन्तविधिरिति योजना बोध्या । क्वचित्त्वेवमेव पाठ ।’ असे प्रकृत पक्तीसंबधाने भैरवीत म्हटले आहे व प्रकृत पक्तीचा अक्षरार्थ न करिता भैरवीला अनुसरून या पक्तीचा वरप्रमाणे अर्थ केला आहे प्रकृत सूत्राचा वर असा अर्थ केला आहे तसा अर्थ केल्याने, ‘बहुश्रेयसी’ या शब्दस्वरूपात ‘श्रेयसी’ हा दीर्घ डीवन्त शब्द अन्ती असून त्यापुढे ‘सु’ प्रत्यय असल्यामुळे, त्या प्रत्ययाचा लोप होना व ‘बहुश्रेयसी’ असे इष्ट रूप सिद्ध होते पण त्या अर्थान्वये ‘अतिखट्व, निष्क्रीशाम्बि’ या स्थली दोष येतो, कारण या दोन्ही शब्दस्वरूपात आवन्त व डीवन्त शब्द अन्ती असून त्याच्या पुढे ‘सु’ प्रत्यय आला असल्यामुळे, त्या प्रत्ययाचा लोप होण्याची आपत्ति

येते. तथापि प्रकृत सूत्रांत 'दीर्घात्' या पदाचें ग्रहण केलें असल्या-
मुळें व वरील दोन्ही उदाहरणांत आवन्त डीवन्त शब्द उपसर्जन
झाल्याकारणानें 'गोस्त्रियोः' सू. ६५६ या सूत्रानें ऱ्हस्व झालें
असल्यामुळें, ती आपत्ति टळते असा 'अत एव बहुश्रेयसीत्यत्र
सुलोपः' असें जें दीक्षितांनीं मनोरमेत म्हटलें आहे त्याचा आशय
आहे असें शब्दरत्नकार म्हणतात. 'अतिखट्वः, निष्कौशाम्बिः' या
दोन्ही सामासिक शब्दांत-आवन्त व डीवन्त शब्द अनुक्रमें समासाचे
चरमावयव आहेत असें जें वर म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं,
दीर्घ आवन्त व डीवन्त शब्दांचे जागीं 'गोस्त्रियोः' या सूत्रानें
ऱ्हस्वकार्य झालें असल्यामुळें ते ऱ्हस्व झालेले शब्द दीर्घ शब्दच आहेत
असें 'स्थानिवदादेशः' सू. ४९ या सूत्रानें स्थानिवद्भावाणें मानतां
येतें. येथें 'अनल्विधौ' हा प्रतिषेध आड येत नाही; कारण दीर्घ
'आ, ई' यांचे जागीं झालेले ऱ्हस्व 'अ, इ' हे वर्ण दीर्घच आहेत
असें स्थानिवद्भावाणें मानणें नसून, दीर्घान्त 'खट्वा, कौशम्बी'
यांचे जागीं झालेले ऱ्हस्वान्त 'खट्व, कौशाम्बि' हे शब्द दीर्घान्तच
आहेत असें स्थानिवद्भावाणें मानणें आहे व तसें मानणें अल्विधि ठरत
नसून अनल्विधि ठरतो हें उघड आहे. 'स्थानिवदादेशः' १-१-५६
या सूत्रावरील भाष्यांत 'इयाव्यग्रहणेऽदीर्घः' हें वार्तिक पठित करून
त्या वार्तिकाचें व्याख्यान करितांना भाष्यकारांनीं 'इयाव्यग्रहणेऽदीर्घ
आदेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? । निष्कौशाम्बिः
अतिखट्वः । इयाव्यग्रहणेन ग्रहणात्सुलोपो मा भूदिति ।' असें म्हंटलें
आहे. या भाष्याचा अर्थ हा आहे कीं, 'डी' आणि 'आप्' यांचें
सूत्रांत ग्रहण करून त्यांना रागितलेलें कार्य कर्तव्य असतां, त्यांचे
जागीं झालेला ऱ्हस्व आदेश याला स्थानिवद्भाव होत नाही असें वचन
पठित करणें आवश्यक आहे व तसें वचन पठित करण्याचें प्रयोजन
हें कीं, 'निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः' या उदाहरणामध्यें 'डी, आप्'
यांचें जागीं 'गोस्त्रियोः' या सूत्रानें झालेला ऱ्हस्व आदेश स्थानि-
वद्भावाणें दीर्घ 'डी' व 'आप्' च आहे असें मानलें असतां,

‘हल्ङ्याभ्य’ या सूत्राने जी ‘सु’ प्रत्ययाचा लोप होण्याची आपत्ति येते ती टळावी या भाष्यावरून हे स्पष्ट होते की, परोल दोन्ही उदाहरणात दीर्घाचे जागी झालेला न्हस्व आदेश दीर्घच आहे असे स्थानिवद्भावाने मानता येते या भाष्यातील ‘अतिसट्व’ हे प्रतीक घेऊन उद्योतकारानी ‘न चात्र न्हस्व आवास्स्येति तद्गतमात्वमल्विधिरिति वाच्यम् । गोस्त्रयोरित्यस्य स्त्रीप्रत्यया-
तान्तप्रातिपदिकान्त्यस्य ‘न्हस्व इत्यर्थ’ असे म्हटले आहे, व यावरून हा अल्विधि होत नाही हे स्पष्ट होते) वर सांगितल्या-
प्रमाणे प्रकृत सूत्राचा अर्थ केल्याने, ‘माला’ इत्यादि स्थली व्यपदेशिवद्भावाने ‘सु’ लोपाची सिद्धि होते (‘माला’ या शब्दा-
पूर्वी दुमरा कोणताहि शब्द नसल्यामुळे, ‘माला’ हे असे शब्दस्वरूप ठरत नाही की, ज्याच्या अन्ती ‘माला’ हा आवन्त शब्द आहे तरी पण ‘व्यपदेशिवदेकस्मिन्’—परि ३०—या परिभाषान्वये ‘माला’ हे मालान्त शब्दस्वरूप आहे असे व्यपदेशिवद्भावाने मानता येते आणि त्यामुळे प्रकृत सूत्राचा तदन्तविधीने जसा अर्थ वर केला आहे त्या अर्थान्वये देखील ‘माला’ या शब्दापुढील ‘सु’ प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्राने लोप होण्यात काही अडचण येत नाही)
‘श्रविष्ठासु जात श्रविष्ठ’ इत्यादि स्थली तद्धित प्रत्ययाचा व स्त्रीप्रत्ययाचा लुक् झाला असता, ‘श्रविष्ठ’ इत्यादि शब्द प्रत्यय-
लक्षणाने, म्हणजे स्थानिवद्भावाने, टावन्त आहेत असे मानल्याने जी अतिव्याप्तिरूप दोष येतो, म्हणजे ‘सु’ प्रत्ययाचा लोप होण्याची आपत्ति येते, त्या दोषाचे निवारण होण्याकरिता प्रकृत सूत्रात ‘दीर्घात्’ या पदाचे ग्रहण केले आहे हे देखील जाणावे
(‘श्रविष्ठासु जात श्रविष्ठ’ या उदाहरणात ‘सन्धिवेलाद्यतु’ सू १३८७ या सूत्राने ‘तत्र जात’ या अर्थामध्ये जी ‘अण्’ प्रत्यय होतो त्याचा ‘श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्थाति’ सू १४०७ या सूत्राने लुक् झाल्यावर ‘लुक् तद्धितलुकि’ सू १४०८ या सूत्राने उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययाचा देखील लुक् होऊन ‘श्रविष्ठ’ असे रूप होते या

‘श्रविष्ठ’ शब्दाहून ‘सु’ प्रत्यय केला असतां, ज्या ‘टाप्’ प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो ‘टाप्’ प्रत्यय ‘प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्’ सू. २६२ या सूत्रान्वये प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असें मानल्यास, त्यापुढील ‘सु’ प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्राने लोप होण्याची आपत्ति येते. परंतु प्रकृत सूत्रांत ‘दीर्घात्’ या पदाचे ग्रहण केलें असल्यामुळे व दीर्घां आवन्त ‘श्रविष्ठा’ हा शब्द ‘श्रविष्ठ’ असा न्हस्व अदन्त झाला असल्यामुळे, ती आपत्ति टळते व ‘श्रविष्ठः’ असें इष्ट रूप सिद्ध होतें आणि अशा रीतीनें देखील प्रकृत सूत्रांतील ‘दीर्घात्’ या पदाचें ग्रहण चरितार्थ ठरतें असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

मनोरमा-स्यादेतत् । गङ्गीयतेः विवप् । गङ्गीः । इहेकारस्य स्थानीवद्भावेनाप्लादीर्घत्वाच्चातिव्याप्तिरिति चेत् । सत्यम् । डी ई, आ आप्, इति प्रश्लिष्य दीर्घग्रहणस्य प्रत्याख्यानान्न कश्चिद्दोषः । सुतिसीति किम् । भेत्ता तासेस्तकारस्य लोपो मा भूत् । न चैवमपि अभेत्सीत् इत्यादी सिचो लोपापत्तिः । सुतिभ्यां साहचर्येण विभक्तेरेव ग्रहणात् । अपृक्तं किम् । भिनत्ति छिनत्तीति प्रत्युदाहरन्ति । तच्चिन्त्यम् । विशिष्टस्याहलत्वात् । सुतिसीनां हलिति विलिष्टं व्याख्यायतिप्रसङ्गापादनस्यानुचितत्वात् । यदप्याहुः-सुरां सुनोतीति सुरासुत तमाचष्टे सुरासयति ततः विवप् सुराः सुरासौ सुरासः । इह सुनोतेरवयवस्य सत्य लोपं व्यावर्तयितुं अपृक्तग्रहणमिति । तदपि न । परस्परसाहचर्येण सुतिसीनां विभक्तिनामेव ग्रहणात् । अन्यथा सिचो लोपापत्तेरुक्तत्वात् । प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणाच्च । हल् किम् । विभेद ।

‘गङ्गीय’ या वयजन्त नामधातूहून विवप् प्रत्यय केल्यावर ‘गङ्गी’ असें जें रूप होतें त्यांतील ईकार हा स्थानिवद्भावानें ‘आप्’च आहे असें मानलें असतां, तो दीर्घ देखील असल्यामुळे, येथें अतिव्याप्तिरूप दोष येतो, म्हणजे ‘गङ्गी’ शब्दाहून ‘सु’ प्रत्यय

केला असता त्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप होण्याची आपत्ति येते व 'गङ्गीः' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकत नाही, अशी कोणी शका केल्यास, ती शका यथार्थ आहे. पण प्रकृत सूत्रातील 'ङ्याप्' या पदात 'डो ई, आ आप्' असा प्रश्लेष करून 'दीर्घात्' या पदाचे प्रत्याख्यान केल्याने काही दोष येत नाही. ('गङ्गामिवाचरति गङ्गीयति' या स्थली 'उपमानादाचारे' सू. २६६४ या सूत्राने 'गङ्गा' शब्दाहून 'व्यच् = य' प्रत्यय करून व 'व्यचि च' सू. २६५८ या सूत्राने 'गङ्गा' यातील आकाराचा ईकार करून 'गङ्गीय' असा जो वगजन्त शब्द होतो त्याला 'सनाद्यन्ता घातव.' सू. २३०४ या सूत्राने घातुसज्ञा होते या नामघातूहून 'क्विप् च' सू. २९८३ या सूत्राने क्विप् प्रत्यय केला असता, 'अतो लोपः' सू. २३०८ या सूत्राने 'य' यातील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन व 'लोपो व्योर्बलि' सू. ८७३ या सूत्राने अवशिष्ट यकाराचा लोप होऊन आणि 'वेरपृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने 'क्विप् = व्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप होऊन 'गङ्गी' असे कृदन्त प्रातिपदिक होते. या प्रातिपदिकाहून 'सु' प्रत्यय केल्यास, शकाकार असे म्हणतो की, 'आप्'चे जागी झालेला ईकार स्थानिवद्भावाने 'आप्'च आहे असे मानता येत असल्यामुळे व तो दीर्घहि असल्यामुळे, म्हणजे 'गङ्गी' हा दीर्घ ईदन्त शब्द 'गङ्गा' असा दीर्घ आवन्त शब्द आहे असे स्थानिवद्भावाने मानता येत असल्यामुळे व असा स्थानिवद्भाव करणे हा अल्विधि ठरत नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्राने 'सु' प्रत्ययाचा लोप होण्याची व 'गङ्गी.' असे इष्ट रूप सिद्ध न होता 'गङ्गी' असे प्रथमेच्या एकवचनाचे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते या शकेवर दीक्षित असे उत्तर देतात की, ही शका योग्य आहे व शकाकाराने दाखविलेली आपत्ति टाळण्याकरिता प्रकृत सूत्रातील 'ङ्याप्' या पदात 'डो ई, आ आप्' असा प्रश्लेष करावा आणि असा प्रश्लेष केल्याने सूत्रार्थ असा होतो की, जेथे 'आप्' आकाररूपाने विद्यमान असतो व 'डोप्' 'ई' या

रूपानें विद्यमान असतो तशाच स्थलीं त्या 'आप्' व 'ङीप्' पुढील 'सु' प्रत्ययाचा लोप होतो. असें मानलें असतां, प्रकृत सूत्रांत 'दीर्घात्' या पदाचें ग्रहण करण्याची कांहींच गरज राहत नाही. 'गङ्गी सु' या वरील उदाहरणांत 'गङ्गा' यांतील 'आप्' आकार-रूपानें विद्यमान नसून त्याचें 'ई' असें रूपान्तर झालें असल्यामुळें व अशा रीतीनें 'सु' प्रत्यय 'आरूप आप्' च्या पुढें येत नसल्यामुळें, वरील अर्थान्वयें त्याचा लोप होत नाही व 'गङ्गीः' असें-इष्ट रूप सिद्ध होतें. 'स्थानिवदादेशः' या सूत्रावरील भाष्यांत 'ङ्याव्यग्रहणेऽदीर्घः' हें वार्तिक पठित करून भाष्यकार म्हणतात— 'ङ्याव्यग्रहणेऽदीर्घ आदेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? । निष्कौशाम्बिः अतिस्त्वः । ङ्याव्यग्रहणेन ग्रहणात्सु-लोपो मा भूदिति । ननु च दीर्घादित्युच्यते । तन्न वक्तव्यं भवति । किं पुनरत्र ज्यायः । स्थानिवत्प्रतिषेध एव ज्यायान् तत्तर्हि वक्तव्यम् ? । न वक्तव्यम् । प्रश्लिष्टनिर्देशात्सिद्धम् । प्रश्लिष्ट-निर्देशोऽयम् । ङी ई ईकारान्तात्, आ आप् आकारान्तादिति ।' या भाष्याच्या वन्याच भागाचा अर्थ पूर्वी सांगितलाच आहे. या भाष्याच्या आधारेच दीक्षितांनीं मनोरमेतील प्रकृत पंक्ति लिहिली आहे. 'गङ्गी सु' या स्थलीं पञ्चमीसमासपक्ष मानल्यास, 'गङ्गीय' यांतील ज्या अन्त्य अकाराचा 'अतो लोपः' या सूत्रानें लोप झाला आहे त्या पुढील 'सु' प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्रानें लोप कर्तव्य असतां, 'अचः परस्मिन्' सू. ५० या सूत्रानें अकारलोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव मानतां येतो व तसें मानलें असतां स्थानिवद्भावानें आवन्त ठरणारें अङ्ग व 'सु' प्रत्यय या दोहोंमध्ये अकाराचें व्यवधान आहे असें मानतां येत असल्यामुळें 'सु' लोप होण्याची आपत्ति टळते असें कोणी म्हटल्यास, त्याला उत्तर हें आहे कीं, पञ्चमी-समासपक्ष अनित्य असल्यामुळें त्याचा स्वीकार न केल्यानें, वरील आपत्ति कायम राहतेच. म्हणून त्या आपत्तीचें निवारण करण्या-करितां दीक्षितांनीं भाष्यानुसार जो प्रदलेप मुचधिला आहे तो

केल्यानें सर्वं इष्ट रूपांची सिद्धि होते व प्रकृत सूत्रांतून 'दीर्घात्' हे पद देखील गाळतां येते आणि तसे करण्यात लाघव आहे हे उघड आहे.) प्रकृत सूत्रात 'सु ति सि' याचे ग्रहण अशाकरिता केले आहे की, 'भेत्ता' या स्थली 'तास्' या विकरणातील तकाराचा लोप न व्हावा. ('भिद्' धातूचे लुटाचे प्रथमपुरुषाचे एकवचनाचे रूप करिताना 'स्यतासी लृलुटोः' सू. २१८६ या सूत्रानें 'तास्' हे विकरण होऊन 'भिद्ताम् तिप्' अशी स्थिति झाली असता, 'पुगन्तलघूपधस्य च' सू. २१८९ या सूत्रानें 'भिद्' यातील उपधा भूत इकाराचा गुण होऊन व 'लृटः प्रथमस्य ङारोरसः' सू. २१८८ या सूत्रानें 'तिप्' प्रत्ययाचे जागी 'ङा=आ' असा आदेश होऊन आणि 'ङा' हा प्रत्यय द्वित् असल्यामुळे 'अभस्यापि टेलोपो द्विति' या वचनान्वये 'तास्' यातील 'आस्' या टिचा लोप होऊन 'भेद् त् आ' अशी स्थिति होते. येथें 'तास्' या विकरणाचा जो अवशिष्ट तकार तो 'भेद्' या हलन्त अङ्गापुढें आला असून देखील त्याचा प्रकृत सूत्रानें लोप होत नाही; कारण तो 'ति' प्रत्ययाचा तकार नसून 'तास्' या विकरणाचा तकार आहे. प्रकृत सूत्रात 'ति' चे ग्रहण केले नसते तर, त्या तकाराचा लोप होण्याची आपत्ति आली असती) प्रकृत सूत्रात 'सु ति सि' याचे ग्रहण केले असून देखील 'अभैत्सीत्' इत्यादि स्थली 'सिच्=स्' चा लोप होण्याची आपत्ति येते असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणे बरोबर नाही, कारण 'सि' ला 'सु, ति' याचे साहचर्य असल्यामुळे 'सि' नें विभक्ति-प्रत्ययाचेच ग्रहण करता येते. ('भिद्' धातूचे लुटाचे प्रथमपुरुषाचे एकवचनाचे रूप करिताना 'ञ्ले सिच्' सू. २२२२ या सूत्रानें 'ञ्लि' चे जागी 'सिच्=स्' हा आदेश होऊन 'अ भिद् सिच् तिप्' अशी स्थिति झाली असता, 'वदव्रजहलन्तस्याचः' सू. २२६७ या सूत्रानें हलन्तलक्षणा वृद्धि होऊन व 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्रानें 'ति' प्रत्ययातील इकाराचा लोप होऊन व 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' सू. २२२५ या सूत्रानें तकाराला ईडागम होऊन आणि

‘खरि च’ सू. १२१ या सूत्रानें ‘भिद्’ धातूतील दकाराचा तकार होऊन ‘अभैत् स् ईत्’ अशी स्थिति होते. या स्थितींत ‘अभैत्’ या हलन्त अङ्गापुढें सकार येतो. पण तो ‘सि’ या विभक्ति-प्रत्ययाचा सकार नसून ‘सिच्’ या विकरणाचा सकार असल्यामुळे, त्याचा प्रकृत सूत्रानें लोप होत नाही व ‘अभैत्सीत्’ असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. येथें हें लक्षांत ठेवावें कीं, ‘विभक्ति इच’ सू. १८४ या सूत्रान्वयें ‘सुप्’ व ‘तिङ्’ प्रत्यय यांनाच विभक्ति-संज्ञा होत असून ‘तास्, सिच्’ इत्यादि विकरणांना ती संज्ञा होत नाही. प्रकृत सूत्रांतील ‘सि’ नें ‘सिच्’ च्या सकाराचें ग्रहण करतां येत नाही. याचें कारण हें कीं, या सूत्रांत निदिष्ट असलेल्या त्या ‘सि’ ला ‘सु’ व ‘ति’ या विभक्तिप्रत्ययांचें साहचर्य आहे व ‘सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्’ परि. ११२-हा न्याय असल्यामुळे, ‘सि’ नें विभक्तिप्रत्यय नसलेल्या ‘सिच्’ च्या सकाराचें ग्रहण न होतां ‘सि’ या विभक्तिप्रत्ययाच्याच सकाराचें ग्रहण होतें.) प्रकृत सूत्रांत ‘अपूतम्’ हें पद घालण्याचें प्रयोजन सांगतांना प्रकाशकारांनीं ‘भिनत्ति, छिनत्ति’ हीं प्रत्युदाहरणें दिलीं आहेत. पण हीं प्रत्युदाहरणें बरोबर नाहीत; कारण या दोन उदाहरणांत जो इकारसहित तकार, म्हणजे ‘ति’ प्रत्यय, आहे त्याला हल् म्हणतां येत नाही. ‘सु ति सि’ यांच्या हल्चा लोप होतो असें बिलष्ट व्याख्यान करून ‘भिनत्ति, छिनत्ति’ या उदाहरणांत तकारलोपाची आपत्ति दाखविणें (व अशा रीतीनें ‘अपूतम्’ या पदाची चरितार्थता सिद्ध करणें) अयोग्य आहे. (प्रकृत सूत्रांतील ‘सुतिसि’ हें समाहारद्वन्द्वाचें सामासिकं प्रथमान्त पद असून त्याचें ‘अपूतं हल्’ या प्रथमान्त पदांशीं सामानाधिकरण्य आहे. असें अगून देखील ‘सुतिसि’ हें पद पळी मानून ‘सुतिसी-नामपूतं हल्’ असा वैयधिकरण्यानें अन्वय करणें हें ‘सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्यायम्’, या न्यायाच्या विरुद्ध आहे असा दीक्षितारच्या म्हणण्याचा आशय आहे. ‘भिनत्ति, छिनत्ति’ या

उदाहरणात 'भिनत्, छिनत्' या हलन्त अङ्गापुढे 'ति' हा समुदायरूप प्रत्यय अगून केवळ हल् नसल्यामुळे, त्या प्रत्ययातील तकाराचा प्रकृत सूत्राने लोप पावतच नाही आणि म्हणून ती दोन उदाहरणे योग्य प्रत्युदाहरणे ठरत नाहीत असे दीक्षिताचे म्हणणे आहे) प्रकाशकार असेहि म्हणतात की, 'सुरा मुनोतीति सुरामुत् तमाचष्टे सुरासयति' याहून क्विप् प्रत्यय केला असता, 'सुराः सुरासो सुरासः' अशी प्रथमेची रूपे होतात व येथे 'सुरास्' या शब्दा-मध्ये जो अन्त्य सकार 'सु' घातूचा अवयव आहे त्याचा लोप न व्हावा याकरिता देखील प्रकृत सूत्रात 'अपूवतम्' या पदाचे ग्रहण केले आहे. पण हे म्हणणे देखील बरोबर नाही; कारण 'सु ति सि' याच्या परस्परसाहचर्यामुळे, 'सु ति ति' या शब्दांनी त्या विभक्तिप्रत्ययाचेच ग्रहण होते. तसे न मानल्यास 'सिच् = स्' चा लोप होण्याची आपत्ति येते हे बर सांगितलेच आहे आणखी असे की, 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्'—परि. १११—या परिभाषान्वये 'सु ति सि' या शब्दांनी प्रत्ययाचेच ग्रहण करतो येते ('सुरा मुनोतीति सुरामुत्' या स्थली 'सु' घातूहून क्विप् प्रत्यय केला असता, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सू. २८५८ या सूत्राने 'ह्रस्व 'सु' ला तुगागम झाला आहे. प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च' या गणसूत्रान्वये 'सुरामुत्' या प्रातिपदिकाहून 'तमाचष्टे' या अर्थामध्ये 'णिच्' प्रत्यय केल्यास, इष्टयद्वा-याने टिलोप होऊन 'सुरासि' असे निजन्त रूप होते या निजन्त घातूहून 'क्विप् च' सू. २९८३ या सूत्राने क्विप् प्रत्यय केल्यास, 'नेरनिटि' या सूत्राने 'सुरामि' यातील 'णि=इ' चा लोप होऊन 'वेरपूवतस्य' सू. ३७५ या सूत्राने 'क्विप्=य' या अपूवत प्रत्ययाचा लोप होऊन 'सुराम्' असे कृदन्त प्रातिपदिक होते या हलन्त प्रातिपदिकाहून प्रथमेच्या एवचपनाचा 'सु' प्रत्यय केला अगता, प्रकृत सूत्राने त्या प्रत्ययाचा लोप होऊन 'सुराम' असे जे प्रथमेच्या एवचपनाचे रूप होतें त्यास 'सुरा' या आद्यगापुढे सकार अगत्यामुळे

त्या सकाराचा प्रकृत सूत्रानें लोप कां होऊं नये अशीं शंका उपस्थित करून प्रकाशकार असें उत्तर देतात कीं, 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' सू. २५१ या सूत्रानें एकाल् प्रत्ययाला अपृक्त ही संज्ञा असल्यामुळें आणि 'सुरास्' या स्थलीं जो अन्त्य सकार आहे तो 'सु' धातूचा सकार असून अपृक्त प्रत्यय नसल्यामुळें, प्रकृत सूत्रांतील 'अपृक्तम्' या पदानें त्या सकाराचें ग्रहण होत नाहीं व त्यामुळें त्या सकाराचा लोप होत नाहीं आणि अशा रीतीनें 'अपृक्तम्' या पदाचें ग्रहण चरितार्थ ठरतें. यावर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं, साहचर्यन्याय-परि. ११२-असल्यामुळें, 'सु ति सि' यांच्या परस्परताहचर्यानें विभक्तिप्रत्ययांचेंच ग्रहण होतें आणि त्यामुळें 'सुरास्' यांतील अन्त्य सकार 'सु' धातूचा सकार असून 'सु' या विभक्तिप्रत्ययाचा सकार नसल्यामुळें, प्रकृत सूत्रानें त्याच्या लोपाची प्राप्तीच होत नाहीं. दुसरें असें कीं, प्रकृत सूत्रांत निदिष्ट असलेल्या, 'सु' नें विभक्तिप्रत्ययांतील सकाराचेंच ग्रहण न करतां इतर सकाराचें देखील ग्रहण केलें तर, पूर्वी सांगितल्या-प्रमाणें, 'अभैसीत्' इत्यादि स्थलीं 'सिच् = स्' चा लोप होण्याची व इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. तिसरें असें कीं, सूत्रांत जर एखादा वसा शब्द उच्चारला असेल कीं, जो प्रत्ययाचा व तसेंच प्रत्ययभिन्नाचा वाचक आहे, तर त्या ठिकाणीं त्या शब्दानें प्रत्ययाचेंच ग्रहण करावें व प्रत्ययभिन्नाचें ग्रहण करूं नये या अर्थाची 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्' ही परिभाषा असल्यामुळें, प्रकृत सूत्रांतील 'सु' या शब्दानें प्रत्ययाचेंच ग्रहण करतां येतें व 'सुरास्' यांतील अन्त्य सकार पर सांगितल्या-प्रमाणें प्रत्ययाचा सकार नसल्यामुळें, तो जरी 'सुरा' या भाष्य मर्यादापुटे आहे तरी, त्याचा प्रकृत सूत्रानें लोप पातळत नाहीं. म्हणून 'सुरास्' हे 'अपृक्तम्' या पदाचें योग्य प्रत्ययग्रहण ठरण नाहीं असा दंडिनाच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) प्रकृत सूत्रांत द्वितीय 'इत्' पदाचें ग्रहण वसाकरितां केलें आहे

की, 'विभेद' या उदाहरणातील अन्त्य अकाराचा लोप होण्याची आपत्ति न यावी. ('भिदिर्' या रूपादिगणातील धातूचे लिटाचे परस्मैपदाचे प्रथम पुरुषाच्या एकवचनाचे रूप करिताना 'तिप्' प्रत्ययाचे जागी 'परस्मैपदाना णलतुस्' सू. २१७३ या सूत्राने 'णल् = अ' असा आदेश होऊन व उपधागुण व अभ्यासकार्ये होऊन 'विभेद् अ' अशी स्थिति झाली असता, 'विभेद्' या हलन्त अङ्गापुढे 'णल् = अ' हा 'अपृक्त एकाल् प्रत्यय' सू. २५१ या सूत्रान्वये अपृक्त ठरणारा प्रत्यय येतो. प्रकृत सूत्रात जर द्वितीय 'हल्' पदाचे ग्रहण नसते तर, त्या 'अ' चा लोप होण्याची आपत्ति आली असती. पण तो अपृक्त हल् नसून अच् असल्यामुळे, त्याचा लोप होण्याची आपत्ति टळते व अशा रीतीने प्रकृत सूत्रातील द्वितीय 'हल्' पदाचे ग्रहण चरितार्थ ठरते.)

शब्दरत्न-अतिव्याप्तिरिति । अस्य स्त्री ई देवदत्तस्य ई देवदत्तेरित्यावाचपि सेति बोध्यम् । प्रत्याख्यानादिति । दीर्घग्रहणे-
नोपस्थितत्वादीकाररूपस्यैव दीर्घस्य ग्रहणाच्चेत्यपि बोध्यम् ।
सुरासयतीति । न च "णौ चडि" इति सूत्रस्य भाष्यप्रामाण्येन
इदुपुपधेभ्यो णिज्जास्तोति सिद्धान्तात्कथमत्र णिजिति वाच्यम् ।
तद्भाष्यस्य तेषां लुङि प्रयोगाभावकल्पनेनोपपत्तेः सर्वथा तदभाव-
कल्पनमप्रामाणिकमित्यभिमानात् । ग्रहणाच्चेति । साधनानासिको-
कारपाठाच्चेत्यपि बोध्यम् । एव चापृक्तग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम् ।
यस्तुतो गङ्गीः सुरा इत्यादेरभिधाने दृढ भान चिन्त्यम् ।

मनोरमैत 'गङ्गीयते क्विप् । गङ्गी' असे जे अतिव्याप्तीचे उदाहरण दिले आहे त्याखेरीज 'अस्य स्त्री ई देवदत्तस्य ई देवदत्तेः' इत्यादि उदाहरणात देखील अतिव्याप्तिरूप दोष येतो हे जाणावे. ('अस्य स्त्री ई' या स्थली 'पुयोगादास्यायाम्' सू. ५०४ या सूत्राने, कोणत्या तरी पुरुषाच्या नावाच्या बोधक किंवा विष्णु-
वाचव 'अ' या प्रातिपदिकाला 'डीप्' प्रत्यय होऊन व

‘यस्येति च’ सू. ३११ या सूत्रानें ‘अ’ चा लोप होऊन ‘ई’ असें रूप होतें. ‘देवदत्तस्य ई देवदत्ते’ या स्थलीं ‘आद्गुणः’ या सूत्रानें गुणरूप एकादेश केल्यानें ‘देवदत्ते’ असें जें एदन्त सामासिक प्रातिपदिक होतें त्याहून ‘सु’ प्रत्यय केला असतां, त्या उदाहरणांत गुणरूप एकादेश ‘ए’ हा पूर्वान्तबद्धावानें ‘डी = ई’ च आहे असें मानता येतें तरी, ‘देवदत्ते’ या शब्दस्वरूपाच्या अन्तीं ‘डीप्’ हा ईकाररूपानें कायम राहत नसून त्याचें ‘ए’ असें रूपान्तर होत असल्यामुळे व तो ‘ए’ दीर्घ वर्ण आहे तरी, तो दीर्घ ‘डी = ई’ वर्ण नसल्यामुळे, त्यापुढील ‘सु’ प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्रानें लोप होत नाही व त्या ‘सु’ प्रत्ययाचें स्त्व व विसर्ग होऊन ‘देवदत्तेः’ असें प्रथमेच्या एकवचनाचें इष्ट रूप सिद्ध होतें, आणि अशा प्रकारचीं इष्ट रूपें सिद्ध होणें हें देखील भाष्यांत व मनोरमेंत सुचविलेल्या ‘इयाप्’ यांतील प्रश्लेषाचें फल मानता येतें असें शब्दत्नकार म्हणतात.) ‘दीर्घग्रहणस्य प्रत्याख्यानाद् कश्चिद्दोषः’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्या-खेरीज असें देखील म्हणता येतें कीं, प्रकृत सूत्रांतील ‘इयाप्’ या पदामध्ये जें दीर्घ ‘डी=ई’चें व ‘आप्=आ’ चें ग्रहण केलें आहे त्यामुळे दीर्घ ईकाराची व आकाराची उपस्थिति होत असल्यामुळे, तसा दीर्घ (आकाराचें व) ईकाराचेंच (प्रत्यासत्तिन्यायानें) ग्रहण करता येतें आणि त्यामुळे देखील कांहीं दोष येत नाही हें जाणावें. (मात्रांन ‘इयाप्’ या पदानें ‘डी’ रूप जो ईकार व ‘आप्’ रूप जो आकार यांची प्रथम उपस्थिति होत असल्यामुळे, तसाच दीर्घ ईकार क्रिया आकार ज्या शब्दस्वरूपाच्या अन्तीं आहे व त्या दीर्घ ईकाराचें क्रिया आकाराचें रूपान्तर तालें नाही तसाच शब्दस्वरूपापुढील ‘गु’ प्रत्ययाचा प्रकृत न्यायानें लोप होतो. ‘गतीः’ या शब्दस्वरूपांत आदन्त शब्दस्वरूपाचें ईदन्त शब्दस्वरूपांमध्ये रूपान्तर तालें समुच्चय ‘आ’ हा आप्प्रत्ययानें कायम समुच्चय ईकारप्रत्ययानें रूपान्तर पावला आहे. त्यामुळे ‘गती’ या प्रातिपदिकापुढील ‘गु’ प्रत्ययाचा लोप न होवा त्यानें

रुत्व व विसर्ग होऊन 'गङ्गीः' असे रूप होते. त्याचप्रमाणे 'देवदत्ते' या उदाहरणात जो 'डी=ई' प्रथम उपस्थित आहे तो सामासिक शब्दस्वरूपाच्या अन्ती ईकाररूपाने कायम राहत नसून गुणरूप एका-देशाने त्याचे 'ए' असे रूपान्तर होत असल्यामुळे, त्यापुढील 'सु' प्रत्ययाचा देखील वर सांगितल्याप्रमाणे लोप होऊ शकत नाही.) ज्या शब्दस्वरूपाच्या उपधेत ईकार किंवा उकार आहे त्याहून 'णिच्' प्रत्यय होत नाही असा सिद्धान्त 'णोचङ्युपधाया न्हस्व.' सू ७-४-१ या सूत्रावरील प्रमाणभूत भाष्यावरून निघत असल्यामुळे (व 'सुरामुत्' या शब्दात उपधेमध्ये उकार असल्यामुळे, 'तमाचष्टे' या अर्थामध्ये) 'सुरामुत्' या शब्दाहून 'णिच्' प्रत्यय होऊ शकत नाही अशी कोणी शका केल्यास, ती शका बरोबर नाही; कारण ज्याच्या उपधेत न्हस्व इकार किंवा उकार आहे अशा इदुपध शब्दाहून ('तमाचष्टे' या अर्थामध्ये) णिच् केल्यास तशा णिजन्त धातूचे लुडाचे रूप होत नाही असे मानल्याने त्या भाष्याची उपपत्ति लागू शकत असल्यामुळे, त्या भाष्याच्या आधारें इदुपध शब्दाहून णिच् प्रत्यय मुळीच होत नाही हे मानणे प्रमाणास धरून नाही, म्हणजे तसे मानण्यास काही प्रमाण नाही व तसे मानणे अयोग्य आहे, असे मानून प्रकाशकारांनी 'सुरामुत्' या उदुपध शब्दाहून णिच् प्रत्यय केला आहे. (त्या भाष्यात भाष्यकारांनी 'नास्लोपि' सू २५७२ या सूत्रातील 'अक्' प्रत्याहाराचा निर्देश 'यूद्धेलोपो-बलीयान्' या सिद्धान्ताचा शापक मानला आहे आणि कैयटाचे असे म्हणणे आहे की, इदुपध शब्दाहून णिच् प्रत्यय मुळीच होत नाही असे मानले तरच भाष्यकारांनी दिलेले शापक सुमङ्गत ठरणे आणि म्हणून त्या भाष्यावरील वृत्तीत कैयटाने 'अनभिधानाणिजत्र नास्तीति भाष्यकारस्याभिप्रायः' असे म्हटले आहे. शब्दरत्नकार म्हणतात की, कैयटाचे हे म्हणणे प्रकाशकारांना मान्य नाही व प्रकाशकाराचे मत असे आहे की, इदुपध प्रातिपदिकाहून 'तमाचष्टे' या अर्थामध्ये णिच् प्रत्यय होण्याचे अभिधान नाही असे नमून, तशा

णिजन्त नामधातूचें लुङाचें रूप-होण्याचें वास्तविक अभिधान नाहीं असा भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे आणि त्यांचें असें मत असल्यामुळें, त्यांनीं 'सुरासुत्' या शब्दामध्ये उकार उपधेत असून देखील त्या शब्दाहून णिच् व नंतर विवप् प्रत्यय केला आहे. उद्योतकारांनीं त्या भाष्याच्या वृत्तींत 'लुङ्येवैषामनभिधान-मित्यन्ये' जें असें म्हटलें आहे तें बहुधा प्रकाशकारांच्या मताला अनुलक्षून म्हटलें आहे. सारांश इदुदुपध प्रातिपदिकाहून णिच् प्रत्यय होऊं शकतो; पण तशा णिजन्त नामधातूचा लुङामध्ये प्रयोग होत नाहीं असा प्रकाशकारांच्या मतें भाष्यकारीय सिद्धान्त असल्यामुळें, ते कैयटाचें म्हणणें अप्रमाण मानतात असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. या पंक्तींत 'इत्य-भिमानात्' हीं अरुचिप्रदर्शक पदे धातलीं असल्यामुळें, शब्दरत्न-कारांना प्रकाशकारांचें मत मान्य नसून कैयटाचेंच मत मान्य आहे हें ध्वनित होते आणि त्यांनी 'वस्तुतो...दृढं मानं चिन्त्यम्' या पुढील पंक्तींत आपलें मत व्यक्त केलें आहे.) 'प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्यय-स्यैव ग्रहणाच्च' असें ('सुरास्' या स्वलीं 'सुरा' या आवन्त शब्दापुढील सकाराचा प्रकृत सूत्रानें लोप होत नाहीं माचें) जें मनोरमेत कारण दिलें आहे त्याखेरीज 'सावनुनासिकोकार-पाठान्त', म्हणजे 'नु' या विभक्तिप्रत्ययांत 'उ' हा अनुनासिकरूपानें पठित आहे, हें देखील कारण देतां येतें हें जाणवें. (प्रथमेच्या एकवचनाच्या 'नु' प्रत्ययांत 'उ' हा अनुनासिकरूपानें पठित असल्यामुळें, त्याचा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सू. ३ या सूत्रानें इत्संज्ञा होऊन, 'तस्य लोपः' सू. ६२ या सूत्रानें त्याचा लोप होतो व त्या 'नु' प्रत्ययानेंच प्रकृत सूत्रांत ग्रहण केलें आहे. त्यामुळें तया 'नु' प्रत्ययाने 'नु' धातूतील सकाराचें ग्रहण होऊं शकत नाहीं; कारण 'नु' धातूतील उकार अनुनासिकरूपानें पठित नाहीं व इत्संज्ञक नाही. म्हणून 'नु' धातूतील सकार जो 'सुरास्' या उदाहरणांत 'सुरा' या आवन्त शब्दापूर्वे आला आहे तो 'नु'

प्रत्ययाचा सकार नसल्यामुळे त्याचा प्रकृत सूत्रानें लोप होऊं शकत नाही असे जें मनोरमंत कारण दिले अ॥ हे त्याखेरीज असेहि कारण देता येते की, ज्या 'सु' मधील उकार अनुनासिक व इत्संज्ञक आहे तशा 'सु' चा तो सकार अवयव नसल्यामुळे त्याचा प्रकृत सूत्रानें लोप होऊं शकत नाही असे शब्दरत्नकार म्हणतात.) साराश प्रकृत सूत्रात 'अपृक्तम्' हे जें पद घातले आहे त्याचे प्रयोजन चिन्त्य आहे, म्हणजे ते पद निष्प्रयोजनक व व्यर्थ असून त्याचे प्रत्याख्यान करता येते (कारण 'ति सि' या प्रकृत सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या प्रत्ययाच्या साहचर्यानि 'सु' प्रत्ययाचेच ग्रहण होऊं शकत असल्यामुळे व 'सु' घातल्या सकाराचे वर सांगितलेल्या कारणामुळे ग्रहण होऊं शकत नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्रातून 'अपृक्तम्' हे पद गाळले तरी काही दोष उद्भवत नाही.) वास्तविक 'गङ्गीः, सुराः' इत्यादि प्रयोग भाषेत होतात असे मानण्यास कोणतेहि सबळ प्रमाण नाही (आणि म्हणून तशा रूपांची सिद्धि करण्याची खटपट करणे व्यर्थ आहे.)

मनोरमा— ननु प्रथमहल्ग्रहणं व्यर्थम् । हलन्तात्परेषां संयोगान्तलोपसम्भवात् । अत्राहुः —

संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति ।

रात्तु तेनैव लोपः स्यादलस्तस्माद्विधीयते ॥

तथा हि । सखेत्यत्र नलोपो न स्यात् संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् । स्यादेतत् । संयोगान्तलोपो नासिद्धः । "न द्विसम्बुद्धयोः" इति सूत्रे संबुद्धिग्रहणाज्ज्ञापकात् । न चैवं गोमानित्यादावपि नलोपापत्तिः ज्ञापकस्य विशेषविषयत्वात् । यत्र हि नकारविभक्त्योरानन्तर्यं न स्यात् सिद्धत्वं व्याख्यानात् । यत्स्याहुः—हे ब्रह्मप्रति नपुंसकार्थत्वाद् नंतज्ञापकमिति । तत्र । लुका लुप्ते प्रत्ययलक्षणाभावेन "संबुद्धौ वा नपुंसकानाम्—" इत्यस्यावयवतया च सम्बुद्धिग्रहणस्य नपुंसकविषयत्वासम्भवेनोक्तज्ञापकस्य सुस्पत्त्यात् । तस्मात्प्रलोपो न प्रयोजनमिति चेत् । इह तर्हि अभिनोऽप्रेत्यत्र रोदत्वं न

स्यात् । तदिदमुक्तं नलोपादिरिति । तथा अबिभर्भवान् इत्यत्र तिलोपो न स्यात् । “रात्सस्य” इति नियमात् ॥

येथें अशी शंका करण्यांत येते कीं, प्रकृत सूत्रांत प्रथम ‘हल्’ या पदाचें, म्हणजे ‘हल्ङ्याव्यः’ यांतील ‘हल्’ या पदाचें, जें ग्रहण केलें आहे तें व्यर्थ आहे; कारण हलन्त अङ्गापुढें ‘स्, त्, स्’ हे प्रत्ययरूप हल् आल्यास, ‘संयोगान्तस्य लोपः’ सू. ५४ या सूत्रानें त्यांचा लोप होऊं शकतोच. या विषयसंबंधानें काशिकाकारांनीं प्रकृत सूत्रावरील वृत्तींत ‘संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति । रात्तु तेनैव लोपः स्याद्वलस्तस्माद्विधीयते ॥’ अशी कारिका पठित केली आहे. (या कारिकेचा असा भावार्थ आहे कीं, प्रकृत सूत्रांतील ‘हल्ङ्याव्यः’ या पदांतील ‘हल्’ या पदाचें प्रत्याख्यान केल्यास व हलन्त अङ्गापुढील ‘स्, त्, स्’ या प्रत्ययांचा ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्रानें लोप केल्यास, नकारलोप इत्यादि कार्यें सिद्ध होऊं शकणार नाहीत आणि तसेंच रकारान्त अङ्गापुढें ‘त्’ प्रत्यय आल्यास, ‘रात्सस्य’ सू. २८० हें नियामक सूत्र असल्यामुळें, त्या ‘त्’ प्रत्ययाचा लोप होऊं शकणार नाही. म्हणून हलन्त अङ्गापुढें ‘स्, त्, स्’ हे प्रत्यय आल्यास त्या प्रत्ययांचा लोप होतो अशा प्रकारचें विधान प्रकृत सूत्रांत करणें भाग पडलें आणि अशा रीतीनें प्रकृत सूत्रांतील प्रथम ‘हल्’ या पदाचें ग्रहण आवश्यक ठरतें.) उदाहरणार्थ ‘सत्ता’ या उदाहरणांत नकाराचा लोप होऊं शकणार नाही; कारण संयोगान्त लोप अगिद्ध आहे. (‘सन्ति तु’ या स्वलीं ‘अनङ् सो’ सू. २४८ या सूत्रानें ‘सन्ति’ यांतील अन्य एकाराने जागीं ‘अनङ्=अन्’ असा आदेश होऊन ‘मगन्’ अशी स्थिति झाली अगतां, ‘मगन्’ हें अन् नामान्त अगत्यामुळें ‘मघेनामरुषाने नामगन्तु’ सू. २५० या सूत्रानें उपपा दीप्त होऊन ‘मगान् गृ=मगान्न्’ असें रूप साध्यावर ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्रानें अन्य नकाराचा लोप होण्यास, सो त्याप येनादिक परसुत्रानें होणारा असल्यामुळें, ‘पुंनपसिद्धम्’ सू. १२ या सूत्रानुसारें, सो लोप ‘न लोपः प्राति-

पदिकान्तस्य' या त्रैपादिक पूर्व सूत्राच्या दृष्टीनें असिद्ध ठरतो, म्हणजे तो लोप झालाच नाही व पदाच्या अन्ती सकार कायम असून नकार पदान्ती नाही असे मानावे लागते, व त्यामुळे 'सखान्' यातील नकाराचा लोप होऊ शकत नाही व 'सखा' असे इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते) येथे शकाकार अशी शका करतो की, ('हल्ङ्याब्भ्य' यातील 'हल्' या पदाचे प्रत्याख्यान केले तरी, 'न लोप. प्रातिपदिकान्तस्य या त्रैपादिक पूर्व सूत्राच्या दृष्टीनें 'सयोगान्तस्य लोप.' या त्रैपादिक उत्तर सूत्राने होणारा) सयोगान्त लोप असिद्ध ठरत नाही व 'न ङिसम्बुद्धयो' सू ३५२ या सूत्रातील 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण तो असिद्ध ठरत नाही याचे जापक आहे. ('हे राजन् मु=हे राजन् स्' या स्थली 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राने अन्त्य सकारचा लोप केल्यास जर तो लोप असिद्ध मानला तर, म्हणजे सकाराचा लोप झालाच नाही असे मानले तर, 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्राने 'राजन्' यातील अन्त्य नकाराच्या लोपाची प्राप्तीच होत नाही, कारण नकार पदान्ती ठरत नसून सकार पदान्ती ठरतो असे असून देखील 'न ङिसम्बुद्धयो' या सूत्रात ज्याअर्थी पाणिनीने 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण केले आहे व सबुद्धीचा प्रत्यय पुढे असता नकारलोप होत नाही असे त्या सूत्रात विधान केले आहे व 'प्राप्तस्यैव निषेध' असा न्याय वाह त्याअर्थी हे सिद्ध होत की, 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्राच्या दृष्टीनें 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राने होणारा सबुद्धीच्या 'मु=म्' प्रत्ययाचा लोप असिद्ध ठरत नाही व तो असिद्ध ठरत नसल्यामुळे 'राजन्' यातील अन्त्य नकाराचा लोप होण्याची जी आपत्ति येत होती तिचे निवारण करण्याकरिता 'न ङिसम्बुद्धयो' या सूत्रात पाणिनीला 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण मुद्दाम करावे लागले व अशा रीतीने ते पद सयोगान्त लोप नलापकार्याच्या दृष्टीनें मिद्ध आहे याचे जापक ठरत) पण सयोगान्त लोप नलापकार्याच्या दृष्टीनें मिद्ध ठरता असे मानले तर 'गामान्' इत्यादि स्थली दखील नकारलोप होण्याची

आपत्ति येते असें कोणी म्हटल्यास, त्यावर (शंकाकाराचें) हें उत्तर आहे कीं, वर दिलेलें ज्ञापक विशेष स्थलींच लागू पडणारें विशेषा-
 पेक्ष ज्ञापक आहे (व सर्वत्र लागू पडणारें सामान्यापेक्ष ज्ञापक नाही;) कारण जेथें नकाराच्या लगेच पुढें विभक्तिप्रत्यय आला असून त्या विभक्तिप्रत्ययाचा 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें लोप केला जातो तशाच ठिकाणीं तो संयोगान्त लोप 'न लोपः प्राति-
 पदिकान्तस्य' या सूत्रानें होणाऱ्या नकारलोपाच्या दृष्टीनें सिद्ध ठरतो असें व्याख्यान केलें आहे. ('गोमत् सु' या स्थलीं 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सू. ४२५ या सूत्रानें उपधा दीर्घ होऊन व नंतर 'उगि-
 द्वां सर्वनामस्थाने' सू. ३६१ या सूत्रानें नुमागम होऊन 'गोमान्त् स्' अशी स्थिति झाली असतां, 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें प्रथम सकाराचा व नंतर त्याच सूत्रानें लक्ष्यभेदामुळें तकाराचा लोप केल्यावर तो सकारलोप व तकारलोप सिद्ध मानल्यास, म्हणजे नलोप-
 कार्याच्या दृष्टीनें तो लोप झाला आहे असें मानल्यास, 'गोमान्' यांतील अन्त्य तकार पदान्तीं येत असल्यामुळें, त्याचा लोप होण्याची आपत्ति येते असें कोणी म्हटल्यास, त्यावर शंकाकार असें उत्तर देतो कीं, 'गोमान्त् स्' या उदाहरणांत नकाराच्या लगेच पुढें 'सु = स्' हा विभक्तिप्रत्यय नसून त्या दोहोंमध्ये विभक्तिप्रत्यय नसणाऱ्या तकाराचें व्यवधान असल्यामुळें, 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें होणारा तकारलोप नलोपकार्याच्या दृष्टीनें सिद्ध ठरत नाही, म्हणजे झाला आहे असें मानतां येत नाही. त्यामुळें 'गोमान्' यांतील नकार पदान्तीं आहे असें ठरत नसल्यामुळें, त्या नकाराचा लोप होत नाही व 'गोमान्' असें द्रष्ट रूप सिद्ध होतें. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत—६-१-६८-भाष्यकार म्हणतात :—'हलन्ताद-
 न्तलोपः संयोगान्तलोपश्चेन्नलोपाभावः, राजा तथा । संयोगान्त-
 लोपस्यागिद्व्याघ्रलोपो न प्राप्नोति... नैव दीपः । आता-
 र्यप्रवृत्तिर्जायते मिदः संयोगान्तलोपो नलोप इति, मद्यं न
 द्रिगम्बुदयोरिति गम्बुदौ प्रविशेयं चाग्न्य । इहापि तदि प्राप्नोति—

पचन् पजन् । तुल्यजातीयस्य ज्ञापक भवति । कच्च तुल्यजातीयः ? ।
 यः सम्बुद्धापनन्तरः ।' यावर कंयटाने 'पचन्नित्यथ नकारस्त-
 वारेण व्यवहितः' असे म्हटले असून, उद्योतकारानी 'य. सम्बुद्धा-
 वनन्तर' इति भाष्येण विभक्तिः सयोगान्तलोप उपलक्ष्यते इति
 बोध्यम्' असे म्हटले आहे. उद्योतकाराच्या या विवरणावरून हे
 स्पष्ट होते की, 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने सयोगाच्या
 अन्ती असणाऱ्या विभक्तिप्रत्ययाचा लोप केल्यास, तसाच लोप
 नलोपकार्याच्या दृष्टीने सिद्ध ठरत असून इतर वर्णाचा लोप सिद्ध
 ठरत नाही. सारास शकाकाराचे म्हणणे बरील भाष्याला घट्टन
 आहे) यावर प्रकाशकार असे म्हणतात की, 'हे ब्रह्मन्' हे
 नपुसकाचे सबुद्धीचे रूप सिद्ध होण्याकरिता 'न डिसम्बुद्धयोः'
 या सूत्रात 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण केले असल्यामुळे, ते पद
 सयोगान्त लोप नलोपाच्या दृष्टीने सिद्ध ठरतो याचे ज्ञापक
 मानता येत नाही, पण (शवाकार म्हणतो की,) हे म्हणणे बरोबर
 नाही; कारण प्रत्यय लुक्ने लुप्त झाला असता तो लुप्त प्रत्यय
 विद्यमान आहे असे प्रत्ययलक्षणाने मानता येत नाही व नकारान्त
 नपुसकलिङ्गी प्रातिपदिकाचे सबुद्धीचे रूप सिद्ध करण्याकरिता
 'सम्बुद्धौ नपुसकाना नलोपो वा वाच्य'—सू ३३८ बरील वार्तिक—
 हे वार्तिक असणे आवश्यक असल्यामुळे व 'न डिसम्बुद्धयो.' या
 सूत्रातील 'सम्बुद्धौ' या पदाचे ग्रहण नान्त नपुसक प्रातिपदिकाच्या
 सबुद्धीचे नान्त रूप सिद्ध करण्याकरिता उपयोगी पडू शकत नसल्या-
 मुळे, त्या सूत्रातील 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण वर सांगितल्याप्रमाणे
 ज्ञापक ठरते म्हणून ('राजा, सखा' इत्यादि स्थली) नलोप
 व्हावा या प्रयोजनाकरिता 'हल्ङ्याब्भ्य' या प्रकृत सूत्रातील पदात
 'हल्' याचे ग्रहण केले आहे हे म्हणणे बरोबर मानता येत नाही
 (अशी शकाकाराची शका आहे 'हे ब्रह्मन् सु' या स्थली 'स्वमोर्न-
 पुसकात्' सू ३१९ या सूत्राने 'सु' प्रत्ययाचा लुक् झाला
 असता, 'ब्रह्मन्' यातील नकार पदान्ती आहे असे मानावे लागत

असत्यामुळे, त्या नकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येते व 'ब्रह्मन्' असे इष्ट नपुंसकाचे संबुद्धीचे रूप सिद्ध होऊं शकत नाही. तें रूप सिद्ध होण्याकरितां 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांत 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण केलें आहे व अशा रीतीनें तें ग्रहण आवश्यक व चरितार्थ ठरत असल्यामुळे, नलोपाच्या दृष्टीनें संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचे तें शापक मानतां येत नाही असें प्रकाशकारांचें म्हणणें आहे. यावर शंकाकार असें उत्तर देतो कीं, 'सम्बुद्धी' नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः' हें वातिक नान्त नपुंसक प्रातिपदिकांचीं संबुद्धीचीं इष्ट रूपें सिद्ध होण्याकरितां मुद्दाम केलें असल्यामुळे, त्या वातिकानेंच तीं रूपें सिद्ध होतात व तीं रूपें सिद्ध करण्याकरितां 'न डिसम्बुद्धयोः' हें सूत्र प्रवृत्त करण्याची मुळीच गरज नाही. एवढेंच नव्हे तर तें सूत्र नान्त नपुंसक प्रातिपदिकांचीं संबुद्धीचीं रूपें करतेवेळीं प्रवृत्त होऊं शकत नाही; कारण 'हे ब्रह्मन् सु' या स्थली 'स्वमीर्नपुंसकात्' या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचा लुक् केला असतां, 'न लुमताङ्गस्य' सू. २६३ हा निषेध असल्यामुळे, तो लुप्त संबुद्धीचा 'सु' प्रत्यय विद्यमान आहे असें प्रत्यय-लक्षणानें मानतां येत नाही. त्यामुळे 'ब्रह्मन्' हें पद संबुद्धि-प्रत्ययपरक ठरत नसल्यामुळे, संबुद्धिप्रत्यय पुढें असतांना प्रवृत्त होणारें 'न डिसम्बुद्धयोः' हें निषेधक सूत्र येथें मुळीच प्रवृत्त होऊं शकत नाही व त्यामुळे नित्य नलोप होण्याची आपत्ति येते. ती टळावी व विकल्पेंकरून नलोप व्हावा आणि 'ब्रह्मन्, ब्रह्म' अशीं पाक्षिक संबुद्धीची रूपें सिद्ध व्हावीं याकरितांच वरील वातिक मुद्दाम केलें आहे. म्हणून 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांत 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण नान्त नपुंसक प्रातिपदिकांचें सम्बुद्धीचें इष्ट रूप होण्याकरितां केलें आहे असें जें प्रकाशकारांचें म्हणणें आहे तें चूक ठरतें. सारांश 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण 'हे ब्रह्मन्' इत्यादि रूपें सिद्ध करण्याकरितां आवश्यक व

उपयोगी पडत नसल्यामुळे, ते ग्रहण नलोप करतेवेळी संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचे वर सांगितल्याप्रमाणे जाणवू शकते व त्यामुळे 'हल्ङ्याड्म्यः' यातील 'हल्' हे पद गाळले तरी सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होऊ शकते असल्यामुळे, त्या पदाचे ग्रहण व्यर्थ ठरते असा शकाकाराच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे यावर दीक्षित असे उत्तर देतात की, शकाकाराचे हे म्हणणे बरोबर मानल्यास) 'अभिनोऽत्र' या उदाहरणात 'रु' चे उत्त्व न होण्याची आपत्ति येते आणि म्हणूनच ('संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति' या वाशिष्ठेय दितेल्या कारिकेतील) 'नलोपादि.' या पदात 'आदि' हे पद घातले आहे (व शकाकाराचे म्हणणे बरोबर मानल्यास ज्याप्रमाणे 'अभिनोऽत्र' या स्थली 'रु' चे उत्त्व न होण्याची आपत्ति येते) त्याचप्रमाणे 'अविभर्भवान्' या उदाहरणात देखील 'ति' लोप, म्हणजे तकाराचा लोप न होण्याची आपत्ति येते, कारण 'रात्सस्य' सू. २८० हे नियमार्थक सूत्र आहे. (रुधादिगणात पठित असलेल्या 'भिद्' धातूचे लडाचे मध्यमपुरुषाचे एकवचनाचे रूप करिताना 'दनम् = न' हे विकरण लागून व अडागम होऊन 'अ भिनद् सिप्' अशी स्थिति झाली असता, 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्राने 'सि' प्रत्ययातील इकाराचा लोप होऊन व 'भिनद्' यातील दकाराचे 'दश्च' सू. २४६८ या सूत्राने रुत्व होऊन 'अ भिनर् स्' अशी स्थिति होते अशा स्थितीत 'अभिनर्' या हलन्त अङ्गापुढील 'स्' या अपृक्त प्रत्ययाचा प्रकृत सूत्राने लोप न करिता 'संयोगान्तस्य लोप' या सूत्राने त्या सकाराचा लोप केल्यास 'अभिनर्' असे जे रूप होते त्यापुढे 'अत्र' हे पद आले असता, 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' सू. १६३ या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने त्रैपादिक सूत्राने झालेला संयोगान्त लोप असिद्ध ठरत असल्यामुळे सकारलोप झालाच नाही व 'अभिनर्' या स्थली दकाराचे जागी जो 'रु' झाला आहे त्याच्या लगेच पुढे 'अत्र' यातील अकार नसून दोहो-मध्यें सकाराचे व्यवधान आहे असे मानणे भाग पडते व त्यामुळे,

‘रु’ चें उत्त्व न होण्याची व ‘अभिनोऽत्र’ असा इष्ट प्रयोग सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. पण ‘हल्ङ्याढ्यः’ या सूत्रानें ‘अभिनर्’ या हलन्त अङ्गापुढें असणाऱ्या ‘स्’ या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप केल्यास, सापादिक सूत्रानें होणारा तो लोप सापादिक उत्त्वकार्य करतेवेळीं सिद्ध ठरतो. त्यामुळें ‘रु’ च्या लगेंच पुढें ‘अत्र’ यांतील अकार आहे असें मानतां येत असल्यामुळें, ‘अतो रोः’ या सूत्रानें ‘रु’ चें उत्त्व होऊन व ‘अ’ आणि ‘उ’ या दोहोंचे जागीं ‘आद्गुणः’ सू. ६९ या सूत्रानें ‘ओ’ असा गुणरूप एकादेश होऊन ‘अभिनोऽत्र’ असा इष्ट प्रयोग सिद्ध होतो. त्याचप्रमाणें जुहोत्यादिगणांतील ‘भृ’ धातूचें लडाचें प्रथमपुरुषाचें एकवचनाचें रूप करितांना बडागम, अम्यासकार्ये व ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ सू. २१६८ या सूत्रानें ‘भृ’ धातूतील अन्त्य ऋकाराचा गुण आणि ‘इतश्च’ सू. २२०७ या सूत्रानें ‘ति’ प्रत्ययांतील इकाराचा लोप केल्यावर ‘अ विभर्त्’ अशी स्थिति झाली असतां, ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्रानें तकाराचा लोप होऊं शकत नाही; कारण ‘रात्सस्य’ या नियामक सूत्रान्वयें रकारापुढें जर सकार असला तरच त्या सकाराचा ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्रानें होणारा लोप होतो व रकारापुढें सकार खेरीज करून इतर वर्ण आल्यास, तशा वर्णाचा त्या नियामक सूत्रान्वयें लोप होऊं शकत नाही. पण ‘हल्ङ्याढ्यः’ या सूत्रानें त्या अपृक्त ‘त्’ प्रत्ययाचा लोप होण्यांत काहींच अटचण येत नाही; कारण ‘रात्सस्य’ हें श्रैषादिक सूत्र ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या श्रैषादिक सूत्राचें नियामक सूत्र असून ‘हल्ङ्याढ्यः’ या सापादिक सूत्रानें होणाऱ्या लोपाचें तें सूत्र नियामक नाही. म्हणून ‘अविभर्त्’ या स्थळीं ‘त्’ प्रत्ययाचा लोप होण्याकरितां देण्याल ‘हल्ङ्याढ्यः’ या सूत्रांतील प्रथम ‘हल्’ या पदानें ग्रहण आवश्यक ठरतेंच. सारांज हलन्त अङ्गापुढील ‘नु नि मि’ या अपृक्त प्रत्ययांचा ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्रानें लोप केल्यानें वर वर्णविकेल्या अनेक आपत्ति येत असल्यामुळें, त्या

सूत्राने त्या अपुढ प्रत्ययांचा लोप न करितां प्रकृत सूत्रानेच त्यांचा लोप करणे योग्य आहे व त्या लोपाच्या सिद्धीवरिता प्रकृत सूत्रांतील 'हल्ङ्याम्भ्यः' या पदात 'हल्' चे ग्रहण असणे आवश्यक आहे, आणि या विरुद्ध शकाकाराचे जें म्हणणे आहे कीं, संयोगान्त लोप केल्याने सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होऊं शकते व प्रकृत सूत्रांत प्रथम हल् पद अगण्याची काही गरज नाही ते म्हणणे चूक ठरते असा दिक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे)

शब्दरत्न- विभवत्योरानन्तर्यमिति । एवं च विभक्तिसंयोगान्त-लोपस्य सिद्धत्वं ज्ञाप्यत इति तात्पर्यम् । गोमानित्यादौ लक्ष्यभेदाद्वारं वारं संयोगान्तलोपः । नर्पुसकार्यत्वादिति । "स्यमोः" इति हि तत्र लुगिति तत्र नलोप निषेधायावश्यकत्वादिति भावः । लुका लुप्ते इति । "डिसंबुध्योः" इति सप्तमीति भावः । आवश्यकतया चेति । "डिसंबुध्योः" इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वपक्षेऽपि विकल्पायंभावश्यकतया चेत्यर्थः । यद्यपि 'या नर्पुसकार्यानाम्' इत्येवं भाष्ये पठितं सम्बुद्धि-ग्रहणं च सूत्रादेव सम्बध्यत इति तदर्थं तच्चरितार्थं तयाऽप्यत्र पाठेनोक्तार्थज्ञापकताऽपि । सम्बुद्धिग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति तु न भ्रमितव्यम् । सूत्रस्यडिग्रहणस्य "डिसंबुध्योरनुत्तर" इति वार्तिकस्यसंबुद्धिग्रहणस्य च प्रत्याख्यानेऽपि सूत्रस्यस्याप्र-त्याख्यानादिति भावः ।

जेथें नकाराच्या लगेच पुढें असणाऱ्या विभवतीप्रत्ययाचा 'संयोगान्तस्य लोप' या सूत्रानें लोप झाला असेल तशाच ठिकाणी नलोपकार्याच्या दृष्टीनें तो संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो हे ज्ञापित होते असे 'यत्र हि नकारविभवत्योरानन्तर्यं तत्रैव सिद्धत्वम्' या मनोरमेच्या पक्षीचे तात्पर्य आहे. 'गोमान्त् स्=गोमान्' इत्यादि स्थली ज्याचा संयोगान्त लोप करणे आहे ती ('त्, स्' अशी) भिन्न लक्ष्यें असल्यामुळे (व 'तल्लक्ष्ये तल्लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः', म्हणजे पाणिनीय सूत्र एका लक्ष्याचे ठिकाणी एकदाच प्रवृत्त होत असते पण अनेक भिन्न लक्ष्यें एखाद्या उदाहरणात विद्यमान असल्यास

प्रत्येक लक्ष्याचे ठिकाणी त्या एकाच सूत्राची प्रवृत्ति करतां येते या अर्थाचा 'लक्ष्ये लक्षणस्य सकृत् प्रवृत्तिः' हा न्याय असल्यामुळे) 'संयोगान्तस्य लोपः' हें सूत्र दोनदां प्रवृत्त होऊन प्रथम सकाराचा व नंतर तकाराचा लोप होतो. (याचें विवरण मनोरमेंत पूर्वी केलेंच आहे.) 'हे ब्रह्मश्चिति नपुंसकार्थत्वाद् नैतज्ज्ञापकम्' असें जें प्रकाशकारांनीं म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'हे ब्रह्मन् सु' या उदाहरणांत 'स्वमोर्नपुंसकात्' सू. ३१९ या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचा लुक् होत असल्यामुळे, 'ब्रह्मन्' या नपुंसक अज्ञांतील अन्त्य नकाराचा ('न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें पावलेला) लोप न व्हावा याकरितां 'न डिसम्बुद्धयोः' सू. ३५२ या सूत्रांत 'सम्बुद्धि' या पदाचें ग्रहण आवश्यक आहे. 'लुका लुप्ते प्रत्ययलक्षणाभावेन' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'डिसम्बुद्धयोः' हें (पठ्यन्त पद नसून वास्तविक) सप्तम्यन्त पद आहे. 'आवश्यकतया च' य मनोरमेंतील पदांचा, 'डिसम्बुद्धयोः' हें पठ्यन्त पद आहे हा पक्ष मानला तरी देखील संबुद्धीचीं पाक्षिक रूपें सिद्ध व्हावीं याकरितां 'सम्बुद्धी वा नपुंसकानाम्' हें वातिक असणें आवश्यक आहे, असा अर्थ आहे. ('हे ब्रह्मन् सु' या स्थलीं 'ब्रह्मन्' या नपुंसक अज्ञापुढील 'सु' प्रत्ययाचा 'स्वमोर्नपुंसकात्' या सूत्रानें लुक् होत असल्यामुळे व 'न लुमताङ्गस्य' या निषेधान्वयें तो 'सु' प्रत्यय विद्यमान आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येत नसल्यामुळे, 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद सप्तम्यन्त मानल्यास, सम्बुद्धिप्रत्यय पुढें असतांना नकारलोप होत नाहीं असा त्या सूत्राचा अर्थ होत असल्यामुळे व 'ब्रह्मन्' हें पद संबुद्धिप्रत्ययपरक ठरत नसल्यामुळे, तें निषेधक सूत्र प्रवृत्त न होण्याची व 'ब्रह्मन्' यांतील अन्त्य नकाराचा 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें लोप होण्याची जी आपत्ति येते ती टाळण्याकरितां प्रकाशकारांनीं 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद पठ्यन्त मानलें आहे व 'ङ्यन्तस्य सम्बु-

द्वधन्तस्य च पदस्य नलोपो न स्यात्' असा त्या सूत्राचा अर्थ केला आहे असे दिसते. या अर्थान्वये ते निषेधक सूत्र प्रवृत्त होण्याकरिता नान्त अङ्ग सबुद्धिप्रत्ययपरक असण्याची काही आवश्यकता नाही. सबुद्धिप्रत्ययाचा लुक् झाला तरी ते अङ्ग जसे सुबन्त व पदसङ्गक मानता येते तसेच सबुद्धचन्त देखील मानता येते व तसे मानतेवेळी 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध आड येत नाही अशा रीतीने 'डिसम्बुद्धघोः' हें पद पठ्यचन्त मानले असता 'हे ब्रह्मन्' इत्यादि स्थली अन्त्य नकाराचा लोप न व्हावा याकरिता 'न डिसम्बुद्धघोः' या सूत्रात 'सम्बुद्धि' हे पद असणे आवश्यक ठरते आणि अशा रीतीने ते पद आवश्यक व चरितार्थ ठरत असल्यामुळे, नलोपकार्याच्या दृष्टीने संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचे ते पद ज्ञापक मानता येत नाही असा प्रकाशकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे पण शकाकार 'डिसम्बुद्धघो' हें पद पठ्यचन्त न मानता सप्तम्यन्त मानतो व 'ढी सम्बुद्धौ च परे सति नलोपो न स्यात्' असा त्या सूत्राचा अर्थ करितो व दीक्षितानी देखील कौमुदीत तसाच अर्थ केला आहे त्यामुळे 'हे ब्रह्मन् सु' या स्थली वर सांगितल्याप्रमाणे 'सु' प्रत्ययाचा लुक् झाला असता तो प्रत्यय विद्यमान आहे असे प्रत्ययलक्षणाने मानता येत नसल्यामुळे, 'न डिसम्बुद्धघो' हे निषेधक सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही व 'ब्रह्मन्' यातील नकाराचा 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' सू २३६ या सूत्राने अवश्य लोप होण्याची आणि 'ब्रह्म' असे एकच सबुद्धीचे रूप हाण्याची आपत्ति येते. ती टाळण्याकरिता व 'ब्रह्मन्, ब्रह्म' अशी सबुद्धीची पाक्षिक रूपे सिद्ध होण्याकरिता 'सम्बुद्धौ नपुसकाना नलोपो वा वाच्य' हे वार्तिक असणे आवश्यक आहे साराश नान्त नपुसक प्रातिपदिकाची सबुद्धीची पाक्षिक रूपे वरील वार्तिकान्वयेच सिद्ध होऊ शकत असल्यामुळे व त्या रूपाची सिद्धि होण्याकरिता 'न डिसम्बुद्धघो' या सूत्रात 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण असणे आवश्यक नसल्यामुळे,

नलोपाच्या दृष्टीने संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचें तें अनावश्यक व अचरितार्थ पद जापक मानतां येतें असा शंकाकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे. पुन्हा शंकाकार असें म्हणतो कीं, 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद प्रकाशकारांच्या म्हणण्याप्रमाणें पण्ठ्यन्त मानलें तरी देखील, 'हे ब्रह्म' हें संबुद्धीचें पाक्षिक इष्ट रूप सिद्ध होण्याकरितां बरील वार्तिक मानणें आवश्यकच आहे; कारण तें वार्तिक न मानल्यास, नित्य नकारलोप न होतां 'ब्रह्मन्' असेंच संबुद्धीचें रूप सिद्ध होईल व 'ब्रह्म' असें पाक्षिक इष्ट रूप सिद्ध होणार नाही. सारांश सप्तमीपक्ष मानल्यास जसें बरील वार्तिक मानणें आवश्यक आहे तसेंच षष्ठीपक्ष मानल्यास देखील तें वार्तिक असणें आवश्यक आहे असें शंकाकाराचें म्हणणें आहे.) जरी 'न डिसम्बुद्धयोः' सू. ८-२-८ या सूत्रावरील भाष्यांत 'वा नपुंसकानाम्' अशा शब्दांत बरील वार्तिक पठित केलें आहे व त्या वार्तिकांत 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतूनच 'सम्बुद्धी' हें पद अनुवृत्त केलें आहे आणि अशा रीतीनें ते सूत्रस्थ पद वार्तिकांत अनुवृत्त होण्याकरितां आवश्यक व चरितार्थ ठरतें तरी, त्या सूत्रांत तें पद अनावश्यक असून देखील त्याचा या सूत्रांत पाठ केला असल्यामुळे, तें पद वर सांगितल्याप्रमाणें जापक देखील मानतां येतें. त्या सूत्रांतून भाष्यकारांनीं 'सम्बुद्धि' या पदाचें प्रत्याख्यान केलें आहे असा चुकीचा समज करून घेऊं नये; कारण जरी भाष्यकारांनीं 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'डि' या पदाचें व तसेंच 'न डिसम्बुद्धयोरनुत्तरपदे' या वार्तिकांतील 'सम्बुद्धि' या पदाचें प्रत्याख्यान केलें आहे तरी, त्यांनीं 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'सम्बुद्धि' या पदाचें मुळींच प्रत्याख्यान केलें नाही असा मतोरमेंतील शंकाग्रन्थाचा भावार्थ आहे. (प्रतिशंकाकाराचें असें म्हणणें आहे कीं, 'वा नपुंसकानाम्' या वार्तिकांत 'सम्बुद्धी' या पदाची अनुवृत्ति व्हावी याकरितां 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांत 'सम्बुद्धि' पदाचें ग्रहण असणें आवश्यक असल्यामुळे व अशा रीतीनें तें ग्रहण चरितार्थ ठरत असल्या-

मुळें. नलोपाच्या दृष्टीनें सयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचे ते पद जापक मानतां येत नाही या प्रतिशक्तेवर शकाकार असे उत्तर देतो की, 'वा नपुसकानाम्' या वार्तिकात अनुवृत्ति होण्याकरिता जरी ते पद आवश्यक मानले तरी, 'न डिसम्बुद्धयो' या सूत्रात ते पद असणें आवश्यक नाही असे असून देखील पाणिनीनें त्या सूत्रांत त्या अनावश्यक पदाचे ग्रहण केले असल्यामुळें हे जापित होत की, तसे करण्यात पाणिनीचा, 'एत्वञ्चित्प्रयो' या न्यायान्वयें, काही तरी विशिष्ट हेतु होता व तो हेतु हाच की, नलोपाच्या दृष्टीनें सयोगान्त लोप असिद्ध ठरत नाही हे त्या पदाच्या ग्रहणानें जापित व्हावे पण त्या पदाचे त्या सूत्रातून भाष्यकारानी प्रत्याख्यान केले असल्यामुळें व अशा रीतीनें ते पद त्या सूत्रात विद्यमानच नाही असे मानणे भाग पडत असल्यामुळें ते पद वरील विषयाचे जापक मागता येत नाही असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर शकाकार असे म्हणतो की, भाष्यकारानी त्या सूत्रातून जरी 'डि' या पदाचे प्रत्याख्यान केले आहे तरी, 'सम्बुद्धि' या पदाचे प्रत्याख्यान मुळीच केले नाही व त्या पदाचे जें प्रत्याख्यान केले आहे ते त्या सूत्रातून केलेले असून त्या सूत्रावरील वार्तिकांत पठित असलेल्या त्या पदाचे प्रत्याख्यान केले आहे त्या भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात—'न डिसम्बुद्धयोरित्युच्यते, न चात्रडिसम्बुद्धी पश्याम । प्रत्यमलक्षणेन । न लुप्तता तस्मिन्निति प्रत्यमलक्षण-प्रतिषध । न क्वचिन्डिलोपेन लुप्यते, सर्वत्र लुप्ततैव । एष तर्हि ड्यर्थेन तावन्नार्थः । डौ प्रतिषेधोऽनर्थकः । किं कारणम् ? । भत्वात् । भसज्ञाऽन भविष्यति । यदि तर्हि भसज्ञाऽन भवति रयन्तरे सामन्त्रित्यत्र अल्लोपोऽन इत्यल्लोपः प्राप्नोति । नैप दोषः । उक्तमुभयसंज्ञान्यपि छन्दासि दृश्यन्ते तस्माद्वार्थो डिग्रहणेन ।' या भाष्यावरून हे स्पष्ट होत की, भाष्यकारानी 'न डिसम्बुद्धयो' ८-२-८ या सूत्रातून 'सम्बुद्धि' या पदाचे प्रत्याख्यान न करितां केवळ 'डि' या पदाचे प्रत्याख्यान केले आहे 'सम्बुद्धयर्थेन चाऽपि नार्थः'

इत्यादि जें 'सम्बुद्धि' या पदाचें प्रत्याख्यान करणारें भाष्य पुढें आहे तें 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'सम्बुद्धि' पदाचें प्रत्याख्यान करणारें भाष्य नसून 'न डिसम्बुद्धयोरनुत्तरपदे' या धातिकांतील 'सम्बुद्धि' पदाचें प्रत्याख्यान करणारें भाष्य आहे हें तें भाष्य वाचल्यानें स्पष्ट होतें, व त्या भाष्यांत 'वा नपुंसकनामित्येतद्वक्तव्यमेव' असें भाष्यकारांनीं अखेरीस म्हटलें आहे. सारांश 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतून भाष्यकारांनीं 'सम्बुद्धि' या पदाचें प्रत्याख्यान केले नसल्यामुळें, नलोपाच्या दृष्टीनें संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचें तें पद ज्ञापक मानतां येतें असा शंकाकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे. येथें हें लक्षांत ठेवावें कीं, 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध अनित्य मानला असल्यामुळें त्याची प्रवृत्ति न केल्यास, नान्त नपुंसक प्रातिपदिकापुढील संबुद्धीच्या 'सु' प्रत्ययाचा 'स्वमोर्नपुंसकात्' या सूत्रानें लुक् केल्यावर देखील तो 'सु' प्रत्यय विद्यमान आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येतें व तसें मानलें असतां, 'न डिसम्बुद्धयोः' हें निषेधक सूत्र प्रवृत्त होऊन नकाराचा लोप होत नाही व संबुद्धीचें नान्त रूप सिद्ध होतें. 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध प्रवृत्त केला तर नान्त नपुंसक अङ्गापुढें संबुद्धीचा 'सु' प्रत्यय विद्यमान आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येत नसल्यामुळें, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें अन्त्य नकाराचा लोप होऊन द्वितीय पाक्षिक रूप देखील सिद्ध होऊं शकतें व हीं पाक्षिक रूपें सिद्ध होण्याकरितां 'वा नपुंसकानाम्' हें धातिक मानण्याची कांहीं गरज राहत नाही. अशा रीतीनें नान्त नपुंसक प्रातिपदिकाचीं संबुद्धीचीं दोन रूपें सिद्ध करण्याकरितां 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांत 'सम्बुद्धि' या पदाचें ग्रहण असणें आवश्यक आहे व अशा रीतीनें त्या पदाचें ग्रहण आवश्यक व चरितार्थ ठरत असल्यामुळें, नलोपाच्या दृष्टीनें संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचें तें पद ज्ञापक मानतां येत नाहीं. प्रकृत सूत्रावरील उद्योतांत या विषयासंबंधानें 'न लुमतेति निषेध-

स्यानित्यत्वेनैव नपुसकनान्ते रूपद्वयस्य सिद्धतया, या नपुसकानामिति न वाचनिकम् । एव च नपुसके निषेधाय सम्बुद्धिग्रहणस्यावश्यकत्वेन ज्ञापक दुरूपपादम् । 'असे म्हटले आहे या मतान्वये 'नपुसकार्थत्वाद् नैतज्ज्ञापकम्' हे प्रकाशकाराचे म्हणणेच बरोबर ठरते आणि भावप्रकाशकारानी देखील 'एव च प्रकाशो युक्त इति गूढाकूत स्फुटीभविष्यति चाग्रे' असेच म्हटले आहे)

मनोरमा—अत्रेदमवधेयम् । इच्चाग्रहणं सोरेव विशेषणं न तु तिस्योः व्याख्यानात् । अस्मिन्नेव सूत्रे 'द्विहलपृक्तग्रहणं तिस्योश्च ग्रहणं न कर्तव्यं भवति' इति भाष्यं चेह प्रमाणम् । यदि हि इच्चाग्रहणं तिस्योरपि विशेषणं स्यात् तर्हि कथं तिस्योग्रहणस्याकर्तव्यतां नूपात् । यत्तु इच्चाग्रहणं तिस्योरसम्भव एवेति । तत्र इच्छन्तावसम्भव इति सत्यम् । आद्यन्तात् आचारविवन्तात्तल्लङ्घः तिस्योस्त एव । अगङ्गात् अगङ्गाः इति यथा । न च शपा व्यवधानम्, एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् । न च स्थानिवद्भावः । अपूर्वविधिस्तात् ॥

येथे हे व्यानात ठेविले पाहिजे की, 'हल्ङ्यान्म्य' या प्रकृत सूत्रातील 'ङी' व आप् ही 'सु' चीच विशेषणे होतात, 'ति, सि' याची विशेषणे होत नाहीत हे व्याख्यानावरून स्पष्ट होते (प्रकृत सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या 'सु, ति, सि' या तीन प्रत्ययांपैकी 'ति, सि' हे प्रत्यय इच्छन्त व आवन्त अङ्गापुढे येऊच शकत नाहीत, कारण धातुपुढे येणारे ते प्रत्यय आहेत 'मु' हा अवशिष्ट प्रथमेच्या एकवचनाचा प्रत्ययच इच्छन्त व आवन्त अङ्गापुढे येऊ शकतो म्हणून 'इच्छन्तात् आवन्तात्पर सुर्लुप्यते' असाच अन्वय होऊ शकतो, 'इच्छन्तात् आवन्तात्पर सु ति सि अपृक्त हल् लुप्यते' असा अन्वय होऊ शकत नाही) वर जे सांगितले आहे त्याला प्रकृत सूत्रावरील भाष्यासच 'द्विहलपृक्तग्रहणं तिस्योश्च ग्रहणं न कर्तव्यं भवति' हे जे वचन आहे ते प्रमाण आहे जर 'इच्चाप्' हे 'ति सि' याचे देखील विशेषण होत असते तर, 'ति सि' याचे प्रकृत सूत्रात ग्रहण करण्याची आवश्यकता राहत नाही असे भाष्यात कसे म्हटले असते ?

(प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत -६-१-६८-भाष्यकार म्हणतात-'यदि पुनरयमपृक्तलोपः संयोगान्तलोपो विज्ञायेत ? । किं कृतं भवति ? । द्विह्लपृक्तग्रहणं तिस्योश्चग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।' या भाष्याचा अर्थ हा आहे की, 'सु ति सि' या अपृक्त हलाचा 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानेच लोप होऊं शकतो असें मानलें तर, प्रकृत सूत्रांत दोन्ही 'हल्' पदांचें व 'अपृक्तम्' या पदाचें आणि तसेंच 'ति, सि' या पदांचें ग्रहण करण्याची कांहीं आवश्यकता राहत नाही व 'इयापो दीर्घात्सोः' एवढेंच सूत्र मानल्यानें काम भागतें. 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें केवळ हलन्त अङ्गापुढील अपृक्त प्रत्ययाचा लोप होणें शक्य असल्यामुळे, त्या सूत्रानें हलन्त अङ्गापुढील अपृक्त सूत्रनिर्दिष्ट प्रत्ययांचा लोप केला तरी, प्रकृत सूत्रांत इयाप्-ग्रहण कायम ठेवलेच पाहिजे व त्याबरोबरच सूत्रनिर्दिष्ट तीन प्रत्ययांपैकीं जे प्रत्यय इयावन्त अङ्गापुढें येणें शक्य आहे त्यांचेंहि ग्रहण प्रकृत सूत्रांत कायम ठेवणें भाग आहे. म्हणून जर इयावन्त अङ्गापुढें 'ति, सि' प्रत्यय येणें संभवनीय असतें तर, भाष्यकारांनीं वरील भाष्यांत 'ति, सि' प्रत्ययांचें ग्रहण करण्याची कांहीं आवश्यकता राहत नाही असें म्हटलें नसतें.) इयन्त व आवन्त अङ्गाहून 'ति, सि' प्रत्यय होणें असंभवनीय आहे, म्हणजे ते प्रत्यय होऊंच शकत नाहीत, असें जें वर म्हटलें आहे त्यांपैकीं इयन्त अङ्गाहून ते प्रत्यय उत्पन्न होऊं शकत नाहीत हें म्हणणें खरें आहे; पण आवन्त शब्दाहून आचारार्थक क्विप् प्रत्यय केला असता, तशा क्विवन्त नामधातूचें लङाचें रूप करतेवेळीं 'तिप्, सिप् = त्, स्' हे अपृक्त प्रत्यय होऊं शकतातच. उदाहरणार्थ 'अगङ्गात्, अगङ्गाः' या वरील दोन उदाहरणांत आवन्त अङ्ग व 'ति, सि' प्रत्यय या दोहोंमध्यें 'क्षप् = अ' चें व्यवधान होतें हें म्हणणें बरोबर नाही; कारण आवन्त अङ्गांतील अन्त्य 'आ' व 'क्षप् = अ' या दोहोंचें जागीं ('अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें) जो सवर्णदीर्घ एकादेश होतो तो पूर्वान्तवद्भावानें आवन्त

अङ्गाचा अन्त मानतां येतो (व अशा रीतीनें आबन्त अङ्गाच्या लगेच पुढें 'ति, सि = त् स्' प्रत्यय येतात व दोहोमध्ये 'शप्' चे व्यवधान होत नाही असे म्हणतां येते) या उदाहरणात स्थानिवद्भाव करता येत नाही; कारण येथें पूर्वं वर्णाला विधि-कार्य-करणे नाही. ('सर्वे प्रातिपदिकेभ्यः क्विब्बा वक्तव्यः'—सू. २६६५ वरील वार्तिक—या वार्तिकान्वये 'गङ्गा' या आबन्त शब्दाहून आचारार्थक क्विप् प्रत्यय केला असता, 'वेरपूक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्रानें 'क्विप् = व्' या अपूक्त प्रत्ययाचा लोप होऊन 'गङ्गा' असा क्विप्प्रत्ययान्त आबन्त नामधातु होतो व अशा आबन्त नाम-धातूचीं लडाचीं रूपे करतेवेळीं 'ति, सि' प्रत्ययांतील इवाराचा 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्रानें लोप होऊन 'त्, स्' हे अपूक्त प्रत्यय त्या आबन्त अङ्गापुढें येतात व 'अगङ्गात्, अगङ्गाः' अशी अनुक्रमे प्रथमपुरुषाच्या व मध्यमपुरुषाच्या एकवचनाचीं रूपे होतात. येथें आबन्त अङ्गापुढें असणाऱ्या 'स्, त्' या अपूक्त प्रत्ययाचा यथापठित प्रकृत सूत्रानें लोप पावला आहे. परंतु 'झ्याप्' हे केवळ 'सु' चे विशेषण मानले असून 'ति, सि' चें विशेषण मानले नसल्यामुळें व अशा रीतीनें झ्याबन्त अङ्गापुढें प्रथमाविभक्तीचा 'सु' प्रत्यय आला असता त्याचाच लोप होतो व 'ति, सि = त् स्' हे प्रत्यय पुढें आले असता त्याचा लोप होत नाही असे व्याख्यान केले असल्यामुळें, वरील उदाहरणात 'गङ्गा' या आबन्त अङ्गापुढें असलेल्या 'त्, स्' या प्रत्ययांचा लोप न होता 'अगङ्गात्, अगङ्गाः' अशीं रूपे सिद्ध होतात. ही लडाचीं रूपे करतेवेळीं जरी 'गङ्गा' या क्विबन्त नामधातूला 'शप् = अ' हे विकरण लागते तरी, 'गङ्गा' यातील अन्त्य 'आ' व ते विकरण या दोहोचे जागी 'अकः सवर्णे दीर्घः' या सूत्रानें जो 'आ' असा सवर्णदीर्घ एकादेश होतो त्या एकादेशानें ते विकरण नाहीसे होते व त्यामुळें आबन्त अङ्ग व 'त्, स्' प्रत्यय या दोहोंमध्ये त्या विकरणाचे व्यवधान राहत नाही आणि 'आ' हा एकादेश पूर्वान्वद्भावानें आबन्त

अङ्गाचा अन्त मानल्याने, त्याच्या लगेच पुढे 'त्,स्' हे प्रत्यय आहेत असे मानता येते. एकादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव केल्याने, म्हणजे एकादेश 'आ' हा 'आ+अ' आहे असे मानल्याने, आबन्त अङ्ग व 'त्,स्' प्रत्यय या दोहोंमध्ये 'शप् = अ' चे व्यवधान आहे असे मानता येते व त्यामुळे वरील दोन उदाहरणे प्रकृत सूत्राचा विषय होऊ शकत नाहीत असे कोणी म्हटल्यास, त्यावर दीक्षित असे उत्तर देतात की, 'अचः परस्मिन्' सू. ५० या सूत्राने 'आ' या एकादेशाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव करता येत नाही; कारण वरील उदाहरणांत स्थानीच्या पूर्वी असणाऱ्या वर्णाला कार्य करणे नसून स्थानीच्या पुढे असणाऱ्या 'त्, स्' या अपृक्त प्रत्ययांना लोपरूप कार्य करणे असल्यामुळे, 'पूर्वविधौ' हा षष्ठीसमास मानला असता, स्थानिवद्भाव होऊ शकत नाही. 'पूर्वविधौ' हा पञ्चमीसमास मानल्यास, 'अचः परस्मिन्' हें सूत्र प्रवृत्त होऊ शकते. परंतु पञ्चमीसमासपक्ष अनित्य असल्यामुळे व त्या अनित्य पक्षाचा आश्रय न करिता येथे इष्टरूपसिद्धि होत असल्यामुळे, तो पक्ष या स्थलीं स्वीकारता येत नाही.)

शब्दरत्न-भाष्यमिति । 'यदि पुनरयमपृक्तलोपः संयोगांतलोपो विज्ञायेत' इत्युपक्रम्य तद्भाष्यं प्रवृत्तम् । पूर्वान्तत्वेनेति । न चैवं बुद्धावित्यादी संनिपातपरिभाषया टाढेनेति भाष्यविरोध इति वाच्यम् । दीर्घप्रवृत्त्युत्तरमन्तादिवद्भावप्रवृत्तावपि टाढुत्पत्तिकालिकानन्तर्यविघातस्य तेन वारयितुमशक्यत्वात् । अशास्त्रीयत्वात्संनिपातस्यान्तवद्भावेनातिदेष्टुमशक्यत्वाच्च । अत्रावन्तात्त्विति तुनाऽरुचिर्वोधिता । पञ्चमीसमासाश्रयणे स्थानिवद्भावोऽस्ति । अस्याभिधाने च न दुर्दमानम् । आवन्तेभ्य आचारक्विवेव नास्ति "आतो घातोः" इति सूत्रस्य भाष्यप्रामाण्यात् । तत्र वार्तिककृता 'आतोऽनाप' इत्युक्तमिति तद्दीर्घम् । आचारक्विवन्ताद्यङ्लुपतु नास्त्येव । तेन कस्य स्त्री की कीदृशत्वादिस्य आचारक्विवन्तेभ्यो यङ्लुकि लङि अचेकेदित्यादी रुपन्तादपि सम्भव इत्यपास्तम् । ईकाररूपत्वाभावाच्च ।

‘हल्ङ्याभ्यः’ या सूत्रावरील भाष्यांत ‘यदि पुनरयमपृक्तलोपः संयोगान्तलोपो विज्ञायेत’ असा उपक्रम करून भाष्यकारानी मनोरमेंत दिलेली भाष्यपक्ति लिहिली आहे ‘बुद्धौ’ इत्यादि स्थली, सन्निपातपरिभाषान्वये ‘टाप्’ प्रत्यय होत नाही असे जें भाष्यात म्हटले आहे त्याशी ‘एकदेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात्’ हे जें मनोरमेंत म्हटले आहे याचा विरोध येतो असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणणें बरोबर नाही, कारण सवर्णदीर्घरूप एकादेश केल्यावर जरी तो एकादेश पूर्वान्तवद्भावांनं ‘बुद्ध’ या शब्दाचा अन्तावयव मानता येतो तरी, ‘बुद्ध’ शब्दाहून ‘टाप्’ प्रत्यय करतेवेळी ‘बुद्धि डि = बुद्ध औ’ याचे जें ‘आनन्तर्य’ होते ते त्या ‘टाप्’ प्रत्ययामुळें नष्ट झाले नाही असे म्हणता येऊ शकत नाही आणखी असे की, सन्निपात हा अशास्त्रीय अगत्यामुळें, पूर्वान्तवद्भावांनं त्याचा अतिदेश करता येऊ शकत नाही, म्हणजे शास्त्रीय पूर्वान्तवद्भाव करून अशास्त्रीय सन्निपात कायम आहे असे मानता येऊ शकत नाही. (‘अगङ्गा शप् त् = अगङ्गात्’ या स्थली ‘अगङ्गा’ यातील ‘आप्’ व ‘शप् = अ’ याचा ‘आ’ असा जो एकादेश होतो त्याला दीक्षितानी पूर्वान्तवद्भावांनं ‘गङ्गा’ याचा अन्तावयव मानून ‘गङ्गा’ हे आवन्त अङ्ग मानले आहे शकाकार म्हणतो की, अशा रीतीनं पूर्वान्तवद्भाव करून ‘गङ्गा’ हे आवन्त अङ्ग मानणे भाष्यविरुद्ध ठरतें, कारण ‘बुद्धि डि’ या स्थली ‘अच्च घे’ सू. २४७ या सूत्रानं ‘बुद्ध औ’ अशी स्थिति झाल्यावर ‘बुद्ध’ असे जें अदन्त अङ्ग होते त्या अदन्त अङ्गाहून ‘अजाद्यनष्टाप्’ सू. ४५८ या सूत्रानं प्राप्त होणारा ‘टाप्’ प्रत्यय सन्निपातपरिभाषा अगत्यामुळें होऊ शकत नाही असे ‘औत्’ सू. ७-३-११८ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकारानी म्हटले आहे त्या भाष्यात भाष्यकार म्हणतात- ‘अत्वे टाप प्रतिषेधो यवनध्य । शकटी पद्धती पेनी । अत्वे ष्टने टाप् प्राप्नोति । न वा सन्निपातनष्टणस्यानिमित्तत्वात् । न वा यवनध्य । हि कारणम् ? । सन्निपातनष्टणस्यानिमित्तत्वात् ।

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येत्येवं न भविष्यति ।
या भाष्याचें विवरण मार्गे केलेंच आहे. जर 'बुद्ध' यांतील अन्त्य
अकार व 'टाप् = आ' यांचा 'आ' हा एकादेश पूर्वान्तवद्भावानें
'बुद्ध' याचा अन्तावयव आहे व अशा रीतीनें सन्निपात नष्ट
झाला नाही असें मानतां आलें असतें तर, भाष्यकारांनीं
त्या उदाहरणांत सन्निपातपरिभाषा प्रवृत्त करून 'टाप्' चें
निवारण केलें नसतें. म्हणून 'अगङ्गात्' या स्थलीं एकादेशाचे
ठिकाणीं पूर्वान्तवद्भाव मानणें बरील भाष्याच्या विरुद्ध ठरतें.
त्यामुळें 'गङ्गा' या आवन्त अङ्गाच्या लगेच पुढें 'त्' प्रत्यय आहे
असें मानतां येऊं शकत नाहीं आणि म्हणून बरील उदाहरण प्रकृत
सूत्राचा विषयच होऊं शकत नाहीं असा शंकाकाराच्या म्हणण्याचा
तात्पर्याय आहे. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं,
ज्या भाष्याच्या आधारावर शंकाकारानें बरील शंका केली आहे
त्या भाष्याचा असा मुळींच आशय नाहीं कीं, 'बुद्ध ओ' या स्थलीं
'बुद्ध' या अदन्त अङ्गाला 'टाप्' प्रत्यय करून एकादेश केल्यावर
तो एकादेश 'बुद्ध' याचा अन्तावयव मानतां येत नाहीं. त्या
भाष्याचा एवढाच आशय आहे कीं, जरी एकादेश 'बुद्ध' याचा
पूर्वान्तवद्भावानें अन्तावयव मानतां येऊं शकतो तरी, 'टाप्' प्रत्यय
होतेवेळीं सन्निपाताचा विनाश होत असल्यामुळें, त्या परिभाषान्वयें
'टाप्' प्रत्यय होऊं शकत नाहीं. दुसरें असें कीं, सन्निपात
अशास्त्रीय असल्यामुळें, म्हणजे पाणिनीय सूत्रांत सन्निपाताचें लक्षण
कोठेंहि सांगितलें नसल्यामुळें, 'अन्तादिवच्च' सू. ७५ हें पाणिनीय
शास्त्र प्रवृत्त करून पूर्वान्तवद्भावरूप शास्त्रीय कार्य केल्यानें
अशास्त्रीय सन्निपात कायम राहतो असें म्हणणें बरोबर नाहीं,
म्हणजे अशास्त्रीय कार्य करतेवेळीं तसा अशास्त्रीय कार्यकिरतां
शास्त्रीय कार्याची मदत घेतां येत नाहीं. सारांश 'बुद्ध ओ' या
स्थली 'टाप्' प्रत्यय केल्यावर एकादेश केला असतां, तो एकादेश
'बुद्ध' या शब्दाचा अन्तावयव आहे असें मानतां येतें व अशा रीतीनें

सन्निपात कायम आहे असे म्हणता येते तरी, 'टाप्' प्रत्यय करतेवेळी सन्निपाताचा विनाश होत नाही असे म्हणता येत नाही व त्यामुळे त्या स्थली सन्निपातपरिभाषा प्रवृत्त होऊन 'टाप्' प्रत्यय होऊ देत नाही. वर सांगितल्याप्रमाणे वरील भाष्याचा आशय असल्या-मुळे, दीक्षितानी 'अगङ्गात्' या उदाहरणात 'आ' या एकादेशाला पूर्वान्तवद्भावाने 'गङ्गा' याचा अन्तावयव मानून 'अगङ्गा' या आवन्त अङ्गापुढे 'त्' प्रत्यय आहे असे जें म्हटले आहे तें भाष्यविरुद्ध ठरत नाही असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे) 'आवन्तात्तु आचारविवन्तात्' या मनोरमंतील पक्तीत 'तु' या अद्यचिप्रदशंक पदाचे ग्रहण केले असल्यामुळे, आवन्ताहून आचारविवप् होतो हे दीक्षिताना समत नाही असे बोधित होते. 'अच परस्मिन् पूर्वविधौ' सू. ५० या सूत्रातील 'पूर्वविधौ' हा पञ्चमीसमास मानल्यास, स्थानिवद्भाव करता येतो (गाचे विवरण मनोरमंत केलेच आहे) 'अगङ्गात्, अगङ्गा.' इत्यादि रूपे भाषेत होतात याला कोणतेहि सबळ प्रमाण नाही. उलट आवन्ताहून आचारविवप् मुळीच होत नाही याला 'आतो घातो.' सू. ६-४-१४० या सूत्रावरील भाष्य प्रमाण आहे त्या सूत्राऐवजी 'आतोऽनाप' असे सूत्र पठित करावे असे जें वातिककाराने सुचविले आहे त्याचे कारण हेच आहे की, आवन्ताहून विवप् प्रत्यय मुळीच होत नाही ('आतो घातो' सू. ६-४-१४० या सूत्रावरील भाष्यात 'आतोऽनापः' हें वातिक पठित करून भाष्यकार म्हणतात— 'आतोऽनाप इति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्, समासेऽनन्पूर्वे वत्वो त्ययिति ।' या भाष्याचा आशय हा आहे कीं, 'समासेऽनन्पूर्वे वत्वो त्यप्' सू. ३३३२, 'हल इन शानङ्गो' सू. २५५७ इत्यादि सूत्रात 'वत्वा, इना' या आवन्त नसणाऱ्या आचारान्त शब्दाची जी पाणिनीने पळीची रूपे केली आहेत ती मिट्ट व्हावी याकरिता 'आतो घातोः' या सूत्रातील 'घातोः' या पदाचे जागी 'अनाप.' हे पद पठित करावे असे

वार्तिककारानें सुचविलें आहे; कारण 'क्त्वा, इना' हे जरी आकारान्त शब्द आहेत तरी धात्वन्त नाहीत. आवन्त प्रातिपदिकाहून आचारक्विप् प्रत्यय होतो असें मानलें तर, तसा क्विवन्त शब्द 'सना-द्यन्ता धातवः' सू. २३०४ या सूत्रान्वये धातुसंज्ञक ठरून त्याहून पुन्हा कृदन्त रूप करण्याकरितां क्विप् प्रत्यय केला असता, तसा आवन्त क्विवन्त प्रातिपदिकाचीं, 'आतो धातोः' असें सूत्र मानल्यास, आकारलोप होऊन एक प्रकारचीं रूपें होतील व 'आतोऽनापः' असें सूत्र मानल्यास, आकारलोप न होतां भिन्न प्रकारचीं रूपें होतील. अशा प्रकारें रूपांत फरक न पडण्याकरितां आवन्त प्रातिपदिकाहून आचारक्विप् होत नाहीं हें मानणें आवश्यक आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) आचारक्विवन्त नामधातूहून यङ्लुक् तर मुळींच होत नाहीं. त्यामुळें 'कस्य स्त्री की' इत्यादि डीवन्त शब्दांहून आचारक्विप् प्रत्यय केल्यानंतर यङ्लुक् केल्यास यङ्लुकाचीं लडाचीं 'अचेकेत्' इत्यादि जीं रूपें होतात त्या रूपांमध्ये डीवन्तापुढें देखील 'त्, स्' हे अपृक्त प्रत्यय येऊं शकतात असें जें कित्येकांचें म्हणणें आहे तें चूक ठरतें. दुसरें असें कीं, 'अचेकेत्' इत्यादि रूपांमध्ये 'डीप्' हा ईकाररूपानें गायम राहत नाहीं. (त्याचें 'ए' असें रूपान्तर होतें व त्यामुळें प्रकृत मूळांतील 'इयाप्' सा पदांत जसा पूर्वी सांगितल्याप्रमाणें प्रत्येक केन्द्र आहे त्या प्रत्येकान्वये 'अचेकेत्' इत्यादि उदाहरणांत 'तल्' इत्यादयः' सा प्रकृत मूळांनी प्राप्तीच होत नाहीं.)

मनोरमा-श्राव्यं निष्कार्यः । उच्चापः सोरित्येव सूत्रमुचितम् । न च गुराः गुरातो ह्न्पादो धातोः सकारेऽतिप्रसङ्गः । उच्चाप्य्यां माहचर्मात्, 'प्रत्ययाप्रत्यययोः' इति परिभाषया च प्रत्ययस्यैव मोर्ग्रहणात् । गजेत्यादौ नलोपस्तु "न हिर्मद्युष्योः" इति ज्ञापकेन नाभिनोऽप्रेति उत्पन्नमपि सूपपाठम् । 'मंयोपा-नलोपो लोपत्वे' इति निदकतण्डे पाठान् । ह्रियो मेदिनं स्थेति यथा । श्रियमभेयान् इत्यत्रापि न दोषः । "राहमरय" इत्यत्र

तकारस्यापि प्रसलेयेण त्सस्येति च्छेदात् । ननु उक्ताखदित्यादी सयोगादिलोपः स्यादिति चेत् न, दत्वे कृते तदप्राप्तेः । असिद्धं दत्वमिति चेन्न । सिद्धकाण्डे 'वस्थादिषु दत्वम्' इति पाठात् । नन्वपदान्तत्वाद् दत्व न स्यादिति चेन्न । सावपि पद भवतीति पक्षाश्रयणात् । तद्वीजन्तु "असर्वनामस्थाने यच्च" इति च्छित्वा यजादौ सर्वनामस्थाने पद नेति व्याख्यानम् ॥

आतापयंत 'हल्ङ्याभ्यः' या प्रकृत सूत्राचे जें व्याख्यान केले आहे त्यावरून असा निष्कर्ष निघतो की, प्रकृत सूत्राऐवजी 'ङ्यापः सो' असेच सूत्र करणे उचित आहे असे सूत्र केल्याने 'सुरा', 'सुरासौ' इत्यादि स्थली 'सु' धातूच्या सकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येत नाही; कारण 'डी, आप्' या प्रत्ययाच्या साहचर्यामुळे व तसेच 'प्रत्ययाप्रत्यययो प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्'—परि १११—ही परिभाषा असल्यामुळे, 'ङ्याप सो' यातील 'सोः' यानें 'सु' प्रत्ययाचेच ग्रहण होऊ शकते (धातूच्या सकाराचे ग्रहण होऊ शकत नाही. 'ङ्याप सो' असे सून पठित केल्यास व हलन्त अङ्गापुढील 'स्, त्, स्' या अपृक्त प्रत्ययाचा 'सयोगान्तस्य लोप' सू ५४ या सूत्रानें लोप केल्यास काशिकेत जे चार दोष दाखविले आहेत त्या नवें दोषाचा परिहार कोणत्या रीतीने करता येतो हे दीक्षित पुढील पक्तीत सांगतात पुढील पक्तीचे विवरण करण्यापूर्वी काशिकेत कोणते दोष दाखविले आहेत हें सांगणे इष्ट आहे प्रकृत सूत्रावरील वृत्तीत वाशिकाकार म्हणतात—'अथ किमर्थं हलन्तात्सुति-नीना लोपो विधीयते, सयोगान्तलोपेनैव सिद्धम् । न सिद्धयति । राजा तथेत्यत्र सयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्तलोपो न स्यात् । उक्तासत् पणं ध्वदित्यत्रापदान्तत्वाद् दत्व च न स्यात् । अभिनोऽनेत्यत्रातो रोरप्लुतादप्लुत इत्युत्वं न स्यात् । अत्रिभर्भवानित्यत्र तु रात्सस्येति नियमात्लोप एव न स्यात् ।' वरील वाशिकेत जो प्रथम दोष दाखविला आहे त्या दोषासंबधानें दीक्षित असे म्हणतात की, 'राजा' इत्यादि उदाहरणात नकारलाप 'न डिसम्बुदधो' या

ज्ञापकाच्या आधारें साधलाच आहे. ('न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या त्रैपादिक पूर्व सूत्राच्या दृष्टीने 'संयोगान्तस्य लोपः' या त्रैपादिक पर सूत्रानें होणारा संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचें 'न ङिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'सम्बुद्धि' या पदाचें ग्रहण ज्ञापक आहे हें पूर्वी सिद्ध करून दाखविलेंच आहे आणि त्यामुळें 'राजन् सु = राजान् स्' या स्थलीं 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें अन्त्य सकाराचा लोप केला असतां, तो सकारलोप नलोपकार्याच्या दृष्टीने सिद्ध ठरत असल्यामुळें, 'राजान्' यांतील अन्त्य नकाराचा लोप होण्यांत व 'राजा' असें इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही आणि अशा रीतीनें काशिकेंत दाखविलेल्या प्रथम दोषाचा परिहार करितां येतो असें दीक्षितांचें म्हणणें आहे. आतां काशिकेंत दाखविलेल्या तृतीय दोषासंबंधानें दीक्षित असें म्हणतात कीं,) 'अभिनोऽत्र' या स्थलीं उत्वाची देखील उपपत्ति सहज लावतां येते; कारण 'संयोगान्तलोपो रोरुत्वे (सिद्धो वक्तव्यः)' असें वास्तिक सिद्धकाष्ठांत पठित केलें आहे व त्यामुळें 'हरिवो मेदिनं त्वा' हा वैदिक प्रयोग जसा सिद्ध होतो त्याचप्रमाणें 'अभिनोऽत्र' हा प्रयोग देखील सहज सिद्ध करतां येऊं शकतो. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत 'रोरुत्वं च' हें वास्तिक पठित करून भाष्यकार म्हणतात 'रोरुत्वं च वक्तव्यम् । अभिनोऽत्र । अच्छिनोऽत्र । संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वादतोऽतीत्युत्त्वं न प्राप्नोति । न वा संयोगान्तलोपस्योत्त्वे सिद्धत्वात् । न वा वक्तव्यम् । किं कारणम् ? । संयोगान्तलोपस्योत्त्वे सिद्धत्वात् । संयोगान्तलोप उत्त्वे सिद्धो भवति । यथा हरिवो मेदिनमिति । तद्यथा-हरिवो मेदिनं त्वेत्यत्र संयोगान्तलोप उत्त्वे सिद्धो भवति ।.' 'अभिनद् सि' या स्थलीं पूर्वी सांगितल्याप्रमाणें 'सि' या प्रत्ययांतील इकाराचा 'इतश्च' सू. २२०७ या सूत्रानें लोप होऊन व 'दश्च' सू. २४६८ या सूत्रानें 'अभिनद्' यांतील अन्त्य दकाराचें रुत्व होऊन 'अभिनर् स्' अशी स्थिति झाली असतां, 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें अन्त्य सकाराचा लोप

केला तर, 'अभिनर् अत्र' या स्थली 'अतो रो.' सू. १६३ या सूत्रानें 'रु' चे उत्त्व होऊ शकत नाही, कारण त्या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने 'सयोगान्तस्य लोपः' या त्रैपादिक सूत्राने झालेला सकारलोप असिद्ध ठरतो व तो झालाच नाही आणि 'रु' व 'अत्र' यातील 'अ' या दोहोमध्ये सकाराचे व्यवधान आहे असे मानावे लागते व त्यामुळे 'रु' चे उत्त्व व गुणरूप एकादेश होऊ शकत नाही आणि 'अभिनोऽत्र' हा प्रयोग सिद्ध होऊ शकत नाही असे शंकाकाराचे म्हणणे आहे यावर दीक्षित असे उत्तर देतात की, 'अतो रोः' य सापादिक सूत्रानें होणाऱ्या उत्त्वकार्याच्या दृष्टीने 'सयोगान्तस्य लोप' या त्रैपादिक सूत्रानें होणारा सयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो असे प्रकृत सापादिक सूत्रावर पठित असलेल्या 'सयोगान्तलोपस्योत्वे सिद्धत्वात्' या वातिकात सांगितले आहे. त्यामुळे उत्त्वाच्या दृष्टीने सकारलोप सिद्ध ठरतो आणि 'रु' चे उत्त्व होऊन व पूर्वं 'अ' आणि त्या पुढील 'रु' चे जागी झालेला 'उ' याचे जागी 'आद् गुण' या सूत्रानें गुणरूप एकादेश होऊन व 'एङः पदान्तादति' सू. ८६ या सूत्रानें पूर्वरूप एकादेश होऊन 'अभिनोऽत्र' हा इष्ट प्रयोग सिद्ध होऊ शकतो आणि अशा रीतीने काशिकेत दिलेल्या तृतीय दोषाचा परिहार करता येतो आता काशिकेत दिलेल्या चतुर्थ दोषाचा देखील कसा परिहार करता येतो हे दीक्षित पुढील पक्तीत सांगतात.) 'अविभर्भवान्' हा प्रयोग देखील सिद्ध करण्यात काही अडचण येत नाही, कारण 'रात्सस्य' सू. २८० या सूत्रात तकाराचा देखील प्रस्लेप घेत्याने 'रात्सस्य' असा पदच्छेद करता येतो. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात— 'रात्सस्य लोपो धक्तव्यः । अविभर्भवान् । अजागर्भवान् । किं पुनः कारणं न सिध्यति ? । नियमवचनात् । रात्सस्येत्येतस्मान्नियमात्रं प्राप्नोति । नैप दोषः । रात्सस्येत्यत्र सकारोपि निर्दिश्यते ।' अशा रीतीने तकाराचा प्रस्लेप म्हणून भाष्यकारांनी सांगितल्याप्रमाणे 'रात्सस्य' असे मूत्र पठित केले असता, त्या सूत्राचा असा अर्थ होतो की, रकारापुढे सकार किंवा

तकार आल्यास त्या सकाराचा किंवा तकाराचा 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने होणारा संयोगान्त लोप होतो व या अर्थान्वये 'अबिभर्त्' या उदाहरणांत रकारापुढील तकाराचा लोप केल्याने 'अबिभर्भवान्' हा प्रयोग सिद्ध होऊं शकतो आणि अशा रीतीने काशिकेंत दिलेल्या चवथ्या दोषाचा देखील परिहार करतां येतो. आतां काशिकेंत दिलेल्या अवशिष्ट द्वितीय दोषाचा कसा परिहार करतां येतो हें दीक्षित पुढील पंक्तींत सांगतात. 'इयापः सोः' एवढेंच सूत्र जर प्रकृत सूत्राएवजीं पठित केलें तर) 'उखास्त' इत्यादि उदाहरणांत संयोगादि लोप होण्याची आपत्ति येते असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण दत्व प्रथम केल्यानें संयोगादिलोपाची प्राप्ति होत नाहीं. दत्व असिद्ध आहे असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण 'वस्वादिषु दत्वम्' हें वार्तिक सिद्धकाण्डांत पठित केलें आहे. सकार पदान्तीं नसल्यामुळे त्याचें दत्व होऊं शकत नाहीं असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण 'सु' हा (प्रथमेच्या एकवचनाचा) विभक्तिप्रत्यय पुढें असतांना देखील त्याच्या अङ्गाला पदसंज्ञा होते या पक्षाचा आश्रय केल्यानें, बरील शंकेचें निवारण करतां येतें. 'असर्वनामस्थाने यच्च' असा योगविभाग कलन 'यजादी सर्वनामस्थाने पदं न' असें जें व्याख्यान केलें आहे तें 'सावपि पदं भवति' हा पक्ष मानण्यास प्रमाण आहे. ('उखायाः संसते इति उखान्तस्' या उदाहरणांत 'संस्' धातूहून विवप् प्रत्यय केल्यावर 'अनिदितां हल उपधायाः' सू. ४१५ या सूत्राने 'संस्' धातूतील नकाराचा लोप होऊन 'उखान्तस्' असें जें रूप होतें त्याहून प्रथमेचा 'सु=स्' प्रत्यय केल्यावर 'उखान्तस् स्' अशी रिथति झाली असतां, जरी 'संयोगान्तस्य लोपः' हें पूर्व त्रैपादिक सूत्र असून 'स्कोः संयोगाद्योः' सू. ३८० हें संयोगादिलोपाचें सूत्र पर त्रैपादिक सूत्र आहे व 'पूर्वधासिद्धम्' सू. १२ हें वचन आहे तरी, संयोगादिलोपाचें सूत्र संयोगान्त लोपाचें

अपवादक असल्यामुळे, 'परोऽपि ह्यपवादो वचनप्रामाण्यादुत्सर्गे
 वर्तव्ये नासिद्धो भवति' या कथ्यदृष्टीत दिलेल्या न्याया-
 न्वयें, सयोगादिलोपरूप अपवादक शास्त्र प्रथम प्रवृत्त
 झाल्याने, अखेरीस असलेल्या दोन सकारार्पकी प्रथम सकाराचा,
 म्हणजे धातूचा अवयव जो सकार त्याचा, लोप पावतो
 पण त्या सकाराचा लोप केल्यास पदाच्या अन्ती सयोग राहत
 नसल्यामुळे, उत्तर सकाराचा लोप होऊ शकत नाही व तो उत्तर
 सकार धातूचा सकार नसल्यामुळे व 'वमुस्सु' सू ३३४ या
 सूत्राने धातूच्या अन्त्य सकाराचा दकार होणे सांगितले असल्यामुळे
 त्या प्रत्ययरूप उत्तर सकाराचे दत्व होऊ शकत नाही व त्यामुळे
 'उखासद्' असे इष्ट रूप न होण्याची आपत्ति येते यथापठित
 प्रकृत सूत्र असले तर, 'उखासस्' या हलन्त अङ्गापुढील 'सु'
 प्रत्ययाचा प्रथम लोप करून नंतर 'स्सु' यातील सकार जो
 धातूचा सकार आहे त्याचे दत्व केल्याने 'उखासद्' असे रूप
 सिद्ध होऊ शकते असे सकाराचे म्हणणे आहे या शबेवर
 दीक्षित अस उत्तर देतात की, धातूतील सकाराचे प्रथम दत्व
 केल्याने सकार सयोगाचा आदि राहत नमून दकार सयोगाचा
 आदि होत असल्यामुळे, 'स्को सयोगाद्यो' या सूत्राची प्राप्तीन
 होत नाही व अशा रीतीने धातूच्या सकाराचा लोप होण्याची आपत्ति
 टळने यावर सकाराचे असे म्हणतो की, 'वमुस्सु' हे दत्वविधायक
 त्रैपादिक सूत्र 'स्को सयोगाद्यो' सू ३८० या त्रैपादिक सूत्राच्या
 मानाने पर सूत्र असल्यामुळे, ते सूत्र 'पूर्वशासिद्धम्' या वचनान्वयें
 'स्को सयोगाद्यो' या सूत्राच्या दृष्टीने असिद्ध ठरते व त्यामुळे
 दत्व प्रथम करता येत नाही आणि 'स्को सयोगाद्या' हे सूत्र
 प्रथम प्रवृत्त झाल्याने त्या सूत्राने धातूतील सकाराचा लोप होण्याची
 व दत्व न होण्याची आपत्ति जशीची तशीच कायम राहणे या शबेवर
 दीक्षित अग उत्तर देतात की, 'वगुस्सु' या त्रैपादिक सूत्राने
 होणारे दत्व मिद्धवाण्डाच्या दृष्टीने मिद्ध समजावे या अर्थाचे

‘वस्वादिषु दत्वं सिद्धं वाच्यम्’ हें वातिक प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत पठित केलें असल्यामुळें, त्या वातिकाच्या आधारे संयोगादि-लोपाचा वाध होऊन दत्व प्रथम होतें व त्यामुळें शंकाकारानें वर दाखविलेली आपत्ति येत नाही; कारण दत्व प्रथम केल्यानें सकार संयोगाचा आदि राहत नाही व त्यामुळें ‘स्कोः’ सू. ३८० या सूत्राची प्राप्तीच होत नाही. यावर पुन्हा शंकाकार असें म्हणतो कीं, ‘वसुसंस्’ या सूत्रानें पदान्तीं असलेल्या ‘स्त्रंस्’ घातूतील अन्त्य सकाराचा दकार होणें सांगितलें आहे व ‘उखासस्’ या समुदायाला जरी ‘सुप्तिङन्तं पदम्’ सू. २९ या सूत्रानें पदसंज्ञा होते तरी, ‘सु’ प्रत्ययापूर्वी असलेल्या ‘उखासस्’ या अङ्गाला पदसंज्ञा होत नाही; कारण ‘सु’ हा सर्वनामस्थान-प्रत्यय आहे व सर्वनामस्थानप्रत्यय पुढें असतां अङ्गाला पदसंज्ञा होत नाही हें ‘स्वादिष्वसर्वनामस्थाने’ सू. २३० या सूत्रावरून स्पष्ट होतें. म्हणून ‘उखासस्’ यांतील अन्त्य सकार पदान्तीं नसल्यामुळें, ‘वसुसंस्’ या सूत्रानें त्या सकाराचा दकार होऊं शकत नाही. या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं, ‘स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने’ व ‘यच्चि भम्’ या दोन सूत्रांचा दण्डपाठ करून ‘स्वादिष्वसर्वनामस्थानेऽयच्चि’ असा योगविभाग केल्यानें त्या योगविभागाचा ‘अयच्चि सर्वनामस्थाने परे सति अङ्गं पदसंज्ञकं भवति’ असा अर्थ होतो व ‘सु’ हा जरी सर्वनामस्थानप्रत्यय आहे तरी तो यजादि-यकारानें किंवा अचानें सुरू होणारा-प्रत्यय नसल्यामुळें त्याच्या अङ्गाला पदसंज्ञा होते. त्यामुळें ‘उखासस् सु’ यांतील ‘उखासस्’ हें अङ्ग पदसंज्ञक ठरून त्यांतील ‘संस्’ घातूच्या अन्त्य सकाराचा ‘वसुसंस्’ या सूत्रानें दकार करतां येतो व ‘संयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्रानें ‘सु = स्’ या प्रत्ययाचा लोप करतां येतो आणि ‘वाऽवसाने’ सू. २०६ या सूत्रानें दकाराचें वैकल्पिक चतुर्थ केल्यास ‘उखासद्, उखासत्’ अशीं पाक्षिक रूपें सिद्ध होतात व अशा रीतीनें काशिकेंत दिलेल्या द्वितीय दोषाचा

परिहार करता येतो. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात :- 'वस्वादिषु दत्व न सिध्यति । उखासत्, पर्णध्वत् । किं कारणम् ?' । सयोगादिलोपवलीयस्त्वात् । सयोगान्तलोपात् सयोगादिलोपो वलीयान् । ननु च दत्वे कृते न भविष्यति । असिद्ध दत्व, तस्यासिद्धत्वात् प्राप्नोति । सिद्धकाण्डे पठित वस्वादिषु दत्व सौ दीर्घत्वे इति । तत्र सौ दीर्घत्वग्रहण न करिष्यते । वस्वादिषु दत्वमित्येव । एवमप्यपदान्तत्वान्न प्राप्नोति । अथ सावपि पद भवति ।' या भाष्याचाच अनुवाद वरील मनोरमेत केला आहे 'सावपि पद भवति' असे जे या भाष्यात म्हटले आहे ते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सू. १-४-१७ या सूत्रावरील भाष्यात सांगितले आहे. त्या भाष्यात भाष्यकार म्हणतात - 'अथवा योगविभागः करिष्यते । स्वादिषु पूर्वं पदसज्ञ भवति । ततः सर्वनामस्थानेऽप्यचि । पूर्वं पदसज्ञ भवति । ततो भम् । भसज्ञ च भवति यजादावसर्वनामस्थान इति ।' सारास प्रकृत सूत्रातून दोन्ही 'हल्' पदाचे प्रत्याख्यान करून हलन्त अङ्गापुढील 'स्, त्, स्' या अपृक्त प्रत्ययाचा 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने लोप केल्यास काशिकेत जे चार दोष दाखविले आहेत ते प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात दाखविले असून भाष्यकारानी त्या दोषाचा मनोरमेत दर्शविल्याप्रमाणे परिहार देखील केला आहे. पण तसा परिहार करून देखील असेरीस भाष्यकारानी 'तस्मादणवयोऽपृक्तलोप सयोगान्तलोपो विज्ञातुम् । न चेद्विज्ञायते ?' । द्विहलपृक्तग्रहण तिरयोश्च ग्रहण कर्तव्यमेव ।' असेच म्हटले आहे या भाष्यावरून हे स्पष्ट होते की, भाष्यकाराना 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने हलन्त अङ्गापुढील अपृक्त प्रत्ययाचा लोप करणे मान्य नसून त्यांना यथापठित प्रवृत्त सूत्र असणे हेच मान्य आहे, व त्याचे कारण त्यांनी दोन ठिकाणी 'उभयतः पाशारज्जुः', म्हणजे इकडे बाड तिकडे विहीर, असा दोष येतो हे दिले आहे असे असून देखील दीक्षित असे म्हणतात की, प्रवृत्त लाबलचक सूत्राऐवजी 'इमाप. सो.' असे लहानसे सूत्र पठित केल्याने कोणतीही आपत्ति येत नाही व सर्व इष्ट रूपे

सिद्ध होऊं शकतात आणि तसें लहानसें सूत्र पठित करण्यांत लाघव असल्यामुळे, तसेंच सूत्र पठित करणें योग्य आहे. या विषयाचें अधिक विवरण शब्दरत्नांत पुढें करण्यांत येईल.)

शब्दरत्न—उत्त्वमपीति । अपिना पूर्वरूपम् । रोरुत्वे इति । कर्तव्ये कृते चेति शेषः । “ न मु ने ” इतिवत् । हरिव इति । हरिशब्दान्मतुपि “ छन्दसीर ” इति वत्वे नुमि संयोगान्तलोपे “ मनुवतोः ” इति रत्वे उत्वे गुणः छेदादीति । कीर्त्तयतेः क्विप्तिवच्चावेव न स्तः, वृतेर्यङ्लुकि लङि ईडभावे तिप्तिपोः प्रयोग एव नास्ति । ‘ यथालक्षणमप्रयुक्ते ’ इत्यत्रैव भाष्योक्तेः । अप्रयुक्ते लक्षणप्रवृत्त्यभावस्यैव योग्यतेत्यर्थः । प्रयुक्तानामिदमव्याख्यानमिति सिद्धान्तात् । नेति व्याख्यानमिति । उपपादितं चेदं रामशब्दात्ते ।

‘ अभिनोज्ञेति उत्त्वमपि सूत्रपादम् ’ या मनोरमेच्या पंक्तींतील ‘ अपि ’ या शब्दानें पूर्वरूपाचें, म्हणजे ‘ एङः पदान्तादति ’ सू. ८६ या सूत्रानें होणाऱ्या पूर्वरूप एकादेशाचें ग्रहण होतें. (‘ अभिनोज्ञ ’ या रूपाची सिद्धि करितांना पूर्वी मनोरमेत हें सांगितलेंच आहे. उत्त्व व गुणरूप एकादेश करून ‘ अभिनो अत्र ’ अशी स्थिति झाली असता, ‘ एङः पदान्तादति ’ या सूत्रानें पूर्वरूप एकादेश केल्यानेच ‘ अभिनोज्ञ ’ हा प्रयोग सिद्ध होतो.) ‘ संयोगान्तलोपो रोरुत्वे ’ या मनोरमेतील पंक्तीपुढें ‘ कर्तव्ये कृते च ’ हीं पदे अद्यावृत्त आहेत. ‘ न मु ने ’ सू. ४३९ या सूत्राचा (‘ नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः ’ असा) ज्याप्रमाणें अर्थ होतो त्याप्रमाणें ‘ संयोगान्तलोपो रोरुत्वे ’ याचा अर्थही (‘ रोरुत्वे कर्तव्ये कृते च संयोगान्तलोपः सिद्धः ’ असा) अर्थ होतो. ‘ हरि ’ या शब्दापुढे ‘ मनुव् ’ प्रत्यय केल्या असता, ‘ छन्दसीरः ’ सू. ३६०० या सूत्रानें यत्न होऊन व नंतर नूनामाम व संयोगान्तलोप होऊन आणि ‘ मनुवतो ग ’ सू. ३६२६ या सूत्रानें रत्त्व व नंतर उच्च आणि गुण होऊन हरिवो मे दिन् न्या ’ या वैदिक प्रयोगांनील

‘हरिवो’ हे रूप सिद्ध होते. (‘तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुप्’ सू. १८९४ या सूत्राने ‘हरि’ शब्दाहून ‘मनुप्’ प्रत्यय केला असता, ‘मनुप्=मत्’ प्रत्ययातील मकार ‘हरि’ यातील अन्त्य ‘इ’ या वर्णापुढे येत असल्यामुळे, ‘छन्दसीरः’ या सूत्राने त्या मकाराचे जागी वकार होऊन ‘हरिवत्’ अशी स्थिति होते. या शब्दाहून सबुद्धीचा ‘सु’ प्रत्यय केला असता, ‘उगिदचा सर्वनामस्थाने’ सू. ३६१ या सूत्राने नुमागम होऊन ‘हरिवन्त् स्’ अशी स्थिति होते व अशा स्थितीत ‘सयोगान्तस्य लोपः’ या सूत्राने ‘सु=स्’ प्रत्ययाचा लोप केल्याने व पुन्हा त्याच सूत्राने पूर्व तकाराचा, लक्ष्यभेद असल्यामुळे, लोप केल्याने ‘हरिवन्’ अशी स्थिति झाली असता, ‘मनुवसो रूप सम्बुद्धो छन्दसि’ सू. ३६२८ या सूत्राने अन्त्य नकाराचे रुत्व होऊन ‘हरिवर्’ अशी स्थिति होते या शब्दापुढे मकार या ‘हस्’ ने सुरू होणारा ‘मे’ हा शब्द असल्यामुळे, ‘हशि च’ सू. १६६ या सापादिक सूत्राने ‘ह’ चे उत्त्व पावले आहे. ‘सयोगान्तस्य लोपः’ या त्रैपादिक सूत्राने झालेला तकाराचा लोप असिद्ध, म्हणजे झालाच नाही, असे मानल्यास, ‘रू’ व मकार या दोहोमध्ये तकाराचे व्यवधान होत असल्यामुळे, ‘हशि च’ या सूत्राने उत्त्व न होण्याची व ‘हरिवो’ असे वैदिक प्रयोगातील रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते परंतु ‘हशि च’ या सापादिक सूत्राने होणाऱ्या उत्त्वकार्याच्या दृष्टीने त्रैपादिक सयोगान्त लोप सिद्ध मानल्याने, म्हणजे प्रवृत्त स्थली तकाराचा लोप झाला आहे व त्याचे व्यवधान नाही असे मानल्याने, ‘हशि च’ या सूत्राने ‘ह’ चे उत्त्व होऊन व ‘आद्गुण’ या सूत्राने गुणरूप एवादेश होऊन ‘हरिवो मे दिन त्वा’ या वैदिक प्रयोगातील ‘हरिवो’ हे रूप सिद्ध होते हे वैदिक रूप सिद्ध होण्याकरिता ‘रोरत्वे कर्तव्ये वृते च सयोगान्तलोप गिद्धो वाच्यः’ हे वचन मानणे भाग आहे आणि हे वचन मानल्याने ‘अभि-
नोऽत्र’ या प्रयोगाची देखील सिद्धि होते) ‘क्त् सशब्दने’ या चुरादिगणांत पठिन असलेल्या घातून ‘क्विप्’ किंवा ‘क्विप्’ प्रत्यय

होतच नाही. त्याचप्रमाणे 'वृत्तु वर्तने' या भ्वादिगणांत पठित असलेल्या धातूच्या यङ्लुकाच्या लङाच्या रूपांत ईडागमरहित 'तिप्, सिप्=त्, स्' या प्रत्ययांचा प्रयोग मुळींच होत नाही; कारण 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' असें प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांतच भाष्यकारांनीं म्हटलें आहे. त्या भाष्यवचनाचा 'अप्रयुक्ते लक्षणप्रवृत्त्यभावस्यैव योग्यता', म्हणजे ज्या रूपांचा भाषेत कोठेंहि प्रयोग होत नाही अशीं रूपे सिद्ध करण्याकरितां पाणिनीय सूत्रांची प्रवृत्ति न करणेंच योग्य आहे, असा अर्थ आहे व भाष्यकारांनीं असें म्हणण्याचें कारण हें आहे कीं, ज्या रूपांचा भाषेत प्रयोग होतो अशा रूपांचें अन्वाख्यान करण्याकरितां, म्हणजे तीं रूपे व्याकरणशास्त्रानें कशीं सिद्ध होतात हें दाखविण्याकरितांच, पाणिनीने व्याकरणशास्त्र रचलें आहे असा सिद्धान्त आहे. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत 'रात्सस्येत्यत्र तकारोपि निर्दिश्यते', म्हणजे 'रात्सस्य' या सूत्रांत तकाराचा प्रश्लेष केल्यानें तकार देखील निर्दिष्ट आहे व रकारापुढें तकार आल्यास तकाराचा देखील लोप होतो असें मानतां येतें असें सांगून, तसें मानलें असतां कोणती बापत्ति येते हें सांगतांना भाष्यकार म्हणतात—'यद्येवं कीर्तयतेरप्रत्ययः कीरिति प्राप्नोति । कीर्त इति चेध्यते । यथालक्षणमप्रयुक्ते ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'कृत्' धातूहून 'नित्यमभ्रूयमाणत्वात् अविद्यमानः प्रत्ययः विववादिः' असा 'अप्रत्यय' केल्यास, म्हणजे 'विवप् = व्, विच् = व्' इत्यादि अपृक्त प्रत्ययाचा 'वेरपृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्रानें लोप होऊन प्रत्यय नाहींसा होत असल्यामुळें तथा प्रकारचा नाहींसा होत असणारा 'विवप्' किंवा 'विच्' प्रत्यय केल्यास, 'उपधायाश्च' सू. २५७१ या सूत्रानें त्या धातूच्या उपधेतील 'ष्ट' चा इकार होऊन व 'उरण्परः' सू. ७० या सूत्रानें तो इकार रपर होऊन व 'उपधायां च' सू. २२६५ या सूत्रानें इकार दीर्घ होऊन आणि 'वेरपृक्तस्य' या सूत्रानें प्रत्यय नाहींसा होऊन 'कीर्त्' अशी स्थिति झाली असतां, 'रात् त्सस्य' असें

तकारप्रश्लेष करून सूत्र पठित केल्याने, बरील उदाहरणात रकारापुढे तकार आला असल्यामुळे, त्या तकाराचा लोप होऊन 'कीर् = की' असे 'कृत्' धातूचे विवप्प्रत्ययान्त किंवा विच्प्रत्ययान्त रूप होऊ पाहते वास्तविक 'कीर्त' असे रूप होणे इष्ट आहे असे सागून 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' असे भाष्यकार म्हणतात. या भाष्यवचनाचा कंयटाने दोन प्रकारे अर्थ केला आहे प्रथम 'यथाऽलक्षणमप्रयुक्ते' असा पाठ मानून व 'लक्षणस्य अभाव अलक्षणम्' असा 'अर्थाभावे अव्ययीभाव' समास करून आणि पुढे 'अलक्षणमनतिक्रम्य यथाऽलक्षणम्' असा अव्ययीभाव-समास करून, 'अप्रयुक्ते, क्वापि व्यवहाराविषये, लक्ष्ये लक्षणा-भावस्यैव योग्यता, लक्षण नैव प्रवर्तते । प्रयोग एव तस्य न भवति' असा अर्थ केला आहे अकारप्रश्लेष करण्यास काही प्रमाण नसल्यामुळे तसा प्रश्लेष न करिता 'यथालक्षणमप्रयुक्ते' असा यथाश्रुत पाठ मानून व 'लक्षणमनतिक्रम्य यथालक्षणम्' असा अव्ययीभावसमास करून 'अप्रयुक्ते लक्षणेन यथा प्राप्नोति तथा कर्तव्यम्' असे द्वितीय व्याख्यान केले आहे बरील शब्दरत्नाच्या पक्षतीत शब्दरत्नकारानी प्रथम व्याख्यान स्वीकारले आहे या दोन प्रकारे व्याख्यान करून कंयटाने जे दोन भिन्न अर्थ केले आहेत त्या अर्थामध्ये फरक हा आहे की, ज्या रूपाचा भाषेत प्रयोग होत नाही असा रूपाची पाणिनीय सूत्रे प्रवृत्त करून सिद्ध करू नये असा प्रथम व्याख्यानाचा तात्पर्यार्थ आहे व ज्या रूपाचा भाषेत प्रयोग होत नाही तसा रूपाची सिद्धि पाणिनीय मूत्रान्वये करणे असल्यास, पाणिनीय सूत्रे प्रवृत्त केल्याने ज्या प्रकारची रूपे सिद्ध होतील तशीच रूपे ग्राह्य मानली पाहिजेत असा कंयटाच्या द्वितीय व्याख्यानाचा तात्पर्यार्थ आहे जर विवप् प्रत्ययान्त 'कृत्' धातूचा भाषेत प्रयोग आढळत नाही तर, प्रथम व्याख्यानान्वये पाणिनीय सूत्रे प्रवृत्त करून तसे रूप सिद्ध करण्याची मुळीच राटपट करू नये द्वितीय व्याख्यानान्वये,

तसें रूप सिद्ध करण्याची इच्छा असेल तर पाणिनीय सूत्र—‘रात् त्सस्य’ हें सूत्र—प्रवृत्त करून ‘कीः’ असें जें रूप होतें तेंच ग्राह्य मानलें पाहिजे, व ‘कीर्त’ असें जें रूप होणें इष्ट वाटतें पण जें पाणिनीय सूत्र प्रवृत्त केल्यानें सिद्ध होऊं शकत नाहीं तें रूप अस्वीकाराहेंच—त्याज्यच—मानलें पाहिजे. यङ्लुकाचीं लडाचीं रूपें करितांना सार्वधातुक हलादि पित् प्रत्ययांना ‘यङो वा’ सू. २६५१ या सूत्रानें विकल्पेंकरून ईडागम होणें सांगितलें आहे. ‘तिप्’ प्रत्ययांतील इकाराचा लङ्लकारांत ‘इतश्च’ सू. २२०७ या सूत्रानें लोप केल्यावर ‘त्’ असा जो हलादि पित् अपृक्त प्रत्यय अवशिष्ट राहतो त्याला विकल्पेंकरून ईडागम न केल्यास ‘वृत्’ धातूचीं यङ्लुकाचीं लडाचीं प्रथमपुरुषाच्या एकवचनाचीं, कीमुदीत यङ्लुक्प्रकरणांत ‘ऋतश्च’ सू. २६५३ या सूत्रावरील वृत्तींत सांगितल्याप्रमाणें, ‘अवर्बत्, अवरिवत्, अवरीवत्’ अशीं तीन पाक्षिक रूपें होतात. या तीन्ही रूपांत रकारापुढें तकार आला असल्यामुळें, ‘रात् त्सस्य’ असें सूत्र पठित केलें तर, तकाराचा लोप होण्याची व ‘अवर्बः, अवरिवः, अवरीवः’ अशीं रूपें होण्याची आपत्ति येते. वास्तविक ‘वृत्’ धातूचीं यङ्लुकाच्या लडाचीं प्रथमपुरुषाच्या एकवचनाचीं ईडागमरहित रूपें भावेंत मुळींच आढळत नाहींत. म्हणून ‘यथालक्षणमप्रयुक्ते’ या भाष्यवचनाना जो प्रथम अर्थ केला आहे त्या अर्थान्वयें तशीं रूपें सिद्ध करण्याची सटपट करणेंच अयोग्य आहे व जर तशीं रूपें सिद्ध करण्याचा आग्रहच असेल तर, पाणिनीय सूत्रान्वयें, म्हणजे भाष्यकारांनीं सांगितल्याप्रमाणें ‘रात् त्सस्य’ असें सूत्र मानल्यानें, जीं रूपें सिद्ध होणान गीं, इष्ट वाटत नसलीं तरी, ग्राह्य मानणें भाग आहे. म्हणजे कीमुदीत दिलेलीं ‘अवर्बत्, अवरिवत्, अवरीवत्’ हीं जीं तीन रूपें सिद्ध होणें इष्ट वाटतें तीं रूपें न स्वीकारतां ‘रात् त्सस्य’ या सूत्रान्वयें धातूची ‘अवर्बः, अवरिवः, अवरीवः’ हीं तीन रूपें स्वीकारणें भाग आहे. पण सदररश्नासार म्हणतात कीं, जीं रूपें भावेंत

आढळत नाहीत तशी रूपे सिद्ध करण्याच्या भरीस पडू नये व त्याचे कारण हे की, जी रूपे भाषेत प्रचलित आहेत ती रूपे व्याकरण-रीत्या कशी सिद्ध होतात याचे स्पष्टीकरण करण्याकरिताच पाणिनीय व्याकरणशास्त्र रचले आहे व जी रूपे भाषेत प्रचलित नाहीत तशी रूपे सिद्ध करण्याकरिता ते शास्त्र रचले नाही असा भाष्यकारीय सिद्धान्त आहे) 'यजादी सर्वनामस्थाने पदं न' असे जें मनोरमेत म्हटले आहे त्याचे विवरण 'राम' शब्दाची रूपे सिद्ध करतेवेळी अखेरीस पूर्वी केले आहे

मनोरमा-न चैवं राजेत्यादी नलोपे कृते सो रुत्वविसर्गो स्यातामिति वाच्यम् । "इतोऽत्" इति सिद्धे "पथिमथि" इत्याकारविधानेन प्रथमं सुलोपस्य ज्ञापनाद् । ननु नंतज् ज्ञापकं संबुद्धौ चरितार्थत्वात् हे पण्याः मन्याः ऋभुक्षाः । तत्र हि दोषः "असंबुद्धौ" इति पर्युदस्तः नलोपश्च नियिद्ध इति चेत् । एवं तर्हि नलोपात् प्राक् संयोगान्तलोप इत्यर्थे "न डिसंबुद्धोः" इति सूत्रमेव ज्ञापकमस्तु । तथा हि— "डिसम्बुद्धोः" इति पठ्ठी न तु सप्तमी डेलुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावात्, डचन्तस्य च प्रातिपदिकस्येति सामानाधिकरण्येनान्वयः न च प्रथमं संयोगान्तलोपं विना सम्बुद्ध्यन्तं प्रातिपदिकं लभ्यते । तस्मान् डच्चापः सोरिति न्यासे न किञ्चिद् बाधकम् । यद्यि तु 'वत्त्वादिषु बत्वम्' इति वार्तिकं प्रत्याख्यायते । अधातुग्रहणेनैवोक्तास्तदित्यादी दीर्घाभावसिद्धेः । तर्हि हल्ङच्चापः सोरित्येव सूत्रमस्तु । यत्तु ययाधृतं सूत्रं प्राच्या व्याख्यातम् डघन्तादाबन्ताद् दीर्घाच्चेति । तन्न । डच्चापो हि दीर्घः न तु तदन्तमपि । न च दीर्घाद् डघन्तादित्यादेर्दीर्घो यो डी तदन्तादित्यादिरर्थो लभ्यते । दीर्घात् इति पञ्चम्या अनन्वयात् । समासे उपसर्जनपोङ्घापोविशेषणयोगात् । उक्तं हि भाष्ये— "सविशेषणानां वृत्तिर्न" "वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न" इति । एतेन अनदीसर्जनं ह्रस्वम् इउवर्गान्तमित्यपि प्राचो वृत्तिः प्रत्युक्ता ।

प्रथमेच्या एकवचनाचा 'सु' प्रत्यय पुढें असतां अङ्गाला पद-
संज्ञा होते हा जो पक्ष वर मनोरमेत सांगितला आहे तो स्वीकार-
ल्यास व 'इयापः सोः' असें प्रकृत सूत्र मानल्यास, 'राजा' इत्यादि
उदाहरणांत नकाराचा लोप केला असतां, 'सु' प्रत्ययाचें रुत्व व
विसर्ग होण्याची आपत्ति येते असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें
बरोबर नाही; कारण 'इतोऽस्तर्वनामस्थाने' सू. ३६६ या सूत्रानेंच
इष्ट रूपांची सिद्धि होत असून देखील 'पथिमथृभुक्षामात्' सू. ३६५
या सूत्रानें जो आकारादेश होण्याचें विधान केलें आहे त्यावरून हें
ज्ञापित होतें कीं, 'सु' लोप प्रथम होतो. (शंकाकाराचें असें म्हणणें
आहे कीं, 'सावपि पदं भवति' हा पक्ष स्वीकारल्यास, 'राजन् सु'
या स्थलीं 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धी' सू. २५० या सूत्रानें उपधा
दीर्घ होऊन 'राजान् सु' अशी स्थिति झाली असतां, 'राजान्' या
नान्त अङ्गापुढें 'सु' हा प्रत्यय असल्यामुळें 'राजान्' याला पदसंज्ञा
होते व 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सू. २३६ हें त्रैपादिक सूत्र
'संयोगान्तस्य लोपः' सू. ५४ या त्रैपादिक सूत्राच्या मानानें पूर्वं
सूत्र असल्यामुळें, 'सु = स्' प्रत्ययाचा 'संयोगान्तस्य लोपः' या
सूत्रानें लोप होण्यापूर्वी नकाराचा लोप प्रथम होऊन 'राजा सु'
अशी स्थिति होते. अशा स्थितींत पदाच्या अन्ती संयोग नसल्या-
मुळें, 'सु' प्रत्ययाचा, म्हणजे सकाराचा, लोप होऊं शकत नाही.
त्यामुळें 'गमजुषो रुः' सू. १६२ या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचें रुत्व
होऊन व 'गरवगानयोर्विसर्जनीयः' सू. ७६ या सूत्रानें रेफाचा-
विसर्ग होऊन 'राजाः' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते.
म्हणून 'सावपि पदं भवति' हा पक्ष मानणें व तमेंच प्रकृत सूत्र-
पेथर्जा 'इयापः सोः' एवढेंच सूत्र मानणें अयोग्य आहे असा
शक्यकारणाचा म्हणण्याचा तात्पर्यार्थ आहे. या दृष्टीवर दीक्षित
ज्येष्ठ उतर देवाना या, 'राजान् सु = राजान् न्' या स्थलीं नकार-
लोप प्रथम न घडितो 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें संयोगान्त
नसल्याचा लोप प्रथम करून संयोग नकारलोप केल्याने, शंकाकारानें

दर्शविलेली आपत्ति येत नाही. पण वर सांगितल्याप्रमाणे 'सयोगान्तस्य लोपः' हे पर त्रैपादिक शास्त्र असल्यामुळे व 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू. १२ हे वचन असल्यामुळे, ते सूत्र 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या त्रैपादिक पूर्वं सूत्रापूर्वी कसे प्रवृत्त होऊं शकणार व सकारलोप त्या सूत्रानें कसा प्रथम करता येणार ? या प्रश्नाचे दीक्षित असे उत्तर देतात की, नलोप पूर्वं त्रैपादिक सूत्रानें होणारा असून संयोगान्त सकाराचा लोप उत्तर त्रैपादिक सूत्रानें जरी होणारा आहे तरी, तो प्रथम करता येतो व 'पथिमथि' सू. ३६५ या सूत्रातील 'आत्' या पदाचे ग्रहण याचे ज्ञापक आहे. 'पथिन् सु' या स्थली 'इतोऽस्तर्वनामस्थाने' सू. ३६६ या सूत्रानें 'पथिन्' यातील इकाराचे जागी अकारादेश करून 'पथन् सु' अशी स्थिति झाली असता, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सू. २५० या सूत्रानें उपधा दीर्घ होऊन व 'घो न्यः' सू. ३६७ या सूत्रानें थकाराचे जागी 'न्य्' असा आदेश होऊन 'पन्यान् सु' अशी स्थिति झाल्यावर, 'सु' प्रत्यय पुढे असल्यामुळे 'पन्यान्' या नान्त अङ्गाला पदसज्ञा होते असा पक्ष मानल्यास, 'सयोगान्तस्य लोपः' या त्रैपादिक सूत्राच्या मानानें 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' हें त्रैपादिक पूर्वं सूत्र असल्यामुळे, त्या पूर्वं त्रैपादिक सूत्रानें नकारलोप प्रथम करून नंतर 'सु' प्रत्ययाचे रुत्व करून विसर्ग केला असता, 'पन्याः' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकतेंच. मग तें रूप सिद्ध करण्याकरिता पाणिनीनं 'पथिमथि' सू. ३६५ हें सूत्र वा केले ? ते सूत्र व्यर्थ ठरू पाहते. ते व्यर्थ न ठरावे यावरिता हें मानणे आवश्यक आहे की, नकारान्त शब्दापुढे 'सु' प्रत्यय आला असता, नकारलोप प्रथम न होता 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचा लोप प्रथम होतो. त्यामुळे 'पथिन् सु = पथन् सु = पथान् सु = पन्यान् सु' या स्थितीत 'सु' लोप प्रथम पावतो व तो प्रथम बेल्याग 'पन्या.' असे इष्ट रूप सिद्ध न होता, नकारलोप नंतर बेल्याने 'पन्या' असे अनिष्ट रूप होण्याची

आपत्ति येते. ती आपत्ति टाळण्याकरिता पाणिनीला 'पथिमथि' हें सूत्र मुद्दाम करावें लागलें. तें सूत्र केलें असल्यामुळें, 'पथिन् सु = पथन् सु' अशा स्थितींत 'पथन्' यांतील अन्त्य नकाराचे जागीं आकारादेश होऊन व 'अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें सवर्ण-दीर्घ एकादेश होऊन आणि 'थो न्थः' या सूत्रानें थकाराचे जागीं 'न्थ' असा आदेश होऊन 'पन्था सु = पन्था स्' अशी स्थिति झाली असतां, 'सु = स्' हा प्रत्यय संयोगान्त नसल्यामुळें त्याचा लोप पावत नाही आणि त्याचें स्त्व व विसर्ग होऊन 'पन्थाः' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. सारांश नकारान्त शब्दापुढें 'सु' प्रत्यय आला असतां नकारलोप प्रथम न होतां 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें 'सु' लोप प्रथम होतो याचें 'पथिमथि' हें सूत्र जापक आहे. या जापकान्वयें 'राजन् सु = राजान् सु' या स्थलीं नान्त अज्ञापुढें असणाऱ्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप प्रथम केल्यास व नंतर 'राजान्' या प्रातिपदिकसंज्ञक पदांतील अन्त्य नकाराचा लोप केल्यास, 'राजा' असें इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत कांही अडचण येत नाही असें दीक्षितांचें म्हणणें आहे. यावर शंकाकार असें म्हणतो कीं, नान्त अज्ञापुढील 'सु' प्रत्ययाचा 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें प्रथम लोप होऊन नंतर त्या अज्ञांतील अन्त्य नकाराचा 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें लोप होतो याचें) 'पथिमथि' हें सूत्र जापक मानतां येत नाही; कारण 'हे पन्थाः मन्थाः ऋमुक्षाः' हीं संबुद्धीचीं रूपें सिद्ध होण्याकरितां तें सूत्र (आवश्यक आहे व अशा रीतीनें तें सूत्र) चरितार्थ ठरतें. हीं बरील संबुद्धीचीं रूपें सिद्ध करितांना उपधा दीर्घ होऊं शकत नाही; कारण ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धी' सू. २५० या सूत्रांत) 'असम्बुद्धी' असा पर्युदास आहे आणि तसेंच (संबुद्धीचा प्रत्यय पुढें असतां 'न डिसम्बुद्धचोः' सू. ३५२ या सूत्रानें) नकारलोप होण्याचा निषेध केला आहे. (त्यामुळें 'हे पथिन् सु = हे पथन् सु = हे पन्थन् सु' या स्थलीं संबुद्धीचा 'सु' प्रत्यय नान्त अज्ञापुढें असल्यामुळें उपधा दीर्घ होऊं शकत नाही व तसेंच

त्या अङ्गातील अन्त्य नकाराचा लोपहि होऊ शकत नाही आणि म्हणून पाणिनीला 'पथिमथि' हे सूत्र मुद्दाम करावे लागले. त्या सूत्राने 'हे पथिन् सु = हे पथन् सु = हे पन्थन् सु' या स्थली 'पन्थन्' यातील अन्त्य नकाराचे जागी आकारादेश होत असल्यामुळे, उपधा दीर्घ होण्याची गरज राहत नाही व नकारलोप होण्याचाहि प्रसंग येत नाही आणि 'सु = स्' हा प्रत्यय सयोगान्त राहत नसल्यामुळे, त्याचा लोप न होता रुक् व विसर्ग होऊन 'पन्था' इत्यादि सम्बुद्धीची इष्ट रूपे सिद्ध होतात. अशा रीतीने ती सम्बुद्धीची रूपे सिद्ध होण्याकरिता 'पथिमथि' हे सूत्र आवश्यक असल्यामुळे, नान्त अङ्गापुढील 'सु' प्रत्ययाचा नकारलोप होण्यापूर्वी 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने प्रथम लोप होतो याचे ते सूत्र जापक मानता येत नाही असे शकाकाराच्या म्हणण्याचे तात्पर्य आहे. शकाकाराचे हे म्हणणे यथार्थ गानून दीक्षित असे उत्तर देतात की, असे जर शकाकाराचे म्हणणे आहे तर मग नलोप होण्यापूर्वी सयोगान्तलोप होतो या विषयाचे 'न डिसम्बुद्धयोः' हेच सूत्र जापक मानावे, व ते सूत्र तसे जापक मानले असता, त्या सूत्रातील 'डिसम्बुद्धयोः' हे पद सप्तम्यन्त न मानता षष्ठ्यन्त मानले पाहिजे, कारण ते पद सप्तम्यन्त मानल्यास, 'डि' या सप्तमीच्या एववचनाच्या प्रत्ययाचा ('सुषा सुलुक्' सू. ३५६१ या सूत्राने) लुक् होत असल्यामुळे (व 'न लुमताङ्गस्य' सू. २६३ हा निषेध असल्यामुळे) येथे प्रत्ययलक्षण होऊ शकत नाही, म्हणजे लुकाने लुप्त झालेला 'डि' हा प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानता येऊ शकत नाही (पण 'डिसम्बुद्धयोः' हे पद षष्ठ्यन्त मानल्याने व प्रत्ययग्रहणपरिभाषान्वये प्रत्ययाने प्रत्ययान्ताचे ग्रहण होत असल्यामुळे) 'इयन्तस्य' (व 'सम्बुद्धयन्तस्य') या पदाचा 'प्रातिपदिकस्य' या (अनुवृत्त होणाऱ्या) पदाशी सामानाधिकरण्याने अन्वय होऊ शकतो व 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने सम्बुद्धीच्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप प्रथम केल्याशिवाय

संबुद्धचन्त प्रातिपदिक मिळूच शकत नाही. ('न डिसम्बुद्धचो' सू. ३५२ या सूत्रांतोळ 'डिसम्बुद्धचो:' हें पद सप्तम्यन्त मानलें तर, 'डि' प्रत्यय व संबुद्धिप्रत्यय हीं नकारलोप न होण्याचीं निमित्तें ठरतात व 'परमे व्योमन्' इत्यादि वैदिक प्रयोगांत 'व्योमन्' शब्दापुढील 'डि' प्रत्ययाचा 'सुपां सुलुक्' सू. ३५६१ या सूत्रानें लुक् झाला असता, डिप्रत्ययनिमित्तक नकारलोपनिषेध-रूप कार्य करतेवेळीं 'डि' प्रत्यय विद्यमान आहे असें, 'न लुमताङ्गस्य' या निषेधान्वयें, प्रत्ययलक्षणानें मानतां येऊं शकत नाहीं आणि त्यामुळें 'व्योमन्' यांतोळ अन्त्य नकाराचा 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें लोप होण्याची आपत्ति टाळतां येणें अशक्य आहे. परंतु 'डिसम्बुद्धचो:' हें षष्ठ्यन्त पद मानलें तर, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या पूर्वं सूत्रांतून 'प्रातिपदिकस्य' या षष्ठ्यन्त पदाची त्या सूत्रांत अनुवृत्ति केल्यानें 'ङ्यन्तस्य सम्बुद्धचन्तस्य च प्रातिपदिकस्य नलोपो न स्यात्' असा त्या सूत्राचा अर्थ होतो व तसा सूत्रार्थ केल्यानें 'व्योमन्' हें पद प्रत्ययलक्षणानें ङ्यन्त प्रातिपदिक-प्रातिपदिकान्त पद-आहे असें मानतां येतें; कारण येथें डिप्रत्ययनिमित्तक कोणतेंहि कार्य अज्जाला करणें नसून ङ्यन्त कार्या प्रत्ययलक्षणानें विद्यमान आहे असें मानून त्याचे ठिकाणीं नलोपाचा निषेध करणें आहे. त्यामुळें 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध येथें लागू पडत नाही व 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' या सूत्रान्वयें 'व्योमन्' हें ङ्यन्त पद मानतां येतें आणि तें प्रातिपदिक देखील असल्यामुळें, 'न डिसम्बुद्धचो:' हा निषेध 'व्योमन्' या स्थलीं लागू पडतो व त्यांतोळ नकारलोप होण्याची आपत्ति टळते. आतां संबुद्धचन्त प्रातिपदिक होण्याकरितां संबुद्धीच्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप होणें आवश्यक आहे असें जें दीक्षितांनीं म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, जोपर्यंत संबुद्धीचा 'सु' प्रत्यय विद्यमान आहे तोपर्यंत 'सु' प्रत्ययान्तालाच, म्हणजे 'हे राजन् सु' या समुदायालाच, संबुद्धचन्त म्हणतां येतें व तो समुदाय प्रत्ययान्त असल्यामुळें व 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्राति-

पदिकम्' सू. १७८ या सूत्रात् 'अप्रत्ययः' असा पर्युदास असल्या-
मुळें, त्याला प्रातिपदिकसज्ञा होत नाही. पण 'सयोगान्तस्य लोप.'
या सूत्रानें 'सु = स्' या सबुद्धीच्या प्रत्ययाचा लोप केल्यावर
'राजन्' हें प्रातिपदिक प्रत्ययलक्षणानें सबुद्धचन्त मानता येते
आणि 'नान्तस्य सम्बुद्धचन्तस्य प्रातिपदिकस्य नलोपो न स्यात्'
असा निषेध मानल्यानें, 'हे राजन्' यातील नकाराचा लोप न
होता 'हे राजन्' असे सबुद्धीचे इष्ट रूप सिद्ध होते. सारास
'न ङिसम्बुद्धयोः' या सूत्रातील 'ङि' हे पद पठ्यचन्त मानावे लागत
असल्यामुळें, 'ङिसम्बुद्धयोः' या इतरेतरयोगवृद्ध समासातील
'सम्बुद्धि' हें पद देखील पठ्यचन्तच मानले पाहिजे आणि सबुद्धचन्त
प्रातिपदिकरूप नलोपाचा कार्या मिळण्याकरिता सबुद्धीच्या 'सु'
प्रत्ययाचा, वर सांगितल्याप्रमाणे, प्रथम लोप होणे आवश्यक
असल्यामुळें त्यावरूनच हे सिद्ध होते की, नकारलोप होण्यापूर्वी 'सु'
प्रत्ययाचा लोप प्रथम होतो व असा रीतीनें त्या सूत्रातील 'सम्बुद्धि'
पदाचे ग्रहण नलोपापूर्वी 'सु' लोप होतो याचे जापक ठरतें.
त्यामुळें 'राजन् सु = राजान् सु' या स्थली 'सु = स्' या
प्रत्ययाचा 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्रानें प्रथम लोप होऊन व नंतर
'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें नकारलोप होऊन 'राजा'
असे प्रथमेच्या एकवचनाचे इष्ट रूप सिद्ध होण्यात माहीं अडचण
येत नाही. येथें हे लक्षात ठेवावे की, 'न ङिसम्बुद्धयोः' या सूत्रा-
तील 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण सबुद्धिप्रत्ययापुरतेंच विशेषापेक्ष
जापक न मानता सामान्यापेक्ष जापक मानले आहे. तें विशेषापेक्ष
जापक मानले तर, 'राजन् सु = राजान् सु' या स्थली नकारलोपा-
पूर्वी प्रथमेच्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप करता येणार नाही.)
ग्रहण (वरील विवेचनावरून हें स्पष्ट होते की, प्रश्न सूत्राऐवजीं)
'इमाप सो' एवढेंच सूत्र मानल्यानें कोणत्याहि प्रकारचा दोष
उद्भवत नाही. 'अत्वसन्तस्य चापातो' सू. ४२५ या सूत्रात 'अपातोः'
या पदाचे ग्रहण केले असल्यामुळें, 'उत्तागम्' इत्यादि उदाहरणांत

उपधादीर्घकार्याची प्राप्तीच होत नाही व त्यामुळे 'वस्वादिषु दत्व' सौ दीर्घत्वे' हें वार्तिक असण्याची कांहीं गरज नाही असें मानून त्या वार्तिकाचें प्रत्याख्यान केलें तर, 'हल्ङ्यापः सोः' असें सूत्र मानणें भाग आहे. ('उखायाः संसते इति उखास्रस्' या स्थलीं जरी असन्त अङ्ग आहे तरी तें घात्वन्त असल्यामुळे व 'अत्वसन्तस्य' या सूत्रांत 'अघातोः' असा निषेध असल्यामुळे, या उदाहरणांत उपधा-दीर्घकार्याची प्राप्तीच होत नाही व त्यामुळे दत्वाची सिद्धि होण्या-करितां 'वस्वादिषु दत्वम्' हें वार्तिक मानण्याची कांहींच गरज राहत नाही व 'हल्ङ्यापः सोः' असें सूत्र पठित केल्यास, 'उखा-स्रस् सु' या स्थलीं हलन्त अङ्गापुढें 'सु' प्रत्यय आला असल्यामुळे त्याचा प्रकृत सूत्रानें प्रथम लोप केला असतां, 'उखास्रस्' हें अङ्ग प्रत्ययलक्षणानें पदसंज्ञक ठरतें व त्यांतील अन्त्य सकाराचें 'वसुलंसु' सू. ३३४ या त्रैपादिक सूत्रानें नंतर दत्व केल्यानें 'उखास्रद्' असें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकतें.) प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं यथापठित प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान करितांना 'इयन्तादावन्ताद् दीर्घाच्च' असें जें न्हटलें आहे तें वरोवर नाही; कारण 'ङी, आप्' हे दीर्घ आहेत तरी, इयन्त व आवन्त हे कांहीं दीर्घ नाहीत. ('दीर्घ' हा शब्दाचा धर्म नसून केवळ अचाचा धर्म असल्यामुळे, 'दीर्घात्' हें 'ङी=ई' व 'आप् = आ' या अक्षांचेंच विशेषण होऊं शकतें. इयन्त व आवन्त शब्दांचें 'दीर्घात्' हें पद विशेषण होऊं शकत नाही असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'दीर्घात् इयन्तात्, दीर्घात् आवन्तात्' यांचा 'दीर्घो यो ङी, दीर्घो य आप् तदन्तात्' असा अर्थ होऊं शकत नाही; कारण 'दीर्घात्' या पञ्चम्यन्त विशेषणाचा ('हल्ङ्याप्यः' या सामासिक पदांतील अवयव जे) 'ङी, आप्' त्यांशीं अन्यय होऊं शकत नाही. ('इयन्त, आवन्त' या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि) समासांत 'ङी, आप्' हे उपसर्जन जागे असल्यामुळे, 'दीर्घात्' हें पद त्याचें विशेषण होऊं शकत नाही. ('समर्थः पदविधिः' सू. २-१-१ या सूत्रावरील) भाष्यांत

‘सविशेषणा वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न’ असे म्हटले आहे (व या भाष्यवचनाचा अर्थ असा आहे की, जें पद वाक्यातील विशेषणरूप पृथक् पदाशी विशेष्यरूपानें अन्वित आहे त्याचा वाक्यातील इतर पदाशी समास होऊ शकत नाही आणि त्याचप्रमाणे जो शब्द समासाचा अवयव आहे त्याचे वाक्यातील पृथक् पद विशेषण होऊ शकत नाही या वचनान्वयें ‘हल्ङ्याढ्य’ या सामासिक पदातील ‘ङी, आप्’ या अवयवाचे ‘दीर्घात्’ हे सौत्र वाक्यातील पृथक् पद विशेषण होऊ शकत नाही) अशी भाष्यवचनें असल्यामुळे (‘शेषो घ्यसखि’ सू १-४-७ या सूत्राचे व्याख्यान करिताना) प्रक्रियाकौमुदीकारानी ‘अनदीमज्ञ ह्रस्वम् इउवर्णान्तम्’ असे जें म्हटले आहे ते देखील चूक ठरते (प्रक्रियाकौमुदीकारानी ‘शेषो घ्यसखि’ या सूत्राचे ‘अनदीमज्ञ ह्रस्वमिउवर्णान्त सखिवर्जं घिसज्ञ स्यात्’ अस व्याख्यान केले आहे या वाक्यात ‘इउवर्णान्तम्’ हे सामासिक पद आहे व या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासात ‘इउवर्ण’ हें पद त्या समासाचे पूर्वावयव असून उपसर्जन असल्यामुळे, वरील वाक्यातील ‘ह्रस्वम्’ हें पृथक् पद त्या समासावयवाचे, म्हणजे ‘इउवर्ण’ याचे, विशेषण होऊ शकत नाही व ‘ह्रस्वमुवर्णान्तम्’ असे प्रक्रियाकौमुदीकारानी वरील वाक्यात म्हणावयास पाहिजे होते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे)

शब्दरत्न- नलोपे कृते इति । सयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वादिति भावः । नलोपात्प्राप्तिरिति । विभक्तिसयोगान्तलोपस्य नलोपविषयेऽसिद्धत्वाभावात्तत्प्राप्तेरिति शेषः । एतेन राजंघते, चक्रघत्र, राजाच्छत्रमित्यादी वृद्धिपण्ठुगादिक न स्यात्सयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् । किं च कर्त्र्येत्यादावेकमेव यन्नास्त्र पूर्वंपरविषयभेदाद्भिन्नमिति शब्दपरविप्रतिषेधात्पर्ययादेश इति “अच. परस्मिन्” इत्यत्र भाष्यकंयटयोः स्पष्टम् । विषयगतपौर्वापर्यस्य लक्षणे आरोप इति तदाशयस्तेन धीमानित्यादी भुविषयसयोगान्तलोपनास्त्रस्य तलोपविषये तत्र पूर्वस्मिन्नसिद्धत्वेन तलोपो न स्यादित्यपास्तम् । साधपि पदमिति पक्षेतुमदो-

पाच्च । आरोपे मनाभावाच्च । षष्ठीति । अत एव डौ नलोपनिषेधः
 सार्थकस्तदाह—डेरिति । न च “न लुमता” इति निषेधानिस्थत्वान्न
 दोषः । तदपेक्षया षष्ठ्यन्ततया व्याख्यानस्यैव लघुत्वात् । सम्बु-
 द्ध्यन्तेति । संबुद्ध्यन्तप्रातिपदिकान्तनस्य लोपो नेत्यर्थः । इतिसूत्र-
 मस्त्विति । अत एव सुपीरित्यादिसिद्धिः । अन्यथा पदान्ते संयोगादि
 लोपस्य संयोगान्तलोपापवादत्वात्तत्प्रवृत्तौ “बोः” इति दीर्घो न स्यात् ।
 “तिप्यनस्तेः” “सिपि धातो” इति सूत्राभ्यां धातुसम्बन्धिपदान्त-
 सस्य दत्वरुत्वविधायकाभ्यां, कसाहचर्येण च प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धि-
 वर्णसंयोगमाश्रित्य सस्य पदान्ते संयोगादिलोपाप्रवृत्तिकल्पने तु न
 किञ्चिल्लाघवम् । किं च “न डिसंबुद्ध्योः” इति सप्तम्येव युक्ता ।
 डिग्रहणाच्च “न लुमता” इत्यस्यैतद्विषये ऽनित्यत्वम् । एतन्मूलक-
 मेव “वा नपुंसकानाम्” इति वार्त्तिकम् । एवं च ब्रह्मन्नाद्यर्थं
 सम्बुद्धिग्रहणस्यावश्यकत्वेन ज्ञापकात्वासम्भवः । अपूर्ववचनकरणेन
 सिद्धप्रत्याख्यानन्तु न युक्तम् । इदमेवाभिप्रेत्य सूत्रशेषे भाष्ये
 “तस्मादशक्यो हलपूर्वतलोपः संयोगान्तलोपो विज्ञातुम् । न चेद्वि-
 ज्ञायते द्विहलपूर्वतग्रहणं तिस्योश्च ग्रहणं कर्त्तव्यम्” इत्युक्तम् । इति
 सूत्रमित्युपलक्षणम् । हल्ङ्चापः सुतिसि हलिति सूत्रमस्त्वित्याशयात् ।
 अत एवाविभा राज्यमित्यादौ “ढ्रलोप” इति दीर्घसिद्धिरिति दिक् ।
 दीर्घाच्चेति । हलन्तादित्यपेक्षश्चकार इति तद्व्याख्यातारः । न तु
 तदन्तमपीति । तस्याजल्लसमुदायरूपत्वादिति भावः । प्रत्युक्तेति ।
 इउवर्णान्तस्य ह्रस्वत्वासंभवादुउवर्णयोरेकदेशत्वेन तद्विशेषणा-
 सम्भवाच्चेति भावः ।

‘न चैवं राजेत्यादौ नलोपे कृते’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें
 आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, नलोपकार्याच्या दृष्टीनें संयोगान्त-
 लोप असिद्ध असल्यामुळें, नलोप प्रथम होतो. ‘नलोपात् प्राक्
 संयोगान्तलोपः’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्यापुढें ‘विभक्ति-
 संयोगान्तलोपस्य नलोपविषयेऽसिद्धत्वाभावज्ञापनद्वारा’ हीं पदे
 अध्याहृत आहेत (व त्यामुळें अध्याहृत पदांसहित त्या समग्र

पवतीचा असा अर्थ होतो की, नलोपाच्या विषयात, म्हणजे नलोप-
 रूप कार्यं कर्तव्य असता, संयोगाच्या अन्ती अरणाच्या विभक्ति-
 प्रत्ययाचा 'संयोगान्तस्थ लोप.' या सूत्रानें जो लोप केला जातो तो
 नलोपकार्याच्या दृष्टीनें असिद्ध ठरत नाही हे 'न डिसम्बुद्धयोः'
 या सूत्रातील 'सम्बुद्धि' या पदानें जापित होत असल्यामुळें,
 नलोपाच्या दृष्टीनें संयोगान्त लोप सिद्ध ठरतो याचे ते सूत्र जापक
 ठरते व भैरवीत सांगितल्याप्रमाणे त्या सामान्यापेक्ष जापकाच्या द्वारा
 'एतेन यत्र लोपस्य प्राप्तिस्तत्र तस्मिन् कर्तव्ये कृते च तस्मिन्नन्य-
 शास्त्रदृष्ट्याऽप्यसिद्धत्वमेति फलितम्' असा सिद्धान्त फलित होतो
 असे असून देखील, कित्येक वैयाकरण अशी शका करतात की,)
 'राजैधते, चत्रघ्न, राजाच्छत्रम्' इत्यादि उदाहरणात, संयोगान्त-
 लोप असिद्ध असल्यामुळें, वृद्धिकार्यं, यण्कार्यं, तुगागमकार्यं इत्यादि
 कार्ये होऊ शकत नाहीत. तसेच 'कर्त्र्या' इत्यादि स्थली (जेथें
 एकाच उदाहरणात दोन यण् कार्यांची प्राप्ति आहे तशा स्थली 'इको
 यणचि' सू. ४७ हे) एकच यण्कार्यविधायक शास्त्र, पूर्वं पर अशी
 भिन्न लक्ष्ये असल्यामुळें, भिन्न होते, म्हणजे एकच शास्त्र दोन भिन्न
 शास्त्रे आहेत असे ठरते त्यामुळें एकाच उदाहरणात त्या उदाहरणा-
 तील वर्णक्रमानुसार परलक्ष्याचे ठिकाणी प्राप्त होणारे तें शास्त्र पर
 शास्त्र ठरत असल्यामुळें (व 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' सू. १७५ हे
 वचन असल्यामुळें) 'कर्त्र्या' या स्थली पर यणादेश प्रथम होतो असे
 'अच परस्मिन्' सू. १-१-५७ या सूत्रावरील भाष्यात व कंय-
 टाच्या वृत्तीत स्पष्ट सांगितले आहे त्या भाष्याचा आशय हा आहे
 की, एकाच उदाहरणात पूर्वं व पर लक्ष्याची सिद्धि करण्याकरिता
 प्रवृत्त होणाऱ्या एकाच शास्त्राचे ठिकाणी लक्ष्यगत पूर्वपरक्रमानुसार
 पूर्वपरभावाचा आरोप केला जातो, म्हणजे एकाच उदाहरणातील
 वर्णक्रमानुसार पूर्वं लक्ष्याचे ठिकाणी प्राप्त होणारे एकच शास्त्र पूर्वं
 शास्त्र मानले जात असून पर लक्ष्याचे ठिकाणी प्राप्त होणारे तेंच
 शास्त्र पर शास्त्र मानले जावें त्यामुळें 'धीमान्' इत्यादि उदाहर-

णांत 'सु' या प्रत्ययाचा व त्यापूर्वी असलेल्या तकाराचा लोप करण्याकरितां प्रवृत्त झालेल्या 'संयोगान्तस्य लोपः' या एकाच शास्त्राचे ठिकाणीं लक्ष्यगत पूर्वपरक्रमानुसार पूर्वपरभाव मानतां येत असल्यामुळे, तकारलोप करतेवेळीं पूर्वी झालेला 'सु' प्रत्ययाचा लोप ('पूर्वत्रासिद्धम्' सू. १२ या वचनान्वये) असिद्ध ठरतो व त्यामुळे तकारलोप होऊं शकत नाही. ('राजैधते चक्रचत्र तलोपो न स्यात्' हा संपूर्ण शंकाग्रन्थ आहे. यावर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'नलोपे कर्तव्ये कृते च संयोगान्तलोपः सिद्धः स्यात्' असा वर सिद्धान्त सांगितला असल्यामुळे, आणि तसेंच 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुन्विधिषु कृति' सू. ३५३ या सूत्रान्वये त्या सूत्रांत सांगितलेलीं कार्ये करतवेळींच नलोप असिद्ध ठरत असून इतर कार्ये करतेवेळीं तो सिद्ध ठरत असल्यामुळे) मनोरमंतील विवेचना- न्वये शंकाकाराची शंका ब्रूक ठरते. दुसरें असें कीं, 'सु' प्रत्यय पुढें असतांना अङ्गाला पदसंज्ञा होते हा पक्ष मानल्यास, 'धीमान्' या शब्दाच्या उदाहरणांत कांहींच दोष येत नाही. आणखी असें कीं, लक्ष्यगत पूर्वपरक्रमानुसार एकाच सूत्राचे ठिकाणीं पूर्वपर- भावाचा आरोप करण्यास कोणतेंहि प्रमाण उपलब्ध नाही. ('न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या पूर्व त्रैपादिक सूत्रानें नकारलोप करते- वेळीं 'संयोगान्तस्य लोपः' या उत्तर त्रैपादिक सूत्रानें केलेला संयोगान्त 'सु = स्' या विभक्तिप्रत्ययाचा लोप सिद्ध समजावा एवढेंच जर मानलें तर, 'राजन् सु एधते = राजान् स् एधते' या स्थलीं जरी 'राजान्' यांतील अन्त्य नकाराचा लोप करते- वेळीं 'संयोगान्तस्य लोपः' या उत्तर त्रैपादिक सूत्रानें प्रथम केलेला 'सु' या विभक्तिप्रत्ययाचा लोप सिद्ध मानतां येतो व त्यामुळे 'राजान्' यांतील अन्त्य नकाराचा लोप करतां येतो आणि 'राजा' असें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकतें तरी, 'राजा' व 'एधते' या दोन पदांचें 'वृद्धिरेचि' सू. ७२ या सूत्रानें वृद्धिरूप सन्धिकार्य करते- वेळीं जर पूर्वी झालेला 'सु' प्रत्ययाचा लोप सिद्ध मानला

नाही व 'सु' प्रत्यय कायमच आहे असे मानले तर, वरील दोन पदात 'सु' प्रत्ययाचे व्यवधान आहे असे मानावे लागेल व त्यामुळे वृद्धिरूप एकादेश होऊ शकणार नाही आणि 'राजघते' असा इष्ट प्रयोग सिद्ध न होण्याची आपत्ति येईल. 'नलोपः सुप्स्वर' सू. ३५३ हे नियामक सूत्र असल्यामुळे, 'वृद्धिरेचि' या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने नकारलोप सिद्ध ठरतो. परंतु 'सु' लोपासवधाने तसे कोणतेहि सूत्र नसल्यामुळे, 'वृद्धिरेचि' या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने 'सयोगान्तस्य लोपः' या त्रैपादिक सूत्राने होणारा 'सु' लोप कसा सिद्ध ठरावा ? म्हणून 'नलोपे कर्तव्ये सयोगान्तलोपः सिद्धः' एवढेच न मानता, त्याखेरीज हे देखील मानणे आवश्यक आहे की, 'नलोपे कृते च यद् यद् अन्यत् शास्त्र प्राप्नोति तस्यापि दृष्ट्या सयोगान्तलोपः सिद्ध.' व वरील शापकाच्या द्वारा असे मानता येत असल्यामुळे, 'राजा एघते' या स्थली 'सयोगान्तस्य लोप.' या सूत्राने झालेला 'सु' लोप सिद्ध ठरून वृद्धिरूप एकादेश होण्यात व 'राजघते' असे इष्ट रूप सिद्ध होण्यात काही अडचण येत नाही. तसेच 'चक्रिन् सु अत्र' या स्थली 'त्ती च' सू. ३५७ या सूत्राने उपधा दीर्घ होऊन व नंतर 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राने 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊन आणि त्यानंतर, नकारलोप करतेवेळी सयोगान्त लोप सिद्ध ठरत असल्यामुळे, 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्राने नकारलोप होऊन 'चक्री अत्र' अशी स्थिति झाली असता, 'इको यणचि' या सापादिक सूत्राची उपस्थिति होते व त्या शास्त्राच्या दृष्टीने जरी नलोप सिद्ध ठरतो तरी, पूर्वी झालेला 'सु' लोप यणकार्य करते वेळी सिद्ध न मानल्यास व 'सु' प्रत्यय विद्यमानच आहे असे मानल्यास, 'इको यणचि' या सूत्राने यणादेश होऊं शकणार नाही पण नलोप केल्यावर यणादेशाची प्राप्ति झाली असता, त्या सापादिक कार्याच्या दृष्टीने देखील पूर्वी झालेला 'सु' लोप सिद्ध ठरतो असे मानले तरच व असे मानता येत असल्यामुळे, यणादेश होण्यात काही अडचण येत नाही. त्याचप्रमाणे 'राजा

छत्रं गृह्णाति' यास्थलीं 'राजन् सु' अशा स्थितींत पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे उपधा दीर्घ करून व नंतर 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने 'सु' लोप करून आणि नंतर नलोप करून 'राजा' असे प्रथमेच्या एकवचनाचे रूप सिद्ध झाल्यावर 'पदान्ताद्वा' सू. १४९ या सूत्राने 'राजा' यांतील अन्त्य आकाराला तुगागमाची प्राप्ति झाली असता, त्या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने पूर्वी झालेला 'सु' लोप असिद्ध मानला तर, 'राजा' या दीर्घ आकारान्त पदापुढे 'छत्रम्' यांतील छकार नसून दोहोंमध्ये 'सु' प्रत्ययाचे व्यवधान आहे असे मानावे लागेल व त्यामुळे 'राजा' यांतील अन्त्य आकाराला ऐकल्पिक तुगागम होऊं शकणार नाही व 'राजाच्छत्रं गृह्णाति' असा पाक्षिक इष्ट प्रयोग सिद्ध होऊं शकणार नाही. परंतु नलोप केल्यावर 'पदान्ताद्वा' हे सापादिक सूत्र प्रवृत्त करतेवेळीं त्या सूत्राच्या दृष्टीने देखील पूर्वी झालेला 'सु' लोप सिद्ध ठरतो असे मानले तरच व असे मानतां येत असल्यामुळे, तुगागम होण्यांत काहीं अडचण येत नाही. सारांश 'न हिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण नलोपाच्या दृष्टीने संयोगान्त 'सु' लोप सिद्ध ठरतो एवढ्याचेच जापक न मानतां, 'सु' लोप व नलोप केल्यावर जीं जीं इतर सापादिक किंवा पूर्वग्रंथादिक शास्त्रांनीं होणारीं कार्ये प्राप्त होतात त्या सर्व शास्त्रांच्या दृष्टीने 'सु' लोप सिद्ध ठरतो याचे तें जापक मानले पाहिजे व तसें मानले असतां, यंकाकाराची शंका व्यर्थ ठरून वरील तोंही प्रयोग सिद्ध होण्यांत काहीं अडचण येत नाही असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. आतां 'कर्तृ' या शब्दाहून 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सू. ३०६ या सूत्राने 'ङीप्' प्रत्यय करून व नंतर त्याहून तृतीयेच्या एकवचनाचा 'टा = आ' प्रत्यय करून 'कर्तृ ङीप् टा = कर्तृ ई आ' अशी स्थिति झाली अनन्तां, 'इको यणनि' या सूत्राने दोन यणादेशकार्याची प्राप्ति होते. 'अनः परदिगन्' सू. १-१-५७ या सूत्रावरील भाष्यांत 'आरभ्य-माणे निर्वोक्तो परपन्नामो व्ययस्यया' हे वचन पठित करून

भाष्यकार म्हणतात—‘आरम्भमाणे त्वस्मिन् योगे नित्यः पूर्वयणादेशः । कृतेऽपि परयणादेशे प्राप्नोति अकृतेऽपि । परयणादेशोऽपि नित्यः । कृतेऽपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोति अकृतेऽपि । व्यवस्थया चासौ परः ।’ या भाष्याचा साराश हा आहे की, जरी दोन्ही यणादेशकार्ये नित्य आहेत तरी द्वितीय यणादेश वर्णक्रमानुसार पर असल्यामुळे, ‘विप्रतिषेधे पर कार्यम्’ सू. १७५ या वचनान्वये परयणादेशाची प्रथम प्राप्ति होते. या भाष्यावर टीका करिताना कैयटाने ‘एकमपि यणूलक्षण पूर्वपरविषयभेदाद्भिद्यते । एकस्य च कार्यित्वनिमित्तत्व-योर्विरोधात् परत्वेन व्यवस्था ।’ असे म्हटले असून, उद्योतकारानी ‘विषयगत पूर्वपर्यं तदवच्छिन्ने लक्षणे आरोप्यते इत्यत्र तात्पर्यम्’ असे म्हटले आहे. यावरून हे सिद्ध होते की, जेथे एकाच शब्दस्वरूपात एकाच सूत्राने दोन कार्यांची मुगपत् प्राप्ति होते तशा ठिकाणी देखील लक्ष्यगत पूर्वपरवर्णक्रमानुसार त्या एकाच सूत्राचे ठिकाणी पूर्वपरभाव मानता येतो, म्हणजे पूर्व लक्ष्याचे ठिकाणी प्रवृत्त होणारे एकच सूत्र पूर्व सूत्र मानता येत असून पर लक्ष्याचे ठिकाणी प्रवृत्त होणारे तेच सूत्र पर सूत्र मानता येते. असे मानले असता, ‘विप्रति-षेधे पर कार्यम्’ या वचनान्वये ते सूत्र पर लक्ष्याचे ठिकाणी प्रथम प्रवृत्त झाले पाहिजे. हीच व्यवस्था ‘पूर्वत्रासिद्धम्’ सू. १२ या वचनाला देखील लागू केल्यास, ‘घोमत् सु’ या स्थली ‘अवसन्तस्य चाघातोः’ सू. ४२५ या सूत्राने उपघा दीर्घ करून व ‘उगिदचाम्’ सू. ३६१ या सूत्राने नुमागम करून ‘घोमान्त् स्’ अशी स्थिति झाली असता, ‘सयोगान्तस्य लोपः’ या त्रैपादिक सूत्राने सकाराचा व त्याचप्रमाणे तकाराचा वरील उदाहरणांत लोप पावतो. पर सकाराचा लोप करतेवेळी ‘सयोगान्तस्य लोपः’ हें परसूत्र ठरतें व पूर्व तकाराचा लोप करतेवेळी तेच सूत्र पूर्व सूत्र ठरते व ‘पूर्वत्रा-सिद्धम्’ या वचनान्वये त्रिपादीतील पूर्व सूत्राच्या दृष्टीने पर सूत्र असिद्ध ठरत असल्यामुळे, पूर्व सूत्राने होणारा तकारलोप करतेवेळी पर सूत्राने झालेला सकारलोप असिद्ध ठरतो व त्यामुळे सयोगाच्या

अन्तीं तकार आहे असें मानतां येऊं शकत नाहीं आणि त्यामुळे तकारलोप न होण्याची, व सुलोप व तलोप हे दोन्ही सिद्ध मानल्यास, नलोप होण्याची व 'धीमान्' असें इष्ट रूप सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते अशी शंकाकाराची शंका आहे. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, संयोगान्त सुलोप व तलोप केल्यावर नलोप करतेवेळीं 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें होणारा संयोगान्त-विभक्तिप्रत्ययाचा लोप सिद्ध ठरतो, पण संयोगान्त इतर वर्णाचा लोप सिद्ध ठरत नाहीं. त्यामुळे 'धीमान् स्' या स्थलीं, नकारलोप करतेवेळीं जरी 'सु' लोप सिद्ध ठरतो तरी, तकार हा विभक्ति-प्रत्यय नसल्यामुळे, नकारलोप करतेवेळीं त्या तकाराचा लोप असिद्ध ठरतोच व त्यामुळे नकार पदान्तीं आहे असें मानतां येऊं शकत नाहीं आणि म्हणून नकारलोप न होतां 'धीमान्' असें इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाहीं. दुसरें असें कीं, 'धीमान् स्' या स्थलीं 'सु' प्रत्यय पुढें असल्यामुळे 'सावपि पदं भवति' हा पक्ष मानल्यास, 'धीमान्' याला पदसंज्ञा होते व 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्रानें अन्त्य तकाराचा व नंतर त्याच सूत्रानें सकाराचा लोप होतो. पण वर सांगितल्याप्रमाणें नकारलोप करतेवेळीं तकारलोप असिद्ध ठरत असल्यामुळे, नकारलोप न होतां 'धीमान्' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. तिसरें असें कीं, लक्ष्यगत पूर्वपरवर्णक्रमानुसार एकाच सूत्राचे ठिकाणीं पूर्वपरमाव कल्पिता येतो असें जें शंकाकाराचें म्हणणें आहे तें बरोबर मानल्यास कांहीं प्रमाण नाहीं. ज्या भाष्याचा शंकाकारानें आपल्या शंकेचें समर्थन करण्याकरितां आधार दिला आहे तें सिद्धान्तभाष्य नगून पूर्वपक्षीची केवळ संतोषित असल्यामुळे, तें भाष्य प्रमाण मानतां येत नाहीं. पास्तनिक सिद्धान्त हाच आहे कीं, अष्टाध्यायीपाठक्रमानुसारच सूत्रांचें पूर्वपरत्व ठरविणें जातें आणि उद्योतकारांनीं देवाळ बरीळ भाष्याबरीळ उद्योतानें 'पूर्वं च शब्दतः परस्यमाशय विप्रतिषेधमृशय मेव प्रवृत्तिरिति सादयम्' असें म्हटलें आहे. त्यामुळे शंकाकारानें

‘धीमान्’ या रूपासंबंधानें जी शका केली आहे ती व्यर्थ ठरते व ‘कर्तृ ई आ’ या उदाहरणात पूर्वं यणादेशाचे निमित्त प्रथमोपस्थित असून पर यणादेशाचे निमित्त पुढें उपस्थित असल्यामुळें व ‘पूर्वोपस्थितनिमित्तकमन्तरङ्ग परोपस्थितनिमित्तक बहिरङ्गम्’ असा न्याय असल्यामुळें, पूर्वं यणादेशाच्या मानानें पर यणादेश बहिरङ्ग ठरतो आणि ‘असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गै’—परि. ५०—या परिभाषान्वयें पर यणादेश असिद्ध ठरून तो प्रथम न होता, पूर्वं यणादेश प्रथम होत असून नंतर पर यणादेश होत असल्यामुळें, ‘कर्तृ ई आ = कर्त्री आ = कर्त्या’ असे इष्ट रूप सिद्ध होते. असे इष्ट रूप सिद्ध होण्याचे ‘बहिरङ्गेण सिध्यति’ हेच कारण वरील भाष्यात दिले आहे.) ‘न डिसम्बुद्धयोः’ सू. ३५२ या सूत्रातील ‘डिसम्बुद्धयोः’ हे पद पठ्यन्त मानल्यानेच, ‘डि’ प्रत्यय पुढें असताना जी नलोप होण्याचा निषेध सांगितला आहे तो सार्थक ठरतो. (‘डिसम्बुद्धयोः’ हे पद सप्तम्यन्त मानले तर ‘डि’ हो निमित्तसप्तमी ठरून सूत्रार्थ असा होतो की, ‘डि’ प्रत्यय पुढें असताना नकारान्त अङ्गाच्या अन्त्य नकाराचा लोप होत नाही. पण ‘डि’ प्रत्यय पुढें आला असता अङ्गाला पदसज्ञा न होता ‘यचि भम्’ या सूत्रानें भसज्ञा होत असल्यामुळें व ‘न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य’ या सूत्रानें पदान्ती असलेल्या नकाराचा लोप होणे सांगितले असल्यामुळें, ‘परमे व्योमन्’ इत्यादि वैदिक उदाहरणात ‘व्योमन्’ या भसज्ञक अङ्गाच्या अन्त्य नकाराचा लोप पावतच नाही आणि ‘प्राप्तस्यैव निषेध.’ असा न्याय असल्यामुळें, ‘न डिसम्बुद्धयोः’ या सूत्रानें ‘डि’ प्रत्यय पुढें असताना नलोपाचा निषेध सांगितला आहे असे मानल्यास, म्हणजेच ‘डिसम्बुद्धयोः’ हे सप्तम्यन्त पद मानल्यात, तो निषेध स्वयं ठरण्याची आपत्ति येते त्या सूत्रावरील भाष्यात ८-२-८-भाष्यानार म्हणतात ‘डो प्रतिषेधोजर्यवः। किं कारणम्?। भत्वात्। भसज्ञाञ्च भवति।’ परंतु ‘डिसम्बुद्धयोः’ हें पठ्यन्त पद मानले तर, ‘डि’ या प्रत्ययाचा प्रत्ययपट्टण परिभाषान्वयें ‘इय-

न्तस्य' असा अर्थ होऊन सूत्रार्थ असा होतो कीं, नकारान्त इ्यन्त पदाच्या अन्त्य नकाराचा लोप होत नाही. 'व्योमन्' हें प्रत्यय-लक्षणानें इ्यन्त पद ठरत असल्यामुळें, त्यांतील अन्त्य नकाराचा 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' या सूत्रानें जो लोप पावतो तो न व्हावा याकरितां 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांत केलेलें डि या पष्ठचन्ताचें ग्रहण चरितार्थ ठरतें.) 'न लुमताङ्गस्य' सू. २६३ हा निषेध अनित्य असल्यामुळें कांहीं दोष येत नाही असें कोणी म्हटल्यास त्याला उत्तर हें आहे कीं, तो निषेध अनित्य मानण्यापेक्षां 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद पष्ठचन्त मानून त्या सूत्राचें व्याख्यान करण्यांतच लाघव आहे. (शंकाकार असें म्हणतो कीं, 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद सप्तम्यन्त मानलें तरी, 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध अनित्य असल्यामुळें, 'व्योमन्' या स्थलीं 'सुपां सुलुक्' सू. ३५६१ या सूत्रानें 'डि' प्रत्ययाचा जरी लुक् होतो तरी, 'डि' प्रत्यय विद्यमान आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येतें व त्यामुळें 'न डिसम्बुद्धयोः' हें नलोपाचें निषेधक सूत्र प्रवृत्त होऊं शकतें व 'व्योमन्' यांतील अन्त्य नकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येत नाही. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'डिसम्बुद्धयोः' हें जसें सप्तमीच्या द्विवचनाचें रूप आहे तसेंच तें पष्ठीच्या द्विवचनाचें देखील रूप असल्यामुळें, तें पष्ठीच्या द्विवचनाचें रूप मानल्यानें जर सर्व इष्ट रूपांचो सिद्धि होऊं शकते तर, 'न लुमताङ्गस्य' हें मुद्दाम रचलेलें पाणिनीय सूत्र अनित्य मानून तें पद सप्तम्यन्त मानण्याची गरज काय ? तसें मानण्यांत गौरव अमून 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध नित्य मानून 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद पष्ठचन्त मानण्यांतच लाघव आहे आणि म्हणून प्रकाशकारांनीं तें जें पद पष्ठचन्त मानलें आहे तें त्यांचें करणें योग्य आहे अशा रीतीनें त्यांच्या मताचें समर्थन करतां येतें. 'न डिसम्बुद्धयोः' या सूत्रांतील 'डिसम्बुद्धयोः' हें पद पष्ठचन्त मानल्यानें व 'न लोपः

प्रातिपदिकान्तस्य' या पूर्वं सूत्रातून त्या सूत्रात 'प्रातिपदिकान्तस्य' हे पद अनुवृत्त करून त्या अनुवृत्त पदाचे 'सम्बुद्धेः = सम्बुद्धघन्तस्य' हे पद विशेषण मानल्याने) त्या सूत्राचा 'सम्बुद्धघन्तप्रातिपदिकान्तस्य लोपो न' असा अर्थ होतो (व नान्त सम्बुद्धघन्त प्रातिपदिकान्त पदाच्या अन्त्य नकाराचा लोप होत नाही असा वर सांगितल्याप्रमाणे त्या सूत्राचा अर्थ होत असल्यामुळे, सम्बुद्धघन्त नकारान्त पदाला प्रातिपदिकसज्ञा देखील होण्याकरिता 'सयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने सम्बुद्धीच्या 'सु' प्रत्ययाचा लोप प्रथम करणे आवश्यक ठरते असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे असे शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचे तात्पर्य आहे.) 'तहि हल्ङ्याप. सोरित्येव सूत्रमस्तु' असे मनोरमंत म्हटले असल्यामुळेच, 'सुपी.' इत्यादि रूपाची सिद्धि होते तसे सूत्र पठित न केल्यास, (व 'ङ्याप सो' एवढेच सूत्र पठित केल्यास) पदान्त सयोगान्त लोपाचा सयोगादिलोप अपवाद असल्यामुळे, सयोगादिलोपाचे सूत्र प्रवृत्त होऊन 'चौरूपधाया दीर्घं इक' सू. ४३० या सूत्राने होणारे उपपादीपकार्य होऊ शकणार नाही. ('सुष्ठु पेसतीति सुपी = सु पित् विवप् सु' या स्थली 'वेरपूक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने 'विवप्-च्' या अपूक्त प्रत्ययाचा लोप होऊन 'सु पित् स्' अशी स्थिति शाली असता, येथे पदान्ती सयोग असल्यामुळे व सयोगातील आद्य वर्ण सकार असल्यामुळे, 'स्वो सयोगाद्योः' सू. ३८० व तसेच 'सयोगान्तस्य लोप' सू. ५४ या दोन्ही त्रैपादिक सूत्राची प्राप्ति होते या दोन सूत्रांपैकी 'सयोगान्तस्य लोप' हे जरी पूर्वं त्रैपादिक सूत्र आहे तरी, 'स्वो सयोगाद्यो' हे सूत्र जेथे जेथे प्रवृत्त होऊ पाहने तेथे तेथे 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राची अवश्य प्राप्ति होत असल्यामुळे, 'स्वो सयोगाद्यो' हे सूत्र अनवधानास ठरून 'येन नाप्राप्ते'-परि. ५८-या न्यायान्वये ते सूत्र 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राचे अपवादक सूत्र ठरते आणि म्हणूनच 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' मू. ८-२-६ या सूत्रावरील भाष्यांन 'सयोगादि-

लोपः संयोगान्तलोपे' हैं वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकार्थे प्रत्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात—'संयोगादिलोपः संयोगान्तस्य लोपे सिद्धो वक्तव्यः । काष्ठतट् कूटतट् । संयोगादिलोपस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपः प्राप्नोति । नैष दोषः । उक्तमेतत्, अपवादो वचनप्रामाण्यादिति ।', आणि 'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं वलीयः'—परि. ३८—या परिभाषान्वये अपवाद सर्वापेक्षां बलवत्तर ठरत असल्यामुळे, 'स्कोः संयोगाद्योः' हैं अपवादक सूत्र प्रथम प्रवृत्त झाल्याने, 'पिस्' धातूतील सकाराचा लोप होण्याची आपत्ति येते; तो लोप केल्याने 'सु पि सु' अशी स्थिति झाली असता, 'पिस्' धातु रकारान्त होऊं शकत नसल्यामुळे, 'बोरूपधायाः' सू. ४३० या सूत्राने होणारे उपधादीर्घकार्य न होण्याची व 'सुपिः' असे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. पण 'ड्यापः सोः' असे प्रकृत सूत्र न मानता 'हल्ड्यापः सोः' असे प्रकृत सूत्र मानल्याने, 'सुपिस् सु' या स्थली 'सुपिस्' या हलन्त अङ्गापुढे असणाऱ्या 'सु' प्रत्ययाचा त्या सापादिक सूत्रानेच लोप होऊन 'सुपिस्' अशी स्थिति झाली असता, 'सुपिस्' या पदांतील धातूच्या अन्त्य सकाराचे 'ससजुपो रुंः' सू. १६२ या सूत्राने रुत्व होऊन 'सूपिर्' अशी स्थिति झाल्याने धातु रेफान्त होत असल्यामुळे, 'बोरूपधायाः' या सूत्राने उपधा दीर्घ होऊन 'सुपीः' असे इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकतें. म्हणून 'सुपीः' इत्यादि इष्ट रूपांची सिद्धि हांप्याकरितां 'ड्यापः सोः' असे प्रकृत सूत्र पठित न करितां हल्ड्यापः सोः' असे ते सूत्र पठित करणे आवश्यक आहे असा शब्दरत्नमारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) धातूचा अवयव सकार पदान्ती असल्यास त्या सकाराचा, अपूग 'निप् = त्' प्रत्यय पुढे आला असता, रकार होतो व अपूग 'निप् = त्' प्रत्यय पुढे आला असता, त्या सकाराचा विकल्पेकरून रकार क्वा 'म्' होतो असे विधान करणाऱ्या 'निप्पनग्नीः' सू. २४८४ व 'निपि धातो र्वा' सू. २४८५ या सूत्रांवरून आणि तसेच 'स्कोः संयोगाद्योः' या सूत्रांतील 'स्कोः' या पदाने सकाराचा

ककाराचे साहचर्य असल्यामुळे त्याच्या सामर्थ्यावरून हे सिद्ध होते की, प्रकृतीचा अन्त्य वर्ण ककार किंवा सकार असून त्यापुढे अपृक्त हल् रूप प्रत्यय आला असता त्या दोहोच्या बनलेल्या पदान्ती असणाऱ्या संयोगाला 'स्को संयोगाद्यो' हे सूत्र लागू पडत नाही अशा प्रकारची मिल्कट कल्पना करण्यात मुळीच लाघव नाही (प्रकृत सूत्रातून प्रथम 'हल्' या पदाचे प्रत्याख्यान केल्यास 'सुपी' हे इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकत नाही असे जे शब्दरत्नकारानी बर म्हटले आहे त्यावर शकाकार असे म्हणतो की, प्रकृत सूत्रातून प्रथम 'हल्' पद गाळले व प्रकृत सूत्राऐवजी 'ड्याप सो' एवढेच सूत्र पठित केले तरी, 'सुपी' हे रूप सिद्ध करता येऊ शकते 'स्को संयोगाद्यो' हे सूत्र प्रथम प्रवृत्त होत असल्यामुळे 'सुपी' हे रूप सिद्ध होऊ शकत नाही असे जे शब्दरत्नकारानी म्हटले आहे ते म्हणणे बरोबर नाही असे शकाकाराचे म्हणणे आहे त्याच्या म्हणण्याप्रमाणे 'सुपी' या उदाहरणात 'स्को संयोगाद्यो' या सूत्राची प्रवृत्तीच होऊ शकत नाही त्याच्या मते ते सूत्र अशाच ठिकाणी प्रवृत्त होते की, जेथे पदान्ती असणारा संयोग प्रकृतीतील अन्त्य वर्ण व त्यापुढील प्रत्यय याचा संयोग नसून केवळ प्रकृतीच्या अर्णाचाच पदान्ती असणारा संयोग आहे असे म्हणण्याचे कारण तो ह सांगतो की, सकारान्त धातूपुढे 'तिप्, तिप्, सु' हे तीनच अपृक्त हल् रूप प्रत्यय येऊ शकतात 'तिप्, तिप्=त्, स्' हे अपृक्त प्रत्यय सकारान्त धातूपुढे आले असता, जर 'स्को संयोगाद्यो' या सूत्राने धातूच्या अन्त्य सकाराचा, तो संयोगाचा आदि वर्ण असल्यामुळे, लोप केला तर धातु सकारान्त राहत नसल्यामुळे 'तिप्यनस्ते' व 'सिपि धातो' ही सूत्रे प्रवृत्त होण्यास कोणतेहि उदाहरण मिळणार नाही व अशा रीतीने ती सूत्रे निरवकाश व व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येईल ती आपत्ति टाळण्याकरिता ह मानणे आवश्यक आहे की, सकारान्त धातूपुढे 'त्' किंवा 'स्' हा अपृक्त हल् रूप प्रत्यय आला असता, संयोगादिलोप न होता संयोगान्तलोपच होतो आता

राहिला 'सु = स्' हा प्रथमेच्या एकवचनाचा प्रत्यय. 'शक्' धातूहून 'शयनोतीति शक्' या अर्थामध्ये कर्तरि विवप् प्रत्यय करून त्याहून 'सु' प्रत्यय केल्यास 'शक् विवप् सु' अशा स्थितीत विवप् प्रत्ययाचा लोप होऊन ककारान्त विववन्त धात्वन्त 'शक्' या अङ्गापुढे 'सु = स्' प्रत्यय आला असून देखील ज्याप्रमाणे 'स्कोः संयोगाद्योः' या सूत्राने धातूतील संयोगादि ककाराचा लोप होत नाही व 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने 'सु = स्' या प्रत्ययाचा लोप होतो व त्यामुळेच 'शक्' असे प्रथमेच्या एकवचनाचे रूप सिद्ध होते त्याचप्रमाणे 'स्कोः' यांतील ककारसाहचर्याच्या सामर्थ्यामुळे हे देखील म्हणता येते की, 'पिस्' इत्यादि सकारान्त विववन्त धात्वन्त अङ्गापुढे 'सु' प्रत्यय आल्यास 'स्कोः संयोगाद्योः' या सूत्राने धातूतील संयोगादि सकाराचा लोप न होता 'संयोगान्तस्य लोपः' या सूत्राने संयोगान्त सकाराचा, म्हणजे 'सु' प्रत्ययाचा, प्रथम लोप होतो. असे मानल्याने, 'सुपिस् सु = सुपिस् = सुपिर् = सुपीर् = सुपीः' असे इष्ट रूप सिद्ध होण्यांत कोणतीहि अडचण येत नाही असा शंकाकाराच्या म्हणण्याचा तात्पर्यार्थ आहे. या शंकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, शंकाकाराने आपल्या मताचे समर्थन करण्याकरिता ज्या अनेक विलष्ट कल्पना केल्या आहेत तशा कल्पना करण्यांत कांहींच लाघव नसून प्रकृत सूत्रांतील प्रथम 'हल्' पद न गाळतां 'हल्ङ्यापः सोः' असे ते सूत्र पठित करण्यांतच लाघव आहे. तसे प्रकृत सूत्र पठित केल्याने हलन्त अङ्गापुढील 'सु' प्रत्ययाचा प्रकृत सापादिक सूत्रानेच लोप होऊन 'स्कोः संयोगाद्योः' किंवा 'संयोगान्तस्य लोपः' ही त्रैपादिक सूत्रे, 'सुपीः' इत्यादि रूपे सिद्ध करतेवेळीं, प्रवृत्त करण्याचा प्रसङ्गच येत नाही.) वास्तविक पाहिले असतां, 'न डिसम्बुद्धयोः' सू. ३५२ या सूत्रातील 'डिसम्बुद्धयोः' हे पद सप्तम्यन्तच मानणे योग्य आहे व त्या सूत्रांत 'डि' या प्रत्ययाचे ग्रहण केले असल्यामुळे, त्या सूत्राच्या विषयांत 'न लुम-ताङ्गस्य' हा निषेध अनित्य मानणे भाग आहे. हा निषेध अनित्य

मानूनच 'वा नपुसकानाम्' हें वातिक पठित केले आहे म्हणून 'हे ब्रह्मन्' इत्यादि नपुसकलिङ्गाची सबुद्धीची रूपें सिद्ध करण्यावरिता 'न ङिसम्बुद्धयो' या सूत्रात 'सम्बुद्धि' या पदाचे ग्रहण आवश्यक असल्यामुळे, (नलोप कार्याच्या दृष्टीने 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राने पूर्वी केलेला 'सु' प्रत्ययाचा लोप सिद्ध ठरतो याचे) ते पद ज्ञापक मानता येत नाही 'वा नपुसकानाम्' हे अपूर्व वचन-वातिक-मानून प्रकृत सूत्रातील 'हल्' इत्यादि पदाचे प्रत्याख्यान करणे योग्य नाही, (कारण तसे केल्यास, नलोप, उपधादीर्घ इत्यादि वामें वर सांगितल्याप्रमाणे सिद्ध होऊ शकत नाहीत आणि) हा आशय मनात धरूनच प्रकृत सूत्रावरील भाष्याच्या अखेरीस भाष्यकार म्हणतात 'तस्मादशक्यो हलपृक्तलोप सयोगान्तलोपो विज्ञातुम् । न चेद्विज्ञायते द्विहलपृक्तग्रहण तिस्योश्च ग्रहण कर्तव्यम्', म्हणजे वर सांगितलेल्या कारणामुळे प्रकृत सूत्राने होणारा अपृक्त हलरूप प्रत्ययाचा लोप 'सयोगान्तस्य लोप' या सूत्राने करता येणे अशक्य असल्यामुळे व त्या सूत्राने सयोगान्त लोप केल्याने इष्ट सिद्धि होत नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्रात दोन्ही 'हल्' पदाचे, तसेच 'अपृक्तम्' या पदाचे आणि त्याचप्रमाणे 'ति, सि' या पदाचे ग्रहण असणे आवश्यक आहे ('न ङिसम्बुद्धयो' या सूत्रातील 'ङिसम्बुद्धयो' हे पद पठ्यन्त मानल्याने व 'वा नपुसकानाम्' हें वातिक मानल्याने इष्ट रूपें सिद्ध होऊ शकतात तरी, तसे केल्याने प्रकृत सूत्रातील अनेक पदाचे प्रत्याख्यान करावे लागत व त्याखेरीज वरील वातिक देखील मानावे लागत तसे करण्यापेक्षा 'ङिसम्बुद्धयो' हें पद सप्तम्यन्त मानणे व 'न लुगताङ्गस्य' हा निषेध अनित्य मानणे अधिक योग्य व श्रेयस्कर आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा भाषय आहे 'ङिसम्बुद्धयो' हें पद सप्तम्यन्त मानल्याने जरी 'न लुगताङ्गस्य' हा निषेध अनित्य मानावा लागतो तरी तो निषेध अनित्य मानल्याशिवाय अनेक इष्ट रूपांची सिद्धि होऊ शकत

नसत्यामुळें व भाष्यकारांनीं देखील ठिकठिकाणीं तो निषेध अनित्य मानून इष्ट रूपांची सिद्धि केली असल्यामुळें, तसें करण्यांत कांहीं दोष येत नाही. तो निषेध अनित्य आहे याचें केवळ अनुवाद करणारेंच 'वा नपुंसकानाम्' हें वार्तिक आहे; कारण 'हे ब्रह्मन् सु' या स्थलीं 'स्वमोर्नपुंसकात्' सू. ३१९ या सूत्रानें संबुद्धीच्या 'सु' प्रत्ययाचा लुक् शाला असतां, तो प्रत्यय प्रत्यय-लक्षणानें विद्यमान आहे असें मानल्यानें 'ब्रह्मन्' यांतील नकाराचा लोप होऊं शकत नाही व 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध प्रवृत्त करून 'सु' प्रत्यय विद्यमान नाही असें मानल्यानें 'ब्रह्मन्' यांतील नकाराचा लोप होऊं शकतो व अशा रीतीनें 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध अनित्य मानल्यानेंच 'हे ब्रह्मन्, हे ब्रह्म' हीं नपुंसकाचीं पाक्षिक रूपें सहज सिद्ध होऊं शकतात. म्हणून वरील वार्तिक मानण्याची कांहीं गरज नाही व तें वार्तिक अपूर्व-विधायक वचन मानून प्रकृत पाणिनीय सूत्रांतील अनेक पदांचें प्रत्याख्यान करण्यापेक्षां, भाष्यकारांनीं प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत अखेरीस म्हटल्याप्रमाणें, प्रकृत सूत्रांतील कोणतेंहि पद न गालतां प्रकृत सूत्र जसेंचें तसेंच कायम ठेवणें हेंच अधिक योग्य व इष्ट आहे. या विषयाची विस्तृत चर्चा पूर्वी केलीच आहे.) 'हल्ङ्यापः सोः इत्येव सूत्रमस्तु' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे तें उपलक्षण असून त्या म्हणण्याचा आशय हा आहे कीं, 'हल्ङ्यापः सुतिसिहल्' असें सूत्र मानावें व तसें सूत्र मानलें असतांच, 'अविभा राज्यम्' इत्यादि उदाहरणांत 'द्वलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सू. १७४ या सूत्रानें दीर्घसिद्धि करतां येते. ('अ विभृत् राज्यम्' या स्थलीं 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सू. २१६८ या सूत्रानें 'भृ' धातूतील अन्त्य ऋकाराचा गुण होऊन व द्विवचन आणि अभ्यासकार्य होऊन 'अविभर् त् राज्यम्' अशी स्थिति झाली असतां, 'रात् त्सस्य' असा तकारप्रश्लेष करून पठित केलेल्या त्रैपादिक सूत्रानें जर संयोगान्त तकाराचा लोप केला तर, जरी तो लोप 'रो रि'

सू १७३ या त्रैपादिक उत्तर सूत्राच्या दृष्टीने सिद्ध असल्यामुळे 'रोरी' या सूत्राची प्रवृत्ति होऊन पूर्वे रकाराचा लोप होतो आणि 'ढ्रलोपे' या सापादिक सूत्रात त्रैपादिक सूत्रानी होणाऱ्या ढकाराच्या व रकाराच्या लोपाचे ग्रहण करून ते सूत्र केले असल्यामुळे त्या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने देखील रकारलोप सिद्ध ठरतो तरी, त्या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीने 'रात् तस्य' या त्रैपादिक सूत्राने होणारा सयोगान्त तकाराचा लोप सिद्ध ठरत नसल्यामुळे आणि असा रीतीने भकारापुढील 'अ' व 'राज्यम्' यातील आद्य रकार या दोहोमध्ये तकाराचे व्यवधान आहे असे मानणे माग पडत असल्यामुळे 'ढ्रलोपे' हे सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही व अकाराचा दीर्घ आकार होऊ शकत नाही व 'अविभा राज्यम्' असा इष्ट प्रयोग सिद्ध होऊ शकत नाही परंतु यथापठित प्रवृत्त सूत्र मानल्याने, 'अविभर्' या हलन्त अङ्गापुढे असलेल्या 'त' या अपूर्वन प्रत्ययाचा त्या सापादिक सूत्राने लोप होऊन तो लोप सिद्ध ठरत असल्यामुळे, 'ढ्रलोपे' या सूत्राने अकाराचा दीर्घ होऊन 'अविभा राज्यम्' असा इष्ट प्रयोग सिद्ध होतो म्हणून सर्वे तद्देने पूर्ण विचार करून आचार्य पाणिनीने रचलेल्या प्रवृत्त सूत्रातून कोणतेहि पद न गाळता ते सूत्र जसेचे तसेच वाच्य ठेवणे आवश्यक आहे असे शब्दरत्नकाराचे म्हणणे आहे) प्रतियायीमुदीकारानी प्रवृत्त सूत्राचे व्याख्यान करिताना 'इयन्तादायन्तादीर्घाच्च' अस जे म्हटले आहे त्यातील 'च' या पदाने 'ह्यन्तात्' या पदाचे ग्रहण होते अम प्रकाशकारांनी म्हटले आहे 'इयायी हि दीर्घा न तु तदन्तमपि' अमे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, इयन्त किंवा आवन्त शब्द हा अच् व हल् यांचा समुदाय असतो (य दीर्घत्व हा केवळ अचाने ठिकाणी असणारा पम आहे याचे विवरण पूर्वी मनोरमेत केलेच आहे) 'प्राची वृत्ति प्रत्युक्ता' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, इत्यवर्णान्त अङ्ग (अच् व हल् यांचा समुदाय असून केवळ अच् नसल्यामुळे) याचे 'ह्यम्' हे पद विशेषण होऊ

शकत नाही आणि 'इ,उ' हे वर्ण 'इउवर्णास्ति' या सामासिक पदाचे अवयव असल्यामुळे तशा अवयवांचे ('वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न' या भाष्यवचनान्वये) 'म्हस्व' हे पद विशेषण होऊं शकत नाही. (याचें विस्तृत विवरण पूर्वी मनोरमैत केलेंच आहे.)

मनोरमा- "सह्युरसंबुद्धी" ॥ इह "इतोऽस्तर्वनामस्थाने" इत्यतः "सर्वनामस्थाने" इत्यनुवर्तते तत् "असंबुद्धी" इत्यनेन विशेष्यते । "गोतो णित्" इति सूत्राद् 'णित्' इत्यनुवृत्तं तत्सामानाधिकरण्येन सप्तम्याः प्रथमा कल्प्यत इत्याह- सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानमिति । सह्युरसंबुद्धिरित्येव तु सूत्रं युक्तम् ।

'सह्युरसंबुद्धी' सू. २५३ या प्रकृत सूत्रांत 'इतोऽस्तर्वनामस्थाने' या पूर्व सूत्रांतून 'सर्वनामस्थाने' हें पद अनुवृत्त होतें व तें पद प्रकृत सूत्रांतील 'असंबुद्धी' या पदाचें विशेष्य होतें. तसेंच 'गोतो णित्' या पूर्व सूत्रांतून प्रकृत सूत्रांत 'णित्' हें पद अनुवृत्त होत असल्यामुळे त्या प्रथमान्त पदाशीं सामानाधिकरण्य होण्याकरितां 'असंबुद्धी सर्वनामस्थाने' हीं प्रकृत सूत्रांतील सप्तम्यन्त पदें विभक्तिपरिणामानें प्रथमान्त कल्पावी लागतात (य तसेंच प्रकृत सूत्र अङ्गाधिकारांत पठित असल्यामुळे त्या सूत्रांत अनुवृत्त होणारें 'अङ्गस्य' हें पद 'मत्स्यः' या प्रकृत सूत्रांतील परपञ्चम्यन्त पदाशीं सामानाधिकरण्य होण्याकरितां पञ्चम्यन्त कल्पावें लागतें.) आणि म्हणूनच कोमुदीन 'मह्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं निवृत्त्यात्' असें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे. 'मह्युरसंबुद्धिः' असें सूत्र पठित करतें योग्य झाले असें. (तसें सूत्र पठित केलें असेल तर, प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त होणाऱ्या 'णित्' या प्रथमान्त पदानें 'असंबुद्धिः = सम्बुद्धिवर्जम्' तें पद विशेषण होण्याकरितां त्या पदाचा विभक्तिपरिणाम करण्याची कांती गरज पडली नसती.)

मह्युरस्य- युक्तमिति । "अनङ् मो" इत्यत्र विभक्तिपरिणामः कार्यः । "सर्वनामस्थाने" इत्यस्य "गोतो णित्" इत्यत्र प्रथमान्तपदाः पाठ्यस्यात्र तन्निवृत्तिरित्यभिप्रायः ।

‘सस्युरसम्बुद्धि’ असे सूत्र पठित केल्यास, ‘अनङ् सो’ या उत्तर सूत्रात (‘असम्बुद्धि’ हें प्रथमान्त पद अनुवृत्त झाल्यावर, ‘सो’ या पदाशी सामानाधिकरण्य होण्याकरिता) त्या पदाचा पुन्हा मत्तमीविभक्तीत विपरिणाम करावा लागेल ‘सस्युरसम्बुद्धिरित्येव तु सूत्रं सूचनम्’ असे जें दीक्षितानी मनोरमेंत म्हटले आहे ते असा आशय मनात धरून म्हटले आहे की, (‘इतोऽस्तसर्वनामस्थाने’ या पूर्वे सूत्रातून) ‘गोतो णित्’ या उत्तर सूत्रात अनुवृत्त हाणारे ‘सर्वनामस्थाने’ हे सप्तम्यन्त पद (‘णित्’ या प्रथमान्त पदाशी सामानाधिकरण्य होण्याकरिता) प्रथमान्त कल्पावे लागत असल्यामुळे, म्हणजे त्या पदाचा प्रथमाविभक्तीत विपरिणाम करावा लागत असल्यामुळे, (‘सस्युरसम्बुद्धि’ असे प्रकृत सूत्र पठित केल्यासच) त्या प्रथमान्त ‘असर्वनामस्थानम्’ या पदाची प्रकृत सूत्रात निवृत्ति होत नाही, म्हणजे अनुवृत्ति होते (अष्टाध्यायीत ‘इतोऽस्तसर्वनामस्थाने’ हे सूत्र पूर्वी पठित असून त्यापुढे तीन सूत्रानंतर ‘गोतो णित्’ हे सूत्र पठित आहे व त्याच्या लगेच पुढे ‘णलुत्तमो वा, सस्युरसम्बुद्धी, अनङ् सो’ ही सूत्रे पठित आहेत ‘गोतो णित्’ या सूत्रात ‘इतोऽस्तसर्वनामस्थाने’ या सूत्रातून ‘सर्वनामस्थाने’ हें पद अनुवृत्त होऊन विभक्तिविपरिणामानें प्रथमान्त होते ते पद ‘णलुत्तमो वा’ या लगेच पुढे असलेल्या सूत्रात अनुवृत्त होत नाही व ‘सस्युरसम्बुद्धी’ या पुढील सूत्रात, विभक्तिविपरिणामानें प्रथमान्त झालेले तें पद मण्डूकप्लुतीने अनुवृत्त होण्याकरिता ‘सस्युरसम्बुद्धि’ असे सूत्र पठित करणे इष्ट आहे असे दीक्षिताचे म्हणणे आहे परंतु शब्दरत्नकार असे म्हणतात की, ‘सस्युरसम्बुद्धि’ असे जरी प्रकृत सूत्र पठित केले तरी, ‘अनङ् सो’ या उत्तर सूत्रात ‘असम्बुद्धि’ हे पद अनुवृत्त झाल्यावर ‘सो’ या पदाशी ‘असम्बुद्धी सो’ असे सामानाधिकरण्य होण्याकरिता ते अनुवृत्त पद पुन्हा सप्तम्यन्त कल्पावे लागणारच मग प्रकृत सूत्रात ‘असम्बुद्धि’ अस प्रथमान्त पद पठित करून फायदा काय ? दुसरे

असें कीं, 'इतोऽस्सर्वनामस्थाने' या ज्या पूर्वसूत्रांतून उत्तर सूत्रामध्ये 'सर्वनामस्थाने' या पदाची अनुवृत्ति होते त्या पूर्व सूत्रांत 'सर्वनामस्थाने' असें सप्तम्यन्त पद पठित केलें असल्यामुळें, प्रकृत सूत्रांत 'असम्बुद्धी' असें सप्तम्यन्त पद पठित असलें तरच, त्या पदाच्या सामर्थ्यानें 'सर्वनामस्थाने' हें सप्तम्यन्त पद प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त करतां येतें; नाहीं तर 'णलुत्तमो वा' या मधील सूत्रांत तें पद अनुवृत्त होत नसल्यामुळें, प्रकृत सूत्रांत 'असम्बुद्धिः' असें भिन्न-विभक्तिक पद पठित केल्यानें, 'असर्वनामस्थाने' या पदाची प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्ति करतां येऊं शकणार नाहीं. म्हणून पाणिनीनें जसें प्रकृत सूत्र पठित केलें आहे तसेंच तें सूत्र असणें इष्ट आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे आणि म्हणूनच त्यांनीं प्रकृत पंक्तींत 'इत्यभिमानः' हीं अरुचिप्रदर्शक पदे घातलीं आहेत व 'भावप्रकाशकार म्हणतात—'अत्रारुचिबीजं तु भिन्नविभक्तिकत्वात् णलुत्तमोयेति विच्छेदाच्च सर्वनामस्थाने इत्यस्य निवृत्तिरेव स्यादिति यथान्यासमेवोचितमिति । अत एवासम्बुद्धाविति पर्युदासः, तद्वलात्तेन मध्ये विच्छिन्नमपि सदिहाकृष्यते इति प्रकाशोक्तिः संगच्छते ।')

मनोरमा—“ह्यत्यात्परस्य” ॥ कृतयणादेशयोः खिखीशब्द-योरनुकरणं “ह्य” इति । एवं तितीशब्दयोः “त्य” इति । उभयत्राप्यकार उच्चारणार्थः । न तु मुख्यापत्यादिशब्दैकदेशानुकरण-मिदम् । “सह्युर्यः” “पत्युर्तः” । “संख्यायाः संवत्सरसंह्यस्य च” । “आपत्यस्य च-तद्धिते” इत्यादिनिर्देशात् इत्यभिप्रेत्याह—खिति-शब्दाभ्यामित्यादि । परस्येतिग्रहणं “एकः पूर्वपरयोः” इत्यधिकार-निवृत्त्यर्थम् ।

(‘खि’ किंवा ‘खी’ यांच्या पुढें विभक्तिप्रत्ययाचा अकार आला असतां) यणादेश होऊन ‘ह्य’ असें जें रूप होतें त्याचें ‘ह्यत्यात्परस्य’ नू. २५५ या प्रकृत सूत्रांतील ‘ह्य’ हा शब्द अनुकरण आहे. त्याचप्रमाणें (‘ति’ किंवा ‘ती’ यांच्या पुढें विभक्ति-

प्रत्ययाचा अकार आला असता) यणादेश होऊन 'त्य' असे जें रूप होते त्याचे प्रकृत सूत्रातील 'त्य' हा शब्द अनुकरण आहे 'स्य' व 'त्य' या दोन्ही स्थली जो अकार घातला आहे तो केवळ उच्चारणार्थ आहे 'मुख्य, आपत्य' इत्यादि शब्दात जे अन्त्य 'स्य' व 'त्य' हे एकदेश आढळतात त्याचे प्रकृत सूत्रातील 'स्य' व 'त्य' हे शब्द अनुकरण नव्हत हे 'सह्युयं' सू १७९१ 'पत्युर्नो यज्ञ-सयोगे', सू ४९० 'सह्याया सवत्सरसह्यस्य च' सू १७५२ व 'आपत्यस्य च तद्धिते' सू १०८२ इत्यादि निर्देशावरून सिद्ध होणे (जर प्रकृत सूत्रात 'स्य' व 'त्य' असे मूळचे अकारान्त शब्द विचक्षित असते व यणादेश करून झालेले 'ह्य, त्य' विवक्षित नसते तर, 'ससि, पति' या शब्दाची पञ्चमीच्या व पष्ठीच्या एक-वचनाची 'सह्यु, पत्यु' अशी इष्ट रूपे न होता 'सह्य, पत्य' अशी अनिष्ट रूपे झाली असती व 'सह्युयं, पत्युर्नो यज्ञसयोगे' या सूत्रातील 'सह्यु, पत्यु' हे निर्देश असङ्गत ठरण्याची आपत्ति आली असती, आणि तसेच सवत्सरसह्यस्य, आपत्यस्य' अशी पष्ठीच्या एकवचनाची रूपे न होता त्याच्यापुढील पष्ठीच्या विभक्तप्रत्ययातील अकाराचे उत्पन्न होऊन अनिष्ट रूपे झाली असती व बरील पाणिनीय सूत्रातील ते निर्देश चूक ठरण्याची आपत्ति आली असती) हे सब मनात धरूनच कोमुदीत प्रकृत सूत्राचे 'सितिशब्दाभ्या खीतीशब्दाभ्या कृतयणादेशाभ्या परस्य डसिडसोरत उत्स्यात्' असे व्याख्यान केले आहे प्रकृत सूत्रात 'परस्य' या पदाचे ग्रहण अशाकरिता केले आहे की, 'एक पूर्वपरयो' या अधिकारसूत्राची निवृत्ति व्हावी (प्रकृत सूत्रातील 'रूपत्यात' हे पद पञ्चमी असल्यामुळे, 'तस्मादित्युत्तरस्य' सू ४१ या सूत्रान्वये पराला कार्य झालेच असते व 'आदे परस्य' सू ४४ या सूत्रान्वये ते कार्य पुढें येणाऱ्या 'डसि, डस्' या प्रत्ययाच्या आद्य वर्णास, म्हणजे अकारास, झालेच असते सारास पराला कार्य व्हावे याकरिता 'परस्य' हा शब्द प्रकृत सूत्रात घातला नगून, 'एक

पूर्वपरयोः' हा अधिकार प्रकृत सूत्रापर्यंतच चालू राहावा व तेथून त्याची निवृत्ति व्हावी याकरितां तो शब्द प्रकृत सूत्रांत घातला आहे. त्यामुळे दोहोंचि जागीं एकादेश होत नसून प्रकृत सूत्रानें सांगितलेलें कार्य पुढील शब्दांतील आद्य वर्णाला होतें हें स्पष्ट होतें.)

मनोरमा—“औत्” ॥ एतच्च नदीसंज्ञकेषु “इदुद्भ्याम्” इति पूर्वसूत्रेण बाध्यते । घिसंज्ञकेषु “अच्च घेः” इत्युत्तरसूत्रेण । तस्मात्संज्ञाद्वयद्व्योऽस्य विषयः । न च तादृश उकारोऽस्ति । अत आह—उकारेति । यत्तु प्राचा घिनदीसंज्ञावर्जिताभ्यामिदुद्भ्यां पर-स्थेत्युक्तम् । तन्न । तादृशोकारस्याप्रसिद्धेः । समुदायस्येति । न च पर्युदासेऽपि पर्युदस्यमानसमर्पके सखिशब्दे तदन्तग्राहकत्वं शङ्क्यम्, विशेष्यासन्निधानात् । यत्स्विह ग्रहणवतेत्याद्युपन्यस्तं हरदत्तेन, यच्च एतस्यासूत्रे कैयटेन, तन्न तस्य प्रत्ययविधिविषयत्वात् ।

गौणत्वेऽपीति । अस्थायानङ्वदिति भावः । तथा च “येन विधिः” इति सूत्रे परमसखायाविति बहुव्रीहिः । तत्पुरुषे हि टच्चा भाव्यमिति कैयटः । तथा “द्वितीया श्रित” इति सूत्रे सोमसखेति प्रतीकमुपादाय बहुव्रीहित्वात्त समासान्त इति कैयटः । “मिदचो-ऽन्त्यात्” सूत्रे तृज्वत्कोष्ठुः” “स्त्रियां च” इति सूत्रे च भाष्यकैयटयोः स्याधातौ माधवग्रन्थे च स्फुटमेतत् । ‘अनुद्युक्षो वरुण इन्द्रसखा’ ‘आग्नेया हि मरुत्सखा’ ‘तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्’ इत्यादिप्रयोगाश्चैवमेव सङ्गच्छन्ते । तत्र बहुव्रीहि-प्रयुक्तस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्य दर्शनेन गौणत्वात् । एतेन घिसंज्ञा-सूत्रे शोभनः सखा यस्य सुसखिरित्युदाहरन्ती हरदत्तन्यासकारी तदनुगामिनश्चान्ये उपेक्ष्याः ।

‘औत्’ सू. २५६ हें प्रकृत सूत्र (नदीसंज्ञक शब्दांना लागू पडत नाही; कारण तें) नदीसंज्ञक शब्दांच्या विषयांत ‘इदुद्भ्याम्’ या पूर्वं सूत्रानें बाधित होतें. तसेंच घिसंज्ञक शब्दांच्या विषयांत (प्रकृत सूत्र लागू पडत नाही; कारण तें) ‘अच्च घेः’ या उत्तरसूत्रानें

बाधित होते. म्हणून जे शब्द घिसज्ञक किंवा नदीसज्ञक नाहीत असेच शब्द प्रकृत सूत्राचे विषय होत, म्हणजे अज्ञात शब्दाना प्रकृत सूत्र लागू पडते. दोन्ही सज्ञाचे विषय नसणारे शब्द उकारान्त नाहीत ('सखि, पति' हे जे दोन्ही सज्ञाचे विषय नसणारे शब्द आहेत ते इकारान्त आहेत. म्हणून नदीसज्ञा व घिसज्ञा ज्यांना नाही अशा शब्दानाच लागू पडणारे प्रकृत सूत्र असल्यामुळे व तसे शब्द उकारान्त नसून तसे 'पति, सखि' हे इकारान्तच शब्द असल्यामुळे, 'इबुद्भ्रधाम्' या पूर्व सूत्रातून प्रकृत सूत्रात केवळ इकाराची अनुवृत्ति करावयास पाहिजे होती व उकाराची अनुवृत्ति करण्याची काहीच गरज नव्हती असे कोणी म्हटल्यास, त्याच्या उत्तरादाखल) प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत 'उकारानुवृत्तिरुत्तरार्था', म्हणजे 'अच्च घे.' या उत्तर सूत्रात उकारानुवृत्ति न्हावी याकरिता प्रकृत सूत्रात उकाराची अनुवृत्ति केली आहे, असे म्हटले आहे (प्रकृत सूत्रात उकारानुवृत्ति केली नसती तर, 'अच्च घेः' या उत्तर सूत्रात ती अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतीने करावी लागली असती व तसे करणे हा दोष आहे हे मार्गे अनेक वेळा सांगितलेच आहे) प्रतियाकौमुदीवारांनी प्रकृत सूत्राचे व्याख्यान करिताना 'घिनदीसज्ञावर्जिताभ्यामिबुद्भ्रधा परस्थ डेः औत्तर्यात्' असे जे म्हटले आहे ते बरोबर नाही, कारण ज्याला घिसज्ञा व नदीसज्ञा नाही असा कोणताहि उकारान्त शब्द भाषेत नाही. 'समुदायस्य सखिरूपत्वाभावात् असखि इति नियेषाप्रवृत्ते-घिसज्ञा' असे जे प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत म्हटले आहे त्यावर, 'सोपो घ्यसखि' सू २४३ या सूत्रात 'असखि' हा जरी पर्युदास आहे तरी त्या पर्युदासातील 'सखि' या शब्दाने तदन्ताचे म्हण करता येते, अशी कोणी शका केल्यास, ती शका बरोबर नाही; कारण ह्या सूत्रात कोणत्याहि विशेष्याचे सन्निधान नाही, म्हणजे कोणतेहि विशेष्य साक्षात् पठित किंवा अनुधृत नाही. (शका-वाराची अशी शका आहे की, 'असखि' हा प्रसज्यप्रतिषेध नसून पर्युदास असल्यामुळे व 'सुसखि' हा शब्द 'सखि' या शब्दाहून

भिन्न असत्यामुळें जरी 'असखि' या पर्युदासानें 'सुसखि' या शब्दाचें ग्रहण करतां येत नाहीं तरी, 'येन विधिस्तदन्तस्य' सू. २६ या सूत्रानें तदन्तविधि केल्यानें, 'असखि' या पर्युदासाचा 'सखिशब्दान्तभिन्न' असा अर्थ होऊन त्या अर्थान्वये सखिशब्दान्त 'सुसखि' या शब्दाचें ग्रहण करतां येतें व त्यामुळें 'सुसखि' या शब्दाला देखील घिसंज्ञा होत नाहीं व त्या शब्दापुढील 'टा' प्रत्ययाचे जागीं नादेश करतां येत नाहीं. या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं, 'येन विधिस्तदन्तस्य' सू. २६ या सूत्रानें विशेषणालाच तदन्तसंज्ञा होते. परंतु 'शेषो घ्यसखि' या सूत्रांत कोणत्याहि विशेष्याचा साक्षात् निर्देश नसल्यामुळें व तसें विशेष्य त्या सूत्रांतून अनुवृत्त देखील होत नसल्यामुळें, 'सखि' हा शब्द विशेषण मानतां येत नाहीं व त्यामुळें त्याहून तदन्तविधि करतां येत नाहीं. तसेंच 'शेषो घ्यसखि' हें सूत्र अङ्गाधिकारांत किंवा पदाधिकारांत पठित नसून तें संज्ञासूत्र प्रथमाध्यायांत पठित असल्यामुळें, त्या सूत्राला 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' - परि. २९-ही परिभाषा लागू पडत नाही. त्यामुळें देखील 'सखि' शब्दानें तदन्ताचें ग्रहण होत नाहीं हें उघड आहे.) 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' - परि. ३१ - ही जी परिभाषा हरदत्तानें प्रकृत स्थलीं लावली आहे व तसेंच 'ख्यत्यात्परस्य' सू. ६-१-११२ या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तींत कैयटानें या संबंधानें जें म्हटलें आहे तें बरोबर नाहीं; कारण ती परिभाषा अशाच सूत्रांना लागू पडते कीं, ज्यांत प्रत्यय होण्याचें विधान केलें आहे. ('शेषो घ्यसखि' या सूत्रावरील पदमञ्जरींत हरदत्तानें 'इह शोभनः सखा अस्य सुसखिः, सुसखेरागच्छतीति घिसंज्ञा सिद्धा भवति, न ह्ययं समुदायः सखिशब्दः, तदन्तविधिश्च ग्रहणवता प्रातिपदिकेन प्रतिपिद्धः' असें म्हटलें आहे. याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'सुसखि' हा शब्द 'सखि' शब्दाहून भिन्न असल्यामुळें, 'शेषो घ्यसखि' या सूत्रांतील 'असखि' हा पर्युदास 'सुसखि' या समुदायाला लागू पडतो व त्यामुळें

‘सुसखि’ या समुदायाला घिसज्ञा होते आणि त्या शब्दाचे ‘सुसख्यु.’ असे पळीचे एकवचन न होता ‘सुसखे.’ असे पळीचे एकवचन होते. ‘शेपो घ्यसखि’ या सूत्रात ‘सखि’ या प्रातिपदिकाचे ग्रहण केले असल्यामुळे व ‘ग्रहणवता प्रातिपदिकेन’ ही परिभाषा असल्यामुळे, येथे तदन्तविधि करता येत नाही तसेच ‘स्वत्यात्परस्य’ या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तीत कंयटाने ‘अतिसखेरित्यन्नाऽसखीति घिसज्ञा-प्रतिषेधो न भवति । ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिप्रतिषेधात् । केवलस्यैव सखिशब्दस्य प्रतिषेधविज्ञानात्’ असे म्हटले आहे. यावर दीक्षित असे म्हणतात की, ‘शेपो घ्यसखि’ या सूत्रात प्रत्यय होण्याचे विधान केले नसून ते केवळ सज्ञाभूत असल्यामुळे व ज्या सूत्रात प्रत्यय होण्याचे विधान केले आहे अशाच सूत्रांना ‘ग्रहणवता प्रातिपदिकेन’ ही परिभाषा लागू पडत असल्यामुळे, ती परिभाषा ‘शेपो घ्यसखि’ या सूत्रात निर्दिष्ट असलेल्या ‘सखि’ या प्रातिपदिकाला लागू पडत नाही परिभाषेन्दुशेखरात देखील या परिभाषेसंबधाने ‘अत एवाय प्रत्ययविधिविषय एव’ असेच म्हटले आहे व या विषयाचे विस्तृत विवरण परिभाषेन्दुशेखराच्या मराठी भाषांतरात पान ११८ मध्ये केले आहे) ‘गीणत्वेऽप्यनङ्णित्वे प्रवर्तते’ असे जे प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, (‘अस्थिद-घिसविध’ सू. ३२२ या सूत्राने समासात उपसर्जन झालेल्या) ‘अस्थि, दधि’ इत्यादि शब्दांना जसा ‘अनङ्’ आदेश होतो त्यान-प्रमाणे समासांत उपसर्जन झालेल्या ‘सखि’ शब्दाला देखील ‘अनङ्’ आदेश होतो. त्यामुळेच ‘येन विधि’ सू. १-१-७२ या सूत्रावरील भाष्यात ‘परमससायी’ असे बहुव्रीहिमासाचे रूप दिले आहे व त्या भाष्याच्या वृत्तीत कंयटाने असे म्हटले आहे की, जर तो तत्पुरुषसमास असता तर समसान्त ‘टच्’ प्रत्यय झाला असता. (त्या सूत्रावरील भाष्यात त्या सूत्राचे प्रयोजन सांगतांना भाष्यकारांनी ‘शुपयिमपिपुगोमसिपनुरनङ्प्रिग्रहणम्’ हे यातिश पठित केले आहे व त्या यातिशयाचा अर्थ हा आहे की, याति-

नीय सूत्रांत पठित असलेल्या 'दिक्, पथिन्, मथिन्' इत्यादि शब्दांनी त्यांचें स्वतःचें व तदन्त शब्दांचें देखील ग्रहण व्हावें हेंहि 'येन विधिः' या सूत्राचें एक प्रयोजन आहे व त्या वार्तिकांत निर्दिष्ट असलेल्या 'सखि' या शब्दाचें भाष्यकारांनी 'परमसखा, परमसखायी परमसखायः' असें उदाहरण दिलें आहे व यावर कंयटानें 'परमसखायाविति बहुव्रीहिः । तत्पुरुषे तु टच्चा भाव्यम्' असें म्हटलें आहे. यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, भाष्यकारांनी 'परमसखा' इत्यादि बहुव्रीहिसमासाचीं उदाहरणें दिलीं आहेत. या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासांत 'सखि' शब्द उपसर्जन असून देखील, अनङादेश व णित्व केलें आहे. हें भाष्य व कंयटवृत्ति 'गौणत्वेऽप्यनङ्णित्वे' असें जें कौमुदींत म्हटलें आहे त्याला प्रमाण आहे.) तसेंच 'द्वितीयाश्रितातीत' सू. २-१-२४ या सूत्रावरील भाष्यांतील 'सोमसखा' हें प्रतीक घेऊन, हा बहुव्रीहिसमास असल्यामुळें समासान्त 'टच्' प्रत्यय झाला नाहीं असें कंयटानें आपल्या वृत्तींत म्हटलें आहे. (त्या भाष्यांत भाष्यकारांनी 'उभयं खत्वपीष्यते । स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि । गवांसख इति ।', म्हणजे दोन्ही तन्हा इष्टच आहेत व जशी विवक्षा असेल त्याप्रमाणें तत्पुरुषहि होतो व बहुव्रीहिहि होतो. उदाहरणार्थ 'स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि । गवांसखः ।', असें म्हटलें आहे, व या भाष्याच्या वृत्तींत कंयटानें 'सोमसखेति । बहुव्रीहत्वात् समासान्ताभावः । गवांसख इति । तत्पुरुषत्वात् समासान्तः, तत्पुरुषे कृति बहुलमिति, षष्ठ्या आक्रोशे इति वा षष्ठ्याः अलुक्' असें म्हटलें आहे. या कंयटवृत्तीवरून हें स्पष्ट होतें कीं, भाष्यांतील 'सोमसखा, परमसखा' हीं उदाहरणें बहुव्रीहिसमासाची असून त्यांत 'सखि' हा शब्द जरी उपसर्जन आहे तरी त्याला 'अनङ्' आदेश केला आहे.) त्याचप्रमाणें 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सू. १-१-४७, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' सू. ७-१-९५ व 'स्त्रियां च' सू. ७-१-९६ या सूत्रांवरील भाष्यांवरून व कंयटवृत्तीवरून आणि तसेंच माधवाच्या धातुवृत्तींत 'त्या' धातुचें व्याख्यान करितांना जें म्हटलें आहे

त्यावरून देखील हेच स्पष्ट होते, म्हणजे 'सखि' शब्द समासात उपसर्जन झाला असला तरी त्याला 'अनङ्' आदेश होतो व णिद्वत् कार्य होते. असे मानले असताच, 'अनुयुक्तो बह्वि इन्द्रसखा, आग्नेया हि गयत्सखा, तीप्रं सोमं विवति गोसखायम्' इत्यादि वैदिक प्रयोग सुसङ्गत ठरतात, म्हणजे त्या वैदिक प्रयोगातील 'इन्द्रसखा, गयत्सखा, गोसखा' ही बहुव्रीहिसमासाची रूपे साधु ठरतात. या बरील सर्व वैदिक उदाहरणात 'बहुव्रीही प्रकृत्या पूर्वपदम्' सू. ३७३५ या सूत्राने बहुव्रीहिसमासात होणारा पूर्वपद-प्रकृतिस्वर वेदात दिलेला आढळून असल्यामुळे ही सर्व बहुव्रीहिसमासाची उदाहरणे असून यात 'सखि' हा शब्द गौण आहे हे स्पष्ट होते. { 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' ही परिभाषा असल्यामुळे आणि 'सह्युरसम्बुद्धो, अनङ् सो' ही सूत्रे अङ्गाधिकारात पठित असल्यामुळे, त्या सूत्रांनी सांगितलेली कार्ये जशी केवळ 'सखि' शब्दाहून होतात तशीच ती सह्यन्त शब्दाहून देखील होतात. 'गौणमुख्ययो मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः'—परि. १५—या परिभाषान्वये मुख्याला-प्रधानाला—जे कार्य होणे सांगितले आहे ते कार्य गौणाला-अप्रधानाला—होत नाही व म्हणून जेथे समासात 'सखि' हा शब्द गौण-अप्रधान किंवा उपसर्जन-झाला आहे तशा ठिकाणी बरील सूत्रात सांगितलेली कार्ये तशा उपसर्जनीभूत सह्यन्त शब्दाहून करता येऊ शकत नाहीत असे कोणी म्हटल्यास, त्याला उत्तर हे आहे की, 'गौणमुख्ययोः' या परिभाषेतील 'गौण' या शब्दाचा, परिभाषेनुषंगाने सांगितल्याप्रमाणे, 'गौणलाक्षणिक' व 'अप्रतिष्ठ' असा अर्थ असून 'उपसर्जन' असा अर्थ नसल्यामुळे व ती परिभाषा प्रातिपदिककार्य करतेवेळी लागू पडत नसून पदकार्य करतेवेळी लागू पडत असल्यामुळे आणि प्रकृत स्थली पदकार्य करणे नसून प्रातिपदिककार्य करणे असल्यामुळे, ती परिभाषा येथे लागू पडत नाही या विषयाचे विस्तृत विवरण परिभाषेनुषंगाने मराठी भाषान्तरात पान ५३-५५ व ६०-६१ मध्ये केले आहे व ते वाच-

त्यास वरील विषय नीट ध्यानांत येईल.) समासांत 'सखि' शब्द गौण असला तरी 'अनङ्' आदेश व णिह्रत्कार्य करतां येऊं शकत असल्यामुळे, हरदत्त, न्यासकार व त्यांचे अनुयायी यांनी 'शेषो ध्यसखि' या विसंज्ञाविधायक सूत्रावरील वृत्तींत 'शोभनः सखा यस्य सः सुसखिः' असें जें उदाहरण दिलें आहे तें उपेक्षार्ह-चूक-आहे. (या बहुव्रीहिसमासांत जरी 'सखि' हा शब्द उपसर्जन आहे तरी, 'अनङ् सौ' या सूत्रानें त्याला अनङादेश करतां येतो व त्यामुळे 'सुसखिः' असें रूप न होतां 'सुसखा' असेंच प्रथमेच्या एकवचनाचें रूप होऊं शकतें असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.)

शब्दरत्न- विशेष्यासन्निधानादिति । शब्दस्वरूपं विशेष्यं त्वव्यावर्तकम् । किं च सत्यपि विशेष्ये सखिशब्दभिन्नान्तस्पेत्येव त्याग्न तु सख्यन्तभिन्नस्येति । नञकार्थीभावापन्नस्यान्यत्रान्वयायोगादिति भावः । तस्य प्रत्ययविधीति । एवं च हरदत्तानुरोधेनेदं सर्वमिति भावः । तथा द्वितीयेति । तत्पुरुषविषये बहुव्रीहिर्नेति उपक्रम्योभयं खल्वपीष्यते सोमसखा शर्वासख इति भाष्यम् । अन्ये "षष्ठ्या आक्रोश" इत्यलुक् ।

'विशेष्यासन्निधानात्' असें जें मनोरमेत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'शब्दस्वरूप' हें अव्यावर्तक, म्हणजे सर्वत्र लागू पडणारें, विशेष्य आहे (कारण पाणिनीय शास्त्रांत जीं जीं विधानें केलीं आहेत तीं सर्व शब्दस्वरूपासंबंधानेंच केलीं असल्यामुळे, 'शब्दस्वरूप' हे सर्वत्र विशेष्य मानतां येतें. अशा सार्वत्रिक सामान्य विशेष्याचें 'असखि' हा शब्द विशेषण मानून त्याहून 'येन विधिः' या सूत्रानें होणारा तदन्तविधि करतां येत नाही. पाणिनीय सूत्रांत साक्षात् निर्दिष्ट किंवा अनुवृत्त असलेला शब्द विशेष्य असल्यास, तशा विधिष्ट विशेष्याच्या सूत्रनिर्दिष्ट विशेषणाहून 'येन विधिः' या सूत्रानें तदन्तविधि करतां येतो. म्हणून 'शेषो ध्यसखि' या सूत्रांत कोणतेंहि विशेष्य साक्षात् निर्दिष्ट किंवा अनुवृत्त नसल्यामुळे, त्या सूत्रातील 'असखि' हा शब्द, विशेष्याच्या अभावीं, विशेषण

मानता येत नाही व त्याहून तदन्तविधि करता येत नाही यावर शका-
कारअशी शका करतो की, घिसजक अङ्गाहून विभक्तिप्रत्यय होण्याचे
विधान करणारी सूत्रे अङ्गाधिकारात पठित असल्यामुळे, त्यापैकी
काणत्याहि सूत्राने, उदाहरणार्थ 'आडो नाऽस्त्रियाम्' सू. २२४
या सूत्राने, कार्य करतेवेळी, कार्यकालपक्षात त्या कार्यविधायक
सूत्राजवळ 'शेषो घ्यसखि' हे सज्ञासूत्र उपस्थित झाले असता, अङ्गा-
धिकारस्य त्या कार्यविधायक सूत्रात अनुवृत्त होणारे 'अङ्गस्य' हे
पद 'असखि' याचे विशेष्य मानता येते व त्यामुळे 'असखि' या
विशेषणाहून तदन्तविधि करता येतो या शकेवर शब्दरत्नकार असे
उत्तर देतात की, अशा रीतीने, शकाकाराने म्हटल्याप्रमाणे, 'असखि'
या पदाचे 'अङ्गस्य' हे अनुवृत्त पद) विशेष्य मानले तरी, 'असखि'
या शब्दाचा, तदन्तविधि केल्याने, 'सखिशब्दभिन्नान्तरय' असाच
अर्थ होईल, 'सख्यन्तभिन्नस्य' असा अर्थ होणार नाही, कारण
'असखि' या नञ्त्वरूपसमासात 'नञ्' या प्रधान पदाशी एकार्थी-
भावापन्न झालेल्या 'सखि' या शब्दाचा इतर शब्दामध्ये, म्हणजे
'अङ्गस्य' या शब्दामध्ये, अन्वय होऊ शकत नाही ('न सखि
असखि' याचा 'सखिभिन्नम्=सखिशब्दभिन्नम्' असा अर्थ होतो
व 'सखिशब्दभिन्नम्' हे 'अङ्गम्' याचे विशेषण मानून त्याहून
तदन्तविधि केल्यास, 'सखिशब्दभिन्नान्त इज्यन्ति यदङ्ग तस्य
पिसज्ञा भवति' असा 'शेषो घ्यसखि' या सूत्राचा अर्थ होऊ शकतो,
'गख्यन्तभिन्न यदङ्ग तस्य पिसज्ञा भवति' असा अर्थ मुळीच होऊ
शकत नाही, व भ्रंशकार म्हणतात की, 'एवञ्च यदि सखि-
भिन्नान्तस्याङ्गस्येत्यर्थस्तदा वेचले सखिशब्देऽतिप्रगङ्गोऽप्येव सखि-
भिन्नेकारान्तत्वादिति पर्युदासस्य धैर्यमेव स्यादिति भाव ।' या
म्हणण्याचा तात्पर्यापे हा आहे की, शकाकाराच्या म्हणण्याप्रमाणे
'शेषो घ्यसखि' या सूत्रातील 'असखि' हा पर्युदास 'अङ्गस्य' याचे
विशेषण मानून त्याहून तदन्तविधि केल्यास, शब्दरत्नात सांगितल्या-
प्रमाणे त्या सूत्राचा 'सखिशब्दभिन्नान्तस्य अङ्गस्य पिसज्ञा भवति'

असाच अर्थ होऊं शकत असल्यामुळे, त्या अर्थान्वये केवळ 'सखि' या शब्दामध्ये जो अन्त्य इकार आहे तो देखील सखिशब्दभिन्न असल्याकारणाने, तसा इकारान्त 'सखि' या अङ्गाला देखील विसंज्ञा होण्याची व बरील सूत्रांतील 'असखि' हा पर्युदास व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येईल. म्हणून शंकाकाराने या स्थलीं जो तदन्तविधि केला आहे तसा तदन्तविधि करणे योग्य नाही; कारण तसा तदन्तविधि केल्याने अनिष्ट सूत्रार्थ होतो हें बरील विवेचनावरून स्पष्ट होते.) 'समुदायस्य सखिरूपत्वाभावादसखीति निषेधाऽप्रवृत्तेर्विसंज्ञा', म्हणजे ज्या शब्दसमुदायाच्या अन्ती 'सखि' शब्द असतो तो शब्द-समुदाय 'सखि' शब्दाहून भिन्न असल्यामुळे त्याला 'असखि' हा निषेध लागू पडत नाही व तो समुदाय विसंज्ञक ठरतो, असें जे प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत दीक्षितांनीं म्हटले आहे ते हरदत्ताच्या मतानुसार म्हटले आहे. (यावरून हें ध्वनित होते कीं, दीक्षितांचें हें मत शब्दरत्नकारांना मान्य नाही व त्यांच्या मते 'सुसखि' हा शब्द देखील विसंज्ञक ठरत नाही आणि म्हणून त्या शब्दाचें 'सुसखिना' असें तृतीयेचें एकवचन न होतां, 'सुसख्या' असेंच तृतीयेचें एकवचन होऊं शकतें. 'यस्येति च' सू. ६-४-१४८ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं 'इवर्णस्य ईत्वे किमुदाहरणम् ?' असा प्रश्न करून त्याचें अखेरीस 'इदं तर्हि अतिसखेरागच्छति, अतिसखेः स्वम् । यदि लोपो न स्यादुपसर्जनह्रस्वत्वे कृतेऽसखीति प्रतिषेधः प्रसज्येत ।' असें उत्तर दिलें आहे. या भाष्याचा भावार्थ हा आहे कीं, 'सखि' या शब्दाहून 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' सू. ५१७ या सूत्रानें 'ङीप्' प्रत्यय केला असतां, 'यस्येति च' सू. ३११ या सूत्रानें 'सखि' यांतील अन्त्य इकाराचा लोप होऊन 'सखि ङीप् = सख् ई = सखी' असें दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिङ्गाचें रूप होतें. 'सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः' या प्रादिसमासांत 'गोत्थि-योरुपगर्जनस्य' मू. ६५६ या सूत्रानें 'सखी' या उपसर्जन झालेल्या शब्दाचा दीर्घ ईकार न्दृश्च होऊन 'अतिसखि' असा जो सामा-

सिक शब्द होतो त्यात जरी शब्दसमुदायाच्या अन्ती न्हस्व इकारान्त 'सखि' शब्द आढळतो तरी त्या शब्दसमुदायाला घिसजा होते; कारण त्या 'सखि' शब्दान जो न्हस्व इकार अन्ती आहे तो मूळ 'सखि' शब्दाचा इकार नव्हे. त्या इकाराचा 'यस्येति च' या सूत्राने लोप होऊन गेला आहे व 'अतिसखि' या सामासिक शब्दाच्या अन्ती 'सखि' शब्दात जो न्हस्व इकार आढळतो तो 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य' या सूत्राने 'सखी' या डीप्प्रत्ययान्त दीर्घ ईकारान्त शब्दाना न्हस्व झालेला इकार आहे त्यामुळे 'अतिसखि' या शब्दाला घिसजा होऊन त्याची 'हरि' शब्दाप्रमाणे रूपे होनात. भाष्यकार म्हणतात की, जर 'सखि' शब्दाहून 'डीप्' प्रत्यय केल्यावर 'सखि' शब्दातील इकाराचा लोप झाला नसता व 'सखि' यातील न्हस्व इकार आणि 'डीप् = ई' या दोहोचे जागी 'अक' सवर्णे दीर्घ 'सू ८५ या सूत्राने सवर्णेदीर्घरूप एकादेश झाला असता तर, तो एकादेश पूर्वान्तिवद्भावाने 'सखि' शब्दाचा अन्तावयव मानता येऊ शकला असता व त्यामुळे 'गोस्त्रियो' या सूत्राने न्हस्वकार्य झाल्यावर 'असखि' हा प्रतिषेध 'अतिसखि' या उदाहरणाला लागू पडण्याची व घिसजा न होण्याची आपत्ति आली असती या भाष्यावरून हे स्पष्ट होणे की, ज्या शब्दाच्या शेवटी मूळ 'सखि' शब्दाचा न्हस्व इकार आहे त्याला घिसजा होत नाही 'शोभन ससा यस्य स सुसखि' या बौमदीत दिलेल्या उदाहरणात मूळ 'सखि' शब्दाचा न्हस्व इकार अन्ती असल्यामुळे, त्या शब्दाना वरील भाष्यान्वये वास्तविक घिसजा होऊ शकत नाही व त्याला घिसजा होते अगे जे हरदत्तमतानुसार दीक्षितानी म्हटले आहे ते वरील भाष्याच्या विरुद्ध असल्यामुळे चुक ठरते या विषयाचे विस्तृत विवरण प्रवृत्त सूत्रावरील शब्देन्दुशेखरात केले आहे व नागेशानी 'सखिसन्दस्य तदवयवे लक्षणया सत्यवयवभिन्नयोरिदुतोरित्यर्थः' असे म्हटले आहे व हाच शब्दरत्नातील प्रवृत्त वचनीचा आशय आहे.) 'द्वितीयाश्रिता-

सीत' २-१-२४ या सूत्रावरील भाष्यांत 'तत्पुरुषविषये बहुव्रीहिर्न', म्हणजे 'यत्र तत्पुरुषः प्राप्नोति बहुव्रीहिश्च, तत्र तत्पुरुष एव भवति', असा उपक्रम करून (त्याचें प्रत्याख्यान करतेवेळीं) भाष्यकारांनीं ' उभयं खल्वपीष्यते, सोमसखा, गवांसखः ' असें म्हटलें आहे. या भाष्यांतील ' गवांसखः ' या अखेरच्या उदाहरणांत ' षष्ठ्या आक्रोशे ' सू. ९७९ या सूत्रान्वये षष्ठीचा लुक् झाला नाही (व हा तत्पुरुषसमास असल्यामुळे ' राजाहस्सखिम्यष्टच् ' सू. ७८८ या सूत्रानें येथें समासान्त ' टच् ' प्रत्यय झाला आहे. ' सोमसखि ' या बहुव्रीहिसमासांत मूळचा ' ह्रस्व इकारान्त ' सखि ' शब्द अन्तीं असल्यामुळे, त्याला शब्दरत्नकारांच्या मते चिसंज्ञा होत नाही व तो मूळ ' सखि ' शब्दासारखाच चालतो. पण दीक्षितांच्या मते त्याला चिसंज्ञा होते व त्याची पहिली पांच रूपे सोडून ' हरि ' शब्दासारखी इतर रूपे होतात.)

मनोरमा—“पतिः समास एव” ॥ एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । अन्यथा हि समासे पतिरेवेति सम्भाव्येत । “ धात्वादेः ” इत्यादि-ज्ञापकानुसरणे च प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । अथ कथं—सीतायाः पतये नमः ॥ पराशरश्च—

“ नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लोबे च पतिते पती ” इति ।

उच्यते । पतिरित्याख्यातः पतिः णी टिलोपे “ अच इः ” इत्योणादिक इः । अयं पतिशब्दः “ पतिः समास एव ” इत्यत्र न गृह्यते लाक्षणिकत्वात् । एतेन ' कृष्णस्य सखिरर्जुनः ' इति भारतं ' सखिना यानरेन्द्रेण ' इति रामायणं च व्याख्यातम् ।

' पतिः समास एव ' सू. २५७ या सूत्रांतील ' एव ' हा शब्द अवधारणार्थक असून तो ' समासे ' या पदाशींच अन्वित होणें इष्ट आहे (आणि म्हणूनच ' एव ' हा शब्द ' समासे ' या शब्दाच्या लगेच पुढें घातला आहे.) ' एव ' हा शब्द ' समासे ' या शब्दाच्या पुढें घातला नसता तर, ' समासे पतिरेव

घिसज्जको भवति' असा अनिष्ट सूत्रार्थ होण्याचा संभव होता
 'घात्वादे प स' इत्यादि ज्ञापकाच्या आधारे प्रकृत सूत्राचा अर्थ
 करण्यामध्ये शब्दार्थबोध होण्यात क्लेश होणे असा प्रकारचा प्रति-
 पत्तिगौरवरूप दोष आला असता ('घात्वादे प स' सू. २२६४
 या सूत्रात 'घात्वादे' या पदापुढे 'एव' हे पद घातले नसून देखील
 त्या सूत्राच्या आरभसामर्थ्याने जसा त्या सूत्राचा 'घात्वादेरेव प
 स' असा नियामक अर्थ होतो त्याचप्रमाणे प्रकृत सूत्रात 'एव' हे पद
 घातले नसले तरी या सूत्राच्या आरभसामर्थ्याने 'पति समासे एव
 घिसजो भवति' असा, वरील ज्ञापकसूत्राच्या आधारे, प्रकृत सूत्राचा
 नियामक अर्थ झालाच असता व त्यामुळे प्रकृत सूत्रातील 'एव'
 हे पद व्यर्थ ठरते असे शकाकाराचे म्हणणे आहे या शकेवर दीक्षित
 असे उत्तर देतात की, सूत्रार्थाचा निश्चितपणे बोध होण्याकरिता
 ज्ञापके शोधून सूत्रार्थ करण हे फार त्रासदायक असून, सूत्रार्थ स्पष्ट
 होण्याकरिता त्यात इष्ट शब्दाचा प्रयोग करणे हे अधिक सायिस्कर
 व हितावह आहे म्हणून प्रकृत सूत्रात पाणिनीने 'समासे' या
 पदापुढे जो 'एव' हा शब्द घातला आहे त्यायोगाने सूत्र वाचता-
 क्षणीच सूत्रार्थ स्पष्ट होत असल्यामुळे व सूत्रार्थाचे निश्चित ज्ञान
 होण्याकरिता ज्ञापके शोधण्याचा त्रास चुकत असल्यामुळे, पाणिनीचे
 करण अगदी योग्य ठरत दुसरे अस की, आरभसामर्थ्याने प्रकृत सूत्र
 नियमार्थक नव ठरते असे मानल्याने, पतिरेव समासे घिसज्ज
 स्यात्' असा देखील नियम माता येण संभवनीय हात तसा
 अनिष्ट नियमाची व्याप्ति व्हावी म्हणजे तसा नियम न मानतां
 'पति समासे एव घिसज्ज स्यात्' असाच नियम मानणे इष्ट
 आहे हे स्पष्ट होण्याकरिता, पाणिनीने प्रकृत सूत्रात 'एव'
 ह पद 'समासे' या पदापुढे मुद्दाम घातले आहे असा
 दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे) आता 'सीताया पतये
 नम' हा (रामरक्षेतील) प्रयोग व तसच नष्टे मृते प्रदत्तिते
 वगीचे व पतिते पत्नी' हा पराशरस्मृतीतील प्रयोग हे वसे

साधु ठरतात असा कोणी प्रश्न केल्यास त्याचें उत्तर हें आहे कीं, 'पतिरित्याख्यातः पतिः', या अर्थामध्यें 'पति' या प्रातिपदिकाहून ('प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' या गणसूत्रान्वयें) 'णिच्' प्रत्यय करून टिलोप केल्यावर, म्हणजे 'पति' यांतील अन्त्य इकाराचा लोप केल्यावर, ('पत् णि=पत् इ=पति' असा जो णिजन्त धातु होतो तो अजन्त असल्यामुळें) त्याहून 'अच इः' उणादि सू. ५७८ या सूत्रानें औणादिक 'इ' प्रत्यय केला असतां (व 'णेर-निटि' सू. २३१३ या सूत्रानें णिच् प्रत्ययाचा लोप केला असतां) 'पति' असें जें कृदन्त प्रातिपदिक होतें त्याचीं 'पतये' व 'पती' हीं वरील श्लोकांतील रूपे आहेत. हा औणादिक 'इ' प्रत्ययान्त 'पति' शब्द लाक्षणिक असल्यामुळें, 'पतिः समास एव' या सूत्रांतील प्रतिपदोक्त 'पति' शब्दानें तथा लाक्षणिक 'पति' शब्दाचें ('लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्'-परि. ११४-या परिभाषान्वयें) ग्रहण करतां येत नाहीं. याच तऱ्हेनें 'कृष्णस्य सखिरर्जुनः' या भारतप्रयोगाचें व 'सखिना वामरेन्द्रेण' या रामायणांतील प्रयोगाचें व्याख्यान-समर्थन-करतां येतें, म्हणजे दोन्ही ठिकाणीं 'सखि' हा शब्द वरप्रमाणें 'णिच्' प्रत्यय व टिलोप करून व नंतर औणादिक 'इ' प्रत्यय करून सिद्ध झालेला लाक्षणिक शब्द आहे असें मानल्यानें त्याला 'असखि' हा पर्युदास लागू पडत नाहीं व त्यामुळें त्याला घिसंज्ञा होऊन त्याचीं 'हरि' शब्दासारखीं रूपे होतात अशा रीतीनें वरील प्रयोगाचें समर्थन करतां येतें.

मनोरमा-“बहुगण” । बहुगणी प्रातिपदिके संख्यावाचके गृह्यते । न तु संघर्षपुल्यवाचकेऽपि, संख्यायते अनयेति अन्वर्थ-संज्ञाविधानात् । अत एव इतिरपि तद्धित एव गृह्यते । यतुना साहचर्याच्च । न तु पातेऽङितिः ।

‘बहुगणवतुडति सङ्ख्या’ सू. २५८ या सूत्रांतील ‘बहु’ व ‘गण’ या शब्दांनीं त्या संख्यावाचक प्रातिपदिकाचें ग्रहण केलें

जाते 'सङ्ख्यायते अनया इति सङ्ख्या', म्हणजे जिने मोजणी केली जाते ती 'सख्या' होय, या अर्थाची वाचक 'सख्या' ही अन्वर्थक सज्ञा असल्यामुळे, 'वैपुल्य' व 'सघ' या अर्थाचा अनुक्रमे बोध करणाऱ्या 'बहु' व 'गण' या शब्दाचे प्रकृत सूत्रातील 'बहु' व 'गण' या शब्दांनी ग्रहण करता येत नाही (कारण त्या अर्थाचे वाचक 'बहु' व 'गण' हे शब्द सख्यावाचक नाहीत) आणि म्हणूनच, म्हणजे प्रकृत सूत्र हे सख्या या सज्ञेचे विधान करणारे सून असल्यामुळेच, 'डति' प्रत्ययाने देखील ('किम् सङ्ख्यापरिमाणे डति च' सू १८४२ या सूत्राने होणाऱ्या सख्यावाचक) तद्धित 'डति' प्रत्ययाचेच ग्रहण होते आणखी अस की, प्रकृत सूत्रात 'डति' प्रत्ययाला ('यत्तदेतेभ्य परिमाणे वतुप्' सू १८४० या सूत्राने होणाऱ्या तद्धित) 'वतुप्' प्रत्ययाचे साहचर्य आहे (त्यामुळे देखील तद्धित 'वतुप्' प्रत्ययाच्या साहचर्याने तद्धित 'डति' प्रत्ययाचेच ग्रहण होते व) 'पातेडति' उणादि सू ४९७ या सूत्राने होणाऱ्या औणादिक 'डति' या कृत् प्रत्ययाचे ग्रहण होत नाही (म्हणून 'पति' या शब्दाला 'सख्या' ही सज्ञा होत नमून 'कति' या शब्दाला ती सज्ञा होते)

साखरत्न-सख्यावाचके इति । अपाविसख्याम्यापकधर्मविशेष-वाचके इत्यर्थः । न तु बहुत्व सख्या, निमित्तवपमपरिच्छेदहेतुत्व-रूपसख्यात्यस्य तत्राभावात् । अत एव भाष्ये यदयमसख्या सख्येत्याह इत्युक्तम् । सख्यायते जन्येति । साक्षाद्, व्याप्य सख्या-द्वारा वेत्यर्थः । अत एव । बहुगणसाहचर्येण सख्यासम्बन्धार्थ-प्रतिपादकस्य ग्रहणादेव ॥

'बहुगणो प्रातिपदिके सङ्ख्यावाचके गृह्यते' या मनोरमेच्या पक्वोक्तीतील 'सङ्ख्यावाचके' या पदाचा 'तीन इत्यादि सख्यांच ठिकाणी असणारा जो व्यापक धर्म त्या धर्मविशेषाचे वाचक' असा अर्थ आहे 'बहुत्व' ही सख्या नव्हे, कारण अमुक इतके असा

निश्चयात्मकरूपानें बोध करून देणें हा जो धर्म संख्येचे ठिकाणीं असतो तो 'बहु' या शब्दाचे ठिकाणीं नाही, आणि म्हणूनच भाष्यांत 'यदयमसङ्ख्यां सङ्ख्येत्याह' असें म्हटलें आहे. ('बहु' व 'गण' या शब्दांनीं जरी 'बहुत्व' या अर्थाचा बोध होतो तरी निश्चित संख्येचा बोध होत नाही. तथापि तीन इत्यादि परार्थान्त संख्यावाचक शब्दांत असणारा बहुत्वरूप व्यापक धर्म त्यांचे ठिकाणीं असल्यामुळे, ते निश्चित 'संख्येचा बोध करणारे' नसून देखील त्यांचें प्रकृत सूत्रांत ग्रहण केलें आहे. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत-सू. १-१-२३-भाष्यकार म्हणतात-'अथवा नेदं संज्ञाकरणं तद्वदतिदेशोऽयम् । बहुगणवतुडतयः सङ्ख्यावद्भवन्तीति । स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यो, न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते । अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते । तद्यथा । एष ब्रह्मदत्तः । अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, ते मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति । एवमिहाप्यसङ्ख्यां सङ्ख्येत्याह सङ्ख्यावदिति गम्यते ।' या भाष्याचें व्याख्यान करितांना कैयटानें 'सङ्ख्याकार्यातिदेशोऽयमित्यर्थः । यदि हि संज्ञा स्याद्विद्युभादिसंज्ञावदेकाक्षरा क्रियेत । तस्माल्लौकिकार्थाभिधायी सङ्ख्याशब्द उपादीयमानोऽतिदेशार्थत्वमस्य बोधयति ।' असें म्हटलें आहे व तसेंच उद्धोतकारांनीं 'नियतविषयपरिच्छेदहेतुर्हि सङ्ख्या । एवं च बहुत्वादेरसङ्ख्यात्वमिति भावः । बहुत्वं हि त्र्यादिसङ्ख्याव्यापकमखण्डोपाधिरूपम्' असें म्हटलें आहे. याचा सारांश हा आहे कीं, प्रकृत सूत्र संज्ञाविधायक सूत्र न मानतां 'बहुगणवतुडति' हे जे संख्यावाचक शब्द नाहीत त्यांना देखील संख्येला होणारीं कार्ये व्हावीं याकरितां हें अतिदेशविधायक सूत्र केलें आहे असें मानणें उचित आहे.) 'सङ्ख्यायते अनया इति सङ्ख्या' ही अन्वर्थक संज्ञा आहे असें जें मनोरमैतं म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, निश्चित संख्येचा साक्षात् बोध करून देणारे किंवा त्र्यादिपरार्थान्त संख्येचे ठिकाणीं जो बहुत्वरूप धर्म आहे त्याच्या द्वारें संख्येचा परंपरेनें बोध करून देणारे शब्द संख्यावाचक होत. 'अत एव दतिरपि तद्धित एव गृह्यते'

या मनोरमेच्या पक्तीतील 'अत एव' या पदाचा असा अर्थ आहे की, 'बहु, गण' या शब्दाच्या साहचर्याच्या सामर्थ्याने अशाच 'इति' प्रत्ययाचे ग्रहण केले जाते की, जो सख्येशी सबद्ध असणाऱ्या अर्थाचा बोधक आहे. ('पातेईति.' या उणादि सूत्राने होणारा 'इति' प्रत्यय सख्येशी सबद्ध असणाऱ्या अर्थाचा बोधक नसल्यामुळे, ग्रहण सूत्रातील 'इति' या प्रत्ययाने त्याचे ग्रहण करता येत नाही व तद्विषय 'इति' प्रत्ययाचेच ग्रहण करता येते.)

मनोरमा- " पङ्म्यो लुक् " ॥ पङ्म्यः पर्योरिति । बहु-
वचननिर्देशोऽर्थप्राधान्यसूचनार्थः । पङ्म्यगतसंख्याभिधायिनोरिति
फलितोऽर्थः ।

'पङ्म्यो लुक्' मू २६१ या सूत्रात 'पङ्म्य' यत्ता जो बहुवचनाचा निर्देश वेला आहे तो अर्थप्राधान्याचा सूचक आहे. त्यामुळे 'पङ्म्य पर्यो' जससो लुक्' याचा 'पङ्म्यगतसंख्या-
भिधायिनो जससो लुक्', म्हणजे पदसज्ञक शब्दापुढे येणाऱ्या पदसज्ञक शब्दांनी बोधित होणाऱ्या सख्येचा वाचक असणाऱ्या 'जस्' व 'जस्' या प्रत्ययाचा लुक् होतो, असा अर्थ फलित-मिष्पन्न-होतो. (या पक्तीचे विवरण शब्दरत्नात वेळ जाईल)

शब्दरत्न- बहुवचनेति । अन्यथा यप इत्येव यदेत् सर्व-
प्राधान्येति । पङ् शब्देन पदसज्ञक. शब्दस्तत्त्वसंस्थाधायिचेत्पुन्यमपि
विवक्षितम् । तेषां बहुवादिद बहुवचनम् । तत्रार्थापरस्य स्वागत-
संख्यान्यादयस्त्वहर्षं गीण तदाह-पङ्म्येति । तेन गीणे न । इव
प्राचामनुरोधेन । 'पङ्म्य' इति बहुवचनं 'तिसृम्य' इति यत् ।
पदसज्ञकाना बहुत्वाच्च । न हि सर्वत्र जातिनिर्देश एवोचिनः ।
आचार्येर्ज्ञेयः वा । यपशब्दस्य बहुवचनान्तरस्यैव सज्ञात्वाच्च ।
तस्मादिव विहितविशेषणम् । परमपञ्चादोनामपि सख्याप्रकारक-
सख्येयविशेष्यसंज्ञाजनकस्येन सख्यावाचितया पङ्म्यसख्येयः । लोके
गणनायां प्रतिष्ठानामेव ग्रहणमित्यत्र न मानम् । उपसर्गने तु

अतिक्रान्ताद्यर्थप्राधान्यं न तु संख्याया इति न दोषः । स्पष्टं चेदं
 “ सर्वादीनि ” इति सूत्रे भाष्ये इति तत्त्वम् ।

जर केवळ शब्दपर पट्संज्ञक शब्द प्रकृत सूत्रांत विवक्षित असता
 तर, म्हणजे जर केवळ शब्दाला प्राधान्य विवक्षित असतें व अर्थाला
 प्राधान्य विवक्षित नसतें तर, पाणिनीनें ‘ पङ्म्यः ’ या ऐवर्जी
 ‘ पङ् ’ हें पद प्रकृत सूत्रांत घातलें असतें. ‘ अर्थप्राधान्यसूचनार्थः ’
 असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, प्रकृत
 सूत्रांतील ‘ पट् ’ या शब्दानें पट्संज्ञक शब्द व तसेंच त्या शब्दाच्या
 अर्थामध्ये भासणारी संख्या हे दोन्ही विवक्षित आहेत व हे अनेक
 असल्यामुळें, प्रकृत सूत्रांत ‘ पङ्म्यः ’ असा बहुवचनाचा निर्देश केला
 आहे. (सारांश प्रकृत सूत्रांत ‘ पङ्म्यः ’ हा शब्द तन्त्रानें दोन अर्था-
 मध्ये वापरला आहे. एक ‘ पङ् ’ शब्द शब्दयुक्त अर्थपर असून दुसरा
 ‘ पङ् ’ शब्द अर्थयुक्तशब्दपर आहे. अशा रीतीनें येथें शब्द व अर्थ
 या दोहोंचेहि प्राधान्य विवक्षित आहे. म्हणून प्रकृत सूत्रानें
 ‘ जस्, शस् ’ प्रत्ययांचा लुक् होण्याकरितां ते प्रत्यय पट्संज्ञक
 शब्दापुढें असले पाहिजेत व तसेंच त्या पट्संज्ञक शब्दांनीं बोधित
 होणाऱ्या संख्येचें ते आश्रय-प्राधान्यानें बोधक-असले पाहिजेत.
 जरी ‘ प्रत्ययः, परञ्च ’ सू. १८०, १८१ या सूत्रान्वये प्रत्यय अर्था-
 पुढें होत नसून शब्दापुढें होत असतो तरी) बहुत्वसंख्यावाचक
 पट्संज्ञक शब्द जेव्हां बहुत्वसंख्येचा प्राधान्येकरून बोध करतो
 तेव्हां तशा पट्संज्ञक शब्दापुढें येणारे ‘ जस्, शस् ’ हे प्रत्यय त्या
 बहुत्वसंख्येचा अनुवाद करणारे असल्यामुळें, ते प्रत्यय अर्थापुढें
 आले आहेत असें गणनीत्या म्हणतां येतें. त्यामुळें जेथें पट्संज्ञक शब्द-
 गीण-उपसर्जन-होतो तेथें त्याच्या पुढें येणाऱ्या ‘ जस्, शस् ’
 प्रत्ययांचा लुक् होत नाही. (उदाहरणार्थ ‘ परमपञ्च, परमपट् ’
 इत्यादि स्थलीं उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुषसमासांत ‘ पञ्चन्, पप् ’ हे
 नरमाधेयव प्रधान असल्यामुळें, त्यांपुढील ‘ जस् ’ प्रत्ययांचा लुक्
 होतो. पण ‘ प्रियपञ्चानः, प्रियपपः ’ इत्यादि अन्यपदार्थप्रधान

बहुव्रीहिसमासात् 'पञ्चन्, पप्' हे पट्सज्ञक शब्द अन्यपदार्थाचे उपसर्जन झाले असल्यामुळे, त्यापुढील 'जस्' प्रत्ययाचा लुक् होत नाही, कारण या दोन्ही उदाहरणात पट्सज्ञक शब्दापुढे येणारा 'जस्' प्रत्यय पट्सज्ञक शब्दाच्या सव्येच्या बहुत्वाना बाधक नसून अन्यपदार्थगतसव्येच्या बहुत्वाचा बाधक आहे) दीक्षितानी हे जे मनोरमेत व्याख्यान केले आहे ते (प्रकाशकारादि) प्राचीन वैयाकरण-ाच्या मतानुसार केले आहे (प्रकाशकाराना 'यन् पट्सज्ञकानामप्य प्रयान तन् पठ्यंगतसङ्ख्याभिधायिनाजशसो लुक्' असे प्रकृत सूनाचे व्याख्यान करतेवेळी म्हटल असून दीक्षितानी त्याच मताचा मनोरमेत अनुवाद केला आहे) वास्तविक प्रकृत सूनातील 'पठ्म्य' हे बहुवचन 'तिसृभ्यो जस' सू ३७१३ या सूत्रातील 'तिसृभ्य' या बहुवचनासारखे आहे व दुसरे अत की, पट्सज्ञक शब्द अनेक आहेत ('तिसृ' शब्द जरी एक आहे तरी प्रमाणभेदांमुळे शब्दबाहुल्य हात असल्यामुळे, त्या शब्दाचा जसा बहुवचनात प्रयोग केला आहे तसाच प्रकृत स्थली पट्सज्ञक शब्दाच्या बहुत्वामुळे 'पठ्म्य' असा पाणिनीने बहुवचनाचा प्रयोग केला आहे अथगत बहुत्व शब्दे आराप्य बहुवचन तिसृभ्य इति' असे दीक्षितानी स्वतः मनोरमेत म्हटले आहे आता 'सर्वनाम्न स्मि' इत्यादि सूत्रात जसा सर्वनाम्न 'या जातीवाचक शब्दाचा एकवचनात प्रयोग केला आहे तसाच प्रकृत सूत्रात 'पप्' या जातिवाचक शब्दाचा एकवचनात प्रयोग वा केला नाही अस काणी म्हटल्यास, त्यावर शब्दरत्नकार अस उत्तर देतात की,) सर्वत्र जातिवाचक शब्दाने एकवचनात निर्देश करावा असा वाही नियम नाही व अशा तऱ्हेने नेहमी निर्देश करण्याची आचार्य पाणिनीची पद्धति देखील नाही (कारण 'सर्वादीनि सर्वनामानि' या सूत्रात 'सर्वनाम' या जातिवाचक शब्दाचा पाणिनीने बहुवचनात निर्देश घेतला आढळतो) आणखी असे की, बहुवचनान्त 'पप्' शब्दाचा ठिबाणीच सज्ञात्व आहे म्हणजे बहुवचनान्त 'पट' शब्दाचाच पट्सज्ञा आहे. म्हणून (इष्ट रूपाची सिद्धि द्यावी याकरिता

‘तस्मादित्युत्तरस्य’ सू. ४१ या सूत्राची प्रकृत स्थलीं प्रवृत्ति न करितां व ‘पङ्म्यः’ ही परपञ्चमी न मानतां) ‘पङ्म्यः’ ही विहित-पञ्चमी मानणेंच योग्य आहे. (तसें मानलें असतां, ‘पट्संज्ञकेभ्यो’ विहितयोः जश्वासोः लुक् स्यात्’ असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ होतो.) ‘परमपञ्च’ इत्यादि शब्द देखील ज्यांची संख्या सांगितली जाते अशा विशेष्यांचा, म्हणजे ‘पञ्चन्’ इत्यादि विशेष्यांचा, बोध करून देणारें असल्यामुळे, देखील संख्यावाचक ठरतात व त्यांनाहि पट्संज्ञा होतेच. लौकिक व्यवहारांत गणना करण्याकरितां उपयोगी पडणाऱ्या प्रसिद्ध शब्दांचेंच, पट्संज्ञेच्या विषयांत, ग्रहण करतां येतें असें मानण्यास कांहींच प्रमाण नाही. (म्हणून ‘पञ्चन्, पप्’ हे नान्त पान्त संख्यावाचक शब्द जसें ‘ष्णान्ता पट्’ सू. ३६९ या सूत्रान्वये पट्संज्ञक ठरतात त्याचप्रमाणें ‘परमपञ्च’ परमपट्’ इत्यादि शब्द देखील, वर दिलेल्या कारणान्वये, पट्संज्ञक ठरतात.) जेथें अतिक्रान्त इत्यादि अर्थाला प्राधान्य येत असून संख्या प्रधान ठरत नाही व संख्यावाचक पट्संज्ञक शब्द उपसर्जन होतो तेथें कांहीं दोष येत नाही, म्हणजे तशा उपसर्जन आलेल्या पट्संज्ञक संख्यावाचक शब्दापुढें आलेल्या ‘जस्, शस्’ प्रत्ययांचा लुक् होऊं शकत नाही. वर जें विवेचन केले आहे तें ‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ सू. १-१-२७ या सूत्रावरील भाष्यान्वये योग्य ठरतें. (‘परमपञ्च’ या पदाना ‘मुख्य पांच’ असा अर्थ आहे. यांत ‘पञ्चन्’ हा पट्संज्ञक संख्यावाचक शब्द प्रधान आहे व तो ‘परम’ या विनेषणाचें विनेष्य आहे, व अशा रीतीने ‘परमपञ्च’ हा शब्द ज्याची संख्या सांगितली जाते अशा ‘पञ्च’ या विनेष्याचा बोध करून देणारा-स्तत्र अग्न्यामुळे, तो देखील पट्संज्ञक ठरतो व त्यामुळे त्याच्या-पुढील ‘जम्’ प्रत्ययाचा लुक् होतो. परंतु ‘प्रियपपः, अनिपपः’ इत्यादि स्थली ‘पप्’ हा संख्यावाचक पट्संज्ञक शब्द अग्न्यपदानाचा उपसर्जन होत अग्न्यामुळे, समुदाय पट्संज्ञक ठरत नाही व अशा समुदायापुढे स्थित्या ‘जम्, पप्’ प्रत्ययांचा प्रकृत सूत्रार्थ होणारा

लुक् ' होत नाही. 'सर्वादीनि सर्वनामानि' या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—'अथवाङ्माधिकारे यदुच्यते गृह्यमाण-विभक्तेस्तद्भवति । यद्येव परपञ्च परमसप्त षड्भ्यो लुक् इति लुग्न प्राप्नोति । नैप दोषः । पट्प्रधान एष समास ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, अङ्माधिकारात पठित असलेल्या सूत्रानी जें कार्य होणे सांगितले आहे ते त्या सूत्रात उच्चारलेल्या शब्दाला ज्या ठिकाणी विभक्तिप्रत्यय लावला आहे तशाच शब्दाला होते पण असे मानले तर, 'परमपञ्च, परमसप्त' या उदाहरणात 'षड्भ्यो लुक्' या सूत्राने लुक्ची प्राप्ति होत नाही. पण हा दोष येत नाही; कारण 'परमपञ्च, परमसप्त' या समासामध्ये पट्सज्ञक शब्दच प्रधान आहे हे भाष्य प्रकृत स्थली प्रवृत्त केले असता असा अर्थ होतो की 'षड्भ्यो लुक्' हे सूत्र अङ्माधिकारात पठित असून त्या सूत्रात उच्चारलेल्या 'पप्'—पट्सज्ञक—शब्दाला विभक्तिप्रत्यय लावला असल्यामुळे, तशा पट्सज्ञक शब्दाहून होणाऱ्या 'जस्, शस्' या विभक्तिप्रत्ययाचा लुक् होतो 'परमपञ्च, परमपट्' इत्यादि स्थली जरी समुदायाहून 'जस्' प्रत्यय होतो तरी त्या समुदायात 'पञ्च, पट्' हे पट्सज्ञक शब्द प्रधान असल्यामुळे, त्या समुदायाला पट्सज्ञा होते व 'जस्' प्रत्यय तशा पट्सज्ञक समुदायाहून झालेला असल्यामुळे, त्याचा प्रकृत सूत्रानें लुक् होण्यात काहीं अडचण येत नाही. प्रकृत सूत्रावरील उद्योतात 'परे तु गृह्यमाण-विभक्तेरित्यस्य गृह्यमाणाद्विहितविभक्तेरित्येवार्थं परमपञ्चे त्यादेर्लोके गणनाया व्यवहाराभावेन पट्त्वाभाव इति लुगप्राप्तिरिति प्रश्नः । सङ्ख्याप्रकारकसङ्ख्येयविशेष्यबोधजनकत्वेन विनिष्ट-स्यापि पट्त्वमस्त्वमेव । गणनाया प्रसिद्धानामेवेह सङ्ख्यायाधिनां ग्रहणमित्यत्र न मानमित्युत्तरम् । पट्प्रधान इत्यस्य स्वदमिमत-पट्यप्रधानोऽनः समुदायोऽपि पट्संज्ञ इत्यर्थः ।' असे म्हटले आहे व याचाच अनुवाद शब्दरत्नांत केला आहे. यावरून हे स्पष्ट होते की, प्रकृत सूत्रातील 'षड्भ्य' ही शास्त्रविषय विहितपञ्चमी आहे

व ज्या समासांत षट्संज्ञक शब्द चरमाक्षर असून प्रधान, आहे तसा समासरूप समुदाय देखील षट्संज्ञक ठरतो व तशा समुदायाहून होणाऱ्या 'जस्, शस्' प्रत्ययांचा देखील प्रकृत सूत्राने लुक् होतो.)

मनोरमा—“प्रत्ययलोपे” ॥ स्थानिवत्सूत्रेण सिद्धे नियमार्थ-
मिदम् । प्रत्ययस्थासाधारणं यत्र रूपं प्रयोजकं तदेव कार्यं प्रत्यय-
लोपे सति भवति । न तु प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणमिति । तेन शोभना
दृषदोऽस्य सुदृषत् प्रासाद इत्यत्र 'अत्वसन्तस्य' इति दोषो न ।
यद्वा । यत्र प्रत्ययः प्राधान्येनाश्रीयते तत्रात्ववित्त्वेऽपि विध्यर्थ-
मिदम् । तेन अतृणेऽित्यत्र ह्लादी पिति सार्वधातुके विहित इम्
लुप्तेऽपि तस्मिन् भवति । 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' इति तु
वर्णप्राधान्यविषयकम् । तेन गवे हितं गोहितमित्यत्र अन् न ॥

‘प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्’ सू. २६२ या सूत्राने जें सांगितलें आहे तें ‘स्थानिवदादेशः’ सू. ४९ या सूत्राने सिद्ध होत असून देखील हें सूत्र मुद्दाम पठित केलें असल्यामुळें, हें नियमार्थ सूत्र ठरतें (या पंक्तीचें विवरण शब्दरत्नांत केलें जाईल) व या नियमार्थें स्वरूप असें आहे कीं, जेथें प्रत्ययाच्या प्रत्ययस्वरूप असाधारण धर्मांमुळें तो प्रत्यय एखाद्या कार्याचें निमित्त होतो तशाच ठिकाणीं, त्या प्रत्ययाचा लोप झाला असतां देखील, त्या प्रत्ययाच्या निमित्तानें होणारें कार्य करतां येतें. परंतु जेथें प्रत्यय व अप्रत्यय या दोहोंत साधारण असणारें रूप एखाद्या कार्याचें निमित्त होत असेल व प्रत्ययाचा लोप झाला असेल, तर तशा ठिकाणीं प्रत्ययनिमित्तक कार्य करतां येत नाहीं. असा नियम असल्यामुळें, ‘शोभनाः दृषदः अस्य सः सुदृषत् प्रासादः’ या स्थलीं ‘अत्वसन्तस्य चाधातोः’ सू. ४२५ या सूत्रानें होणारें उपधादीर्घकार्य होत नाहीं. (‘सु जम् अस् दृषद् जत् सु’ या स्थलीं ‘गुणो धातुप्रातिपदिकयोः’ सू. ६५० या सूत्रानें अन्तर्वेति ‘जम् = अम्’ या विभक्तिप्रत्ययांचा लुक् झाल्यावर ‘सु दृषद् सु’ अशी स्थिति झाली असतां, ‘दृषद्’ पुढील ज्या

‘जस् = अस्’ प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो ‘अस्’ प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने कायम आहे असे मानल्यास, ‘सुदृपद् अस् = सुदृपदस्’ असे असन्त अङ्ग होते व त्यापुढे प्रथमेच्या एकवचनाचा ‘सु’ प्रत्यय असल्यामुळे ‘अस्त्वसन्तस्य चाघातो’ या सूत्राने उपधादीर्घकार्य पावते परंतु ‘अस्त्वसन्तस्य’ या सूत्रात ज्या ‘अस्’ चे ग्रहण केले आहे ते ‘अस्’ प्रत्यय या रूपाने केले नसून ‘अस्’ शब्द या रूपाने केले आहे व ‘अस्’ हा शब्द प्रत्यय व अप्रत्यय अशा दोन्ही प्रकारचा असू शकतो उदाहरणार्थ ‘चन्द्रमस्, यनस् पयस्’ इत्यादि असन्त अङ्गाचे अन्ती जो ‘अस्’ आहे तो प्रत्यय नव्हे तसेच ‘अस्’ हा धातु देखील आहे पण ‘जस् = अस्’ हा प्रत्यय आहे. यावरून हे स्पष्ट होते की, ‘अस्’ याचे स्वरूप असे आहे की, जे प्रत्यय व अप्रत्यय या दोन्ही ठिकाणी सापडणारे, म्हणजेच प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण, रूप आहे त्यामुळे वरील उदाहरणात ज्या ‘अस्’ प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो ‘अस्’ प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानता येत नाही आणि म्हणून उपधादीर्घकार्य प्रयोजक अगबुद्धि ‘सु’ प्रत्यय अङ्गापुढे असून देखील ‘अस्’ प्रत्यय विद्यमान आहे असे मानता येत नसल्यामुळे, या स्थली उपधादीर्घकार्य होऊ शकत नाही प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात देखील भाष्यकार म्हणतात—‘न तर्हीदानीमय योगो वक्तव्य ? । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् ? । प्रत्यय गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात् । शब्द गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन मा—भूदिति । किं प्रयोजनम् ? । शोभना दृपदोऽस्य सुदृपदब्राह्मण सामंनसी अलोमोपसी इत्येष स्वरो मा भूदिति ।’ या भाष्याचा थोडक्यात भावार्थ हा आहे की, ‘सुदृपद्’ या बहुव्रीहिसमासात ‘दृपद्’ या उत्तरपदापुढील ज्या ‘जस्’ प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो ‘जस् = अस्’ प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानल्यास, उत्तर पद असन्त ठरेल व ‘सामंनसी’ सू ३८५१ या

सूत्रानें उत्तर पदाला आद्युदात्त स्वर होण्याची आपत्ति येईल. तो स्वर न व्हावा असा या नियमाचा उपयोग आहे. या भाष्याला धरूनच मनोरमंतील वरील पंक्ति लिहिली आहे.) अथवा जेथे प्रत्ययाचा प्राधान्येकरून आश्रय केला असेल तेथें अल्विधि होत असला तरी, तसा अल्विधि करतां यावा याकरितां प्रकृत सूत्र केलें आहे असें मानावें. तसें मानल्यानें 'अतृणेङ्' या उदाहरणांत हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय पुढें असतांना होणारा 'इम्' हा आगम, तशा प्रत्ययाचा लोप झाला तरी, होतो. ('अ तृह् त्' या स्थलीं 'तृह्' धातु रूधादिगणांत पठित असल्यामुळें, 'रूधादिभ्यः' इन्म्' सू. २५४३ या सूत्रानें 'इन्म् = न' हें विकरण लागतें व तें मित् असल्यामुळे 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सू. -३७ या सूत्रान्वये 'तृह्' यांतील ऋकारापुढें लागून व 'ऋवर्णाभ्यस्य णत्वं वाच्यम्'—सू. २८२ वरील वार्तिक—या वार्तिकान्वये त्यांतील नकाराचें णत्व होऊन 'अतृणह् त्' अशी स्थिति झाली असता, 'हल्ङ्याभ्यः' सू. २५२ या सूत्रानें 'त्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप होतो. 'तृणह् इम्' सू. २५४५ हें सूत्र जरी 'हल्ङ्याभ्यः' या सूत्राच्या मानानें परसूत्र आहे तरी, 'सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिङ्विधिरिव बलीयान्'—परि. १००—या परिभाषान्वये लोपविधि बलवत्तर ठरत असल्यामुळें, 'त्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप प्रथम होतो. त्या प्रत्ययाचा लोप झाल्यावर तो हलादि पित् प्रत्यय कायम आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानल्यानें, 'तृणह् इम्' सू. २५४५ या सूत्रानें 'इम् = इ' हा मित् आगम होऊन व 'आद्गुणः' सू. ६९ या सूत्रानें गुणरूप एकादेश होऊन व 'हो ङः' सू. ३२४ या सूत्रानें अन्त्य हकाराचें ङत्व होऊन आणि नंतर 'झलां जशोऽन्ते' सू. ८४ या सूत्रानें ङकाराचें जश्त्व होऊन 'अतृणइह् = अतृणेह् = अतृणेङ् = अतृणेङ्' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें. या उदाहरणांत ज्या 'त्' प्रत्ययाचा लोप झाला आहे तो अल् आहे व त्या अल् रूप प्रत्ययाच्या निमित्तामुळें होणारा इमागमविधि अलाश्रयविधि ठरतो

म्हणून 'स्थानिवदादेशः' सू. ४९ या सूत्रांत 'अनत्विघो' हा प्रतिषेध असल्यामुळे, या स्थली 'त्' प्रत्यय कायम आहे असें त्या सूत्रानें स्थानिवद्भावाणें मानतां येत नाही. तथापि तसे मानतां यावे व अत्विघि होत असला तरी, लुप्त प्रत्यय कायम आहे असें प्रत्यय-लक्षणानें मानतां यावे याकरितां प्रकृत सूत्र वेलें आहे असे समजावे असे दीक्षितजींचे म्हणणे आहे. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात देखील भाष्यकार म्हणतात - 'यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः । यत्र च स्थानिवद्भावो नास्ति ? । योऽत्विघिः । किं प्रयोजनम् ? । प्रयोजनं डौनकारलोपेत्येव्मिदं वक्तव्यम् ।' व या भाष्याला घेऊनच दीक्षितजींनी वरील पवित्र लिहिली आहे.) 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' - परि. २१ - ही परिभाषा जेथें वर्णाला प्राधान्य देऊन कार्य होणे सांगितले आहे तशाच ठिकाणी लागू पडते. त्यामुळे 'गवे हितम् = गोहितम्' या स्थली अवादेश होत नाही. ('गो डे हितं सु' या स्थली 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' सू. ६५० या सूत्रानें 'डे = ए' व 'सु' या अन्तर्वर्ति विभक्तिप्रत्ययाचा लुक् झाल्यावर 'डे = ए' हा प्रत्यय कायमच आहे असे प्रत्ययलक्षणानें मानल्यास, 'एचोऽयवायावः' सू. ६१ या सूत्रानें 'गो' यातील ओकाराचे जागी अवादेश पावतो व 'गव्हित' असे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. परंतु 'एचोऽयवायावः' या सूत्राने जें अवादेशरूप कार्य होणे सांगितले आहे तें अजादि प्रत्यय पुढें असताना होणे सांगितले नसून अक्षरूप वर्ण पुढें असताना ए, ओ, ऐ, औ या वर्णाना होणे सांगितले आहे. हें कार्य प्रत्यय-निमित्तक नसून वर्णनिमित्तक असल्यामुळे, या स्थली 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' हे प्रकृत सूत्र लागू पडत नाही. त्यामुळे ज्या 'डे=ए' प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो प्रत्ययलक्षणानें विद्यमान आहे असे मानता येत नाही आणि त्यामुळे अवादेश होण्याची आपत्ति टळते.)

शब्दरत्न- सिद्धे इति । "तृणह" इति सूत्रे 'अचि' 'न' इत्यनुसृत्या तृणहानीत्यादिष्यासुत्तो 'हलि' इत्यनुसृत्या अतृणेडि-

त्यस्य सिद्धिः । 'शास इत्' 'अङि' । अजादीं द्विती चेदङ्येवेति नियमेनाजादिव्यावृत्तौ तत्र हल्प्रहणाकरणेन मित्रशीरित्यस्य सिद्धिरेव-
मन्यत्रापीति भावः । प्रत्ययस्यासाधारणमिति । इदं द्वितीयप्रत्यय-
ग्रहणेन लभ्यते । यत्र प्रत्ययस्य विशेष्यत्वं तत्रैवेति नियमस्तु न ।
राजेंत्यादीं पदत्वानापत्तेः । दीर्घो नेति । असौ लुकः स्थानिवत्त्वेनास-
न्तत्वे ऽपीति शेषः । न चातुसाहचर्याच्छ्रूयमाणासन्त एव दीर्घ इति
वाच्यम् । तदनित्यत्वस्याप्यनेन ज्ञापनात् ।

'तृणह इम्' सू. २५४५ या सूत्रांत 'अचि' व 'न' या दोन
पदांची अनुवृत्ति केल्याने 'तृणहानि' या स्थलीं इमागम होण्याची
आपत्ति टळत असून, त्या सूत्रांत 'हलि' या पदाची अनुवृत्ति न
केल्याने 'अतृणेड्' या रूपाची सिद्धि होते, म्हणजे या स्थलीं
इमागम होऊन इष्ट रूप सिद्ध होतें. तसेंच ('शास इदङ्हलोः'
सू. २४८६ या सूत्राऐवजी) 'शास इत् अङि' एवढेंच सूत्र केलें व
अजादि कित् किंवा ङित् प्रत्यय पुढें आला असतां जर 'शास्'
यांतील उपधेचा इकार करणें आहे तर 'अङ्' हा अजादि ङित्
प्रत्यय पुढें आला असतांनाच तें कार्य करावें असा त्या सूत्राचा
नियामक अर्थ केल्याने इतर अजादि प्रत्ययांची व्यावृत्ति होते, म्हणजे
इतर अजादि प्रत्यय पुढें आल्यास 'शास्' यांतील उपधेचा इकार
होणें टळतें व त्या सूत्रांतून 'हल्' हें पद गाळल्याने 'मित्रशीः' या
रूपाची सिद्धि करतां येते. अशाच तऱ्हेनें जेथें इतर उदा-
हरणांत प्रत्ययलक्षण मानण्याची आवश्यकता आहे तीं सर्व
उदाहरणें इतर रीतीनें सिद्ध करतां येणें शक्य आहे असा
'स्थानिवत्सूत्रेण सिद्धे नियमार्थमिदम्' असें जें दीक्षितांनीं
मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ आहे. (शंकाकाराची
शंका अशी आहे कीं, जेथें एखादें सूत्र इतर सूत्र
असल्यामुळें गतार्थ होत असून व्यर्थ ठरण्याचा संभव आहे तशाच
ठिकाणीं तें सूत्र 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' या न्यायान्वयें
नियमार्थक मानतां येतें. 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' हें प्रकृत सूत्र

असे नाही की, 'स्थानिवदादेश' हे सूत्र असल्यामुळे ते गतार्थ होऊन व्यर्थ ठरू पाहते, कारण 'स्थानिवदादेश' हे सूत्र असून देखील त्या सूत्राने सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होऊ शकत नाही व ज्या रूपाची त्या सूत्राने सिद्धि होऊ शकत नाही त्या रूपाची सिद्धि होण्याकरिता प्रकृत सूत्र असणे आवश्यक आहे व अशा रीतीने प्रकृत सूत्र आवश्यक ठरत असल्यामुळे ते निषमार्थक सूत्र आहे असे जे दीक्षितानी मनोरमंत म्हटले आहे ते म्हणणे बरोबर मानता येत नाही या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, 'स्थानिवदादेश.' या सूत्राने अनेक रूपाची सिद्धि होऊ शकते व ज्या थोड्या रूपाची त्या सूत्राने सिद्धि होऊ शकत नाही ती रूपे, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' हे प्रकृत सूत्र नसून देखील, इतर रीतीने सिद्ध करता येतात उदाहरणार्थ 'अतृणह्' व 'मित्रशी' या दोन्ही उदाहरणात अलाश्रयविधि करणे असल्यामुळे जरी 'स्थानिवदादेश.' हे सूत्र 'अनल्विधौ' या प्रतिषेधामुळे प्रवृत्त होऊ शकत नाही तरी, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' हे प्रकृत सूत्र न मानता देखील, ती दोन्ही रूपे इतर रीतीने सिद्ध करता येतात 'तृणह् इम्' सू २५४५ या सूत्रात 'नाम्बरतस्याचि पिति सार्वधातुके' सू २५०३ या पूर्वसूत्रातून 'पिति सार्वधातुके' एनदधान दोन पदाची अनुवृत्ति न करिता त्या सूत्रातून 'अचि न' या दोन पदाची देखील अनुवृत्ति केली व या सूत्रात 'उतो वृद्धिल्लुकि हलि' सू २४८३ या पूर्वं सूत्रातून 'हलि' या पदाची अनुवृत्ति न केली तर, 'अतृणहत्' या स्थली 'हल्लयाव्य' सू २५२ या सूत्राने 'त्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप झाल्यावर अङ्गापुढे अजादि प्रत्यय नसल्यामुळे, त्या अङ्गाला इमागम होण्यात काहीच अडचण येत नाही व तो भागम होण्याकरिता 'त्' या लुप्त प्रत्ययाचे ठिकाणी प्रत्ययलक्षण मानण्याची मुळीच गरज पडत नाही 'तृणह्' आणि = तृणहानि' या स्थली जरी 'तृणह्' या अङ्गापुढे सार्वधातुक व 'आहुत्तमस्य पिच्च' सू २२०४ या सूत्राने पित् असणारा 'आनि' हा प्रत्यय आहे तरी, तो अजादि

असत्यामुळें, 'अचि न' या निषेधान्वये 'तृणह्' या अङ्गाला इमागम होण्याची आपत्ति सहज टाळतां येते. तसेंच 'मित्राणि शास्तीति मित्रशीः = मित्र शास्. क्विप् सु' या स्थलीं 'वेरपृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्रानें 'क्विप् = व्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप झाल्यावर 'हल्ङ्यावभ्यः' सू. २५२ या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचा लोप केला असतां 'मित्र शास्' अशी जेव्हां स्थिति होते तेव्हां 'शास्' या अङ्गापुढें 'अङ्' प्रत्यय नसल्यामुळें, 'शास इदङ्हलोः' सू. २४८६ असें सूत्र पठित न करितां 'शास इदङि' असें तें सूत्र पठित केलें व तें सूत्र नियमांथं मानून जर 'शास्' या अङ्गापुढें अजादि कित् किंवा ङित् प्रत्यय आला असतां त्या अङ्गांतील उपधेचा इकार होणें असेल तर तो इकार 'अङ्' हा अजादि ङित् प्रत्यय पुढें असतांनाच होतो असा त्या सूत्राचा नियामक अर्थ केला तर, इतर अजादि कित् किंवा ङित् प्रत्ययांची आपोआपच निवृत्ति होते व 'शास् इदङ्हलोः' या सूत्रांतून 'हल्' हें पद गाळलें तरी 'मित्र-शास्' यांतील उपधेचा इकार होऊन 'मित्रशिस्' असें रूप जालें असतां 'ससजुषो रुः' सू. १६२ या सूत्रानें पदान्तीं असलेल्या सकाराचें रुत्व होऊन व 'वर्लुपधाया दीर्घ इकः' सू. ४३३ या सूत्रानें उपधेतील इकार दीर्घ होऊन आणि 'सरवसानयो-विसर्जनीयः' सू. ७६ या सूत्रानें अन्त्य रेफाचा विसर्ग होऊन 'मित्रशीः' असें इष्ट रूप सिद्ध होऊं शकतें. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत देखील 'इत्त्वमपि । यथ्यत्वेतत् शास् इत्त्वे आशातः यवी इति । इम्विधिरपि । हलीति निवृत्तम् । यदि हलीति निवृत्तं तृणहानि अत्रापि प्राप्नोति । एवं तत्पर्यं च नेत्यप्यनुवर्तिष्यते ।' असें भाष्यकारांनीं म्हटलें आहे. त्या भाष्यांत दिलेलें 'आशातः यवी' हें यवन यात्रिका अगून 'अन्तः' सू. २९८४ या सूत्रावरील कोमुदीय नें पठित केलें आहे. भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, 'आशीः' इत्यादि स्थलीं जरी 'शास इदङ्हलोः' या सूत्रानें इत्त्व जाले नाही तरी काही हरकत नाही; कारण तेथें इत्त्व होण्या-

करिता यातिककारानें 'आशासः कवी' हे यातिक पठित केले आहे. या भाष्याला घट्टनच शब्दरत्नातील बरील पंक्ति लिहिली आहे. साराश 'स्यानिवदादेशः' या सूत्रानें जी बांही थोडी रूपें सिद्ध होऊं शकत नाहीत ती 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' हे सूत्र नसता देखील सिद्ध होऊ शकत असून ते सूत्र मुद्दाम केले असल्यामुळें नियमायेंक सूत्र ठरतें असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे असे शब्दरत्नकार म्हणतात.) 'प्रत्ययस्यासाधारण यत्र रूप प्रयोजक तदेव कार्यं प्रत्ययलोपे सति भवति' असे जें मनोरमंत म्हटले आहे ते प्रकृत सूत्रांत द्वितीय 'प्रत्यय' शब्दाचे जें ग्रहण केले आहे त्यावरून सिद्ध होते. ('प्रत्ययलोपे तल्लक्षणम्' असे सूत्र न करिता पुन्हा त्या सूत्रात 'प्रत्यय' शब्दाचे ग्रहण करून 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' असे जें सूत्र वेले आहे ते अशाकरिता की, जेथें ज्या प्रत्ययाचा लोप झाला आहे तेथें तो प्रत्यय वर्णाचे विशेषण होत नसून प्रत्ययस्वरूपधर्मानें प्राधान्येंकरून कार्याचे निमित्त होतो तशाच लुप्त प्रत्ययाचे ठिकाणी प्रत्ययलक्षण करता येते. 'सुदृप्त' या स्थली ज्या 'अस्' या अन्तर्वंति विभक्तिप्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो उपधादीर्घकार्याचे निमित्त नसून त्या कार्याचा कार्यो असल्यामुळें व 'सु' हा प्रत्यय त्या कार्याचे निमित्त असल्यामुळें, 'अस्' प्रत्ययाचे ठिकाणी प्रत्ययलक्षण करता येत नाही व 'सुदृप्त' हे अङ्ग प्रत्ययलक्षणानें असन्त मानता येत नाही) जेथें एखादें कार्य करिताना प्रत्यय विशेष्यरूपानें त्या कार्याचे निमित्त असतो तशाच ठिकाणी त्या प्रत्ययाचा लोप झाला असता, प्रत्ययलक्षण करता येते असा नियम, म्हणजे असे नियमाचे स्वरूप, मानू नये. तसा नियम मानल्यास, 'राजा' इत्यादि स्थली पदसज्ञा न होण्याची आपत्ति येते. ('राजन् सु' या स्थली 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सू. २५० या सूत्रानें उपधा दीर्घ होऊन व नंतर 'हल्ङ्याभ्यः' सू. २५२ या सूत्रानें 'सु' प्रत्ययाचा लोप होऊन 'राजान्' असे रूप झाले असता, 'सुप्तिङन्त पदम्' सू. २९ या सूत्रात प्रत्ययवाचक 'सुप्' हे

पदं विशेष्य नसत्यामुळे, वरप्रमाणे नियमाचे स्वरूप मानल्यास, लुप्त 'सु' प्रत्ययाचे ठिकाणी प्रत्ययलक्षण करता येणार नाही व त्यामुळे 'राजान्' याला पदसंज्ञा होणार नाही आणि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सू. २३६ या सूत्राने पदान्तीं असलेल्या नकाराचा होणारा लोप होऊं शकणार नाही. म्हणून ज्या प्रत्ययाचा लोप झाला आहे तो प्रत्यय विशेष्यरूपाने सूत्रांत निर्दिष्ट असला पाहिजे असा नियम मानू नये.) 'अत्वसन्तस्य इति दीर्घो न' असे जे मनोरमंत म्हटले आहे त्यापूर्वी 'असो लुकः स्थानिवत्त्वेनासन्तत्वेऽपि' ही पदं अध्याहृत आहेत - म्हणजे ज्या 'अस्' प्रत्ययाचा लुक झाला आहे तो प्रत्यय स्थानिवद्भावाने विद्यमान आहे असे मानल्याने अङ्ग असन्त आहे असे मानता येते तरी, तो प्रत्यय प्रत्ययत्वरूप धर्माने उपधादीर्घकायचि निमित्त नसल्यामुळे, त्याचे ठिकाणी प्रत्ययलक्षण करता येत नाही व त्यामुळे अङ्ग असन्त ठरत नाही व उपधादीर्घकार्य होत नाही. 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सू. ४२५ या सूत्रांत 'अस्' याला 'अतु' याचे साहचर्य असल्यामुळे, ज्याप्रमाणे 'अतु' अङ्गाच्या अन्ती श्रूयमाण असतांनाच उपधादीर्घकार्य होते त्याचप्रमाणे 'अस्' हा अङ्गाच्या अन्ती श्रूयमाण असतांनाच उपधादीर्घकार्य होऊं शकते असे कोणी म्हटल्यास, ते म्हणजे बरोबर नाही; कारण 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' या सूत्रावरूनच हे देखील आप्त होते की, 'सहचरिताचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' - परि. ११२-ही परिभाषा अनित्य आहे. (संकाकाराचे असे म्हणणे आहे की, प्रकृत सूत्र नियमार्थक न मानल्यास 'सुदृपत्' या स्थलीं उपधा दीर्घ होण्याची आपत्ति येते असे जे दीक्षितांनी मनोरमंत म्हटले आहे ते म्हणजे बरोबर नाही; कारण प्रकृत सूत्र नियमार्थक न मानले तरी, 'सुदृपत्' या स्थलीं 'अस्' प्रत्ययाचा लुक झाला असल्यामुळे ज्या अर्थी तो 'अस्' प्रत्यय अङ्गाच्या अन्ती श्रूयमाण नाही त्या अर्थी, उपधादीर्घ होण्याची आपत्ति मुळीच येत नाही. 'अत्वसन्तस्य' या सूत्रांत 'अतु' व 'अस्' हे दोन्ही एकत्र

उच्चारले असल्यामुळे, ज्याप्रमाणें श्रूयमाण अस्वन्त अङ्गाच्या उपपेचा दीर्घ होतो त्याचप्रमाणे साहचर्यन्यायान्वये श्रूयमाण असन्त अङ्गाच्या उपपेचा दीर्घ होतो असे मानलें पाहिजे व असे मानल्यानें, 'सुदृपत्' या स्थली श्रूयमाण असन्त अङ्ग नसल्यामुळे, दीक्षितानी दिलेली आपत्ति उद्भवतच नाही. या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, ज्या साहचर्यपरिभाषेच्या आधारावर शकाकारानें वरील शका उपस्थित केली आहे ती परिभाषा अनित्य असल्यामुळे, दीक्षितानी दिलेली आपत्ति अयोग्य आहे असे मानता येत नाही. ती परिभाषा अनित्य आहे याचे 'अत्वसन्तस्य' हे सूत्रच जापक आहे; कारण जसा 'अतु' प्रत्यय नेहमी श्रूयमाण असतो तसा 'अस्' नेहमी श्रूयमाण राहत नसून देखील दोहोचे या सूनात एकत्र ग्रहण केले आहे. दुसरे असे की, शंकाकाराचे म्हणणे बरोबर मानल्यास, 'सुदृपत्' या स्थली 'सोर्मनसी' सू. ३८५१ या सूत्रानें उत्तर पदाला आद्युदात्त स्वर होण्याची आपत्ति येते असा दोष ज्या भाष्यात दिला आहे त्या भाष्याशी विरोध येतो. साराश दीक्षितांनी दिलेली आपत्ति योग्य आहे असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे)

शब्दरत्न-प्राधान्येनेति । तत्तु च वर्णाविशेषणत्वरूपम् । एतच्च 'स्थानिवत्' इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे प्रत्ययलक्षणमित्येतत्सामर्थ्या-
ल्लब्धम् । इमिति । मिश्रशीरित्यादौ हलादौ ङ्ङिति विधीयमानमित्वं
च सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । वर्णप्राधान्येति । वर्णस्य तत्त्वं च प्रत्यय-
निरूपितविशेष्यत्वमितराविशेषणत्व च । अण् योऽकार इत्याद्यर्थके
“टिड्ढाणञ्” इत्यादौ “इको यणचि” इत्यादौ च । तत्रान्त्य-
मुदाहरति-तेनेति । आद्योदाहरणं तु चित्रायां जाता चित्रे-
त्यादावण् योऽकारस्तदन्तादिति विहितो ङोच् नेति बोध्यम् । न च
गोहितमित्यत्र “न लुमता” इति निषेधः । लुप्तप्रत्ययनिमित्त-
काङ्गोद्देश्य ककार्ये एव तेन निषेधात् । अत एवोत्क्रामेत्यादौ “क्रमः
परस्मैपदेषु” इति दीर्घसिद्धिः । परस्मैपदपरिशिष्टरूपिताङ्गस्य
तेन दीर्घविधानात् । “तस्मिन्” इति न्यासेऽपि लुक्स्थानि-

भूतप्रत्ययान्वयवहितप्रकृत्युद्देश्यकार्य एव प्रवृत्तिरिति बोध्यम् । यदे-
त्यादिनोपतो व्रात्तिककृत्सम्मतः पक्षस्तत्फलानामन्यथासिद्ध्या भाष्यकृता
दूषयित्वा नियमार्थत्वपक्ष उच्यते इति दिक् ।

मनोरमेत 'यत्र प्रत्ययः प्राधान्येनाश्रीयते' असें जें म्हटलें
आहे त्या म्हणण्याचा भावार्थ हा आहे कीं, जो प्रत्यय वर्णार्थे विशे-
षण होत नाही तशा प्रत्ययाचे ठिकाणीं प्राधान्य असतें. प्रकृत सूत्रांत
'स्थानिवदादेशः' या पूर्वं सूत्रांतून 'स्थानिवत्' हें पद अनुवृत्त
करून 'प्रत्ययलोपे स्थानिवत्' असें सूत्र मानल्यानेच काम भागत
असून देखील पुन्हा प्रकृत सूत्रांत 'प्रत्ययलक्षणम्' हें जें पद
घातलें आहे त्याच्या सामर्थ्यानें, जो प्रत्यय वर्णार्थे विशेषण नाही
असा जो 'प्राधान्येन' या पदाचा वर अर्थ दिला आहे, तो
अर्थ निष्पन्न होतो. ('प्रत्ययलोपे' एवढेंच सूत्र जर केले असतें व
त्यांत वर सांगितल्याप्रमाणें 'स्थानिवत्' या पदाची अनुवृत्ति केली
असती तर, कोणत्याहि प्रत्ययाच्या लोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भाव
मानणें भाग पडलें असतें, मग तो प्रत्यय सूत्रांत प्राधान्येकरून निर्दिष्ट
केलेला प्रत्यय असो किंवा वर्णार्थे विशेषण या रूपानें निर्दिष्ट केलेला
प्रत्यय असो. 'तसें न व्हावें व जेथें सूत्रांत प्रत्यय वर्णार्थे विशेषण
या रूपानें निर्दिष्ट नसून प्रधानरूपानें निर्दिष्ट आहे तशाच प्रत्ययाचे
ठिकाणीं प्रत्ययलक्षण व्हावें व त्या प्रत्ययाच्या निमित्तानें होणारें
कार्य त्या प्रत्ययाचा लोप झाला असतां देखील व्हावें याकरितांच
प्रकृत सूत्रांत 'प्रत्ययलक्षणम्' हें पद मुद्दाम घातलें आहे.) 'यत्र
प्रत्ययः प्राधान्येनाश्रीयते तत्रास्त्वित्वेऽपि विद्वर्थमिदम्' असें
मनोरमेत व्याख्यान करून त्याचें 'अतूणेड्' हें जें उदाहरण दिलें
आहे त्याखेरीज 'मित्रशीः' हें देखील त्याचें उदाहरण आहे.
'मित्रशीः' इत्यादि उदाहरणांत हलादि कित् किंवा छित् प्रत्यय
पुढें असतांना होणारें इत्त्वकार्यहि सिद्ध होतें हें देखील जाणावें.
('शास इदङ्हलोः' सू. २४८६ या सूत्रांत 'अनिदितां हल्
उपधायाः' या पूर्वं सूत्रांतून 'विडति' या पदाची अनुवृत्ति होते.

ह्लादि कित् किवा डित् प्रत्यय पुढें असतां या सूत्रानें होणारे 'शास्' यातील उपघेचे इत्व, 'विचप् = व्' या ह्लादि कित् अलरूप प्रत्ययाचा 'वेरपूवत्स्य' सू. ३७५ या सूत्रानें लोप केल्यावर तो प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे असे मानल्यानें होऊ शकतेच.) 'वर्णप्राधान्यविषयकम्' असे जें मनोरमेंत म्हटले आहे त्याचा भावायें हा आहे की, जेथें वर्ण हा प्रत्ययाचे विशेष्य आहे व इतर कशाचेहि विशेषण नाही तशा ठिकाणी वर्णाला प्राधान्य असते (व अशाच ठिकाणी 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' ही परिभाषा लागू पडते) जेथें प्रत्यय वर्णाचे विशेषण आहे त्याची उदाहरणे 'टिड्ढाणञ्' सू. ४७० इत्यादि सूत्रे आहेत. या सूत्रातील 'अण्' हा प्रत्यय 'अणो य. अकारः' अशा प्रकारे 'अ' या वर्णाचे विशेषण आहे. जेथें वर्ण कशाचेहि विशेषण नाही त्याची उदाहरणे 'इको यणचि' सू. ४७ इत्यादि सूत्रे आहेत, आणि 'गवे हितम् गोहितम्' हे या सवधाचे मनोरमेंत उदाहरण दिले आहे. ('गो डे हितम् = गो ए हितम्' या उदाहरणात 'एचोऽयवायावः' सू. ६१ या सूत्राने अवादेशाची प्राप्ति होते, म्हणजे ज्या 'डे' प्रत्ययाचा 'सुपो घातु-प्रातिपदिकयो' सू. ६५० या सूत्रानें लुक् होतो तो 'डे = ए' प्रत्यय प्रत्ययलक्षणानें विद्यमान आहे असे मानल्यानें 'गो' यातील 'ओ' चे जागी अवादेशाची प्राप्ति होते. पण त्या सूत्रात अनुवृत्त असलेले 'अचि' हे पद कशाचेहि विशेषण नसल्यामुळें, ज्या 'डे = ए' प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो प्रत्यय, 'गो' यातील 'ओ' चे जागी अवादेश करण्याकरिता, प्रत्ययलक्षणानें कायम आहे असे मानता येत नाही या विषयाचे विवरण पूर्वी केलेच आहे. 'इको यणचि' या सूत्रात देखील 'अचि' हे पद कशाचेहि विशेषण नसल्यामुळें, तें देखील वर्णप्राधान्यविषयक सूत्र आहे हे सिद्ध होते.) जेथें प्रत्यय वर्णाचे विशेषण आहे त्याचे 'चित्राया जाता चित्रा' इत्यादि उदाहरणे आहेत. या उदाहरणात जो 'अण्' प्रत्यय झाला आहे तो 'अ' या वर्णाचे विशेषण आहे त्यामुळें 'अण्' प्रत्ययाचा

लुक् झाला असतां तो प्रत्यय प्रत्ययलक्षणानें कायम आहे व अण् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येत नाही आणि त्यामुळे 'टिड्ढाणञ्' सू. ४७० या सूत्रानें होणारा 'ङीप्' प्रत्यय या उदाहरणांत होऊं शकत नाही. ('चित्रायां जाता चित्रा' या स्थलीं 'सन्धिवेलाद्यतुनक्षत्रेभ्योऽण्' सू. १३८७ या सूत्रानें 'तत्र जातः' या अर्थामध्ये 'अण्' प्रत्यय होऊन व त्या प्रत्ययाचा 'चित्रारे-वतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसङ्ख्यानम्'—सू. १४०८ वरील वार्तिक—या वार्तिकानें लुक् होऊन आणि 'लुक् तद्धितलुकि' सू. १४०८ या सूत्रानें 'चित्रा' यांतिल 'टाप् = आ' या स्त्रीप्रत्ययाचा लुक् होऊन 'चित्र' असें अदन्त प्रातिपदिक होतें. ज्या 'अण्' प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे तो 'अण्' प्रत्यय प्रत्ययलक्षणानें कायम आहे असें मानल्यास, 'चित्र' हें अण्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक ठरतें व त्यामुळे 'टिड्ढाणञ्' या सूत्रानें 'ङीप्' प्रत्ययाची प्राप्ति होते आणि 'चित्री' असें अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते. परंतु 'टिड्ढाणञ्' या सूत्रांत 'अजाद्यतष्टाप्' या पूर्व सूत्रांतून 'अतः' या पदाची अनुवृत्ति होत असून 'अण्' प्रत्यय 'अत् = अ' या वर्णाचें विशेषण होत असल्यामुळे, 'अणो यः अकारः तदन्तं यत् प्रातिपदिकं तस्मात् ङीप् स्यात्' असा सूत्रार्थ होतो. सारांश त्या सूत्रांत 'अण्' हा प्रत्यय प्राधान्येकरून निर्दिष्ट नसून 'अ' या वर्णाचें विशेषण असल्यामुळे, तथा लुप्त 'अण्' प्रत्ययाचे ठिकाणीं प्रत्ययलक्षण करतां येत नाही व त्यामुळे 'चित्र' हें अण्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक आहे असें मानतां येत नाही. म्हणून या स्थलीं 'टिड्ढाणञ्' या सूत्राची प्रवृत्ति न होतां 'अजाद्यतष्टाप्' सू. ४५४ हें सूत्र प्रवृत्त होऊन 'चित्र' या अदन्त प्रातिपदिकाहून 'टाप् = आ' हा स्त्री-प्रत्यय होतो व 'चित्रा' असें इष्ट रूप सिद्ध होतें.) 'गोहितम्' या उदाहरणांत 'न लुमताङ्गस्थ' सू. २६३ हा निषेध लागू पडतो असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण तो निषेध अद्याव ठिकाणीं लागू पडतो कीं जेथें लुप्त प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे

त्या प्रत्ययाच्या अङ्गाला उद्देशून होणारे कार्य करणे आहे. (शका-
काराचे असे म्हणणे आहे की, 'गो डे हितम् ' या उदाहरणात 'गो'
यातील ओकाराचे जागी जी अवादेशाची प्राप्ति होत नाही तिचे
वास्तविक कारण हे आहे की, 'न लुमताङ्गस्य ' हा निषेध असल्या-
मुळे ज्या 'डे' प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे त्याचे ठिकाणी प्रत्ययलक्षण
करता येत नाही, म्हणजे तो प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने विद्यमान आहे
असे मानता येत नाही या शकेवर शब्दरस्नकार असे उत्तर देतात की,
'न लुमताङ्गस्य ' हा निषेध अशाच ठिकाणी लागू पडतो की, जेथे
लुप्त प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे त्या प्रत्ययाच्या अङ्गाला उद्देशून कार्य
करणे आहे. प्रकृत स्थली 'डे' या प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे त्याच्या
'गो' या अङ्गाला कोणतेहि कार्य करणे नसून, 'गो' यातील 'ओ'
या 'एच्' वर्णापुढे 'डे=ए' हा अच् आला असल्यामुळे, 'एनोऽय-
वायाव ' सू. ६१ या सूत्राने होणारे वार्णकार्य करणे आहे. म्हणून
येथे 'न लुमताङ्गस्य ' हा निषेध लागू पडत नाही व 'डे' या लुप्त
प्रत्ययाचे ठिकाणी जे प्रत्ययलक्षण होत नाही त्याचे खरे कारण
मनोरमेत सांगितल्याप्रमाणे 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' ही
परिभाषा आहे. या विषयाचे विस्तृत विवरण मनोरमेत
केलेच आहे) जेथे लुप्त प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे त्या
प्रत्ययाच्या अङ्गाला कार्य करणे आहे तशाच ठिकाणी 'न
लुमताङ्गस्य ' हा निषेध लागू पडत असल्यामुळेच, 'उत्क्राम'
इत्यादि स्थली 'क्रमः परस्मैपदेषु' सू. २३२२ या सूत्राने
दीर्घसिद्धि होते; कारण त्या सूत्राने परस्मैपदी प्रत्यय ज्याच्या पुढे
आहे अशा शित्प्रत्ययाच्या अङ्गाला दीर्घकार्य होणे सांगितले आहे.
('उत् क्रम् शप् हि' या स्थली 'अतो हेः' सू. २२०२ या सूत्राने
'हि' या परस्मैपदी प्रत्ययाचा लुक् झाल्यावर, 'न लुमताङ्गस्य'
हा निषेध असल्यामुळे, तो 'हि' प्रत्यय बायम आहे असे प्रत्यय-
लक्षणाने मानता येत नाही आणि म्हणून 'शप्' या शित् प्रत्ययापुढे
'हि' हा परस्मैपदाचा प्रत्यय आहे असे मानता येऊ शकत नसल्या-

मुळें, 'क्रम्' यांतील अकाराला 'क्रमः परस्मैपदेषु' या सूत्रानें होणारें दीर्घ कार्य होऊं शकत नाहीं असें कोणी म्हटल्यास, त्याला उत्तर हें आहे कीं, या स्थलीं 'न लुमताङ्गस्य' हा निषेध लागू पडत नाहीं; कारण येथें जरी 'क्रमः परस्मैपदेषु' या सूत्रानें होणारें कार्य आङ्गकार्य आहे तरी, ज्या 'हि' प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे त्याचें 'क्रम्+शप् = क्रम्+अ = क्रम' हें अङ्ग आहे व त्या अङ्गाला दीर्घकार्य करणें नसून 'शप्' या शित् प्रत्ययाच्या 'क्रम्' या अङ्गाला तें कार्य करणें आहे. म्हणून येथें 'हि' प्रत्यय प्रत्यय-लक्षणानें कायम आहे असें मानतां येतें व प्रत्ययलक्षणानें विद्यमान असणारा तो 'हि' प्रत्यय 'शप्' या शित् प्रत्ययाच्या पुढें आहे असें मानतां येत असल्यामुळें, 'क्रमः परस्मैपदेषु' या सूत्रान्वयें 'क्रम्' यांतील अकार दीर्घ होतो व 'उत्क्राम' हें रूप सिद्ध होतें. 'न लुमताङ्गस्य' सू. १-१-६३ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं 'न सत्वपि क्रमेदीर्घत्वं परस्मैपदेष्वित्युच्यते । कथं तहि ? । शितीति । तद्विशेषणं परस्मैपदग्रहणम्' असेंच म्हटलें आहे.) 'न लुमता तस्मिन्' असें जरी तें सूत्र केलें असतें तरी, ज्या प्रत्ययाचा लुक् झाला आहे त्या लुप्त प्रत्ययाच्या लगेच पूर्वी असलेल्या प्रकृतीला कार्य करणें असल्यासच तो निषेध प्रवृत्त होतो व प्रत्ययलक्षण होत नाहीं असाच सूत्रार्थ झाला असता. (त्यामुळें ज्या 'क्रम्' या अङ्गाला दीर्घकार्य करणें आहे तें अङ्ग 'हि' या लुप्त प्रत्ययाच्या लगेच पूर्वी नसून दोहोंमध्ये 'शप्' चें व्यवधान असल्यामुळें व तसेंच 'हि' या लुप्त प्रत्ययाचें 'क्रम' जें अङ्ग आहे त्याला दीर्घकार्य करणें नसल्यामुळें, 'न लुमताङ्गस्य' असें सूत्र न करितां 'न लुमता तस्मिन्' असें सूत्र त्या ऐवजीं पठित केलें असतें तरी, तो निषेध 'उत्क्राम' या स्थलीं लागू पडला नसता.) मनोरमेत 'यद्वा यत्र प्रत्ययः प्राधान्येनाश्रीयते तथास्त्वित्वेऽपि विध्यर्थमिदम्' असा जी द्वितीयपक्ष सांगितला आहे तो यातिककारास संमत असलेला पक्ष होय. पण तो पक्ष मानल्यानें ज्या फलांची सिद्धि होते तीं सर्व फलें,

प्रकृत सूत्र नियमार्थं मानून देखील, सिद्ध होऊ शकतात असे सागून भाष्यकारानी तो द्वितीय पक्ष दूषित ठरविला आहे व नियमार्थपक्षच सिद्धान्तरूपानें सांगितला आहे (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात 'यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमय योगो वक्तव्यः । क्व च स्थानिवद्भावो नास्ति ? योऽल्विधि ।' हा वार्तिककारास समत असलेला पक्ष सागून व त्याची प्रयोजनें सागून भाष्यकारानी ती सर्व प्रयोजनें इतर रीतीनें सिद्ध होऊ शकतात असे सिद्ध करून तो पक्ष त्याज्य ठरविला आहे व अखेरीस 'न तर्हीदानीमय योगो वक्तव्य । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् ? । प्रत्यय गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात् । शब्द गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्ययलक्षणेन मा भूत् इति ।' असे म्हटले आहे हाच नियमार्थपक्ष होय व भाष्यकारानी हाच सिद्धान्तपक्ष मानला आहे)

मनोरमा- अस्मदिति । अत्र प्राचा अव्ययेत्यपि पठित तत्तु अव्ययाना प्रायेण निर्लिङ्गत्वाद् अव्ययीभावस्य क्लीबत्वेऽपि लिङ्गा-न्तराभावाच्चोपेक्षितम् ।

'न लुमताङ्गस्य' सू २६३ या सूत्रावरील कौमुदीत 'युष्म-दस्मत्पट्सज्ञास्त्रिषु सरूपा' असे म्हटले आहे, परंतु प्रक्रिया-कौमुदीकारानी त्यात अव्ययाचा देखील पाठ करून 'अव्ययास्मद्-युष्मत्पट्सज्ञास्त्रिषु सरूपा' असे म्हटले आहे ('त्रिषु सरूपा' या पदाचा 'त्रिषु लिङ्गेषु समानरूपाः । लिङ्गरहितार्थप्रातिपदिक-त्वेन तद्विशेषद्योतका प्रत्ययास्तेभ्यो नोत्पद्यन्ते' असा प्रसादटीकेत अर्थ दिला आहे याचा भावार्थ हा आहे की, 'अव्ययें, युष्मद्, अस्मद्' हे शब्द, आणि तसेच पट्सज्ञक शब्द याची तीव्ही लिङ्गात सारखीच रूपे असतात व ही लिङ्गरहित प्रातिपदिके असल्यामुळे, लिङ्गविशेषद्योतक प्रत्यय त्याहून होत नाहीत) परंतु तिन्ही लिङ्गात समान असणाऱ्या शब्दामध्ये जें त्यानी अव्ययाचे ग्रहण केले आहे त्याची उपेक्षा केली आहे व ग्रहण केले नाही, कारण अव्ययें बहुधा लिङ्गरहित असतात आणि अव्ययीभाव जरी नपुंसक-

लिङ्गी असतो तरी त्याला इतर दोन लिङ्गें नसतात. (त्यामुळे तो तिन्ही लिङ्गांत समानरूप असतो असे म्हणतां येत नाहीं. 'युष्मद्' व 'अस्मद्' या शब्दांचा जरी तिन्ही लिङ्गांत समानरूपानें प्रयोग होतो तरी ते लिङ्गरहित नाहीत. 'अलिङ्गे युष्मदस्मदी' असें जें भाष्यकारांनीं म्हटलें आहे त्याचा तात्पर्यार्थ हा आहे कीं, 'युष्मद्' व 'अस्मद्' हे शब्द पदान्तराच्या सहायाशिवाय उच्चारले असतां त्यांच्या लिङ्गाचा बोध होत नाही. त्या भाष्यवचनाचा असा अर्थ समजू नये कीं, 'युष्मद्, अस्मद्' हे शब्द लिङ्गरहित आहेत. परंतु अव्ययांना लिङ्ग नसल्यामुळे, तीं तिन्ही लिङ्गांत समानरूप असतात हें म्हणणें परस्परविरुद्ध ठरतें. 'अव्ययीभावश्च' सू. ४५१ या सूत्रान्वये अव्ययीभावाला अव्ययसंज्ञा आहे व 'अव्ययीभावश्च' सू. ६५९ या सूत्रान्वये जरी अव्ययीभाव नित्य नपुंसकलिङ्गी असतो तरी त्याला इतर दोन लिङ्गें नसल्यामुळे तो तिन्ही लिङ्गांत समानरूप असतो असें त्याच्या संबंधानें देखील म्हणतां येत नाहीं. म्हणून 'त्रिषु समानरूपाः' असे जे शब्द आहेत त्यांत अव्ययाचा पाठ करणें योग्य नाही असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे.)

शब्दरत्न—प्रायेणेति । विभक्तिप्रतिरूपकाणां लिङ्गयोगेऽपि त्रिषु सारूप्याभाव इत्याशयः ।

मनोरमैत 'प्रायेण' असें जें म्हटलें आहे त्याचा आशय हा आहे कीं, विभक्तिप्रतिरूपक अव्ययांचा जरी लिङ्गसहित प्रयोग होतो तरी, तिन्ही लिङ्गांत त्यांचा समानरूपानें प्रयोग होत नाही. (भैरवींत 'कस्माच्चित्, कस्यचित्, किञ्चित्, रात्रौ, सायम्' हीं विभक्तिप्रतिरूपक लिङ्गसहित अव्ययांची उदाहरणें दिली आहेत. या उदाहरणावरून हें स्पष्ट होतें कीं, विभक्तिप्रतिरूपक अव्ययांचा तिन्ही लिङ्गांत नेहमी समानरूपानें प्रयोग होत नाही.)

मनोरमा—वस्तुतस्त्विति । अर्थप्राधान्यबोधकस्य बहुवचनस्याभावात् गौणत्वेऽपि त्रयादेशो न्याय्यः अस्याद्यनङ्घदिति भावः ।

‘नेस्त्रयः’ सू. २६४ या सूत्रावरील कौमुदीत ‘गौणत्वे तु नेति केचित् । प्रिय त्रीणाम् । वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम्’ असे म्हटले आहे. असे म्हणण्याचे कारण हे की, ‘नेस्त्रयः’ या सूत्रात ‘त्रि’ या शब्दाचा अर्थ प्राधान्याचा बोध करणाऱ्या बहुवचनात निर्देश बेला नसल्यामुळे, ‘त्रि’ हा शब्द गौण असला तरी त्याचे जागी प्रकृत सूत्राने त्रयादेश होणे न्याय्य आहे ज्याप्रमाणे ‘अस्थिदधिस-वध्यक्षामनडुदात्तः’ सू. ३२२ या सूत्राने होणारा अनडादेश ‘अस्थि, दधि’ इत्यादि शब्द गौण असले तरी त्याचे जागी होतो त्याचप्रमाणे ‘त्रि’ हा शब्द गौण असला तरी त्याचे जागी त्रयादेश होणे न्याय्य ठरते. (‘अस्थिदधि’ या सूत्रावरील कौमुदीत ‘तदन्तस्याप्यनङ् । अतिदघ्ना’ असे म्हटले आहे. ‘अतिदघ्ना’ या उदाहरणात जरी ‘दधि’ हा शब्द गौण — उपसर्जन — आहे तरी त्याचे जागी अनडा-देश झालाच आहे त्याचप्रमाणे ‘प्रिया त्रय येषा तेषा प्रियत्रयाणाम्’ या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासात जरी ‘त्रि’ हा शब्द गौण आहे तरी ‘नेस्त्रय’ या प्रकृत सूत्रात अर्थप्राधान्याचा बोध करून देणाऱ्या बहुवचनाचा निर्देश नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्राने वरील उदाहरणात ‘त्रि’ चे जागी त्रयादेश ‘आम्’ प्रत्यय पुढे असताना होतोच)

शब्दरत्न— अर्थप्राधान्यबोधकस्येति । अर्थप्राधान्य एव प्रवृत्ति-बोधकस्येत्यर्थः । बहुवचनस्येत्युपलक्षणम् । तद्वोधकामावादित्यत्र तात्पर्यम् । गौणमुख्यन्यायस्तु पदकार्य एव न प्रातिपदिककार्ये । किं चाप्रसिद्धत्वरूपस्य वा गौणलाक्षणिकत्वस्य वा गौणत्वस्य तत्र ग्रहणम् । न चायं तथा । इतरविशेषणत्वेन उपसर्जनत्व तु न गौणत्वम् । अत एव प्रिपतितेत्यादौ तिल्लादयो भाष्यकृतोदाहृताः । गौणत्वेऽपीति । उपसर्जनत्वेऽपीत्यर्थः ।

मनोरमंतील ‘अर्थप्राधान्यबोधकस्य’ या पदाचा ‘अर्थप्राधान्ये एव प्रवृत्तिबोधकस्य’, म्हणजे ‘जेथे अर्थ प्रधान आहे, तशाच ठिकाणी प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होऊ शकते अशा अर्थाचा बोध करणाऱ्या बहुवचनाचा’, असा अर्थ आहे मनोरमंतील ‘बहुवचनस्य’ हे पद

उपलक्षणात्मक आहे व त्याचा तात्पर्यार्थ असा आहे कीं, 'त्रेस्त्रयः' या सूत्रांत शब्दाला प्राधान्य नसून अर्थाला प्राधान्य आहे हें दर्शविणारें कोणतेंहि पद घातलें नाहीं. ('त्रि' हा शब्द 'तीन' या बहुत्वरूप संख्येचा वाचक असल्यामुळे, 'त्रि' हा शब्द जेथें प्रधान असेल व त्याचा अर्थ विशेषणरूपानें इतर शब्दाच्या अर्थामध्ये गौण-उपसर्जन-झाला नसेल तशाच ठिकाणीं 'त्रि' या शब्दाचे जागीं त्रयादेश व्हावा असें. जर पाणिनीला विवक्षित असतें तर, त्यानें 'त्रेस्त्रयः' या सूत्रांत 'त्रेः' असा एकवचनाचा निर्देश न करितां बहुवचनाचा निर्देश केला असता च त्या बहुवचननिर्देशाच्या सामर्थ्यानें असें म्हणतां आलें असतें कीं, जेथें 'त्रि' शब्दाचा बहुत्वरूप अर्थ प्रधान असतो तशाच ठिकाणीं त्याचे जागीं प्रकृत सूत्रानें त्रयादेश करणें योग्य आहे. परंतु पाणिनीनें प्रकृत सूत्रांत बहुवचनाचा निर्देश किंवा 'त्रेः' असा स्थानपष्ठीचा निर्देश केला असून विहितपञ्चमीचा निर्देश केला नसल्यामुळे हें स्पष्ट होतें कीं, त्याला अर्थप्राधान्य विवक्षित नसून शब्दप्राधान्यच विवक्षित होतें, म्हणजे 'त्रि' हा शब्द प्रधान असो किंवा गौण असो त्याचे जागीं त्रयादेश व्हावा असेंच त्याला विवक्षित होतें. सारांश जरी समासांत 'त्रि' हा शब्द प्रधान नसला किंवा त्या शब्दाहून 'आम्' हा विभक्तिप्रत्यय झाला नसला तरी तशा 'त्रि' शब्दाचे जागीं त्रयादेश होतोच. म्हणून 'प्रियाः त्रयः तेषां तेषां प्रियत्रयाणाम्' या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासांत जरी 'त्रि' हा शब्द उपसर्जन आहे व त्याहून 'आम्' प्रत्यय झाला नसून 'प्रियत्रि' या संपूर्ण सामासिक शब्दाहून 'आम्' प्रत्यय झाला आहे तरी, प्रकृत सूत्रानें 'त्रि' शब्दाचे जागीं त्रयादेश होऊन 'प्रियत्रयाणाम्' असें रूप सिद्ध होतें; 'प्रियत्रीणाम्' हें रूप शुद्ध नव्हे.) 'गौणमुत्पयोः' हा न्याय पदकार्य कर्तव्य असतांना लागू पडतो, प्रातिपदिककार्य कर्तव्य असतांना लागू पडत नाहीं. दुसरें असें कीं, त्या न्यायांतील 'गौण' या शब्दानें अप्रसिद्धत्वरूप व तसेंच गौणलाक्षणिकत्वरूप गौणत्वाचे ग्रहण होतें. 'प्रियत्रयाणाम्' या

समासातील 'त्रि' हा शब्द तशा प्रकारच्या गौणत्वाचा बोधक नाही. जो शब्द इतर शब्दाचे विशेषण होऊन उपसर्जन झाला आहे तशा उपसर्जनरूप गौणत्वाचे वरील न्यायातील 'गौण' शब्दाने ग्रहण होत नाही. (शकाकार अशी शका करतो की, 'गौणमुख्य-योर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' - परि. १५- ही परिभाषा असल्यामुळे व 'प्रियत्रयाणाम्' या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासात 'त्रि' हा शब्द अन्यपदार्थाचे विशेषण झाल्याकारणाने गौण-उपसर्जन-झाला असल्यामुळे, जेथे 'त्रि' हा शब्द प्रधान आहे तेथेच लागू पडणारे 'त्रेस्त्रयः' हे प्रवृत्त सूत्र 'प्रियत्रयाणाम्' या स्थली प्रवृत्त होऊ शकत नाही व गौण-उपसर्जन-झालेल्या 'त्रि' शब्दाचे जागी त्या सूत्राने त्रयादेश होऊ शकत नाही. या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, 'गौणमुख्ययो' या ज्या परिभाषेच्या आधारावर वरील शका वेली आहे ती परिभाषा परिनिष्ठित पदाला कार्य कर्तव्य असतानाच लागू पडते 'प्रियत्रयाणाम्' या स्थली पदाला कार्य करणे नसून 'त्रि' या प्रातिपदिकाला आदेशरूप कार्य करणे असल्यामुळे, असे प्रातिपदिककार्य वरतेवेळी ती परिभाषा मुळीच लागू पडत नाही. दुसरे असे की, त्या परिभाषेतील 'गौण' या शब्दाने उपसर्जनरूप गौणत्वाचे ग्रहण होत नसून अप्रसिद्धत्वरूप गौणत्वाचे व तसेच गौणलाक्षणिकत्वरूप गौणत्वाचे ग्रहण होते. 'प्रियत्रयाणाम्' या समासातील 'त्रि' हा शब्द तशा प्रकारचा गौण शब्द नसून अन्यपदार्थाचे विशेषण झाल्याकारणाने उपसर्जन झाला आहे व तशा उपसर्जनरूप गौणत्वाचे वरील परिभाषेतील 'गौण' शब्दाने ग्रहण हात नसल्यामुळे, या स्थली वरील परिभाषा मुळीच लागू पडत नाही. या मपूर्ण विषयाचे विस्तृत विवरण परिभाषेन्दु-दोसराच्या मराठी भाषान्तरात पान ५३-५८ मध्ये देणे आहे व ते वाचल्यास वरील ग्रन्थ उत्तम रीतीने घ्यानांत येईल) 'गौणमुख्ययोः' या परिभाषेतील 'गौण' शब्दाने उपसर्जनरूप गौणत्वाचे ग्रहण होत नसल्यामुळेच, 'प्रियत्रिसा' इत्यादि उदाहरणांत 'त्रिसु' इत्यादि

आदेश भाष्यकारांनीं करून उदाहरणें दिलीं आहेत. (‘प्रियाः तिस्रो ब्राह्मण्यः यस्य ब्राह्मणस्य सः प्रियतिसा ब्राह्मणः’ या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासांत जरी स्त्रीलिङ्गी ‘त्रि’ हा शब्द उपसर्जन आहे, म्हणजे अन्यपदार्थाचें विशेषण होऊन तो शब्द उपसर्जन झाला आहे, तरी भाष्यकारांनीं ‘त्रिचतुरोः स्त्रियो तिसृचतसू’ सू. २९८ या सूत्रानें ‘त्रि’ शब्दाचे जागीं ‘तिसृ’ असा आदेश करून ‘प्रियतिसा’ हें ‘प्रियतिसृ’ या पुल्लिङ्गी शब्दाचें प्रथमेच्या एकवचनाचें उदाहरण दिलें आहे. भाष्यकारांनीं दिलेल्या या उदाहरणावरून हें स्पष्ट होतें कीं, ‘गीणमुख्ययोः’ ही परिभाषा समासांत उपसर्जन झालेल्या शब्दांना लागू पडत नाहीं आणि म्हणून ‘प्रियत्रयाणाम्’ या बहुव्रीहिसमासांत जरी ‘त्रि’ हा शब्द उपसर्जन झाला आहे व त्याचा अर्थ समासांत प्रधान नसून जरी अन्यपदार्थाचें विशेषण-उपसर्जन-झाला आहे तरी, त्याच्यापुढें ‘आम्’ हा विभक्तिप्रत्यय आला असल्यामुळें, त्याचे जागीं प्रकृत सूत्रानें त्रयादेश होतोच.) मनोरमंतील ‘गीणत्वेऽपि’ या पदांचा ‘उपसर्जनत्वेऽपि’ असा अर्थ आहे, म्हणजे त्या शब्दानें उपसर्जनत्वरूप गीणत्वाचेंच ग्रहण होतें.

सनोरमा-अकारो वक्तव्य इति तथा च बहुत्वाभावे औडुलोमीशब्द इकारान्तः । बहुत्वे तु अकारान्त उडुलोमशब्दोऽन्य एव । तस्य च इकारान्तेषु व्युत्पादनं प्रासङ्गिकमिति भावः । तथा चौडुलोमिशब्दस्य इदन्तस्य बहुत्वे अदन्तत्वमिति न भ्रमितव्यम् ॥ इति इवन्ताः ॥

(‘त्यदादीनामः’ सू. २६५ या सूत्रावरील कौमुदींत ‘औडुलोमीः । औडुलोमी । बहुत्वे वूडुलोमाः’ असें सांगून दीक्षितांनीं ‘लोमन्शब्दाद्वहुष्वपत्येषु विवक्षितेष्वकारः प्रत्ययो वक्तव्यः’ या अर्थाचें ‘लोमोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः’ असें वार्तिक पठित केलें आहे. हें वार्तिक असल्यामुळें) जेथें अपत्यांचें बहुत्व विवक्षित नाहीं तशा ठिकाणीं ‘औडुलोमि’ असें इकारान्त प्रातिपदिक होतें. परंतु जेथें अपत्यांचें बहुत्व विवक्षित आहे तेथें ‘उडुलोम’ असें अकारान्त प्रातिपदिक होतें

य हा 'उडुलोम' शब्द इकारान्त 'ओडुलोमि' शब्दाहून भिन्न आहे इकारान्त पुल्लिङ्गी शब्दाच्या प्रकरणात 'उडुलोम' या अकारान्त शब्दाची जी व्युत्पत्ति सांगितली आहे ती केवळ प्रसङ्गानुरोधाने सांगितली आहे म्हणून असा चुकीचा समज करून घेऊ नये की, इकारान्त 'ओडुलोमि' शब्दाची बहुवचनाची रूपे करिताना तो शब्द 'उडुलोम' असा अकारान्त होतो ('उडूनि न क्षत्राणि इव लोमानि यस्य स. उडुलोमा, तस्य अपत्य पुमान् ओडुलोमि' या स्थली 'बाह्वादिभ्यश्च' सू १०९६ या सूत्राने 'उडुलोमन्' शब्दाहून अपत्यार्थक 'इब्' प्रत्यय झाला आहे 'उडुलोमन् इब्' या स्थितीत 'नस्तद्धिते' सू ६७९ या सूत्राने 'उडुलोमन्' या नान्त शब्दाच्या 'अन्' या टिचा लोप होऊन व 'तद्धितेष्वचामादे' सू १०७५ या सूत्राने आद्य अचाची वृद्धि होऊन 'ओडुलोमि' असे इकारान्त प्रातिपदिक होते 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्य' हे वार्तिक असे सांगत की, जेथे अपत्याची बहुत्वसह्या विवक्षित आहे तेथे 'लोमन्' शब्दान्त प्रातिपदिकाहून अपत्यार्थक 'इब्' प्रत्यय न होता 'अ' प्रत्यय होतो म्हणून 'उडुलोमन् अपत्यानि' या अर्थामध्ये 'अ' प्रत्यय होऊन व 'नस्तद्धिते' या सूत्राने टिलोप होऊन 'उडुलोमन् अ = उडुलोम् अ = उडुलोम' असे भवन्त प्रातिपदिक होते 'अ' हा तद्धित प्रत्यय जित, णित् किंवा कित् नसत्यामुळे, येथे आद्यचाची वृद्धि झाली नाही दीक्षित म्हणतात की, 'ओडुलोमि' व 'उडुलोम' ही भिन्न भिन्न तद्धितप्रत्यय होऊन सिद्ध झालेली भिन्न प्रातिपदिने आहेत य 'ओडुलोमि' शब्दाची बहुवचनाची 'उडुलोमा, उडुलोमान्' इत्यादि रूपे होतात असा वरील वातिवाचा अर्थ समजू नये सारास 'ओडुलोमि' हा शब्द केवळ एकवचनांत व द्विवचनांत 'हरि' शब्दासारखा चालतो व 'उडुलोम' हा भिन्न शब्द केवळ बहुवचनांत 'राम' शब्दासारखा चालतो असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे) येथे इदम् प्रकरण संपले

शब्दरत्न-न भ्रमितव्यमिति । एतद्भ्रमनिवृत्त्यर्थमेवात्रास्य
व्युत्पादनमिति भावः ॥ इतीदन्ताः ॥

‘ओङुलोमि’ शब्दाच्चै बहुवचन ‘उङुलोमाः’ आहे या भ्रमाचें
निवारण करण्याकरितांच दीक्षितांनीं (इदन्त प्रकरणांत) ‘उङुलोम’
शब्दाची व्युत्पत्ति सांगितली आहे. येथें इदन्त प्रकरण संपलें.

मनोरमा-किदिति । तेन “आतो लोप इटि च” इत्यालोप
इति भावः । ययीपप्यादय इति । यत्तु प्राचोक्तम् । एवं देवयज्यतिल-
क्ष्म्यादय इति । तत्र । देवान् यजत इति धियहे “इन्” इत्यीणा-
दिकसूत्रेण ह्रस्वान्तस्यैव देवयजिशब्दस्थोज्ज्वलदत्तादिभिः साधि-
तत्वात् । “अस्यो द्विजान्देवयजीन्निहन्म” इति भट्टिप्रयोगस्य ह्रस्व-
विषयकतयैव व्याख्यातत्वात् । न च यजेर्दोर्वे ईप्रत्ययः प्रतिपदो-
यतोऽस्ति । बहुलग्रहणात्कल्प्यत इति चेद् भवेदेवं यद्यनन्यथासिद्धं
कल्पकमुपलभ्येत । वेदेऽपि ह्रस्व एव प्रयुज्यते । “आयजि त्वा
मनवे जातवेदसे” इति । अतिलक्ष्मीशब्दस्य तु नदीत्वाद् ह्रस्वे आडा-
गमे नुटि आभि च कृते महदेव यैलक्ष्यमिति न वातप्रमीसाम्यम् ।
एतच्च मूले एव स्पष्टीभविष्यति । विषयन्तेति । एतच्च ‘माङ् माने
शब्दे च’ इति धातो माधवप्रस्थे स्पष्टम् । बहुश्रेयसीति । “ईय-
सश्च” इति न कप् । नाप्युपसर्जनह्रस्वः । ‘ईयसो बहुव्रीहेर्न’ इति
निषेधात् ॥

(‘त्यदादीनामः’ नू. २६५ या सूत्रानंतर जें ईदन्तप्रकरण
आरंभिलें आहे त्यावरील कोमुदीति ‘वातप्रमीस्त्रिगुणादिगूत्रेण माङ्
ईप्रत्ययः, न च कित् । वातं प्रमिमीने वातप्रमीः’ असें म्हटलें आहे.
‘माङ् माने’ या आकारान्त धातूकन जालेल्या ‘ई’ हा प्रत्यय कित्
धगण्यामुळे) ‘आतो लोप इटि च’ नू. २३७२ या सूत्रानें ‘मा’
धातूच्या आकारान्त लोप झाल्या आहेत. ‘ययी, ययी’ इत्यादि शब्द
‘वातप्रमी’ शब्दासारखे चालवाने, प्रक्रियाकोमुदीकारांनीं
(‘त्यदादीनामः’ या सूत्रावरील सूचीत) ‘एवं देवयज्यतिलक्ष्म्या-

दयः', म्हणजे 'देवयजी, अतिलक्ष्मी' हे शब्द 'वातप्रमी' या
 शब्दामारखेच चालतात, असे जें म्हटले आहे तें म्हणणे बरोबर
 नाही; कारण उज्वलदत्तादिकानी 'देवान् यजते' असा विग्रह करून
 च 'इन्' या औणादिक सूत्रानें प्रत्यय करून 'देवयजि' असा न्हस्व
 इकारान्त शब्द साधला आहे. तसेच 'अद्मो द्विजान् देवयजीन् निहन्म'
 (भट्टिकाव्य प्रथम सर्ग श्लोक ३४) या भट्टिकाव्यातील 'देवयजीन्'
 या प्रयोगाचे तो शब्द न्हस्व इकारान्त आहे, असेच व्याख्यान केले
 आहे. (त्या श्लोकावरील जयमङ्गला टीकेत 'अच इः इत्यनुवर्तमाने
 यनीत्यादिपूह्यमानेषु औणादिनेषु सूत्रेषु यद्यपि यजिर्न पठित-
 स्तथापि यजेरि, प्रवृत्तेश्च तद्गृह्यमिति वचनात्' असे म्हटले आहे.
 या व्याख्येचा अर्थ असा आहे की, 'खनिक्प्यज्यमि' उ. सू. ५७९
 या उत्तर सूत्रात 'अच इ.' उ. सू. ५७८ या पूर्व सूत्रातून 'इ'
 प्रत्ययाची अनुवृत्ति होते व जरी 'खनिक्पि' या सूत्रात 'यज्'
 घातूचा निर्देश केला नाही तरी 'उणादयो बहुलम्' सू. ३-३-१
 या सूत्रावरील भाष्यात पठित केलेल्या 'उक्तप्रवृत्तिप्रत्ययादेर्यत्र
 समुत्पत्त तस्मिन्विषये प्रवृत्ति दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्यय च
 दृष्ट्वा प्रवृत्तिरहितव्या' या अर्थाच्या वाचक 'यत्र विशेषपदार्थ-
 समुत्पत्त प्रत्ययतः प्रवृत्तेश्च तद्गृह्यम्' या कारिकावन्वयें 'यज्' घातूहून
 'इ' प्रत्यय होतो असे कल्पिल्याने 'देवयजि' हें न्हस्व इकारान्त रूप
 मिळ करतं येतं यावरून हे स्पष्ट होते की, 'देवयजी' असा दीर्घ
 इकारान्त शब्द नसून 'देवयजि' असा न्हस्व इकारान्त शब्द आहे.
 प्रसादटीकेत 'देवान् यजतीति देवयजीः । यजेरोप्रत्ययः । प्रत्ययतः
 प्रवृत्तेश्च तद्गृह्यमिति वचनात्' असे जें म्हटले आहे त्याला उद्देगून
 दीक्षित असे उत्तर देतात की,) 'यजी' असा दीर्घ शब्द मिळ
 करण्यावरितां 'यज्' घातूहून औणादिक 'ई' प्रत्यय झाला आहे
 असे म्हणतां येत नाही, कारण 'यज्' घातूहून 'ई' प्रत्यय झाला
 असे सादात् विधान करणारें कोणनेहि औणादिक सूत्र नाही.
 'उणादयो बहुलम्' सू. ३१६१ या सूत्रात 'बहुलम्' या पदार्थे

ग्रहण केलें असल्यामुळें ('प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तद्वह्यम्' या कारिका-
 न्वयें) 'यज्' धातूहून 'ई' प्रत्यय झाला आहे असें कल्पितां येतें
 असें कोणी म्हणल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण तशी
 कल्पना तेव्हांच करतां येते कीं जेव्हां प्रचारांत असलेल्या शब्दांची
 इतर रीतीनें सिद्ध करतां येत नाही. वेदांत देखील 'आयजि त्वा
 मनवे जातवेदसे' या ऋचेंत 'यजि' असा न्हस्व इकारान्त शब्दच पठित
 केला आहे. ('लक्ष्मीमतिक्रान्तः अतिलक्ष्मीः' अशा रीतीनें सिद्ध होणारा)
 'अतिलक्ष्मी' हा शब्द नदीसंज्ञक असल्यामुळें, न्हस्वकार्य, आडागमकार्य,
 नुडागम व आमादेश हीं चार कार्ये केल्यानें त्या शब्दाच्या रूपांत
 व 'वातप्रमी' या शब्दाच्या रूपांत मोठेंच वैलक्षण्य-फरक-होत
 असल्यामुळें, तो शब्द 'वातप्रमी' शब्दासारखा चालतो हें म्हणणें
 बरोबर नाही. ('अतिलक्ष्मीः' या सामासिक शब्दांत जरी नदी-
 संज्ञक 'लक्ष्मी' हा शब्द उपसर्जन झाला आहे तरी, 'प्रथमस्य
 समासादिवृत्तिप्रवृत्तेः पूर्वं प्रवृत्तस्य स्त्रीलिङ्गस्य यू स्त्र्याख्यौ नदी
 इत्यत्र ग्रहणं कर्तव्यम्' = 'समासादिवृत्तिप्रवृत्तेः पूर्वं स्त्रीलिङ्गस्य सतः
 वृत्तिदशायामुपसर्जनतया स्त्रीलिङ्गत्वाभावेऽपि नदीत्वं वक्तव्यम्'
 या अर्थाच्या वाचक 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च'—सू. २६६ बरील वार्तिक-
 या वार्तिकान्वयें 'अतिलक्ष्मी' हा सामासिक शब्द नदीसंज्ञक ठरतो.
 त्यामुळें 'अम्बार्थनद्योर्हस्वः' सू. २६७ या सूत्रान्वयें त्या शब्दाचें
 'हे अतिलक्ष्मि' असें संबुद्धीचें रूप होतें. पण 'वातप्रमी' हा शब्द
 नदीसंज्ञक नसल्यामुळें, त्याचे ठिकाणीं न्हस्वकार्य न होतां 'हे वात-
 प्रमीः' असें त्याच्या संबुद्धीचें रूप होतें. तसेंच 'आणनद्याः' सू. २६८
 या सूत्रान्वयें 'अतिलक्ष्मी' या नदीसंज्ञक शब्दापुढील डित् प्रत्ययांना
 आडागम होऊन 'अतिलक्ष्म्यै, अतिलक्ष्म्याः, अतिलक्ष्म्याः' अशीं
 चतुर्थीच्या पञ्चमीच्या व पठ्ठीच्या एकवचनाचीं रूपें अनुक्रमें
 होतात. पण 'वातप्रमी' हा शब्द नदीसंज्ञक नसल्यामुळें त्याचीं
 'वातप्रम्ये, वातप्रम्यः, वातप्रम्यः' अशीं त्या तीन विभक्त्यांचीं
 अनुक्रमें रूपें होतात. तसेंच 'अतिलक्ष्मी' या नदीसंज्ञक शब्दाचें

पंठीचे बहुवचन करिताना 'न्हस्वनद्यापो नुट्' सू. २०८ या सूत्राने 'आम्' प्रत्ययाला नुडागम होऊन 'अतिलक्ष्मीणाम्' असे रूप होते. पण 'वातप्रमी' या शब्दाचे पंठीचे बहुवचन करतेवेळी 'आम्' प्रत्ययाला नुडागम न होता 'वातप्रमी आम् = वातप्रम्याम्' असे रूप होते त्याचप्रमाणे 'अतिलक्ष्मी' या नदीसज्ञक शब्दाचे सप्तमीच्या एकवचनाचे रूप करिताना 'हि' प्रत्ययाचे जागी 'हेराम्नद्याम्नीम्यः' सू. २७० या सूत्राने आमादेश होऊन 'अतिलक्ष्म्याम्' असे रूप होते, पण 'वातप्रमी' या शब्दाच्या सप्तमीच्या एकवचनाचे 'वातप्रमी इ = वातप्रमी' असे 'अक. सवर्णे दीर्घ.' सू. ८५ या सूत्राने सवर्ण-दीर्घ होऊन रूप होते अशा रीतीने 'अतिलक्ष्मी' व 'वातप्रमी' या दोन शब्दाच्या रूपात अनेक विभक्तीत फरक होत असल्यामुळे, 'अतिलक्ष्मी' हा शब्द 'वातप्रमी' या शब्दासारखा चालतो हे म्हणणे चूक ठरते. तसेच 'देवयजि' हा शब्द न्हस्व इकारान्त असल्यामुळे व त्याची रूपे 'हरि' शब्दासारखी होत असल्यामुळे, तो शब्द दीर्घ ईकारान्त 'वातप्रमी' शब्दासारखा चालतो हे म्हणणे देखील चूक ठरते.) कौमुदीत दिलेल्या रूपावरूनच वरील म्हणणे स्पष्ट होते 'क्विबन्तवातप्रमीशब्दस्य त्वमि शसि डी च विशेष' असे जे कौमुदीत म्हटले आहे ते 'माङ् माने शब्दे च' या धातूचे व्याख्यान करिताना माघयाने जे धातुवृत्तीत म्हटले आहे त्यावरून स्पष्ट होणे. ('वातप्रमी' या स्थली 'मा' धातूहून 'वातप्रमी' उ सू. ४४१ या सूत्राने औणादिक 'ई' प्रत्यय न करिता 'क्विप् च' सू. २९८३ या सूत्राने 'क्विप् = व' हा कित् प्रत्यय केल्याने 'धुमास्या' मू. २४६२ या सूत्राने 'मा' धातूतील आकाराचे जागी ईवारादेश होतो व 'वातप्रमी' शब्दाच्या शेवटी धातूचा ईवार आहे असे स्थानिवद्भावाने मानता येत असल्यामुळे, 'एरनेकाच' मू. २७२ या सूत्राने त्या ईकाराचे जागी यणादेश होऊन 'वातप्रम्यम्, वातप्रम्य, वातप्रम्यि' अशी अनुक्रमे द्वितीयेच्या एकवचनाची व बहुवचनाची आणि सप्तमीच्या एकवचनाची रूपे

होतातः पण जेव्हां 'मा' धातूहून 'ई' हा औणादिक अजादि कित् प्रत्यय केला जातो तेव्हां वर सांगितल्याप्रमाणे 'आतो लोपः' सू. २३७२ या सूत्राने 'मा' धातूच्या आकाराचा लोप होऊन 'ई' प्रत्यय अन्तीं राहत असल्यामुळे व तो प्रत्यय धातूचा अवयव नसल्यामुळे, 'एरनेकाचः' या सूत्राची प्रवृत्ति होत नाही व त्यामुळे 'वातप्रमीम्, वातप्रमीन्, वातप्रमी' अशीं वरील विभक्तींचीं रूपे होतात. बालमनोरमेत 'माङ् माने इत्यस्मात् कर्तरि क्विप् घुमास्था इति ईत्वे वातप्रमीशब्द इति केचित् । तत्र, ईत्वमवकारादौ इति वार्तिकविरोधात् । मीञ् हिंसायामिति मीधातोः क्विप् तु वातप्रमीशब्दो निर्वाधः ।' असें जरी म्हटलें आहे तरी या पक्षाचें शब्द-रत्नांत खण्डन केलें असून त्याचें विवेचन शब्दरत्नांत केलें जाईल.) 'बहुव्यः श्रेयस्यः यस्य सः बहुश्रेयसी' या स्थळीं, 'ईयसश्च' सू. ८९४ हा निषेध असल्यामुळे, ('नद्यतश्च' सू. ८३३ या सूत्राने होणारा) 'कप्' प्रत्यय होत नाही. त्याचप्रमाणे 'ईयसो बहुव्रीहेर्न'—सू. ८९४ वरील वार्तिक—हें वार्तिक असल्यामुळे ('गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य' सू. ६५६ या सूत्राने होणारें) 'ह्रस्वकार्यं' देखील होत नाही.

शब्दरत्न—'ह्रस्वविषयकतयैवेति । जयमङ्गलायामिति शेषः । माङ् माने इति । "घुमा स्था" इतीत्वविधायकसूत्रस्थं 'अवकारादौ' इति वार्तिकं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति ईत्वं सुलभम् । संस्थाशब्दे तु भाष्यप्रयोगादेवेत्वाभावः । ततो विजेवेत्यन्ये । न च तेनेत्वेऽपि तस्यासिद्धत्वात्कथं यणिति वाच्यम् । क्यौ ईत्वं, विभवतो यणादेश इति व्याश्रयत्वादिति बोध्यम् । न कश्चित् । समाप्तान्तविधौ लिङ्गविशिष्टपरिभाषाभावस्य "इयाप्प्रातिपदिकात्" इति सूत्रे भाष्ये उक्ततावप्यस्य तन्निषेधकत्वेनात्र प्रवृत्तिरस्येव । "गोस्त्रियोः" इति सूत्रे बहुश्रेयसीति भाष्योदाहरणादनन्तरस्येति न्यायं वाधित्वा "नद्यतश्च" इत्यस्याप्ययं निषेध इति भावः ।

मनोरमेतील 'ह्रस्वविषयकतयैव' या पदापुढे 'जयमङ्गलायाम्' हें पद अध्याहृत आहे, म्हणजे भट्टिकाव्यावरील जयमङ्गलानामक

टीकेत 'देवयजि' हा शब्द न्हस्व इकारान्त आहे असेच व्याख्यान केले आहे 'घुमास्था' सू. ६-४-६६ या ईत्वविधायक सूत्रावरील भाष्यात 'ईत्वे वकारप्रतिषेधो घृत घृतपावान इति दर्शनात्' असे जे वातिक पठित केले आहे त्याचे भाष्यकारांनी प्रत्याख्यान केले असल्यामुळे, 'वातप्रमी' या स्थली ईत्व होण्यात काही अडचण येत नाही (त्या वातिकाचा असा अर्थ आहे की, 'घुमास्था' या सूत्रात निदिष्ट असलेल्या घातूपुढे वकाराने सुरु होणारा कित् प्रत्यय आल्यास या घातूतील अन्त्य आकाराचे ईत्व होत नाही ते वातिक न मानल्यास, 'पा' घातूहून 'वनिप् = वन्' हा वकाराने सुरु होणारा कित् प्रत्यय केला असता, 'पीवान.' असे रूप होण्याची आपत्ति येते, पण वेदात तर 'पावानः' असा प्रयोग आढळतो म्हणून वातिककारांच्या मते तसे वैदिक रूप सिद्ध होण्यावरिता ते वातिक असणे आवश्यक आहे त्या वातिकान्वये 'मा' घातूहून 'विप = व्' हा प्रत्यय केला असता, तो प्रत्यय वकाराने सुरु होणारा असून कित् असल्यामुळे, 'पा' घातूच्या अन्त्य आकाराचे ईत्व होऊ शकत नाही व 'वात-प्रमी' असे ईकारान्त रूप होऊ शकत नाही परंतु भाष्यकारांनी त्या वातिकाचे प्रत्याख्यान केले असल्यामुळे तो आपत्ति टळते भाष्यकार म्हणतात — 'स तद्दि प्रतिषेधो वक्तव्य ? । न वक्तव्य । वनिषेप भविष्यति, न वनिषिषि ।' भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे की, 'घृतपावान, वसापावान' इत्यादि वैदिक प्रयोगात 'पा' घातूहून 'वनिप्' हा कित् प्रत्यय झाला नसून 'वनिप्' हा अकित् प्रत्यय झाला आहे असे मानल्याने 'पा' घातूचे ईत्व पावतेच नाही सारांश ते वातिक न मानता देखील वरील वैदिक प्रयोग सिद्ध होऊ शकत असल्यामुळे, भाष्यकारांच्या मते ते वातिक असण्याची आवश्यकता नाही) 'शर्या' या उदाहरणात जो 'र्या' घातूचा ईत्वरहित प्रयोग आढळतो त्याला तसा भाष्य-प्रयोगच प्रमाण आहे इतर ध्याकरणाचे असे म्हणणे आहे की या

उदाहरणांत (विवप् प्रत्यय झाला नसून) 'विच्' हा अकित् प्रत्यय झाला आहे. ('स्था' धातूहून विवप् प्रत्यय केल्यास तो प्रत्यय कित् असल्यामुळे, वरील वार्तिक न मानले तर 'शंस्थाः' हें रूप साधु ठरत नाही व 'घुमास्था' सू. २४६२ या सूत्रानें 'स्था' यांतील आकाराचें ईत्व झालें पाहिजे. पण 'स्थः क च' सू. ३-२-७७ या सूत्रावरील भाष्यांत 'इदं तर्हि शंस्थः शंस्थाः' या पंक्तींत भाष्यकारांनीं 'शंस्थाः' असा प्रयोग केला असल्यामुळे, तो प्रयोग साधु मानणें भाग आहे. हा भाष्यप्रयोग पाणिनीयरीत्या शुद्ध ठरण्याकरितां कित्येक वैयाकरण असें म्हणतात कीं, 'स्थः क च' सू. २९८७ या सूत्रांतील 'च' या पदानें विवप् प्रत्ययाचें अनुकर्षण होत नसून 'विच्' प्रत्ययाचें अनुकर्षण होतें व 'विच्' प्रत्यय कित् नसल्यामुळे 'स्था' धातूहून तो प्रत्यय केल्यास, 'घुमास्था' या सूत्राची प्रवृत्ति होत नाही व ईत्व होत नाही आणि 'शंस्थाः' हें रूप साधु ठरतें.) 'वातप्रमी' या स्थलीं 'घुमास्था' सू. २४६२ या सूत्रानें 'मा' धातूच्या आकाराचें ईत्व केलें तरी 'असिद्धवदत्राभात्' सू. २१८३ या अधिकारांत 'घुमास्था' व 'एरनेकाचः' सू. २७२ हीं दोन्हीं सूत्रें पठित असल्यामुळे व 'एरनेकाचः' या सूत्रानें यणादेश करतेवेळीं ईत्व असिद्ध ठरत असल्यामुळे, यणादेश होऊं शकत नाही (व 'वात-प्रम्यम्, वातप्रम्यः, वातप्रम्यि' हीं कौमुदींत ईदन्त प्रकरणांत दिलेलीं रूपें सिद्ध होऊं शकत नाहीत) असें कोणी म्हटल्यास, त्याला उत्तर हें आहे कीं, विवप् प्रत्ययाच्या कित्वरूप निमित्तामुळे होणारें ईत्व असून, अजादि विभक्तिप्रत्ययाच्या निमित्तामुळे होणारा यणादेश असल्यामुळे आणि अशा रीतीनें हीं दोन कार्ये (समाननिमित्तक नसून) भिन्ननिमित्तक असल्यामुळे, (आणि समाननिमित्तक कार्ये कर्तव्य असतांच 'असिद्धवदत्राभात्' हें सूत्र लागू पडत असल्यामुळे) यणादेशाच्या दृष्टीनें ईत्व असिद्ध ठरत नाही व त्यामुळे ईकाराचे जागीं यणादेश होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही हें जाणाचें. 'इयसश्च इति न कप्' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे

स्याचे कारण हें की, समासान्तविधि करतेवेळी 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'—परि. ७२—ही परिभाषा लागू पडत नाही असे 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सू. ४-१-१ या सूत्रावरील भाष्यात म्हटले आहे तरी, 'ईयसश्च' सू. ८९४ हे समासान्त-विधीचे निषेधक सूत्र असल्यामुळे, ती परिभाषा 'बहुश्रेयसी' या स्थली प्रवृत्त होतेच. ('बहुश्रेयसी' या नद्युत्तरपदबहुव्रीहिसमासाहून 'नद्युतश्च' सू. ८३३ या सूत्रानें 'क्प्' प्रत्यय पावला आहे व हा समासान्त विधि आहे. 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' ही परिभाषा मानली असता कोणते दोष येतात हे सांगतेवेळी भाष्यकारानी 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' या सूत्रावरील भाष्यात 'समासान्तेषु च' या वातिकाचे व्याख्यान करिताना जें म्हटले आहे त्या म्हणण्याप्रमाणे 'प्रातिपदिकग्रहणे' ही परिभाषा येथे प्रवृत्त होत नाही व त्यामुळे 'बहुश्रेयस्' या शब्दानें स्त्रीप्रत्ययान्त 'बहुश्रेयसी' या शब्दाचे ग्रहण होऊ शकत नाही म्हणून 'ईयसश्च' हा निषेध 'बहुश्रेयसी' या स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दाला लागू पडत नाही व 'बहुश्रेयसीकः' असे कप्प्रत्ययान्त रूप झाले पाहिजे असे शकाकाराचे म्हणणे आहे या शंकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, 'ईयसश्च' हे सूत्र समासान्त प्रत्यय होण्याचे विधान करणारे सूत्र नसून समासान्त प्रत्यय होण्याचा निषेध करणारे सूत्र असल्यामुळे, 'प्रातिपदिकग्रहणे' ही परिभाषा 'बहुश्रेयसी' या स्थली प्रवृत्त होण्यात काही अडचण येत नाही. समासान्त विधि करतेवेळीच ती परिभाषा उपस्थित होत नाही असे भाष्यात सांगितले आहे व प्रवृत्त स्थली समासान्त-विधि करणे नसून समासान्तविधিনিषेध करणे आहे. त्यामुळे 'बहुश्रेयस्' या ईयस्प्रत्ययान्त शब्दानें 'बहुश्रेयसी' या स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दाचे ग्रहण होते आणि 'ईयसश्च' या निषेधान्वये जमा 'बहुश्रेयस्' या शब्दाहून समासान्त 'क्प्' प्रत्यय होऊ शकत नाही तसाच तो 'बहुश्रेयसी' या स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दाहून देखील होऊ शकत नाही.) 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य' सू. १-२-४८ या सूत्रावरील

भाष्यांत 'बहुश्रेयसी' हें उदाहरण दिलें असल्यामुळें, 'अन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' -परि. ६२- हा न्याय बाधित होऊन 'ईयसश्च' सू. ८९४ हा निषेध (जसा 'शेषाद्विभाषा' सू. ८९१ या सूत्रानें होणाऱ्या वैकल्पिक 'कप्' प्रत्ययाचा बाध करतो त्याचप्रमाणें तो निषेध) 'नद्यृतश्च' सू. ८३३ या सूत्रानें होणाऱ्या नित्य 'कप्' प्रत्ययाचा देखील बाध करतो. ('बहुश्रेयसी' हा शब्द पूर्वी सांगितल्याप्रमाणें नदीसंज्ञक असल्यामुळें, 'नद्यृतश्च' या सूत्रानें त्या शब्दाहून समासान्त 'कप्' प्रत्यय होण्याची प्राप्ति आहे. 'नद्यृतश्च' या सूत्रानंतर 'शेषाद्विभाषा' हें सूत्र अष्टाध्यायींत पठित असून त्यानंतर 'न संज्ञायाम्' व 'ईयसश्च' हीं निषेधक सूत्रे पठित आहेत. 'अन्तरस्य विधिर्वा' या परिभाषान्वये 'ईयसश्च' हें निषेधक सूत्र 'शेषाद्विभाषा' या लगेच पूर्वी पठित असलेल्या विधायक सूत्राचा बाध करूं शकतें, त्याच्या पूर्वी पठित असलेल्या 'नद्यृतश्च' या सूत्राचा बाध करूं शकत नाही; म्हणून 'बहुश्रेयसी' या शब्दाहून जरी 'शेषाद्विभाषा' या सूत्रानें वैकल्पिक 'कप्' प्रत्यय होऊं शकत नाही तरी 'नद्यृतश्च' या अबाधित सूत्रानें पावलेला समासान्त 'कप्' प्रत्यय झाला पाहिजे असें संकाकाराचें म्हणणें आहे. या संकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, वरील परिभाषा असून देखील ज्याअर्थी भाष्यकारांनीं भाष्यांत 'बहुश्रेयसीकः' असा प्रयोग न करितां 'बहुश्रेयसी' असाच प्रयोग केला आहे त्याअर्थी त्या प्रयोगाच्या सामर्थ्यानें हें मानणें आवश्यक आहे कीं, वरील परिभाषा 'ईयसश्च' या सूत्राचे ठिकाणीं लागू पडत नाही व तें निषेधक सूत्र जसा 'शेषाद्विभाषा' या सूत्राचा बाध करतें त्याचप्रमाणें त्या सूत्रापूर्वी पठित असलेल्या 'नद्यृतश्च' या सूत्राचा देखील बाध करतें व त्यामुळें 'बहुश्रेयसी' या स्वलीं समासान्त 'कप्' प्रत्यय होत नाही आणि दीक्षितांनीं 'ईयसश्च इति न कप्' असें जें मनोरमेत म्हटलें आहे तें योग्य ठरतें.)

मनोरमा- “यू स्त्र्याह्वी” । ईद्वन्ताविति । इह वर्णप्रोरेव संज्ञेत्यपि पक्षोऽस्ति । “आच्छीनद्योः” इति सूत्रस्वरसात् । तयो-
स्त्र्याह्वयत्वं तु डधादिषु स्थतः, यच्चित् स्त्रीवाचकवर्णसमुदायघटक-
त्वेन प्रवेशात् । शक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वस्याविवक्षितत्वात् । तेन नद्य-
न्तादित्यादिध्यवहारो न विरुध्यते । एवं घिसंज्ञायामपि इउवर्णौ तदन्तं
वा घिसंज्ञे इति पक्षद्वयं बोध्यम् । वर्णसंज्ञापक्षे “असखि” इत्यस्य
सखिभिन्नस्यावयव इत्यर्थः । न तु सखिशब्दावयवं वर्जयित्वेति ।
तेनातिसखिनेत्यादि निर्बाधमित्यपध्येयम् । पूर्वमिति । वृत्तेः प्राणि-
त्यर्थः । चक्षुष्यमिति । संज्ञाया यथोद्देशप्रवृत्ती न्यायमिदमिव कार्य-
कालत्वे तु वाचनिकम् ।

‘यू स्त्र्याह्वी नदी’ सू. २६६ या सूत्रावरील कौमुदीत ‘ईद्व-
दन्तो नित्यस्त्रीलिङ्गी नदीसज्ञी स्तः’ असं म्हटले आहे. परंतु प्रकृत
सूत्रातील ‘यू’ या पदाने ‘ई’ व ‘ऊ’ या वर्णानाच नदीसज्ञा होते
असा देखील पक्ष आहे; कारण ‘आच्छीनद्योर्नुम्’ सू. ४४५ या
सूत्रातील ‘नदी’ या शब्दाचा प्रयोग त्या पक्षाला अनुकूल आहे,
म्हणजे त्या पक्षाचे समर्थन करतो (‘पच् शप् शतृ डीप् = पच
अत् ई’ या स्थली ‘पच’ या अपणन्ति अङ्गापुढे ‘शतृ’ प्रत्यय
अमून तशा शतृप्रत्ययान्त अङ्गापुढे ईवर्णान्त नदीसज्ञक शब्द नसून
केवळ ‘डीप् = ई’ हा वर्ण आहे हा वर्ण नदीसज्ञक न मानल्यास,
‘आच्छीनद्योर्नुम्’ व ‘क्षप्श्यन्तो नित्यम्’ सू. ४४६ या सूत्राची प्रवृत्ति
होणार नाही व नुमागम होणार नाही. म्हणून ई, ऊ हे वर्ण नदी-
सज्ञक मानणे भावश्यक आहे.) ‘ई, ऊ’ हे वर्ण ‘डीप् = ई’
(‘ऊङ् = ऊ’) इत्यादि स्त्रीप्रत्ययात स्त्रीत्वाचे स्वतःच
वाचक आहे व क्वचित् स्थली, म्हणजे श्री, भू, लक्ष्मी इत्यादि
स्थली, ते वर्ण स्त्रीवाचक शब्दाचे अन्याययव अगत्यामुळे,
ते देखील स्त्रीवाचक ठरतात. ‘ई, ऊ’ या वर्णामध्ये स्त्रीत्वबोध
करण्याची अभिधाचिन् अस्ती पाहिजे अशी विवक्षा नाही. (तशी
विवक्षा मानल्यास, श्री, भू इत्यादि ईद्वन्त स्त्रीत्ववाचक शब्द

स्त्रीप्रत्ययान्त नसत्यामुळें, त्यांना नदीसंज्ञा होऊं शकणार नाही. म्हणून स्त्रीत्ववाचक शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त नसून देखील ईकारान्त किंवा ऊकारान्त असले तरी त्यांचे अन्त्य ईवर्ण व ऊवर्ण यांना नदीसंज्ञा होते असें मानल्याशिवाय इष्ट रूपांची सिद्धि होणें शक्य नाही.) अन्त्य ईकार, ऊकार हे स्त्रीत्ववाचक प्रत्ययच असले पाहिजे असा नियम नसत्यामुळें, ज्या स्त्रीत्ववाचक शब्दांच्या अन्तीं स्त्रीप्रत्यय नसलेला ईकार किंवा ऊकार आहे तशा शब्दांचे ठिकाणीं 'नद्यन्त' इत्यादि व्यवहार करण्यांत कांहीं विरोध येत नाही. याचप्रमाणें ('शेषो घ्यसखि' सू. २४३ या सूत्रानें होणाऱ्या) घिसंज्ञेच्या विषयांत देखील 'इ, उ' वर्ण किंवा इउवर्णान्त शब्द घिसंज्ञक असतात असे दोन पक्ष आहेत हें जाणावें. वर्णाला घिसंज्ञा होते, या वर्णसंज्ञापक्षांत 'शेषो घ्यसखि' या सूत्रांतील 'असखि' या पदाचा 'सखिभिन्नस्यावयवः' असा अर्थ करावा, 'सखिशब्दावयवं वर्जयित्वा' असा अर्थ करूं नये. 'सखिभिन्नस्यावयवः' असा 'असखि' या पदाचा अर्थ केल्यानें, 'अतिसखिना' इत्यादि रूपें सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही हें लक्षांत ठेवावें. ('सखिशब्दाद्भिन्नः यः शब्दः तस्य अन्त्यावयवः यः इकारः तस्य घिसंज्ञा भवति' असा 'सखिभिन्नस्यावयवः' या पदाचा अर्थ आहे, म्हणजे जो इकार केवळ 'सखि' शब्दाचा अन्त्यावयव आहे त्यालाच 'असखि' या पर्युदासान्वयें घिसंज्ञा होत नाही. 'अतिसखि, परमसखि, सुसखि' इत्यादि सामानिक शब्द जरी सखिशब्दान्त आहेत तरी ते 'सखि' या शब्दाहून भिन्न असल्यामुळें, त्यांच्या अन्त्य इकाराला घिसंज्ञा होतेच न त्यामुळें 'अतिसखिना, अतिसखये' इत्यादि इष्ट रूपें सिद्ध होतात. परंतु 'असखि' या पदाचा 'नगिशब्दावयवं वर्जयित्वा' असा अर्थ केल्या तर, 'अनिसखि, परमनखि, सुनखि' इत्यादि समुदायांत असलेला अन्त्य इकार जमा संपूर्ण सामानिक शब्दांचा अन्त्यावयव आहे नमान तो इकार त्या सामानिक शब्दांच्या अन्तीं असणाऱ्या 'नखि' शब्दाचा देखील अन्त्यावयव आहे व त्यामुळें त्या सामानिक शब्दांना

धिसज्ञा न होण्याची व इष्ट रूपें सिद्ध न होण्याची आपत्ति येते. ती आपत्ति टाळण्याकरिताच दीक्षितानी 'असखि' या पर्यादासाठी 'सखिभिन्नस्यावयवः' असा मनोरमेत अर्थ केला आहे 'ओत्' सू. २५६ या सूत्रावरील कौमुदीत 'समुदायस्य सखिरूपत्वाभावात् असखि इति निषेधाप्रवृत्तेऽपि सज्ञा । सुसखिना सुमख्ये' असे दीक्षितानी स्पष्ट व्याख्यान केले आहे. प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत 'प्रथमलिङ्गग्रहण च' हे वातिक पठित करून त्याचे व्याख्यान करिताना 'पूर्व रम्या-ख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि इदानीं नदीत्वं वक्तव्यम्' असे जें म्हटले आहे त्यातील) 'पूर्वम्' या पदाचा 'वृत्ते. प्राक्' असा अर्थ आहे, म्हणजे समास होण्यापूर्वी जो शब्द नदीसज्ञक होता तो समास झाल्यावर जरी समासात उपसर्जन होतो तरी त्याची पूर्वीची नदीसज्ञा नष्ट न होता कायम राहते असा त्या पदाचा अर्थ आहे. ('बहुधेयसी' या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासात जरी 'श्रेयसी' हा डीप्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्गी शब्द उपसर्जन झाला आहे तरी, तो समास होण्या-पूर्वी नदीसज्ञक असल्यामुळे, त्याची समास झाल्यावर देखील नदी-सज्ञा कायम राहते व त्यामुळे, 'बहुधेयसी' हा शब्द नद्यन्त ठरतो आणि नदीसज्ञक शब्दाला होणारी वायें त्या शब्दाला होतात.) 'यू रम्याख्यौ नदी' या सूत्रानें नदीसज्ञा वरतंवेळी यथोद्देशपक्ष प्रवृत्त केल्यास, 'प्रथमलिङ्गग्रहण च' या वातिकातील विधान न्यायानेंच, म्हणजे 'यथोद्देशे पूर्वप्रवृत्तसज्ञयैव कार्यम्' या न्यायानेंच, सिद्ध होते. परंतु कार्यबालपक्षाची प्रवृत्ति केल्यास ते वातिक असणे आवश्यक आहे ('बहुधेयसी' या स्थलो, वर नापितल्याप्रमाणे, 'श्रेयसी' या डीयन्त शब्दाचा नदीसज्ञा असल्या-मुळे व एवदा प्राप्त झालेली सज्ञा नष्ट होत नसल्यामुळे, 'बहु-श्रेयसी' हा शब्द आपोआपच नद्यन्त ठरतो व त्यामुळे यथोद्देश-पक्षात बरील वातिक मानण्याची बाही गरज नाही परंतु कार्यबाल-पक्षात 'बहुधेयसी' या सिद्ध पदाचे अन्वयान्न वरतंवेळी तो पुल्लिङ्गी शब्द नद्यन्त आहे शिवा नाही हें ठरवितांना बरील

वार्तिक असणें आवश्यक आहे; कारण, 'बहुश्रेयसी' हा शब्द पुल्लिङ्गी असल्यामुळे व त्या समासांतील 'श्रेयसी' हा नदीसंज्ञक स्त्रीलिङ्गी शब्द अन्य पदार्थाचें उपसर्जन झाला असल्यामुळे, वरील वार्तिक मानल्याशिवाय तो सामासिक शब्द प्रकृत सूत्रान्वये नद्यन्त मानतां येऊं शकत नाही.)

शब्दरत्न-इत्यादिष्विति । बहुवचनं प्रयोगभेदाभिप्रायेण । शक्तीति । स्त्रीत्वनिरूपितशक्तीत्यर्थः । तेन लक्ष्म्यादिशब्दसंग्रहः । तदन्तसंज्ञापक्षे तु " शीनद्योः " इत्यादौ नदीशब्दस्य तदवयवे लक्षणा । नद्यन्तादित्याद्यप्यतिलक्ष्म्याद्यर्थमावश्यकं लक्ष्मीशब्दे व्यपदेशिवद्भावेन तत्त्वं बोध्यम् । इउवर्णाविति । अत एव ' द्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन ' इति सङ्गच्छते । न त्वित्यादि । इदं हरदत्तानुरोधेन । न्यायसिद्धमिति । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वं प्रवृत्तनद्यन्ततयैव समुदाये तत्संज्ञत्वात्कार्यसिद्धिरिति भावः । वाचनिकमिति । स्त्रीत्वविशिष्टार्थमात्रबोधकस्यैव संज्ञेत्यभिमानेनेदम् । जहृत्स्वार्थावृत्तित्वाभिमानेन वा । भाष्यकृता त्वजहृत्स्वार्थायामवयवस्य नित्यस्त्रीत्वविशिष्टार्थबोधजनकत्वेन तस्य संज्ञायां कुमार्यै ब्राह्मणाय खरकुट्यै ब्राह्मणायेत्यादी विवर्तुष्विषये आनुपूर्व्यैक्येन भेदाग्रहात्समासे तदन्तत्वात्कार्यसिद्धिमाश्रित्य प्रत्याख्यातमिदम् । ' अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम् ' इति तन्मात्रबोधकत्वनिवेशो न मानम् । यौगिकेषूत्तरपदे जहृत्स्वार्थत्वाभावश्चेति तदाशयः । अवयवशब्देनात्र वृत्तिप्रकृतिभूतशब्दग्रहणम् । अत एव वयजाद्यन्ते न दोषः । तत्रापीच्छाविशेषणतया कुमारीशब्दादेर्नित्यस्त्रीलिङ्गवर्णबोधकत्वात् ।

' स्त्र्याख्यत्वं तु इ्यादिषु स्वतः ' या मनोरमेंतील पंक्तींत ' इ्यादिषु ' असा जो बहुवचनाचा प्रयोग केला आहे (व ' इ्यादी ' असा एकवचनाचा प्रयोग केला नाही) तो ईऊप्रत्ययान्त अनेक स्त्रीत्ववाचक प्रयोग भापेंत आढळत असल्यामुळे त्या प्रयोगांच्या बाहुल्यामुळे केला आहे. ' शक्तिपर्याप्त्यधिकरणस्य ' या मनोरमेंतील पदांतील ' शक्ति ' या पदाचा ' स्त्रीत्वनिरूपितशक्ति ', म्हणजे

स्त्रीत्व द्योतित करण्याची शक्ति, असा अर्थ आहे. ई, ऊ वर्णामध्येच स्त्रीत्वाचा बोध करण्याची अभिधाशक्ति असली पाहिजे अशी विवक्षा नसल्यामुळे, 'लक्ष्मी' इत्यादि (स्त्रीप्रत्ययान्त नसणाऱ्या) शब्दाचा नदीसज्ञक शब्दात समावेश होतो, म्हणजे ते शब्द देखील नदीसज्ञक ठरतात (याचे विवरण मनोरमंत केलेच आहे) 'ई, ऊ' वर्णांना नदीसज्ञा होते हा वर्णसंज्ञापक्ष न मानता ईद्वन्ताला नदीसज्ञा होते हा तदन्तसज्ञापक्ष मानल्यास, 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यादि सूत्रात निदिष्ट असलेल्या 'नदी' या शब्दाचा 'नद्यन्त' शब्दाचा अवयव' असा लक्षणेने अर्थ केला पाहिजे ('लक्ष्मीमतिक्रान्त. अतिलक्ष्मी. ' इत्यादि स्थली) 'अतिलक्ष्मी' इत्यादि नद्यन्त शब्दाना नदीकार्ये होण्याकरिता त्या कार्याचे विधान करणाऱ्या सूत्रात निदिष्ट असलेल्या 'नदी' या शब्दाचा 'नद्यन्तात्' असा अर्थ करणे आवश्यक आहे (आणि म्हणूनच मू. २६७-२७० या सूत्रातील 'नदी' शब्दाचा 'नद्यन्त' असा कौमुदीत अर्थ केला आहे आता नद्यन्त शब्दाला नदीकार्ये व्हावी असा अर्थ केला तर, 'लक्ष्मी' हा शब्द जरी नदीसज्ञक आहे तरी नद्यन्त नाही, म्हणजे त्याच्या पूर्वी कोणताहि वर्णसमुदाय नाही, व त्यामुळे त्याला नदीकार्ये कशी व्हावी असा कोणी प्रश्न केल्यास, त्या प्रश्नाचे शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की,) वैवळ 'लक्ष्मी' शब्दाला नदीकार्ये होण्याकरिता 'व्यपदेशिवदेवस्मिन्'—परि. ३०— या परिभाषान्वये तो शब्द नद्यन्त मानता येतो इडवर्णाना पिसज्ञा होणे हा पक्ष मानल्यानेच, 'घ्यन्तादजाद्यन्त विप्रतिषेधेन'—मू. ९०४ बरील यातिव—या वानिकानील 'घ्यन्तात्' हा प्रयोग सुगद्गत ठरतो (इडवर्णान्तानाच पिसज्ञा होणे एवढाच जर पक्ष असता तर, यातिवकाराने बरील यातिवांत 'घ्यन्तात्' असा प्रयोग न करता 'घे.' असा प्रयोग केला असता परंतु 'घ्यन्तात्' असा प्रयोग केला असल्यामुळे हे स्पष्ट होई की, अन्य इडवर्णाना पिसज्ञा होणे असा देखील वर्णसंज्ञापक्ष आहे.) 'न तु सत्तिशब्दावयव

वर्णयित्वा ' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे तें हरदत्ताच्या मतानुसार म्हटलें आहे. ' यथोद्देशप्रवृत्ती न्यायसिद्धम् ' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्यांतील ' न्यायसिद्धम् ' या पदाचा भावार्थ हा आहे कीं, समास किंवा वृत्ति होण्यापूर्वी अन्तरङ्गत्वामुळे प्राप्त झालेली नदीसंज्ञा समास होऊन अर्थान्तरसंक्रम झाल्यावर देखील कायम राहत असल्यामुळे, सामासिक शब्द नद्यन्त ठरतो व त्यामुळे त्याला नदीकार्ये होतात. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांतील ' अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम् ' या वचनाचें व्याख्यान करितांना कैयटानें देखील ' अन्तरङ्गत्वात्पूर्वमेव स्त्र्याख्यत्वात् प्रवृत्ता नदीसंज्ञा, पश्चादुपजायमाने लिङ्गान्तरयोगे बहिरङ्गे, न निवर्तते ' असेंच म्हटलें आहे.) ' कार्यकालत्वे तु वाचनिकम् ' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे तें असा आशय मनांत धरून म्हटलें आहे कीं, स्त्रीत्व-विशिष्ट अर्थाच्याच बोधक शब्दाला नदीसंज्ञा होऊं शकते. अथवा जहत्स्वार्थावृत्ति मानून दीक्षितांनीं तसें म्हटलें असावें. (केवळ स्त्रीत्वबोधक शब्दालाच, म्हणजे स्त्रीलिङ्गी शब्दालाच, नदीसंज्ञा होत असल्यामुळे, ' बहुश्रेयसी ' या पुल्लिङ्गी शब्दाला नदीसंज्ञा होऊं शकत नाही. ती संज्ञा तशा नद्यन्त पुल्लिङ्गी शब्दाला देखील व्हावी व त्याला नदीकार्ये व्हावीं याकरितां ' प्रथमलिङ्गग्रहणं च ' हें वातिक कार्यकालपक्षांत मानणें आवश्यक आहे. असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे. अथवा समासांतील पृथक् पदे जहत्स्वार्थावृत्तिपक्षांत आपल्या स्वतःच्या अर्थाचा परित्याग करीत असल्यामुळे व त्या पक्षांत ' बहुश्रेयसी ' या स्थलीं ' श्रेयसी ' या नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्दानें स्वार्थाचा परित्याग केल्यानें तो अर्थरहित होत असल्यामुळे अर्थराहित्यामुळे त्याची जी नदीसंज्ञा नष्ट होते ती त्याला पुन्हा प्राप्त व्हावी व ' बहुश्रेयसी ' हा शब्द नद्यन्त ठरून त्याला नदीकार्ये व्हावीं याकरितां कार्यकालपक्षांत वरील वातिक असणें आवश्यक आहे असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे असें देखील म्हणतां येतें.) परंतु भाष्यकारांनीं असा स्थलीं अजहत्स्वार्थावृत्ति मानून

असे म्हटले आहे की, समासातील चरनावयव आपल्या स्त्रीत्व-विशिष्ट अर्थाचा नित्य बोध करून देणारा असल्यामुळे त्याची नदी-सज्ञा नष्ट होत नाही व कायम राहते आणि त्यामुळे 'कुमार्ये ब्राह्मणाय, खरकुट्ये ब्राह्मणाय' इत्यादि उदाहरणात क्विप् प्रत्ययाचा लोप व 'कन्' प्रत्ययाचा लुप् शाला असता, वृत्ति होण्यापूर्वी जो स्त्रीवाचक शब्दाची वर्णानुपूर्वी होती ती, वृत्ति केल्यानंतर देखील, तशीच कायम राहत असल्यामुळे आणि अशा रीतीने समासात स्त्रीत्वबोधक शब्द समासाच्या अन्ती राहत असल्यामुळे, संपूर्ण सामासिक शब्द नष्ट ठरून त्याला नदीकार्ये होऊ शकतात आणि म्हणून 'प्रथमलिङ्गग्रहण च' हे वार्तिक असण्याची काही आवश्यकता नाही आणि अशा रीतीने भाष्यकारानी त्या वार्तिकाचे प्रत्याख्यान केले आहे ('जहस्त्वार्था तु तत्रैव यत्र रुडिबिरोपिनी', म्हणजे जहस्त्वार्थावृत्ति असाच ठिकाणी मानली जाते की, जेथे योगिक अर्थाचा रुड अर्थाशी विरोध येतो, असा न्याय आहे उदाहरणार्थ 'मण्डप' या शब्दातील अवयवाच्या योगिक अर्थाचा घटून समुदायाचा अर्थ केल्यास, 'पेज पिणारा' असा समुदायाचा अर्थ होतो पण रुडोत 'मण्डप' याचा 'माढव' असा अर्थ आहे म्हणून येथे व 'पुसल, अनुकूल, प्रतिकूल' इत्यादि स्थली योगिक अर्थाचा रुड अर्थाशी विरोध होत असल्यामुळे, असा ठिकाणी जहस्त्वार्थावृत्ति मानणे योग्य आहे परंतु जेथे असा विरोध येत नाही तेथे जहस्त्वार्थावृत्ति न मानता, अजहस्त्वार्थावृत्ति मानजेच योग्य आहे असा भाष्यकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे 'बहुश्रेयसी' या बहुषोहि-समासात अजहस्त्वार्थावृत्ति मानल्यास सामान शास्त्रावर देखील ज्याच्या वर्णानुपूर्वीत निष्ठमान करव पडत नाही असा 'श्रेयसी' हा नित्य स्त्रीलिङ्गी नदीमज्ञा शब्द आपल्या स्त्रीत्वविशिष्ट अर्थाचा परित्याग न करिता स्त्रीत्वाचा बोधक कायम राहत असल्यामुळे व अशा रीतीने त्याची नदीमज्ञा नष्ट होत नसल्यामुळे, 'बहुश्रेयसी' हा सामासिक शब्द नष्ट ठरून त्याला नदीकार्ये होण्यात काही

अडचण येत नाही व अशा रीतीने वरील वार्तिक मानण्याची कांही गरज नाही असे भाष्यकारांच्या म्हणण्याचे तात्पर्य आहे. 'कुमार्ये ब्राह्मणाय' या स्थली 'सुप आत्मनः क्यच्' सू. २६५७ या सूत्राने 'कुमारीमात्मनः इच्छति' या अर्थामध्ये किंवा 'उपमानादाचारे' सू. २६६४ या सूत्राने 'कुमारीमिवाचरति' या अर्थामध्ये 'कुमारी' शब्दाहून 'क्यच्' = य' हा प्रत्यय केला असता, 'कुमारीय' असा जो क्यच्प्रत्ययान्त नामधातु होतो त्याहून 'क्विप् च' सू. २९८३ या सूत्राने कर्तरि 'क्विप्' = व्' प्रत्यय केल्यास, 'कुमारीय क्विप्' अशा स्थितीत 'अतो लोपः' सू. २३०८ या सूत्राने 'य' या प्रत्ययांतील अस्त्य अकाराचा लोप होऊन व नंतर 'लोपो व्योर्बलि' सू. ८७३ या सूत्राने अवशिष्ट यकाराचा लोप होऊन आणि 'वेर-पृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने 'क्विप्' = व्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप होऊन 'कुमारी' असे वृत्ति केल्यानंतर रूप होतें आणि वृत्ति करण्यापूर्वी देखील तसेच रूप होतें व या दोन रूपांच्या वर्णानुपूर्वीत वृत्ति केल्यावर देखील कोणताहि फरक पडत नाही. म्हणून वृत्ति करण्यापूर्वी 'कुमारी' या शब्दाला जी नदीसंज्ञा होती ती वृत्ति केल्यावर देखील, जरी वृत्ति केल्यानंतर सिद्ध झालेल्या 'कुमारी' या शब्दाचा 'कुमारीमात्मनः इच्छति' किंवा 'कुमारीमिवाचरति' असा अर्थ होतो तरी, कायम राहते आणि त्यामुळे आण् नद्याः' सू. २६८ या सूत्राने आडागमरूप नदीकार्य होऊन 'कुमार्ये' असे वृत्ति केल्यावर सिद्ध झालेल्या शब्दाचे चतुर्थीच्या एकवचनावे रूप, वरील वार्तिक न मानतां देखील, सिद्ध होऊं शकतें. तसेच 'खरकुटीय ब्राह्मणाय' या स्थली 'खरकुटी' या शब्दाहून 'संज्ञायां च' सू. २०५२ या सूत्राने 'इव' या अर्थामध्ये 'कन्' प्रत्यय होऊन व 'लुम्मानुष्ये' सू. २०५३ या सूत्राने त्या 'कन्' प्रत्ययाचा लुप् होऊन वृत्ति करण्यापूर्वी 'खरकुटी' असे जें नद्यन्त रूप होतें तेंच वृत्ति केल्यावरहि कायम राहतें व त्यामुळे वृत्ति केल्यानंतर सिद्ध झालेला 'खरकुटी' हा शब्द नद्यन्त ठरून

त्याहून 'आप्नद्याः' या सूत्राने होणारे नदीकार्य होते व 'खरकुटघै ब्राह्मणाय' असा प्रयोग, वरील वातिक न मानता देखील, सिद्ध होण्यात काही अडचण येत नाही साराश भाष्यकारानी अजहस्स्वायवृत्तीचा आशय करून वरील वातिकाचे प्रत्याख्यान केले आहे प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात-१-४-३-ते वातिक पठित करून व 'प्रयोजन विवर्णुप्समाया' असे त्या वातिकाचे प्रयोजन सांगून भाष्यकार म्हणतात- 'विवप् । कुमार्ये ब्राह्मणाय । लुप् । खरकुटघै ब्राह्मणाय । समास । अतितन्व्यै ब्राह्मणाय । अतिलक्ष्म्यै ब्राह्मणाय । तत्तहि वक्तव्यम् ? । न वक्तव्यम् । अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम् । अवयवोऽन स्त्रीविषयस्तदाश्रया नदीसज्ञा भविष्यति ।') 'अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम्' हे भाष्यवचन, अवयव (प्राधान्याने) नित्य स्त्रीत्वाचाच बोधक असला पाहिजे असे मानण्यास, मुळीच प्रमाण नाही (प्रकृत सूत्रावरील उद्योतात देखील 'कुमारीत्यादावपि विशेषणतया नित्यस्त्रीलिङ्गरूपार्थबोधकत्वमस्त्येव । प्राधान्येन तन्मात्रबोधकत्वनिवेशे तु न मानमित्याशयः ।' असेच म्हटले आहे प्राधान्येवरून स्त्रीत्वाचा बोध करणाऱ्या शब्दाचाच नदीसज्ञा होते असे जर भाष्यकाराचे मत असते तर, त्यांनी वरील भाष्यात दिलेल्या दोन उदाहरणात वृत्तीनंतर सिद्ध झालेल्या व 'ब्राह्मणाय' याचे विशेषण होणाऱ्या 'कुमार्ये, खरकुटघै' या शब्दातील मूळचे 'कुमारी, खरकुटी' हे नदीसज्ञक शब्द उपसर्जन झाले असून प्राधान्येकरून स्त्रीत्वाचे बोधक नसल्यामुळे, त्यांना नदीसज्ञक मानले नसते व त्याहून 'आप्नद्याः' या सूत्राने होणारे नदीकार्य केले नसते परंतु त्यांनी ते शब्द नदीसज्ञक मानून त्याहून नदीकार्य केले असल्यामुळे हे स्पष्ट होते की, एखादा शब्द नदीसज्ञक ठरण्याकरिता तो प्रधानत्वाने स्त्रीत्वाचाच बोध करणारा शब्द असला पाहिजे याची काही गरज नाही. तो शब्द मूळचा प्राधान्याने नित्य स्त्रीत्वाचाच बोधक असेल तर, वृत्ति येण्यावर जरी तो शब्द उपसर्जन झाला असेल तरी, वृत्ति बरण्यापूर्वी

असलेल्या त्या शब्दस्वरूपाची व वृत्ति केल्यानंतर सिद्ध झालेल्या शब्दस्वरूपाची वर्णानुपूर्वी सारखीच असल्यास, वृत्ति केल्यानंतर सिद्ध झालेला तो शब्द देखील नदीसंज्ञक ठरतो व त्याहून नदीकार्य करता येतात असे वास्तविक भाष्यकारांचे मत आहे.) 'अवयव-स्त्रीविषयत्वासिद्धम्' या भाष्यवचनाचा आवाय हा देखील आहे की, जेथे सामासिक शब्दाहून यौगिक अर्थाची प्रतीति होते तथा स्थलीं उत्तरपदाचे ठिकाणीं जहत्स्वार्थावृत्ति मानूं नये, म्हणजे 'समासांतील उत्तर पद स्वार्थाचा परित्याग करतें' असें मानूं नये. 'अवयवस्त्री-विषयत्वासिद्धम्' या भाष्यवचनांतील 'अवयव' या शब्दानें वृत्ति करण्यापूर्वी जी प्रकृति होती, म्हणजे ज्या प्रकृतीहून वृत्ति केली आहे, त्या मूळ प्रकृतिभूत शब्दाचें ग्रहण होतें. असें असल्या-मुळेच, नदीसंज्ञक प्रकृतीहून 'व्यच्' इत्यादि प्रत्यय केले तरी वृत्ति केल्यावर वनलेल्या शब्दांचे ठिकाणीं नदीसंज्ञा करण्यांत कोणताहि दोष येत नाहीं; कारण 'कुमारीमात्मनः इच्छति' या वृत्तींत देखील 'कुमारी' इत्यादि शब्द 'इच्छा' या क्रियेमध्ये विशेषणरूपानें-कर्मरूपानें-अन्वित होत असून ते शब्द नित्य स्त्री-लिङ्गरूप अर्थाचे बोधक आहेतच. (भाष्यवचनांतील 'अवयव' या शब्दाचा वर सांगितल्याप्रमाणें अर्थ केल्यानें, ज्याप्रमाणें 'बहु-श्रेयसी' या सामासिक शब्दांतील 'श्रेयसी' या चरमावयवाचें ग्रहण होतें त्याचप्रमाणें ज्या मूळ 'कुमारी' शब्दाहून कृद्वृत्ति केली आहे त्या 'कुमारी' शब्दाचें देखील ग्रहण होतें व दोन्ही शब्द अनुक्रमें नव्यन्त व नदीसंज्ञक ठरून त्याहून नदीकार्य होतात. सारांश 'कार्यकालत्वे तु वाचनिकम्', म्हणजे कार्यकालपक्षांत 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' हें वातिक मानणें आवश्यक आहे, असें जें दीक्षितांनीं मनोरमेत म्हटलें आहे तें शब्द-रत्नकारांच्या मतें चूक आहे आणि म्हणूनच त्यांनीं 'स्त्रीत्वविशि-ष्टार्थमात्रबोधकस्यैव संज्ञेत्यभिमानेनेदम् । जहत्स्वार्थावृत्तिस्त्वाभि-मानेन वा ।' या शब्दरत्नांतील दोन्ही पंक्तींत 'अभिमानेन' हें

चातिव्याप्तिः । तद्वारणाय इवर्णोवर्णयोरुपरत्वेन विशेषणे तु क्लिष्टतेति भावः । अन्तरस्तम्यादिति । स्थान्त इति भावः ।

‘अचि इनुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवडौ’ सू. २७१ या सूत्रांत (‘इनुधातुभ्रुवाम्’ असा जरी इतरेतरयोगद्वन्द्वनिर्देश केला आहे तरी त्या सूत्रांतील) ‘य्वोः’ हें पद द्वन्द्वसमासांतील ‘धातु’ या शब्दाचेंच विशेषण आहे. तें पद ‘इनु, भ्रू’ या शब्दांचें विशेषण होऊं शकत नाहीं; कारण ‘इनु, भ्रू’ हे नेहमी उकारान्तच असतात (व ते केव्हांहि इकारान्त नसतात. म्हणून ज्याप्रमाणें ‘इ’ हें त्यांचें विशेषण होऊं शकत नाहीं त्याचप्रमाणें ते नित्य उकारान्त असल्यामुळें ‘उ’ हा त्यांचें विशेषण मानण्याची कांहींच आवश्यकता नाहीं. ‘सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्’ हा न्याय प्रसिद्धच आहे.) हा आशय मनांत धरूनच कौमुदींत ‘इनुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तस्य बातोः भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्येयङुवडौ स्तोऽजादी प्रत्यये परे’ असें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केलें आहे. ‘इनुधातुभ्रुवामिवर्णोवर्णयोः इयङुवडौ स्तः’ असें प्रकृत सूत्राचें व्याख्यान केल्यास, ‘इयङ् उवङ्’ या आदेशांचें केलेलें छित्त्व व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते व वैयधिकरण्यरूप दोष देखील येतो. तसेंच ‘क्षिपति, अद्युतत्, दिदिवतुः, ऊयतुः’ इत्यादि स्थलीं अतिव्याप्तिरूप दोष येतो. या अतिव्याप्तिरूप दोषाचा परिहार करण्याकरितां प्रकृत सूत्रांतील ‘अचि’ हें पद इवर्ण उवर्ण यांचें विशेषण मानावें (व प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त होत असलेल्या ‘अङ्गस्य’ या पदाचें विशेषण मानूं नये) असें कोणी म्हण्टल्यास, तसा अर्थ करण्यांत क्लिष्टत्वरूप दोष येतो. (‘इय्, उव्’ हे आदेश अनेकाल् आहेत व ‘अनेकाल् शित्सर्धस्य’ सू. ४५ या सूत्रान्वये ते आदेश संपूर्ण धातूंचे ठिकाणीं व ‘इनु’ प्रत्ययान्त अङ्गाचे ठिकाणीं आणि ‘भ्रू’ या संपूर्ण शब्दाचे ठिकाणीं होण्याची जी आपत्ति येत होती ती टाळण्याकरितां पाणिनीने हे आदेश छित् पठित केलें आहेत. त्यामुळें ‘छित्त्व’ सू. ४३ या सूत्रान्वये ते आदेश अन्त्य इवर्णांचे जागींच होतात. कौमुदींत जसा प्रकृत

सूत्राचा अर्थ केला आहे तरा अर्थ न करिता इउवर्णाचे जागी ते आदेश अनुक्रमे होतात असा अर्थ केला तर, स्थानी सूत्रात निर्दिष्ट आहे असे गानावे लागेल व 'निदिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'—परि १२—ही परिभाषा असल्यामुळे, ते आदेश सवदिश होऊच शकणार नाहीत, केवळ 'इ उ' वर्णाचे जागीच होऊ शकतील आणि त्यामुळे त्या आदेशाचे द्वित्वकरण ठरण्याची आपत्ति येते दुसरे असे की, 'य्वो.' हे पद अङ्गाधिकारात पठित असलेल्या प्रवृत्त सूत्रात अनुवृत्त होत असलेल्या 'अङ्गस्य' या पदाचे विशेषण मानल्याने, 'येन विधिस्तदन्तस्य' मू २६ या सूत्रान्वये तदन्तविधि होऊन, 'ईउवर्णान्तस्य अङ्गस्य' असा सामानाधिकरण्याने अन्वय करता येतो पण 'य्वो' हे पद 'अङ्गस्य' याचे विशेषण न मानले व 'अङ्गस्य' ही अवयवपत्ती मानून 'अङ्गस्य य्वो', म्हणजे 'अङ्गस्य अवयव य. इकार उकार तस्य' असा अन्वय केला तर, तो अन्वय वैयधिकरण्याने होत असल्यामुळे, 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये-वैयधिकरण्यमन्यायम्' या न्यायान्वये, वैयधिकरण्यरूप दोष येतो तिसरे असे की, असा वैयधिकरण्याने अन्वय केल्यास, मनोरमंत दिलेल्या 'क्षिपति अद्युतत्' इत्यादि उदाहरणात जो 'क्षिप्, द्युत्' इत्यादि घातूचा इकार किंवा उकार आहे तो अन्त्यावयव नसून देखील त्याचे जागी 'इयङ्, उवङ्' आदेश होण्याची आपत्ति येते, कारण ते 'इउ' वर्ण अङ्गाचे अवयव आहेत ती आपत्ति टाळण्याकरिता अचाच्या लगेच पूर्वी असलेल्या इउवर्णाचे जागी ते आदेश होतात असा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला तर, जरी इष्टसिद्धि होऊ शकते तरी, 'अचि' हे पद 'अङ्गस्य' या अनुवृत्त पदाचे विशेषण न करिता, 'य्वो.' या पदाचे विशेषण करण्यात विलप्टारूप दोष येतो, कारण 'अचि' या पदाचा 'अजादो प्रत्यये परे' असा अर्थ आहे व प्रत्ययाला वर्णाची आकाशा नसून अङ्गाची आकाशा असल्यामुळे, म्हणजे प्रत्ययाने अङ्ग आक्षिप्त होत असल्यामुळे, प्रत्यय अङ्गाचेच विशेषण होणे योग्य आहे तसे न करिता कशी तरी इष्ट रूपाची

सिद्धि होण्याकरितां प्रत्यय वर्णाचें विशेषण करून सूत्रार्थ करणें यांत विलुष्टारूप दोष येतो हें उघड आहे.) ' आन्तरतम्यादेरियङ्, ओरुवङ् ' असें जें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत म्हटलें आहे त्यांतील ' आन्तरतम्यात् ' या शब्दानें (' स्थानेऽन्तरतमः ' सू. ३९ या सूत्रान्वये) स्थानसाम्याचें ग्रहण होतें. (इकार व यकार यांत तालूरूप स्थानसाम्य आणि उकार व वकार यांत ओष्ठरूप स्थानसाम्य असल्यामुळें, ' इ ' चे जागीं ' इय् ' व ' उ ' चे जागीं ' उव् ' आदेश होतो.)

शब्दरत्न—ऽनुप्रभृतीनामिति । तदन्ताङ्गानामित्यर्थः । दोष इति । सामानाधिकरण्ये विशेषणविशेष्यभावमात्रम् । वैयाधिकरण्ये तु भेदसम्बन्धः स चेति गौरवं दोष इत्यर्थः । विविचतुरिति । अत्र यणापत्तिस्तत्रापि तद्वीत्या वैयाधिकरण्यात् । यदि यण्विधौ सामानाधिकरण्यमेव तदेयङ् एवापत्तिः । न चैषु लोपेन निर्वाहः, प्रत्ययनिमित्तेयङादेरसिद्धत्वात् । अनित्यत्वात्तदभावेऽप्याह—अयतुरिति । विलुष्टतेति । अजाविप्रत्ययस्याङ्गांशो उत्थिताकाङ्क्षत्वादिति भावः ।

' अनुप्रभृतीनामिवर्णोवर्णयोः ' या मनोरमेंताल पंचतीचा ' तदन्ताङ्गानाम् ', म्हणजे ' अनु ' प्रत्यय आहे अन्तीं ज्याच्या किंवा घातु आहे अन्तीं ज्याच्या व ' भ्रू ' शब्द आहे अन्तीं ज्याच्या अशा अङ्गाचा जो इवर्ण उवर्ण, असा अर्थ आहे. जेथें दोन पदांचा सामानाधिकरण्यानें अन्वय केला जातो तेथे त्या दोन पदांत केवळ विशेषणविशेष्यभावसंबंध असतो, परंतु जेथें दोन पदांचा वैयाधिकरण्यानें अन्वय केला जातो तेथें त्या दोन पदांत विशेषणविशेष्यभावसंबंध राहत असून त्या खेरीज भेदसंबंध देखील असतो च अशा रीतीनें वैयाधिकरण्यानें अन्वय करण्यांत गौरवरूप दोष आहे असा ' वैयाधिकरण्यं च दोषः ' या मनोरमेंतील पंचतीचा भावार्थ आहे. (' व्योः ' हें पद ' अङ्गस्य ' याचें विशेषण मानून त्याचा तदन्तविधीनें ' ईउवर्णान्तस्य ' असा अर्थ केल्यानें,

‘इउवर्णान्तस्य’ व ‘अङ्गस्य’ या दोन पदाचा सामानाधिकरण्यानें
 अन्वय होऊ शकतो व त्या दोन पदात विशेषणविशेष्यभावरूप सबध
 राहतो पण ‘अङ्गस्य खो’ असा वैयधिकरण्यानें अन्वय केल्यानें
 त्या दोन पदाचा ‘अङ्गावयवयोः खो’ असा अर्थ होतो व या दोन
 पदात विशेषणविशेष्यभावरूप भेदसबध तर राहतोच पण त्याखेरीज
 त्या दोन पदात अवयवावयविभावरूप भेदसबध देखील राहतो,
 अशा रीतीनें वैयधिकरण्यानें अन्वय केल्यास दोन सबध कल्पावे
 लागत असल्यामुळे व सामानाधिकरण्यानें अन्वय केल्यानें
 एकच सबध कल्पावा लागत असल्यामुळे, वैयधिकरण्यानें
 अन्वय करण्यात गौरव आहे हे उघड आहे आणि म्हणूनच दीक्षितानी
 गनोरमेंत ‘वैयधिकरण्य च दोषः’ असे म्हटले आहे) प्रकृत पूर्व
 सूत्रात वैयधिकरण्यानें अन्वय मानल्यास, ‘एरनेकाच’ या उत्तर
 सूत्रात देखील तसाच वैयधिकरण्यानें अन्वय मानावा लागेल व
 त्यामुळे ‘दिदिवत्’ या स्थली ‘दिक्’ धातूतील इकाराचे जागी
 यणादेश होण्याची आपत्ति येईल (‘अधि श्नु’ व ‘एरनेकाच’
 ही दोन्ही सूत्रे सारखीच — अपवाद अपवादरूप सूत्रे—असल्यामुळे,
 प्रकृत पूर्व सूत्रात ‘अङ्गस्य खो’ असा वैयधिकरण्यानें अन्वय केला
 तर, ‘एरनेकाच’ या उत्तर सूत्रात भिन्न रीतीनें, म्हणजे सामाना-
 धिकरण्यानें अन्वय करणाकरिता कोणतेहि सवळ कारण उपलब्ध
 नसल्यामुळे, त्या उत्तर सूत्रात देखील ‘अङ्गस्य ए’ असाच वैयधि-
 करण्यानें अन्वय करावा लागेल व त्यामुळे ‘दिक्’ अतुस् = दिदिव्
 अतुस्’ या स्थली ‘दिदिव्’ या अनेकाच् धातूकत अङ्गापुढे ‘अतुस्’
 हा अजादि प्रत्यय असल्यामुळे, त्या धातूचा अवयव जरे इकार तो
 अजादि प्रत्ययाच्या लगेच पूर्वी जरी नाही तरी तो धातूचा अवयव.
 असल्यामुळे, त्याचे जागी यणादेश होण्याची आपत्ति येते जरी
 प्रकृत सूत्रात वैयधिकरण्यानें अन्वय केला जातो तरी) ‘एरनेकाच’
 या उत्तर सूत्रात ‘इउवर्णान्तस्य अङ्गस्य’ असा सामानाधिकरण्यानेंच
 अन्वय होतो असे कोणी म्हटल्यास, ‘दिदिवत्’ या स्थली ‘इयङ्’

आदेशच होण्याची आपत्ति येते. (प्रकृत सूत्रांत 'अङ्गस्य खोः' असा वैयधिकरण्यानें अन्वय केल्यास व 'एरनेकाचः' या उत्तर सूत्रांत 'इवर्णान्तस्य अङ्गस्य' असा सामानाधिकरण्यानें अन्वय केल्यास, या दोन सूत्रांचे विषय भिन्न होतील, म्हणजे अङ्गाच्या अन्तीं इवर्ण असल्यास त्याचे जागीं 'एरनेकाचः' या सूत्रानें यणादेश होईल व अङ्गाचा अवयव इवर्ण असून तो अङ्गाच्या अन्तीं नसल्यास त्याचे जागीं इयडादेश होईल, व त्यामुळे 'एरनेकाचः' हें उत्तर सूत्र प्रकृत सूत्राचें बाधक ठरणार नाहीं. म्हणून 'दिदिव् अतुस्' या स्थलीं अङ्गाच्या अन्तीं इवर्ण नसून तो वर्ण उपधेत असल्यामुळे, जरी 'एरनेकाचः' या सूत्रांत सामानाधिकरण्यानें अन्वय केल्यानें तें सूत्र प्रवृत्त होऊं शकणार नाहीं तरी, प्रकृत सूत्रांत वैयधिकरण्यानें अन्वय केल्यानें प्रकृत सूत्रानें 'दिदिव्' या अङ्गांतील उपधेत असणाऱ्या इकाराचे जागीं इयडादेश होण्याची आपत्ति येईल. आतां शंकाकार असें म्हणतो कीं, 'दिक्' धातूच्या इकाराचे जागीं 'इयङ्' = 'इय्' आदेश केला तरी, आदेशांतील यकारापुढें 'दिक्' धातू-तील वकार येत असल्यामुळे, 'लोपो व्योर्वलि' सू. ८७३ या सूत्रानें त्या यकाराचा लोप होऊन 'दिदिवतुः' असेंच रूप सिद्ध होईल. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं,) या उदाहरणांत 'लोपो व्योर्वलि' हें सूत्र प्रवृत्त केल्यानें निर्वाह होऊं शकत नाहीं, म्हणजे 'दिदिवतुः' असें रूप सिद्ध होऊं शकत नाहीं; कारण 'इयङ्' इत्यादि आदेश प्रत्ययाच्या निमित्तानें होणारे असल्यामुळे असिद्ध ठरतात. ('दिदिव् अतुस्' या स्थलीं 'अतुस्' या पलीकडे असलेल्या अजादि प्रत्ययाच्या निमित्तानें होणारा 'इयङ्' = 'इय्' हा आदेश बहिरङ्ग असून त्याच्या मानानें अलीकडे असलेल्या यकाररूप निमित्तानें होणारें यकारलोपकार्य, 'पूर्वोपस्थित-निमित्तकमन्तरङ्गं परोपस्थितनिमित्तकं बहिरङ्गम्' या न्यायान्वयें अन्तरङ्ग आहे आणि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' - परि. ५० - ही परिभाषा असल्यामुळे, यकारलोपकार्य करतेवेळीं इयडादेश बहिरङ्ग

ठरतो व तो झालाच नाही, म्हणजे 'इयङ् = इय्' विद्यमानच नाही, असे मानावे लागते आणि अशा रीतीने जर यकार अविद्यमान आहे तर त्याचा लोप कसा होऊ शकणार? यकारलोप न झाल्याने 'दिदिद्यतु' असे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येते) 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ही परिभाषा अनित्य मानली असल्यामुळे, त्या परिभाषेची वरील उदाहरणात प्रवृत्ति न केल्याने यकारलोप होऊ शकतो व 'दिदिद्यतु' हा इष्ट रूप सिद्ध होऊ शकते असे कोणी म्हटल्यास, (ती शका मनात धरून) ती परिभाषा प्रवृत्त न केली तरी 'ऊयतु' हे रूप सिद्ध होऊ शकत नाही हे स्पष्ट करण्याकरिता दीक्षित 'ऊयतु' हे उदाहरण मनोरमेश देतात ('वेञ् तन्तुसन्ताने' या धातूचे लिटाचे रूप करिताना 'वेओ वयि' सू. २४११ या सूत्राने 'वे' धातूचे जागी 'वय्' असा आदेश होतो 'वे अतु = वय् अतु' या स्थली 'असयोल्लिट कित्' सू. २२४२ या सूत्रान्वये 'अतुस्' हा प्रत्यय कित् ठरत असल्यामुळे, 'ग्रहिज्यावयि' सू. २४१२ या सूत्राने 'वय्' यातील वकाराचे सप्रसारण-उकार-होऊन व 'सम्प्रसारणाच्च' सू. ३३० या सूत्राने 'उ' व 'व' यातील अन्य अकार या दोहोचे जागी 'उ' असा पूर्वरूप एकादेश होऊन 'उय् अतुस्' अशी स्थिति झाली असता, द्विर्वचन करून सयर्णदीर्घ केल्याने 'ऊय् अतुस्' अशी स्थिति होते असा स्थितीत 'ऊय्' या धातूतील अवयव जो ऊकार त्याचे जागी 'उवङ् = उव' आदेश केल्यास, 'उवय्' अशी स्थिति होईल व येथे 'उव' यातील वकारापुढे 'वल्' नसून यकार असल्यामुळे, वकारलोप होऊ शकणार नाही व 'उव्यनु' असे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येईल साराश बहिरङ्गपरिभाषा-परि. ५०-अनित्य मानून तिची प्रवृत्ति न केल्याने जरी 'दिदिद्यतु' हे रूप सिद्ध होऊ शकते असे मानले तरी, 'ऊयतु' हे रूप सिद्ध होऊ शकत नाही आणि म्हणून प्रकृत सूत्रात वैयाकरणाने अवयव करणे योग्य नाही

असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे असें शब्दरत्नकार म्हणतात.) 'विशेषणे तु क्लिष्टता' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, (प्रकृत सूत्रांतील 'अचि' या पदाचा 'यस्मिन्विधित्तदादावलग्रहणे'—परि. ३३ या परिभाषान्वये 'अजादौ प्रत्यये परे' असा अर्थ होत असल्यामुळे व) प्रत्ययाला अङ्गाची आकांक्षा असल्यामुळे, 'अचि' या पदाचा 'अङ्गस्य' या प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त होत असलेल्या पदाशीं अन्वय न करितां 'व्योः' या पदाशीं अन्वय करण्यांत क्लिष्टतारूप दोष येतो. (याचें विवरण पूर्वी मनोरमंत केलेंच आहे व यासंबंधानें भैरवींत 'क्लृप्ताकांक्षां विहायाक्लृप्तकल्पनायां मनोव्यापारगौरवं स्पष्टमेव' असें म्हटलें आहे.)

मनोरमाः— "एरनेकाचः" ॥ "अचि श्नुधातु" इति सूत्रे द्वन्द्वनिर्देशोऽपि धातुरेवेह संबध्यते । न तु श्नुभ्रुवौ, तयोरिवर्णा-
सम्भवात् । धातुग्रहणं चावृत्त्या उभयोर्विशेषणं संयोगस्य चाङ्गस्य चेति
व्याचष्टे—धात्ववयवसंयोगेत्यादि । तत्र धातुना संयोगस्य विशेषणा-
विह यण् उन्नयो उन्नयः । अङ्गविशेषणन्तु हरिम् हरी हरीन् इत्यादि-
सिद्धये । यदि हि धातुनाऽङ्गं न विशेष्येत तर्हि इहापि प्रध्यं प्रध्य
इत्यादाविव पूर्वरूपं पूर्वसवर्णदीर्घं च बाधित्वा यण् स्यात् । धात्ववयव-
संयोगपूर्वको न भवति य इवर्णस्तदन्तत्वादङ्गस्य । वृश्चिकशब्दस्येति ।
भाष्यकृता हि बुद्धिपरिकल्पितमपायमाश्रित्य "भीत्रार्थानाम्" इति
सूत्रं प्रत्याख्यातं ततश्च सम्बन्धमात्रविवक्षायां पण्डचेवेति भावः ।
सूत्रमतेऽप्याह । वृश्चिकसम्बन्धिनीति ।

'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' सू. २७२ या प्रकृत उत्तर सूत्रांत,
'अचि श्नु' या पूर्व सूत्रांत, जरी 'श्नुधातुभ्रुवाम्' असा इतरेतर-
योगद्वन्द्वनिर्देश केला आहे तरी त्या द्वन्द्वसमासांतील, 'धातु'
एवढ्याच पदाची अनुवृत्ति होते य तें अनुवृत्त पद प्रकृत सूत्रांतील
'एः' या पदाशीं विशेष्यरूपानें, म्हणजे 'इवर्णन्तो यो धातुः' अशा
रीतीनें, संवद्ध-अन्वित-होतें. प्रकृत सूत्रांत 'श्नुभ्रुवौ' यांची

अनुवृत्ति होत नाही; कारण इनुप्रत्ययान्त शब्दाच्या व 'भू' या शब्दाच्या अन्ती इवर्ण असणे शक्य नाही. 'अचि इनु' या पूर्व सूत्रातून प्रकृत सूत्रांत 'धातोः' हे जें पद अनुवृत्त होते त्याचे दोनदा उच्चारण करून एकदा उच्चारलेले ते पद प्रकृत सूत्रातील 'सयोगस्य' या पदाचे विशेषण केल्याने व दुसऱ्याने उच्चारलेले ते पद प्रकृत सूत्रांत अनुवृत्त होणाऱ्या 'अङ्गस्य' या पदाचे विशेषण केल्याने, कौमुदीत जसा प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तसा अर्थ निष्पन्न होतो आणि हा आशय मनात धरूनच प्रकृत सूत्राचे कौमुदीत 'धात्वयवसयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातूस्तदन्तस्याङ्गे-काचोऽङ्गस्य यस्यादजादौ प्रत्यये परे ।' असे व्याख्यान केले आहे. 'धातोः' हे अनुवृत्त पद 'सयोगस्य' या पदाचे विशेषण होत असल्यामुळे, 'उन्व्यो, उन्व्य.' या स्थली प्रकृत सूत्राने यणादेश होतो ('उत् नी क्विप्' या स्थली 'सत्सूद्विप्' सू. २९७५ या सूत्राने 'नी' धातूहून क्विप् प्रत्यय केला असता, 'क्विप् = व्' या अपृक्त प्रत्ययाचा 'वेरपृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने लोप होऊन 'उन्वी' असे कृदन्त प्रातिपदिक होते या दीर्घ इकारान्त शब्दाहून 'ओ' व 'जस् = अस्' हे प्रत्यय केल्यास, 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सू. १६४ या सूत्राचे प्रकृत सूत्र अपवादक सूत्र असल्यामुळे व 'दीर्घाज्जसि च' सू. २३९ हे पूर्वसवर्णदीर्घाचे निषेधक सूत्र असल्यामुळे, या स्थली पूर्वसवर्ण दीर्घ होत नाही व 'नी' धातूतील ईकारापूर्वी धातूतील अवयवाचा संयोग नसून धातु व उपसर्ग यांच्या अवयवाचा संयोग असल्यामुळे, 'नी' यातील ईकाराचे जागी प्रकृत सूत्राने यणादेश होतो. 'धातोः' हे पद 'सयोगस्य' याचे विशेषण न मानल्यास, येथे यणादेश न होण्याची आपत्ति येते) 'हरिम् हरी हरीन्' इत्यादि रूपाची सिद्धि होण्याकरिता 'धातोः' हे अनुवृत्त पद 'अङ्गस्य' या अनुवृत्त पदाचे विशेषण मानले आहे. ('हृ' या अजन्त धातूहून 'अच इः' उणादि सू. ५७८ या सूत्राने 'इ' प्रत्यय केला असता ऋकाराचा गुण होऊन 'हरि' असे उणादि-

प्रत्ययान्त रूप सिद्ध होतीं. 'हरि' हैं इकारान्त अङ्ग धात्वन्त नसून उणादिप्रत्ययान्त असल्यामुळे, म्हणजे 'हरि' या अङ्गांतील अन्त्य इकार धातूचा अवयव नसून प्रत्यय असल्यामुळे, तशा इकारान्त अङ्गापुढे अजादि विभक्तिप्रत्यय आला असतां, 'एरनेकाचः' या प्रकृत सूत्राची प्रवृत्ति होत नाही. व यणादेश होत नाही.) जर 'धातोः' हें पद 'अङ्गस्य' याचें विशेषण न मानलें तर, 'प्रध्यम्, प्रध्यः' इत्यादि स्थलीं पूर्वरूप व पूर्वसवर्ण-दीर्घ या कार्याचा बाध होऊन जसा यणादेश होतो तसा 'हरिम् हरी हरीन्' इत्यादि स्थलीं यणादेश होण्याची आपत्ति येईल. ('प्रकृष्टं व्यायतीति प्रधीः = प्रध्यै विवप् सु' या स्थलीं 'व्यायतेः सम्प्रसारणं च'—सू. ३१५८ वरील वार्तिक—या वार्तिकान्वये 'प्र' पूर्वक 'व्यै' धातूहून विवप् प्रत्यय केला असतां, त्या धातूतील यकाराचें इकार असें संप्रसारण होऊन व 'सम्प्रसारणाच्च' सू. ३३० या सूत्रानें संप्रसारण 'इ' व त्या पुढील 'ऐ' या दोहोंचे जागीं 'इ' असा पूर्वरूप एकादेश होऊन आणि 'हलः' सू. २५५० या सूत्रानें तो इकार दीर्घ होऊन व 'वेरपृ-
'वतस्य' सू. ३७५ या सूत्रानें 'विवप् = व्' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप होऊन 'प्रधी' असें कृदन्त प्रातिपदिक होतीं. 'व्यै' या धातूचें वरील वार्तिकान्वयें, वर सांगितल्याप्रमाणें, 'धी' असें रूपान्तर होत असल्यामुळे, स्थानिवद्भावाणें 'धी' हा 'व्यै' धातूच आहे व 'प्रधी' यांत धातूचा अवयव ईकार अन्तीं असून 'प्रधी' हें धात्वन्त अङ्ग आहे असें मानतां येतें. त्यामुळे 'प्रधी अम्' या स्थलीं 'अमि पूर्वः' सू. १९४ या सूत्रानें पावलेला पूर्वरूप एकादेश बाधित होऊन व 'प्रधी णस् = प्रधी अस्' या स्थलीं 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सू. १६४ या सूत्रानें पावलेला पूर्वसवर्णदीर्घ व 'तस्माच्छसो नः पुंसि' सू. १९६ या सूत्रानें 'णस्' यांतील सकाराचे जागीं पावलेला नकारादेश हीं दोन्ही कार्ये बाधित होऊन, 'प्रधी' या धात्वन्त अङ्गांतील अन्त्य ईकारापूर्वी धात्वयवसंयोग नसल्यामुळे, 'एरनेकाचः'

या उत्तर विशेष सूत्राची प्रवृत्ति होऊन ईकाराचे जागीं यणादेश हातो परंतु 'प्रधी' हे जसे घात्वन्त अङ्ग आहे तसे 'हरि' हे घात्वन्त अङ्ग नाही, कारण, पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे, 'हरि' यातील अन्त्य इकार घातूचा अवयव नसून औणादिक 'इ' प्रत्यय आहे असा या दोन उदाहरणात फरक असल्यामुळे, 'हरि' या अङ्गापुढे अजादि विभक्तिप्रत्यय आला असला तरी, 'एरनेकाच' या प्रकृत सूत्राची प्रवृत्ति न हाता, 'हरि अम्' या स्थली 'अभि पूर्वं' या सूत्राने पूर्वरूप एकादेश होऊन 'हरिम्' असे रूप होणे व 'हरि औ, हरि शस्' या स्थली 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण' या सूत्राने पूर्वसवर्णदीर्घ होऊन 'तस्माच्छसो न पुत्ति' या सूत्राने 'शस्' प्रत्ययातील सकाराचे जागी नकारादेश होऊन 'हरी, हरीन्' अशी रूपे होतात 'घातो' हे 'अङ्गस्थ' याचे विशेषण न मानल्यास, 'हरिम् हरी हरीन्' इत्यादि स्थली देखील प्रकृत सूत्राने यणादेश होण्याची आपत्ति येते, कारण) 'हरिम्' इत्यादि स्थली देखील 'हरि' या अङ्गाच्या अन्ती जो इकार आहे त्याच्या पूर्वी घात्वयवसयोग नाही (पण 'हरि' हे घात्वन्त अङ्ग असल्यामुळे, यणादेश होण्याची व 'प्रध्यम्, प्रध्यो, प्रध्य' या रुपासारखी 'हर्षम्' हर्षो हर्ष' अशी अनिष्ट रूपे होण्याची आपत्ति टळते प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' हे वातिक पठित करून दीक्षितानी 'कथं तर्हि दुधिय, वृश्चिकभिय' असा प्रश्न केला आहे व 'वृश्चिकभिय' या उदाहरणास बघाने उत्तर देणाना दीक्षितानी 'वृश्चिकशब्दस्य बुद्धिकृतमपादानत्वं नेह विवक्षितम् । वृश्चिकसम्बन्धिनी भीर्वृश्चिकभीरित्युत्तरपदलोपो वा' असे म्हटले आहे आता या उत्तराचे समर्थन दीक्षित मनोरमेत करितात) भाष्यकारानी बुद्धिकल्पित विश्लेषाचा आशय करून 'भीत्रार्पणा भयहेतु' सू ५८८ या सूत्राचे प्रत्याख्यान केले आहे त्यामुळे सबधमात्राची - केवळ सबधसामान्याची - विवक्षा केल्याने 'वृश्चिक' या शब्दाची पळीच होते ('भीत्रार्पणा भयहेतु' सू १-४-२५ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात-

‘अयं योगः शक्योऽवक्तुम् । कथम् वृकेभ्यो विभेति दस्युभ्यो विभेति ... इति । इह तावत्तद्वृकेभ्यो विभेति दस्युभ्यो विभेतीति य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदि मां वृकाः पश्यन्ति ध्रुवो मे मृत्युरिति । स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते । तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम् ।’ या भाष्याच्चा अर्थ असा आहे कीं, ‘भीत्रार्थानां भयहेतुः’ हे सूत्र असण्याची कांहीं गरज नाही. तर मग ‘वृकेभ्यो विभेति, दस्युभ्यो विभेति’ या उदाहरणांत ‘वृक, दस्यु’ यांना अपादानसंज्ञा कशी होईल ? जो मनुष्य विचारशील — विचारपूर्वक कार्य करणारा — आहे तो हे जाणतो कीं, जर मजवर लांडग्यांची नजर जाईल तर माझा मृत्यु खास होईल. म्हणून तो मनाने लांडग्याशी संबंध पावून तेथून निवृत्त होतो. म्हणून अशा स्थलीं ‘ध्रुवमपायेऽपादानम्’ सू. ५८६ या सूत्रानेच अपादानसंज्ञा होऊ शकते. अशा रीतीने भाष्यकारांनीं ‘भीत्रार्थानां भयहेतुः’ सू. ५८८ या सूत्राचे प्रत्याख्यान केले असल्यामुळे, ‘वृद्धिचकभीः’ या स्थलीं ‘वृद्धिकात् भीः’ असा ‘विवक्षातः कारकाणि भवन्ति’ या न्यायान्वये अपादानकारकाची विवक्षा न करितां व पञ्चमीसमास न करितां संबंधसामान्याची विवक्षा करून ‘वृद्धिचकस्य भीः’ असा पष्ठीसमास केल्याने ‘वृद्धिक’ हा शब्द पञ्चम्यन्त न होता पठ्यन्त होतो आणि पष्ठीकारक नसल्यामुळे व अशा रीतीने ‘भी’ या धातूपूर्वी अपादानकारक नगून पष्ठी आहे असे मानतां येत असल्यामुळे, या स्थलीं ‘गतिकारकपूर्वस्येष्ट्यते यणादेशः’ या प्रकृत नूयावरील भाष्यांत पठित केलेल्या यातिकान्वये ‘भी’ यांतील ईकाराने जागीं प्रकृत नूदाने होणारा यणादेश न होता ‘अचिप्नु’ या पूर्व नूदाने टगटादेश होऊन ‘वृद्धिचकभियः’ हे रूप मिळते. (नूतनकाराच्या मतान्वये देखील ‘वृद्धिचकभियः’ हे रूप मिळत होऊ शकते हे मागण्याच्या हेतूने कोमुर्दान ‘वृद्धिकसम्बन्धिनी भीर्नृत्तिकभीः’ असे नमूद केले आहे. (अशा रीतीने मध्यमपदवाची-समास केला असता, ‘भी’ या धातूच्या पूर्वी कारक येत नसल्यामुळे,

‘गतिकारकपूर्वस्यैवेप्यते’ या वातिकान्वये या उदाहरणांत प्रकृत सूत्रानें यणादेश न होता ‘अचिश्नु’ या पूर्व सूत्रानें ‘इयङ्’ आदेश होतो.)

शब्दरत्न-उभयोर्विशेषणमिति । ध्याख्यानाल्लक्ष्यानुरोधाच्च-
 षदेनान्वयेऽपि सौत्रत्याद् युक्तिरिति भावः । उन्व्याविति । अत
 एव स्वरपूर्वा, पदपूर्वा घोषया यस्येधनस्य तस्य घणित्यर्थक ‘स्वर-
 पदपूर्वोपधस्य’ इति धात्तिकं सङ्गच्छते । उक्तोपायेन प्रत्याख्यात-
 मित्यन्यत् । तदन्तत्वादिति । न च धात्ववयवसंयोगपूर्वत्वस्य धात्व-
 वयवेकार एव सम्भवेन संयोगवद्विप्रयोगस्यापि विशेषावगतिहेतुत्वेन
 तद्विभ्रस्यापि धात्ववयवस्यैव ग्रहणात् दोष इति वाच्यम्, तन्त्रो-
 रित्यादौ धात्ववयवसंयोगपूर्वस्याधात्ववयवस्यापि सम्भवात् ।
 “परिमाणाख्यायाम्” इति सूत्रे भाष्ये ‘अजपावपि संज्ञायामेव
 यथाजातीयक उत्सर्गस्तज्जातीयकेनापवादेनापि भवितव्यम्’ इत्युक्त
 तन्मूलकेन ‘उत्सर्गसमानदेशा अपवादा’ इति न्यायेन तु न निर्वाहः ।
 अङ्गाशे तदसम्बन्धे हरिमित्यादावपि तत्प्राप्त्या तेन येन नाप्राप्त्य-
 भावेन तदपवादत्वस्यैवाभावात् । यद्यपि प्रत्यासत्त्या “इको
 गुणवृद्धी” इति निर्देशोपलब्ध्या धात्ववयवसंयोगपूर्वविभ्रस्य
 धात्ववयवस्यैव ग्रहणमिति हरिमित्यादौ न दोषस्तथाऽपि स्पष्ट-
 प्रतिपत्तये आवृत्तिरेवाश्रितेति दिक् । सूत्रमतेऽपीति । “भोत्रा”
 इति सूत्र पठोवाधनार्यमिति वतण्डिकतया ये वदन्ति तत्सिद्ध-
 सूत्रमतेऽपीत्यर्थः । वस्तुतो भयहेतुरित्युक्त्याऽस्य तृतीयाबाधकत्व
 बोध्यम् ।

‘धातुग्रहण चाधृत्या उभयोर्विशेषण संयोगस्य चाङ्गस्य’ असे
 जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचे वारण हे आहे की, (भाष्यात) तसे
 व्याख्यान केले आहे व इष्ट रूपाची सिद्धि होण्याकरिता तसे मानणे,
 म्हणजे ‘धातो’ हा शब्द ‘संयोगस्य’ याचें देखील विशेषण मानणे,
 आवश्यक आहे (‘असंयोगपूर्वस्य’ या प्रकृत सूत्रात निर्दिष्ट
 असलेल्या स्थली) एकदेशान्वय होत असून देखील जो समास

केला आहे तो सौत्रत्वामुळे केला आहे. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत-६-४-८२- 'असंयोगपूर्वे ह्यनिष्टप्रसङ्गः' हें वार्तिक पठित करून त्या वार्तिकाचें प्रत्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात - 'तत्तहि वक्तव्यम् ? । न वक्तव्यम् । धातोरिति वर्तते । तत्र धातुना संयोगं विशेषयिष्यामः, धातोर्यः संयोगस्तत्पूर्वस्य नेति ।' या भाष्यावरून हें स्पष्ट होतें कीं, भाष्यकारांनीं 'धातु' हा शब्द 'असंयोगपूर्वस्य' या प्रकृत सूत्रांत असलेल्या पदांतील 'संयोग' या शब्दाचें विशेषण मानला आहे. प्रकृत सूत्र अङ्गाधिकारांत पठित असल्यामुळे, या सूत्रांत 'अङ्गस्य' या पदाची अनुवृत्ति होत असून 'धातोः' हें त्या अनुवृत्त पदाचें विशेषण होतें याबद्दल कांहीं वाद नाही. अशा रीतीने 'धातोः' हें पद 'संयोगस्य' व 'अङ्गस्य' या दोहोंचेंहि विशेषण भाष्यकारांनीं मानलें असल्यामुळे, दीक्षितांनीं 'उभयोर्विशेषणं संयोगस्य चाङ्गस्य' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे तें योग्य ठरतें. दुसरें असें कीं, इष्ट रूपांची सिद्धि होण्याकरितां 'धातोः' हा शब्द 'संयोगस्य' याचें विशेषण मानणें आवश्यक आहे; कारण तसें न मानल्यास, 'उन्व्यू, उन्व्यः, उद्धचो, उद्धचः' इत्यादि स्यलीं धातूच्या अन्त्य इकारापूर्वी संयोग असल्यामुळे, त्या इकाराचे जागीं यणादेश न होण्याची आपत्ति येते. परंतु 'धातोः' हें 'संयोगस्य' याचें विशेषण मानल्यानें व वरील उदाहरणांत धातूच्या अन्त्य इकारापूर्वी धातूच्या वर्णांचा संयोग नसून 'धातु' व 'उपसर्ग' यांच्या वर्णांचा संयोग असल्यामुळे ती आपत्ति टळते. आतां येथें असा प्रश्न उद्भवतो कीं, प्रकृत सूत्रांतील 'असंयोगपूर्वस्य' या अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमासांत 'संयोग' हा शब्द उपसर्जन असल्यामुळे, त्या शब्दाचें 'धातु' हा शब्द विशेषण होऊं शकत नाही; कारण 'वृत्तस्य विशेषणयोगो न' असें वचन भाष्यांत पठित केले आहे. या प्रश्नाचें शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, जरी 'असंयोगपूर्वस्य' या पदांतील 'संयोग' या एकदेशाशीं 'धातु' हा शब्द विशेषणरूपानें अन्वित होतो व

‘वृत्तस्य विशेषणयोगो न’ असा जरी न्याय आहे तरी, ‘छन्दो-
 वत्सूत्राणि भवन्ति’ व ‘दृष्टानुविधिः छन्दसि’ अशी वचनें भाष्यात
 ठिकठिकाणी पठित असल्यामुळे, या स्थली जो समास झाला आहे
 तो सौत्र समास मानून त्याचे रागर्पन करणे भाग आहे. प्रकृत
 सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकारानी या विषयामंबधानें ‘उपसर्जन
 च संयोगः । न चोपसर्जनस्य विशेषणमस्ति । घातोरित्यनुवर्तन-
 सामर्थ्यादुपसर्जनस्यापि विशेषण भविष्यति’ असे म्हटले आहे)
 ‘उन्न्यो’ इत्यादि स्थली यणादेश होणे इष्ट असल्यामुळेच, ज्या
 इकाराच्या उपधेपूर्वी स्वर आहे किंवा पद आहे तशा इकाराचे
 जागी यणादेश होतो या अर्थाचे ‘स्वरपदपूर्वोपधस्य च’ असे जें
 वातिक पठित केले आहे तें सुसङ्गत ठरते वर सांगितलेल्या
 उपायाचा आशय कळत, म्हणजे ‘घातोः’ हे पद ‘सयोगस्य’
 या पदाचे विशेषण मानून, भाष्यकारानी त्या वातिकाचे प्रत्याख्यान
 केले आहे ही गोष्ट वेगळी (यथापठित प्रकृत सूत्रान्वयें ‘उन्न्यो,
 उन्न्य.’ इत्यादि रूपें सिद्ध होऊ शकत नाहीत आणि म्हणूनच
 वातिककाराला बरील वातिक करावे लागले ‘उन्नी’ या उदा-
 हरणात ‘ई’ याची उपधा जो नकार आहे त्याच्या पूर्वी ‘उत्’
 हे पद असल्यामुळे व तसेच ‘निन्यतु’ इत्यादि स्थली ‘निनी’
 या अम्यस्त अङ्गातील अन्त्य ईकाराची उपधा जो नकार आहे
 त्याच्या पूर्वी ‘अम्यस्तानामादि’ सू ३६७३ या सूत्रान्वयें उदात्त
 होणारा ‘नि’ यातील इकार हा अच् उदात्त असल्यामुळे, बरील
 वातिकान्वयें वर दिलेल्या दोन्ही उदाहरणात यणादेश होतो परंतु
 बरील वातिक न मानले तरी, ‘घातोः’ हा शब्द ‘सयोगस्य’ या
 शब्दाचे विशेषण मानल्याने, यथापठित प्रकृत सूत्रानें देखील
 इष्ट रूपाची सिद्धि होऊ शकते, कारण ‘उन्नी ओ, उन्नी
 अत्’ या स्थली ‘नी’ या धातूतील अन्त्य ईकारापूर्वी
 जरी संयोग आहे तरी तो धात्ववयवसंयोग नसून, पूर्वी सांगि-
 तल्याप्रमाणे, धातु व उपसर्ग यांच्या अवयवाचा संयोग असल्या-

मुळें, या उदाहरणांत प्रकृत सूत्रानें यणादेश होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही. तसेंच 'निनी अतुस्' या स्थली 'निनी' या अङ्गांतील अन्त्य ईकारापूर्वी संयोग नसल्यामुळें त्या स्थली देखील प्रकृत सूत्रानें यणादेश होऊं शकतोच, आणि म्हणूनच 'धातोः' हें पद 'संयोगस्य' या पदाचें विशेषण मानून भाष्यकारांनीं वरील वार्तिकाचें प्रत्याख्यान केलें आहे. प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत 'स्वरपद-पूर्वोपधस्य च यणादेशः' हें वार्तिक पठित करून भाष्यकार म्हणतात— 'स्वरपूर्वोपधस्य पदपूर्वोपधस्य चेति वक्तव्यम्, स्वरपूर्वा च यस्यो-पधा पदपूर्वा च । स्वरपूर्वा — निन्यतुः निन्युः । पदपूर्वा — उन्थी उन्थः ।' व पुढें त्या वार्तिकाचें प्रत्याख्यान करितांना भाष्यकार म्हणतात— 'तत्तद्दि वक्तव्यम् ? । न वक्तव्यम् । धातोरिति वर्तते । तत्र धातुना संयोगं विशेषयिष्यामः, धातोर्यः संयोगस्तत्पूर्वस्य नेति ।' शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय हा आहे कीं, वार्तिक-काराला इष्ट असलेलीं प्रयोजनें 'धातोः' हें पद 'संयोगस्य' या या पदाचें विशेषण मानल्यानें च सिद्ध होऊं शकत असल्यामुळें, तें पद 'संयोगस्य' याचें विशेषण मानणें आवश्यक आहे.) ज्या इवर्णा-पूर्वी धातूच्या अवयवांचा संयोग असतो तसा इवर्ण धातूचाच अवयवरूप इकार असणें शक्य असल्यामुळें आणि संयोगाप्रमाणेंच विप्रयोग देखील ('संयोगो विप्रयोगश्च' या कारिकान्वयें) विशेष ज्ञान करून देण्याला कारणीभूत होत असल्यामुळें ज्या स्थली इवर्णा-पूर्वी धात्वयवसंयोग नाही तशा स्थली देखील धात्वयवरूप इवर्णाचेंच ग्रहण होत असल्यामुळें ('हरिम्' इत्यादि स्थली) कोणताहि दोष उद्भवत नाही असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण 'तन्त्रीः' इत्यादि स्थली अन्त्य ईकारापूर्वी धातूच्या अवय-वांचा संयोग असून देखील तो अन्त्य ईकार धातूचा अवयव नसणें संभवतें. (शंकाकाराचें असें म्हणणें आहे कीं, ज्या इवर्णापूर्वी धातूच्या अवयवांचा संयोग असतो तो इवर्ण धातूचा अवयवच असणें शक्य आहे, आणि म्हणून 'धात्वयवसंयोगपूर्व इवर्ण' असें म्हटल्यानें

ज्याप्रमाणे तो इवर्णं धातूचा अवयवच आहे असा विशिष्ट बोध होतो त्याचप्रमाणे 'धात्वयवासयोगपूर्वं इवर्णं' असे म्हटल्यानें देखील तो इवर्णं धातूचा अवयव आहे अशाच प्रकारचा बोध होतो उदाहरणार्थ 'सवत्सा आनीयताम्' असे सयोगबोधक वाक्य उच्चारल्यानें जसा गायीचा बोध होतो त्याचप्रमाणे 'अवत्सा आनीयताम्' असे विप्रयोगबोधक वाक्य उच्चारल्यानें देखील गायीचाच बोध होतो म्हणून 'धातो' हे पद जरी 'सयोगस्य' याचे विशेषण मानणे आवश्यक आहे तरी, ते पद 'अङ्गस्य' याचे विशेषण मानण्याची काही आवश्यकता नाही आणि म्हणून 'धातो' हें पद दोन्ही उच्चारण्याची काही गरज नाही या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, ज्या पायावर वरील शका रचली आहे तो पायाच शुद्ध नाही, कारण ज्या इवर्णापूर्वी धातूच्या अवयवाचा सयोग असतो तो इवर्णं धातूचाच अवयव असू शकतो असा काही नियम नाही उदाहरणार्थ 'तत्रि कुटुम्बधारणे' या चुरादिगणात पठित असलेल्या इदित धातूचे 'इदितो नुम्घातो' सू २२६२ या सूत्रान्वये 'तन्त्र्' असे रूप झाल्यावर त्याहून 'अवितृस्तृतन्त्रिम्य ई' उणादि सू ४३८ या सूत्रानें औणादिक 'ई' प्रत्यय केला असता 'तन्त्री' असे जे कृदन्त प्रातिपदिक होते त्यातील अन्त्य ईकारापूर्वी जरी 'तन्त्र्' धातूच्या अवयवाचा सयोग आहे तरी, तो अन्त्य ईकार धातूचा अवयव नसून औणादिक 'ई' प्रत्यय आहे तसेच 'हरि' या उदाहरणात ज्या अन्त्य इकारापूर्वी धातूच्या अवयवाचा सयोग नाही तो अन्त्य इकार धातूचा अवयव नसून पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे 'अच इ' उणादि सू ५७८ या सूत्रानें झालेला औणादिक 'इ' प्रत्यय आहे अशा रीतीनें ज्या नियमाच्या आधारावर शकाकारानें आपली शका रचली आहे तो नियम सबब लागू पडणारा नसून अनेक स्थली व्यभिचरित होत असल्यामुळे, त्याची शका चूक ठरते आणि म्हणून प्रकृत सूत्रातील 'ए' या पदानें धात्वन्त अङ्गातील अन्त्य इवर्णवि ग्रहण होण्याकरिता

‘घातोः’ हें पद दोनदां उच्चारणें व एकदां उच्चारलेलें तें पद ‘संयोगस्य’ याचें विशेषण मानून दुसऱ्यानें उच्चारलेलें तें पद ‘अङ्गस्य’ याचें देखील विशेषण मानणें आवश्यक आहे.) ‘परि-
 माणाख्यायां सर्वेभ्यः’ सू. ३-३-२० या सूत्रावरील भाष्यांत
 भाष्यकारांनीं ‘अजपावपि संज्ञायामेव, यथाजातीयक उत्सर्गस्त-
 ज्जातीयकेनापवादेनापि भवितव्यम्’, म्हणजे ‘परिमाणाख्यायां
 सर्वेभ्यः’ सू. ३१९० या सामान्य सूत्रानें होणारा ‘घञ्’ प्रत्यय
 ज्याप्रमाणें संज्ञा गम्यमान असतांनाच होतो त्याचप्रमाणें ‘एरच्’
 सू. ३२३१ या विशेष सूत्रानें होणारा ‘अच्’ प्रत्यय व ‘ऋदोरप्’
 सू. ३३३२ या सूत्रानें होणारा ‘अप्’ प्रत्यय हे दोन्ही प्रत्यय
 देखील संज्ञा गम्यमान असतांनाच होऊं शकतात; कारण ज्या
 विषयांत सामान्यशास्त्र प्रवृत्त होतें तशाच विषयांत विशेष शास्त्राची
 देखील प्रवृत्ति होते, असें म्हटलें आहे व या भाष्यवचनावरून
 ‘उत्सर्गसमानदेशा अपवादा भवन्ति’, म्हणजे ज्या प्रदेशांत उत्स-
 र्गाची प्रवृत्ति होते त्याच प्रदेशांत अपवादाची देखील प्रवृत्ति होते,
 असा जो न्याय निघतो तो न्याय प्रकृत स्थलीं लावल्यानें काम भागत
 नाहीं, म्हणजे ‘घातोः’ हें पद ‘अङ्गस्य’ या पदाचें विशेषण
 मानणें टाळतां येत नाहीं; कारण ‘घातोः’ हें पद ‘अङ्गस्य’
 या पदाचें विशेषण न मानल्यास, ‘हरिम्’ इत्यादि स्थलीं देखील
 यणादेशाची प्राप्ति होत असल्यामुळें, ‘एरनेकाचः’ या प्रकृत
 सूत्राला ‘येन नाप्राप्ते’-परि. ५८- हा न्याय लागू शकणार नाहीं
 व त्यामुळें तें सूत्र ‘अचि श्नु’ या सूत्राचें अपवादक सूत्र ठरूं
 शकणार नाहीं. (‘उत्सर्गसमानदेशा अपवादा भवन्ति’ हा जो न्याय
 भाष्यांत पठित आहे तो लागू पडण्याकरितां, एखाद्या सूत्रानें
 ज्या सामान्य सूत्राचा वाध करणें आहे तें सूत्र त्या सामान्य सूत्राचें
 निरवकाशत्वामुळें अपवादक सूत्र असलें पाहिजे. तसें होण्याकरितां
 जेथें जेथें तें विशेषसूत्र प्रवृत्त होऊं पाहतें तेथें तेथें सामान्यसूत्राची
 अवश्यप्राप्ति असली पाहिजे. परंतु प्रकृत सूत्रांत ‘घातोः’ हें पद

‘अङ्गस्य’ याचे विशेषण न मानल्यास, जेथे अङ्गाच्या अन्ती धातूचा इवर्ण आहे तेथे ‘अचि इनु’ या सूत्राची प्रवृत्ति होईल व जेथे अङ्गाच्या अन्ती असलेला इवर्ण धातूचा अवयव नाही तेथे ‘एरनेकाचः’ हे सूत्र प्रवृत्त होईल व अशा रीतीने ‘एरनेकाचः’ हे सूत्र निरवकाश न ठरता भिन्न विषयात सावकाश व चरितार्थ ठरेल आणि त्यामुळे त्या सूत्राला ‘येन नाप्राप्ते’ हा न्याय लागू पडणार नाही व ते सूत्र ‘अचि इनु’ या सूत्राचे अपवादक सूत्र ठरू शकणार नाही आणि ‘हरि अम्’ इत्यादि स्थली ‘हरि’ या अङ्गाच्या अन्ती असणारा इकार पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे धातूचा इकार नसून प्रत्ययाचा इकार असल्यामुळे, ‘एरनेकाचः’ या प्रकृत सूत्राने यणादेश होण्याची आपत्ति येईल. ती आपत्ति टाळण्याकरिता व ‘एरनेकाचः’ हे प्रकृत सूत्र ‘अचि इनुधातु’ या सूत्राचे अपवादक सूत्र ठरण्याकरिता ‘धातोः’ हे पद ‘अङ्गस्य’ या पदाचे विशेषण मानणे आवश्यक आहे असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे) ‘इको गुणवृद्धी’ सू. ३४ या सूत्रातील ‘गुणवृद्धी’ या निर्देशाच्या सामर्थ्याने प्रत्यासत्तिन्यायान्वये जरी असे म्हणता येते की, धातूचा अन्त्य अवयव जो इकार त्याच्या पूर्वी धातूच्या अवयवाचा सयोग नसल्यास तशाच इकाराचे प्रकृत सूत्राने ग्रहण होणे, म्हणजे तशाच इकाराचे जागी प्रकृत सूत्राने यणादेश होतो व असा अर्थ केल्याने ‘हरिम्’ इत्यादि स्थली जरी दोष येत नाही तरी, प्रकृत सूत्राचा अर्थ स्पष्ट होण्याकरिता ‘धातो’ या पदाची द्विरावृत्ति केली आहे (‘त्विषा क्तिन्’ सू. ३२७२ या सूत्राने ‘वृध्’ धातूहून ‘क्तिन् = ति’ प्रत्यय होऊन व ‘क्षपस्त-थोषं.’ सू. २२८० या सूत्राने ‘ति’ या प्रत्ययातील तकाराचा घकार होऊन आणि ‘क्षला जश् क्षशि’ सू. ५२ या सूत्राने ‘वृध्’ यातील घकाराचा दकार होऊन ‘वृद्धि’ असे रूप होते ‘वृद्धि’ या स्थली जो अन्त्य इकार आहे तो धातूचा अवयव नसून ‘ति’ प्रत्ययाचा इकार आहे व त्या इकारापूर्वी असलेला सयोग धातूच्या

अवयवांचा संयोग नसून 'वृद्ध' धातूतील 'धकार = दकार' व 'ति' प्रत्ययांतील 'तकार = धकार' यांचा संयोग आहे. म्हणून 'इको गुणवृद्धी' या सूत्रांत पाणिनीने 'गुणवृद्धी' असा जो निर्देश केला आहे त्या निर्देशावरूनच हे स्पष्ट होते की, धातूचा अवयव इकार असून त्याच्या पूर्वी धात्वयवसंयोग नसल्यासच, त्याचे जागी यणादेश होतो. असें नसतें तर, 'गुणवृद्धि औ' या स्थलीं 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सू. १६४ या सूत्राने पूर्वसवर्णदीर्घ न करितां, पाणिनीने 'एनेकाचः' या प्रकृत सूत्राने यणादेश करून 'गुणवृद्धी' असा निर्देश केला असता. म्हणून 'गुणवृद्धी' इत्यादि पाणिनीय निर्देश योग्य ठरण्याकरितां 'एनेकाचः' या सूत्रांत अनुवृत्त असलेल्या 'धातोः' या पदाच्या सान्निध्यामुळे, जसा कौमुदींत प्रकृत सूत्राचा अर्थ केला आहे तसा अर्थ अनुमानाने आपोआपच निघू शकतो व त्यामुळे 'धातोः' या पदाची द्विरावृत्ति करण्याची कांहीं गरज नाही असें म्हणता येतें. पण असें जरी आहे तरी, पाणिनीय निर्देशाच्या सामर्थ्याने सूत्रार्थ अनुमानाने न करितां, सूत्रांत निर्दिष्ट असलेल्या किंवा अनुवृत्त होत असलेल्या पदांतूनच सूत्रार्थ निश्चित करणे योग्य असल्यामुळे व 'धातोः' या पदाची द्विरावृत्ति केल्याशिवाय प्रकृत सूत्रांतून इष्ट अर्थ स्पष्टपणे निघू शकत नसल्यामुळे, 'धातोः' या पदाची द्विरावृत्ति करणेच इष्ट आहे व तसें केल्याने अनुमानाचा आशय करण्याची व विलक्षण विलष्ट रीतीने सूत्रार्थ निष्पन्न करण्याची गरज राहत नाही व गौरवरूप दीप टळतो असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'मूढमतेऽपि' असें जें मनोरमेत म्हटलें आहे त्याचा अर्थ हा आहे की, जे कोणी वितण्टवाद करून म्हणतात कीं पट्टोविभक्ततीचा वाप्य होण्याकरितां 'भीमार्थानां भयहेतुः' मू. ५८८ हे सूत्र केले आहे त्यानें मत रवीकारलें तरी, 'वृद्धिगतसम्पत्तिर्भीः वृद्धिगतीः' असा मध्यगणशोपीगमात केल्यानें त्या उदाहरणांय यणादेशाची आपत्ति टाळतां येते. (याचे विवरण पूर्वी मनोरमेत केलेच आहे.) नाम्नविक्र 'भीमार्थानाम्' ना सूत्रांत

‘भयहेतुः’ असे म्हटले असल्यामुळे, हे सूत्र (पठ्ठीचा बाध करणारे सूत्र नसून) तृतीयेचा बाध करणारे सूत्र आहे हे लक्षात ठेवावे. (‘वृद्धिकभीः’ या स्थली ‘वृद्धिक’ हा भीतीचा अवधि नसून निमित्त आहे आणि म्हणून ‘हेतो’ सू. ५६८ या सूत्राने त्या शब्दाला जी तृतीया पावली आहे ती न होता पञ्चमी व्हावी याकरिता ‘भोत्रार्पणानाम्’ हे सूत्र केले आहे असे शब्दरत्नकाराचे म्हणणे आहे)

मनोरमा- अल्लोपयलोपाविति । न च परत्वात् “घेरपृक्तस्य” इति स्यादिति वाच्यम् । ‘घेरपृक्तलोपाद्वलि लोपः पूर्वविप्रतिषेधेन’ इति वार्तिककारोक्तेः । ष्वौ लुप्तमिति । नपुंसके भावे षतः । ष्वौ लोप इत्यर्थः । इदं सर्वं कुमारीमिच्छन् कुमारीत्यत्रापि बोध्यम् । अनन्यतयेति । गौणत्वेऽपि अनङ्गित्वयोः प्रवृत्तेरुक्तत्वाच्चेति बोध्यम् । दीर्घस्यापीति । एतदर्थं कृत्यणादेशनिर्देश इति भावः । नन्वतिसखेः भूपतेः इति गुणविषये व्यावर्तयितुं यणा निर्देश इति चेत् । अस्त्वेवम् । तयार्पि दीर्घप्रवृत्तेर्दुर्वारत्वात् । न हि ह्रस्वेषु भाव्य न दीर्घेष्वित्यत्र प्रमाणमस्ति । सौत्रस्य विकृतनिर्देशस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्युभयवारकत्वेन तत्सारवत्त्वलाभेन तथैवौचित्यात् भाष्यारूढत्वाच्च ।

(‘न भूसुधियो ’ सू. २७३ या सूत्रावरील कौमुदीत ‘सखायमिच्छति सखीयति । तत विवप् । अल्लोपयलोपो ।’ असे म्हटले आहे याचा भावार्थ हा आहे की, ‘सखायमात्मनः’ इच्छति ’ या अर्थामध्ये ‘सखि’ शब्दाहून ‘सुप आत्मनः क्यच्’ सू. २६५७ या सूत्राने ‘क्यच् = य’ प्रत्यय केला असता, ‘अकृतसार्वधानुकयो-र्दीर्घः’ सू. २२९८ या सूत्राने ‘सखि’ यातील अन्त्य इकार दीर्घ होऊन ‘सखीय’ असे जे क्यजन्त रूप होते त्याला ‘सनाद्यन्ता घातव ’ सू. २३०४ या सूत्राने घातुसज्ञा होते या क्यजन्त घातूहून ‘विवप् ष’ सू. २९८३ या सूत्राने ‘विवप् = व्’ प्रत्यय केला असता, ‘अतो लोप ’ सू. २३०८ या सूत्राने ‘सखीय’ यातील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन नंतर ‘लोपो व्योर्वलि’ सू. ८७३ या सूत्राने अवशिष्ट

यकाराचा लोप होतो. 'ने पदान्त' सू. ५१ हा निषेध असल्यामुळे, यकारलोप करतेवेळीं अकारलोपाचे ठिकाणीं स्थानिवद्भावां करतां येत नाहीं. यकारलोप झाल्यावर 'वेरपूवतस्य' सू. ३७५ या सूत्रानें 'क्विप् = व्' या अपूवत प्रत्ययाचा लोप होऊन 'सखी' असें ईदन्त प्रातिपदिक होतें.) 'वेरपूवतस्य' हें 'लोपो व्योर्वलि' या सूत्राच्या मानानें परसूत्र असल्यामुळे, 'सखीय्' यांतील यकाराचा लोप होण्यापूर्वी 'क्विप् = व्' या प्रत्ययाचा लोप होण्याची प्राप्ति होते असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण 'वेरपूवत-लोपाद्वलि लोपः पूर्वविप्रतिषेधेन', म्हणजे 'वेरपूवतस्य' हें परसूत्र असून 'लोपो व्योर्वलि' हें पूर्वसूत्र आहे तरी 'लोपो व्योर्वलि' हें पूर्व सूत्र पूर्वविप्रतिषेधानें प्रथम प्रवृत्त होतें, असें वातिककारानें म्हटलें आहे. (त्यामुळे यकारलोप प्रथम झाल्यावर नंतर क्विप् प्रत्ययाचा लोप होतो. आतां येथें असा प्रश्न उद्भवतो कीं, 'वेरपूवतस्य' या परसूत्रानें क्विप् प्रत्ययाचा जरी प्रथम लोप केला तरी, 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सू. २६२ या सूत्रान्वये तो क्विप् प्रत्यय कायम आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येतें व त्यामुळे 'लोपो व्योर्वलि' या पूर्वसूत्रानें नंतर यकारलोप करतां येतो. मग पूर्वविप्रतिषेधाचें बरील वातिक असण्याची गरज काय? या प्रश्नाचें उत्तर हें आहे कीं, 'लोपो व्योर्वलि' या सूत्रानें होणारें कार्य 'वल्' प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण पुढें असतांना होणारें वर्णनिमित्तक कार्य असल्यामुळे व 'वर्णाश्रये नास्ति-प्रत्ययलक्षणम्'-परि. २१-ही परिभाषा असल्यामुळे, क्विप् प्रत्ययाचा लोप केल्यावर तो 'क्विप् = व्' कायम आहे असें प्रत्ययलक्षणानें मानतां येत नाहीं आणि म्हणून वातिककारानें बरील वातिक मुद्दाम केलें आहे. 'लोपो व्योर्वलि' सू. ६-१-६६ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात- 'नित्यत्वात्परत्वाच्च क्विप्लोपः । क्विप्लोपे कृते बलाद्यभावाद् यलोपो न प्राप्नोति । एवं तर्हि प्रत्ययलक्षणेन भविष्यति । वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् ।' आतां येथें अशी शंका उपस्थित होते

की, जरी 'न पदान्त' हा निषेध असल्यामुळे यकारलोप करतेवेळी अकारलोपाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव करता येत नाही तरी, यणादेश करतेवेळी 'अच. परस्मिन्' सू ५० या सूत्राने अकारलोपाचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव करता येतो आणि म्हणून 'सखी' या शब्दा-पुढे 'अ' विद्यमान आहे असे मानल्याने यणादेशाची प्राप्ति होते या शकेवर कौमुदीत दीक्षितानी असे उत्तर दिले आहे की, 'क्वो लुप्त न स्यानिवत्', म्हणजे 'क्वि' प्रत्ययाच्या निमित्तामुळे अचाना लोप झाला असता त्याचे ठिकाणी स्थानिवद्भाव करता येत नाही, असे वास्तविक असल्यामुळे, 'अतो लोप' या सूत्राने झालेल्या क्विप्रत्ययनिमित्तक अकारलोपाचे ठिकाणी तो अकार विद्यमान आहे अशी स्थानिवद्भावाने बुद्धि करता येत नाही व त्यामुळे यणादेशाची प्राप्ति होत नाही) 'क्वो लुप्तम्' या वातिकातील 'लुप्तम्' हा शब्द 'नपुसके भावे वत' सू ३०९० या सूत्राने सिद्ध झाला आहे व त्याचा 'लोप' असा अर्थ आहे ज्याप्रमाणे 'सखायमिच्छन् सखी' असे वर सांगितल्याप्रमाणे रूप होते त्याचप्रमाणे 'कुमारीमिच्छन् कुमारी' हे रूप देखील सिद्ध होते हे जाणावे 'एकदेशविकृतस्यान्यतयाजड्णित्वे', म्हणजे 'एकदेशविकृतमन्यवत्'-परि ३७-ही परिभाषा असल्यामुळे ज्याप्रमाणे 'अनङ् सौ' सू २४८ व 'सत्युरसम्बुद्धौ' सू २५३ या सूत्रान्वये 'सखि' शब्दाला 'अनङ्' व णिद्वत्कार्ये होते त्याचप्रमाणे ते कार्य एकदेशविकृत 'सखी' या शब्दाला देखील होत, असे जे प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत म्हटलं आहे त्याचे कारण हे की, ('सखायमिच्छन् सखी' या स्थली जरी 'सखि' हा शब्द इच्छार्थाचे विशेषण होऊन गीण-उपसर्जन-झाला आहे तरी असा) गीण शब्दाहून देखील 'अनङ्' व णिद्वत्कार्ये होते हे पूर्वी सांगितलेच आहे हे लक्षात ठेवावे ('गीणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य सम्प्रत्यय'-परि १५-या परिभाषेतील 'गीण' या शब्दाने अशरीतीने उपसर्जन झालेल्या शब्दाचे ग्रहण होत नाही याबद्दल मागे

उल्लेख केलाच आहे.) 'ख्यत्यादिति दीर्घस्यापि ग्रहणादुकारः', म्हणजे 'ख्यत्यात्परस्य' या सूत्रांत 'ख्यत्यात्' असा यणादेशपूर्वक निर्देश केला असल्यामुळे त्या शब्दानें जसें न्हस्व 'खि, ति' यांचें ग्रहण होतें तसेंच दीर्घ 'खी, ती' यांचे देखील ग्रहण होतें व त्यामुळे ईदन्त 'सखी' शब्दापुढें 'डसि, डस्' हे प्रत्यय आले असतां यणादेश केल्यावर त्या प्रत्ययांतोल अकाराचे जागीं उकार होऊन 'सखी' शब्दाचें पञ्चमीच्या व षष्ठीच्या एकवचनाचें 'सख्युः' असें रूप होतें, असें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत म्हटलें आहे, आणि न्हस्व 'खि, ति' आणि तसेंच दीर्घ 'खी, ती' या दोहोंचेंहि ग्रहण व्हावें याकरितांच 'ख्यात्यात्परस्य' सू. २५५ या सूत्रांत 'ख्यत्यात्' असा यणादेश करून निर्देश केला आहे. 'अतिसखेः, भूपतेः' या स्थलीं ('षेडिति' सू. २४५ या सूत्रानें) जें गुणकार्य पावलें आहे त्याचा बाध न व्हावा याकरितां 'ख्यत्यात्परस्य' या सूत्रांत 'ख्यत्यात्' असा यणादेश करून निर्देश केला आहे असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर मानलें तरी, दीर्घ 'खी, ती' यांचे ठिकाणीं 'ख्यत्यात्परस्य' या सूत्राची प्रवृत्ति टाळतां येणें अशक्य आहे. ज्या शब्दांच्या अन्तीं न्हस्व 'खि, ति' आहेत त्याच शब्दांना 'ख्यत्यात्परस्य' या सूत्रानें होणारें कार्य व्हावें व ज्या शब्दांच्या अन्तीं दीर्घ 'खी, ती' आहेत त्यांना तें कार्य होऊं नये असें मानण्यास कांहींच प्रमाण नाही. 'ख्यत्यात्परस्य' या सूत्रांत ('खितेः' असा निर्देश न करितां) यणादेश करून 'ख्यत्यात्' असा जो विकृत निर्देश केला आहे तो अव्याप्ति व अतिव्याप्ति हे दोन्ही प्रकारचे दोष टाळण्याकरितां केला आहे व तसा सारभूत-न्हस्व व दीर्घ या दोन्ही प्रकारच्या 'खि, ति' व 'खी, ती' या रूपांचा संग्राहक-निर्देश त्या सूत्रांत केला असल्यामुळे, त्या निर्देशाच्या सामर्थ्यानें न्हस्व 'खि, ति' व दीर्घ 'खी, ती' या या दोहोंचेंहि ग्रहण होतें हेंच मानणें उचित आहे आणि भाष्यांत देखील असेंच सांगितलें आहे. (संकाकाराचें असें म्हणणें आहे कीं,

‘स्वत्यात्परस्य’ या सूत्रांत यणादेश करून ‘स्वत्यात्’ असा निर्देश केला असल्यामुळे, त्या निर्देशावरून हे स्पष्ट होते की, घिसज्ञक नसलेल्या ‘सखि’ व ‘पति’ या न्हस्वान्त शब्दानाच ते सूत्र लागू पडावे व जेथे त्या शब्दाना घिसज्ञा होते व त्यामुळे ‘घेडिति’ या सूत्राने गुण होऊन यणादेशाची प्राप्ति होत नाही अशा ठिकाणी ते सूत्र लागू पडू नये याकरिता त्या सूत्रात ‘स्वत्यात्’ असा विकृत निर्देश केला आहे. म्हणून दीर्घ ईकारान्त ‘सखी, पती’ या शब्दाना ते सूत्र लावणे योग्य नाही. या शकेवर दोक्षित असे उत्तर देतात की, पाणिनीच्या मनात काय होते हे कळण्यास त्याने केलेला सूत्र-निर्देश एवढेच साधन उपलब्ध असून इतर कोणतेहि साधन उपलब्ध नसल्यामुळे आणि न्हस्व ‘खि, ति’ किंवा दीर्घ ‘खी, ती’ यांच्यापुढे ‘डसि, डस्’ या प्रत्ययाचा अकार आला असता दोन्ही ठिकाणी यणादेशाची सारखीच प्राप्ति होत असल्यामुळे, यणादेशपूर्वक ‘स्वत्यात्’ या निर्देशाच्या आधारे जसे न्हस्व ‘खि, ति’ याचे ग्रहण करता येते तसेच दीर्घ ‘खी, ती’ याचे देखील ग्रहण करता येते. म्हणून दोन्ही प्रकारच्या रूपांचे ग्रहण करणे उचित आहे. ‘खिते. परस्य’ असे सूत्र केले असते तर, ‘अतिसखे’, भूपते’ इत्यादि अकृतयणादेशस्थली देखील उत्त्व होण्याची आपत्ति आली असती व ‘सखी, पती’ यांच्या रूपांच्या ठिकाणी उत्त्व न होण्याची आपत्ति आली असती या दोन्ही आपत्ति टाळण्याकरिता ‘स्वत्यात्’ असा निर्देश केला आहे व त्या निर्देशाच्या बलावर न्हस्व व दीर्घ या दोन्ही प्रकारच्या शब्दांचे ग्रहण करता येते. ‘स्वत्यात्परस्य’ सू ६-१-११२ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात—‘किमिद स्वत्यादिति? स्वत्यादिति सखिपत्योर्विकृतग्रहणम्। किं पुन कारण सखिपत्योर्विकृतग्रहण क्रियते, न सखिपतिभ्यामित्ये-वोच्येत? । नैव शक्यम् । गरीयाश्चैव हि निर्देश स्यात् । इह च प्रसज्येत — अतिसखेरागच्छामि अतिसखे स्वम् । इह च न स्यात् सखीयतेरप्रत्ययः — सख्यु पत्युः । लूनीयतेरप्रत्यय. — लून्यु

पूनुः । 'या भाष्यांतील 'सखीयत्तेरप्रत्ययः सख्युः' हे, ज्याच्या अन्तीं दीर्घ 'खी' आहे अशा 'सखी' शब्दाचे पञ्चमीच्या व षष्ठीच्या एकवचनाचे रूप आहे व या उदाहरणाचे विवरण वर मनोरमेत' केलेच आहे. बाकीची 'पत्युः, लूनुः, पूज्युः' हीं जीं भाष्यांत तीन उदाहरणे दिली आहेत ती, ज्यांच्या अन्तीं दीर्घ 'ती' आहे अशा शब्दांच्या, पञ्चमीच्या व षष्ठीच्या एकवचनाचीं रूपे आहेत. 'लू, पू' या धातूंहून निष्ठा 'क्त' प्रत्यय केला असतां 'त्वादिभ्यः' सू. ३०१८ या सूत्रानें 'लू' धातूपुढील निष्ठा 'त' प्रत्ययांतील तकाराचा व 'पूओ विनाशे' -सू. ३०१८ वरील वार्तिक-या वार्तिकानें 'पू' धातूपुढें असणाऱ्या निष्ठा 'त' प्रत्ययाचा नकार होतो व 'लून, पून' अशीं क्तप्रत्ययान्त रूपे होतात. या दोन्ही शब्दांहून 'सुप आत्मनः वयच्' सू. २६५७ यासूत्रानें 'लूनमात्मनः इच्छति, पूनमात्मनः इच्छति' या अर्थामध्ये इच्छार्थक 'वयच् = य' प्रत्यय केला असतां, 'वयचिच' सू. २६५८ या सूत्रानें त्या शब्दांतील अन्त्य अकाराचा ईकार होऊन 'लूनीय, पूनीय' अशीं वयजन्त धातूचीं रूपे होतात. या धातूंहून 'विवप् च' सू. २९८३ या सूत्रानें 'विवप् = व्' प्रत्यय केला असतां, 'अतो लोपः' सू. २३०८ या सूत्रानें त्यांतील अन्त्य अकाराचा लोप होऊन व 'लोपो व्योर्वलि' सू. ८७३ या सूत्रानें अवशिष्ट यकाराचा लोप होऊन आणि 'वेरपृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने विवप् प्रत्ययाचा लोप होऊन 'लूनी, पूनी' अशीं ईदन्त प्रातिपदिके होतात. या दोन प्रातिपदिकांच्या अन्तीं जरी 'नी' दिसतो तरी, त्या 'नी' तील नकार तकाराचे जागीं 'त्वादिभ्यः' या त्रैपादिक सूत्रानें व त्या सूत्रावर पठित केलेल्या 'पूओ विनाशे' या त्रैपादिक वार्तिकानें जाल्या असल्यामुळे, 'ख्यत्यात्परस्य' या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीनें तो नकार 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू. १२ या वचनान्वये असिद्ध, ठरतो व 'लूतो, पूतो' अशी दीर्घ त्यन्त प्रातिपदिके आहेत असें मानावें लागतें. तसेंच 'पतीय' या वयजन्त धातूंहून विवप् प्रत्यय केला असतां, वर दिलेल्या प्रक्रियेप्रमाणें, 'पती' असें दीर्घ त्यन्त प्राति-

पदिक' होते. 'सखी, पती, लूनी = लूती, पूनी = पूती' या चारहि शब्दाचे ठिकाणी भाष्यकारांनी 'स्यत्यात्परस्य' हें सूत्र प्रवृत्त करून त्याची 'सख्युः, पत्युः, लून्युः, पून्युः' अशीं पञ्चमीच्या व पठ्ठीच्या एकवचनाचीं रूपें दिली असल्यामुळे, वरील भाष्यावरून हे स्पष्ट होणे वी, 'स्यत्यात्परस्य' या सूत्रातील 'स्यत्यात्' या निर्देशानें दीर्घ 'खी, ती' याचे देखील ग्रहण होते. म्हणून त्या निर्देशानें केवळ ऱ्हस्व 'खि, ति' याचे ग्रहण होतें असे जें कित्येक वैयाकरणाचे म्हणणे आहे ते वरील भाष्याच्या विरुद्ध असल्यामुळे चूक ठरते हे उघड आहे) ।

मनोरमा- यत् प्राचा वेति केचित् इत्युक्त्वा सख्युः इत्याद्युक्तम् । यच्च तद्व्याख्यातुभिरुभयमप्येतद्भाष्ये स्थितमित्युक्तम् । यच्चात्रोपलब्धमर्थं प्रसादकृता-

सख्युः पत्युः प्रसिद्धं यत् स्यत्यादित्याह पाणिनिः ।

साधारण तन्मन्वानाः सुख्युः सुत्युः सुखी. सुतीः ॥

सुखीयतिसुतीयत्योर्मा शिववन्तो तयोर्विदुः ।

निष्ठादेशस्य पूर्वत्रासिद्धत्वाल्लून्युरादिकम् ॥

सुख्य इत्यादि साध्वेतदुभयं भाष्यगौरवात् ।

इति विचारचिन्तामणिस्यश्लोकोपन्यसनं कृतं तदेतत्सकलं भाष्यकं यटापर्यालोचनमूलकमिति कृतबुद्धय एव विदाकुर्वन्तु । शुल्किः इति यत् शुल्क्युः, पक्क्युः, शुल्क्यः, पक्क्यः, इत्युदाजह्रः । भाष्ये स्थितमिति चोपसजह्रः । तदतिरभसात् ॥ इति ईदृता ॥

प्रक्रियाकौमुदीकारांनी 'वेति केचित्', म्हणजे दीर्घ 'खी, ती' याच्यापुढें 'इति, उत्' हे प्रत्यय आल्यास, कित्येक वैयाकरणाच्या मतें त्या प्रत्ययातील अकाराचे विकल्पें करून उत्त्व होते व 'सख्यु, सख्य' अशीं पाक्षिक रूपें होतात, असे जें ('डेराम्न-द्याम्नोभ्य' या सूत्रावरील प्रक्रियाकौमुदीत) म्हटले आहे व त्या ग्रन्थाची व्याख्या करिताना दोन्ही प्रकारचीं रूपें भाष्यात आढळतात

असें जें व्याख्याते प्रकाशकार यांनीं म्हटलें आहे आणि त्याचप्रमाणें प्रक्रियाकोमुदींतील 'वेति केचित्' या वचनाचें समर्थन करण्याकरितां प्रसादकारांनीं (बोपदेवकृत) विचारचिन्तामणि या ग्रन्थांतून 'सह्युः पत्युः प्रसिद्ध्यै यत् उभयं भाष्यगौरवात्' हे जे श्लोक दिले आहेत, हें सर्व त्या ग्रन्थकर्त्यांनीं भाष्य व कीयटवृत्ति यांचें नीट पर्यालोचन न करितां म्हटलें आहे हें विद्वज्जनांच्या सहज लक्षांत येण्याजोगें आहे. (विचारचिन्तामणींतील श्लोकांचा असा अर्थ आहे कीं, 'सह्युः, पत्युः' या रूपांची सिद्धि होण्याकरितां 'ह्यत्यात्' असा जो पाणिनीनें निर्देश केला आहे तो निर्देश 'ह्रस्व व दीर्घ ह्यन्त आणि त्यन्त शब्दांता सारखाच लागू पडतो असें मानून प्राचीन वैयाकरणांनीं 'सुखीयति, सुतीयति' या व्यजन्त धातूहून विवप् प्रत्यय केला असतां 'सुखी' व 'सुती' अशीं जीं प्रातिपदिकें होतात त्यांचीं 'सुह्युः, सुत्युः' अशीं रूपें मानलीं आहेत. त्याचप्रमाणें 'लू' धातूहून निष्ठा 'क्त' प्रत्यय केला असतां, त्या प्रत्ययांतील तकाराचे जागीं होणारा नकारादेश 'पूर्वत्रासिद्धम्' या सूत्रान्वये 'ह्यत्यात्परस्य' या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीनें असिद्ध ठरत असल्यामुळें, 'लून्युः' इत्यादि रूपें मानलीं आहेत आणि 'सुह्युः, सुत्युः, लून्युः' अशीं पाक्षिक रूपें भाष्याच्या आधारें साधु ठरतात असें त्यांचें म्हणणें आहे. परंतु वर दिलेल्या भाष्यांत 'सह्युः, पत्युः, लून्युः, पून्युः' अशीं पाक्षिक रूपें आढळत नसून 'सह्युः, पत्युः, लून्युः, पून्युः' अशींच रूपें आढळत असल्यामुळें, दोन्ही प्रकारचीं रूपें भाष्यांत आढळतात असें जें प्रकाशकारादिकांनीं म्हटलें आहे तें म्हणणें चूक ठरतें हें उघड आहे.) याचप्रमाणें 'शुष्कय्युः, पक्व्युः, शुष्क्यः, पक्व्यः' अशीं जीं पाक्षिक रूपें प्रकाशकारांनीं दिलीं आहेत व अशीं रूपें भाष्यांत आढळतात असें जें म्हटलें आहे तें विचार न करितां म्हटलें आहे, म्हणजे तें म्हणणें चूक आहे. ('शुप्' धातूहून 'क्त' प्रत्यय केला असतां, 'शुपः कः' सू. ३०३०. या त्रीपादिक सूत्रानें 'त' प्रत्ययांतील

तकाराचे जागी ककार होऊन 'शुष्क' असे व्तप्रत्ययान्त रूप होते. तसच 'पच्' घातून 'क्त' प्रत्यय केला असता, 'पचो व' सू. ३०३१ या त्रैपादिक सूत्रानें 'त' प्रत्ययातील तकाराचे जागी वकार होऊन व हें वत्व 'चो कु.' या पूर्वत्रैपादिक सूत्राच्या दृष्टीनें असिद्ध असल्यामुळे व 'पच्' यातील चकारापुढें तकार हा शल् कायमच आहे असे मानावे लागत असल्यामुळे, त्या चकाराचे कुत्व होऊन 'पक्व' असे व्तप्रत्ययान्त रूप होते त्रैपादिक सूत्रानी तकाराचे जागी होणारे हे दोन्ही आदेश 'ह्यत्यात्परस्य' या सापादिक सूत्राच्या दृष्टीनें असिद्ध ठरतात म्हणून 'शुष्कमात्मन इच्छति, पक्वमात्मन इच्छति' या अर्थामध्ये पूर्वी दिलेल्या प्रतिवेप्रमाणे होणाऱ्या 'शुष्कीय, पक्वीय' या वयजन्त घातून वितप् प्रत्यय केला असता, अकारलोप व यकारलोप होऊन 'शुष्की, पक्वी' अशी जी प्रातिपदिके होतात ती 'शुप्ती, पक्ती' अशी दीर्घ रत्यन्त प्रातिपदिके आहेत असे मानावे लागते, व त्याचीं 'ह्यत्यात्परस्य' या सूत्रान्वये 'शुष्क्यु, शुष्क्य, पक्क्यु पक्क्य' अशी पञ्चमीच्या व पष्ठीच्या एकवचनाची पाक्षिक रूपे प्रकाशकारांनी दिली आहेत पण ही रूपे अशुद्ध आहेत, कारण जेथें यणादेश होतो तेथेंच 'ह्यत्यात्परस्य' हें सूत्र प्रवृत्त होऊ शकतें 'शुष्की, पक्वी' या स्थली ईकारापूर्वी संयोग असल्यामुळे, 'एरनेकाच' हें सूत्र प्रवृत्त होऊ शकत नाही व ईकाराचे जागी यणादेश होऊ शकत नाही म्हणून या स्थली 'अधि श्नु' या सूत्रानें ईकाराचे जागी 'इमड्' आदेश होऊन 'शुष्किम पक्विम' अशीच पञ्चमीच्या व पष्ठीच्या एकवचनाची रूपे होऊ शकतात) येथें ईदन्तप्रकरण संपले

शब्दरत्न-न च परत्वादिति । एव च मलोपो दुर्लभ इति भाव । यास्तिककारोक्तेरिति । "लोपो व्यो " इति सूत्रे 'क्वावृ-पसह्यानम्' इति यास्तिकम् । तस्यापूर्वत्वापेक्षया वयो यया लोपे दुर्लभ इष्टसिद्धिर्भवति तथा वक्तव्यमित्यर्थः । सा च पूर्वविप्रति-पेधेनेत्याशयेनैवमुक्तमिति बोध्यम् । गौणत्वेऽपीति । इच्छाकर्तृ-

रूपार्थं प्रत्युपसर्जनत्वेऽपीति । कृतयणेति । अन्यथा खितेः परस्येत्येव वदेदिति भावः । गुणविषये इति । प्रकृतिप्रत्ययापेक्षगुणापेक्षया तदवयवमात्रापेक्षस्यान्तरङ्गत्वेन ततः पूर्वं प्रवृत्तिः स्यादिति भावः । दुर्वारत्वादिति । तदर्थं कृतस्यान्यसङ्गग्राहकत्वेऽपि बाधकाभावादिति भावः । विकृतनिर्देशस्येति । यकारान्तानुकरणनिर्देशस्येत्यर्थः । अकारस्तूच्चारणार्थं इति भावः । साधारणमिति । ह्रस्वदीर्घसाधारण-मित्यर्थः । विदाकुर्वन्त्विति । भाष्येऽस्यार्थस्यास्पृष्टत्वादिति भावः । अतिरभसादिति । संयोगपूर्वकत्वेन यणो दुर्लभत्वादिति भावः । इयङ्यतो लोपस्याभीयासिद्धत्वं तु न, व्याश्रयत्वात् ॥ इतीदन्ताः ॥

('सखीय् व् ' या स्थली) 'वेरपृक्तस्य ' हें परसूत्र असल्या-मुळें त्या सूत्रानें प्रथम 'क्विप् = व् ' या अपृक्त प्रत्ययाचा लोप केल्यास (यकारापुढें 'बल्' राहत नसल्यामुळें) यकाराचा लोप होणें अशक्य आहे असा शंकाकाराच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे. 'लोपो व्योर्वलि' ६-१-६६ या सूत्रावर 'क्वावुपसङ्ख्यानम् ' असें वार्तिक पठित केलें आहे. हें वार्तिक अपूर्व वचन आहे, म्हणजे पाणिनीनें - जें सूत्रांत सांगितलें आहे त्याहून अधिक सांगणारें तें वचन आहे, असें मानण्यापेक्षां, क्विप् प्रत्ययाचा लोप प्रथम केल्यास यकारलोप होऊं शकणार नाही व इष्ट रूपांची सिद्धि होऊं शकणार नाही आणि म्हणून इष्ट रूपांची सिद्धि होण्या-करितां जसें वचन पठित करणें योग्य आहे तसेंच वचन पठित करावें आणि 'वेरपृक्तलोपाद्वलि लोपः पूर्वविप्रतिषेधेन ' असें वचन पठित केल्यानें सर्व इष्ट रूपांची सिद्धि होऊं शकत असल्यामुळें, त्याच प्रकारचें पूर्वविप्रतिषेधाचें वचन पठित करावें असा दीक्षि-तांच्या म्हणण्याचा आशय आहे हें जाणावें. (बल्प्रत्याहारान्तर्गतवर्ण पुढें आला असतां वकार व यकार यांचा लोप होतो असें 'लोपो व्योर्वलि' सू. ८७३ या सूत्रांत सांगितलें आहे. वार्तिककाराचें असें म्हणणें आहे कीं, या सूत्रांत 'बलि' या निमित्ताचा जो निर्देश केला आहे त्याखेरीज 'क्वी' या निमित्ताचा देखील निर्देश करणें

आवश्यक आहे. तसे केले असता, विवप् हा प्रत्यय प्रत्ययरूपाने यकारवकारलोपाचे स्वतंत्र निमित्त ठरतो. त्यामुळे 'वेरपूक्तस्य' सू. ३७५ या उत्तर सूत्राने जरी विवप् प्रत्ययाचा लोप प्रथम होतो तरी, तो विवप् प्रत्यय प्रत्ययलक्षणाने वियमान आहे असे 'प्रत्यय गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात्' या भाष्य-वचनान्वये मानता येते आणि त्यामुळे 'लोपो व्योर्वेलि' या पूर्व सूत्राने यकारलोप होण्यात काही अडचण येत नाही. वातिककाराने पठित केलेले वरील वातिक मानल्याने विवप् प्रत्ययाच्या निमित्ताने होणारा यकारलोप वर्णनिमित्ताक ठरत नगून प्रत्ययनिमित्तक ठरत असल्यामुळे, 'वर्णाश्रमे नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' ही परिभाषा आड येत नाही व यथापठित वातिकाने सर्व इष्ट रूपाची सिद्धि होऊ शकते. परंतु पाणिनीय सूत्रात जे सांगितले आहे त्याहून अधिक सांगणारे हे वातिक अपूर्व वचन आहे असे मानण्यापेक्षा पूर्वविप्रतिषेध मानल्याने सर्व इष्ट रूपाची सहज सिद्धि होऊ शकत असल्यामुळे आणि पूर्वविप्रतिषेध मानण्यात लाघव असून वरील अपूर्व वचन मानण्यात गौरव असल्यामुळे दीक्षितानी मनोरमेत यथापठित वरील वातिक न देता, ते केवळ पूर्वविप्रतिषेधाचे वातिक मानले जावे या हेतूने ते वातिक भिन्न शब्दात मनोरमेत पठित केले आहे आणि तसे पूर्वविप्रतिषेधाचे वातिक मानल्याने 'लोपो व्योर्वेलि' या सूत्रात 'वयो' हा अधिक शब्द घालण्याची काही गरज राहत नाही) 'गौणत्वेऽपि अनङ्-णित्वयो प्रवृत्तेरुक्तत्वात्' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्यातील 'गौणत्वेऽपि' या पदाचा 'इच्छाकर्तृरूपार्थं प्रत्युपसर्जनत्वेऽपि', म्हणजे इच्छा करणाऱ्याचे उपसर्जन होत असून देखील, असा अर्थ आहे (याचे विवरण मनोरमेत केलेच आहे) 'एतदर्थं कृतयणादेश-निर्देशः' असे जे मनोरमेत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, न्हस्व 'ति, ति' व दीर्घ 'खी, ती' या दीर्घांचेहि ग्रहण न होता, न्हस्व 'खि, ति'चेच ग्रहण व्हावे असे जर पाणिनीया मनात असते तर, त्याने 'रूपत्यात्' असा यणादेशपूर्वक गुरु निर्देश न करिता,

‘खितेः’ असा लघु निर्देश केला असता. ‘घेडिति’ सू. २४५ या सूत्रानें गुण होण्याकरितां घिसंज्ञक प्रकृति व तिच्या पुढें डित् प्रत्यय असणें या दोहोंचीहि अपेक्षा असल्यामुळें व ‘खितेः परस्य’ असें सूत्र केलें असतें तर, तें सूत्र प्रवृत्त होण्याकरितां प्रकृतीच्या केवळ अवयवाची, म्हणजे अन्त्य ‘खि’ किंवा ‘ति’ या अवयवाची, अपेक्षा राहत असल्यामुळें, ‘खितेः परस्य’ हें सूत्र अन्तरङ्ग ठरून ‘घेडिति’ या सूत्रापूर्वीं तें प्रवृत्त झालें असतें (व त्यामुळें ‘अतिसखेः, भूपतेः’ या स्थलीं गुणादेश न होतां, ‘डसि, डस्’ या प्रत्ययांच्या अकाराचे जागीं उकार झाला असता. पण ‘ख्यत्यात् परस्य’ या सूत्रांत ‘ख्यत्यात्’ असा यणादेशपूर्वक निर्देश केला असल्यामुळें, तें सूत्र अशाच ठिकाणीं प्रवृत्त होऊं शकतें कीं, जेथें ‘ख्य’ किंवा ‘त्य’ असा यणादेश झाला आहे व त्यामुळें तें सूत्र अन्तरङ्ग ठरत नाहीं आणि ‘अतिसखि, भूपति’ या स्थलीं ‘घेडिति’ या परसूत्रानें गुण होत असल्यामुळें यणादेशाची प्राप्तीच होत नाहीं व त्यामुळें त्या उदाहरणांत ‘ख्यत्यात्परस्य’ हें सूत्र प्रवृत्त होऊं शकत नाहीं.) ‘दीर्घप्रवृत्तेर्द्वारत्वात्’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ‘ख्यत्यात्परस्य’ या सूत्रांत ‘ख्यत्यात्’ असा जो यणादेशपूर्वक निर्देश आहे तो जरी ‘घेडिति’ या सूत्राचा बाध न व्हावा याकरितां केला आहे तरी, तशा निर्देशानें (म्हणजे ‘खि, ति’ व दीर्घ ‘खी, ती’ या दोहों-
 चेहि ग्रहण होऊं शकत असल्यामुळें) दीर्घ ‘खी, ती’ चे ग्रहण करण्यांत काहीं बाध येत नाहीं. मनोरमेंतील ‘विकृतनिर्देशस्य’ या पदाचा ‘यकारान्तानुकरणनिर्देशस्य’, म्हणजे यणादेश झाल्यावर यकारान्त ‘ख्य, त्य’ असें जें रूप होतें त्याचें अनुकरण करून केल्या ‘ख्य, त्य’ हा निर्देश, असा अर्थ आहे व या निर्देशांतून अक्षर उच्चारणाचें आहे. मनोरमेंत दिलेल्या कारिकांतील ‘साप्ता-
 रणम्’ या पदाना ‘क्षत्यदीर्घमात्तरणम्’, म्हणजे म्हणजे ‘खि, ति’ व दीर्घ ‘खी, ती’ या दोहोंनाहि मारतात त्याच पदपारा

‘स्पर्श्यात्’ हा निर्देश असा अर्थ आहे. ‘तदेतत्सकल... विदाकुर्वन्तु’ असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, दीर्घ ‘तो, ती’ अन्ती आहेत ज्याच्या अशा शब्दाची पञ्चमीच्या व पष्ठीच्या एकवचनाची दोन पाक्षिक रूपे होतात असा भाष्यात कोठेंहि उल्लेख केला नाही. (याचे विवरण मनोरमंत केलेच आहे.) ‘तदतिरगसात्’ असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, ‘शुष्की, पक्वी’ या स्थली अन्ती असलेल्या ईकारापूर्वी संयोग असल्यामुळे, ‘एरनेकाचः’ या सूत्रानें होणारा यणादेश होऊ शकत नाही. ‘शुष्यः’ या स्थली ‘शुष्की’ यातील ईकाराचे जागी ‘अचि णु’ सू. २७१ या सूत्रानें इयडादेश करतेवेळी, ‘अतो लोप.’ सू. २३०८ या सूत्रानें झालेला अकारलोप आभीय-कार्य असून देखील असिद्ध ठरत नाही; कारण अकारलोप व इयडादेश ही दोन कार्ये (समाननिमित्तक नसून) भिन्न-निमित्ताक आहेत. (‘शुष्कीय विवप् डस्’ या स्थली विवप्-प्रत्ययाच्या निमित्तानें अकारलोप होऊन व नंतर ‘लोपो व्योर्वलि’ सू. ८७३ या सूत्रानें अवशिष्ट यकाराचा लोप होऊन आणि मग ‘विवप् = ध्’ या अपृक्त प्रत्ययाचा ‘वैरपृक्तस्य’ सू. ३७५ या सूत्रानें लोप होऊन ‘शुष्की डस्’ अशी स्थिति झाली असता, ‘डस् = अस्’ हा अजादि प्रत्यय पुढें असल्यामुळे, ‘शुष्की’ या क्यजन्त धातूतील अन्त्य ईकाराचे जागी ‘अचि णु’ सू. २७१ या सूत्रानें इयडादेश पावला आहे येथें शकाकार असे म्हणवो की, ‘अतो लोप’ व ‘अचि णु’ ही दोन्ही सूत्रे आभीया-धिकारात पठित असल्यामुळे, ‘अतो लोप.’ या पूर्वं सूत्रानें झालेला अकारलोप ‘अचि णु’ या उत्तर सूत्रानें इयडादेश करतेवेळी, ‘असिद्धवदत्राभात्’ सू. २१८३ या सूत्रान्वये, असिद्ध ठरतो व त्यामुळे अकारलोप झालाच नाही असे मानावे लागते. अशा रीतीने ‘शुष्की’ यातील अन्त्य ईकार व ‘डस् = अस्’ हा अजादि प्रत्यय या दोहोमध्ये अकाराचे व्यवधान आहे असे मानावे लागत असल्या-

मुळें; ईकाराचे जागीं इयडादेश होऊं शकत नाहीं. या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं, 'असिद्धवदत्राभात्' हें सूत्र समाननिमित्तक कार्यानाच्च लागू पडणारें सूत्र असून भिन्ननिमित्तक कार्याना लागू पडणारें सूत्र नसल्यामुळें व प्रकृत स्थलीं अकारलोप विवप् प्रत्ययाच्या निमित्तानें झाला असून इयडादेश अजादि प्रत्ययाच्या निमित्तानें करणें असल्यामुळें, इयडादेश करतेवेळीं पूर्वीं झालेला भिन्ननिमित्तक अकारलोप असिद्ध ठरत नाहीं व त्यामुळें इयडादेश होऊन 'शुष्कियः' असें रूप सिद्ध होतें. 'असिद्धवदत्राभात्' या सूत्रावरील काशिकेंत 'व्याश्रयं तु नासिद्धवद्भवति' असें स्पष्ट म्हटलें आहे.) येथें ईदन्त प्रकरण संपलें.

मनोरमा- "तृज्वत् क्रोष्टुः" । क्रुश आह्वाने । अस्मात् 'सितनि' इति तुनप्रत्यये क्रोष्टुशब्दः, तृचि तु क्रोष्टुशब्दः । द्वावपि सृगालवाचिनौ । तत्राविशेषेण द्वयोः प्रयोगे प्राप्ते सर्वनामस्थाने स्त्रियां च तृजन्त एव । तृतीयादावच्युभयम्, अन्यत्र तु तुजन्त एवेति नियमार्थं त्रिसूत्री आरभ्यते । क्रोष्टुरिति तुजन्तात् प्रथमा । तृज्वदिति तृतीयान्ताद्धृतिः । निमित्तव्यपदेशतादात्म्यशास्त्रकार्यरूपविषयकत्वेनातिदेशस्य षड्विधत्वेऽपि प्राधान्याविह रूपमेवातिदिश्यते । तच्च न पचादेर्यस्य कस्यचित् । किं तु क्रुशेरेव उपस्थितत्वादर्थत आन्तर्याच्चेत्यभिप्रेत्य फलितमाहु-क्रोष्टुशब्दस्थाने इति ।

'तृज्वत् क्रोष्टुः' सू. २७४ या सूत्रांतील 'क्रोष्टु' हा शब्द 'क्रुश आह्वाने' या धातूहून 'सितनि' उणादि सू. ६९ या सूत्रानें ओणादिक 'तुन्' प्रत्यय होऊन सिद्ध झाला आहे. परंतु 'क्रुश' धातूहून ('ण्वत्तुची' सू. २८९५ या सूत्रानें) 'तृच्' प्रत्यय केला असतां 'क्रोष्टु' असा शब्द सिद्ध होतो. 'क्रोष्टु' व 'क्रोष्टृ' हे दोन्ही शब्द शृगाल-कोल्हा-या कथांचि वाचक आहेत. या दोन्ही शब्दांचीं सर्व विभक्त्यंत व सर्व लिङ्मांत भिन्न रूपें होण्याची प्राप्ति झाली असतां, सर्वनामस्थान-प्रत्यय पुर्वे आल्याम व तसेंच स्त्रीलिङ्गमध्ये तृजन्त 'क्रोष्टु' शब्दा-

चौच रूपें व्हावी व तृतीयादि विभक्तीचे अजादि प्रत्यय पुढें आल्यास 'क्रोष्टु' व 'क्रोष्ट' या दोन्ही शब्दाची पाक्षिक रूपें व्हावी आणि इतर स्थली तुन्प्रत्ययान्त 'क्रोष्टु' शब्दाचीच रूपें व्हावी याकरितां 'तृज्वत् क्रोष्टुः, स्त्रिया च' सू. ३०५ व 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' सू. २७८ ही तीन सूत्रें नियमार्थ पठित केली आहेत. प्रकृत सूत्रातील 'क्रोष्टुः' हा शब्द तुत्तन्त 'क्रोष्टु' या शब्दाने प्रथमेचे एकवचन आहे. ('क्रोष्टु सु' या स्थली 'सु' हा सर्वनामस्थानप्रत्यय 'क्रोष्टु' या शब्दापुढें असल्यामुळें, वर दिलेल्या नियमान्वये 'क्रोष्टु' शब्दाचे 'क्रोष्टा' असेच वास्तविक प्रथमेच्या एकवचनाचे रूप होऊ शकतें, 'क्रोष्टु' असे रूप होऊ शकत नाही. तरी पण प्रकृत सूत्रात 'क्रोष्टु' असा जो निर्देश केला आहे तो अर्थात् प्राधान्य न देता केवळ शब्दस्वरूपाला प्राधान्य देऊन केला आहे.) तृतीयान्ताहून 'वति' प्रत्यय केला असता, 'तृज्वत्' हे रूप सिद्ध होते ('तृचा तुल्यम्' या अर्थमिध्यें 'तृचा' या तृतीयान्ताहून 'तेन तुल्य त्रिया चेद्वति' सू. १७७८ या सूत्रानें अतिदेशार्थक 'वति' प्रत्यय होऊन 'तृच् टा वत्' अशी स्थिति झाली असता, या तद्धितान्त समुदायाला 'कृतद्धितसमासादच' सू. १७९ या सूत्रानें प्रातिपदिकसज्ञा होत असल्यामुळें, 'सुपो पातुप्रातिपदिकयोः' सू. ६५० या सूत्रानें 'टाः' या अन्तर्वति विभक्तिप्रत्ययाचा लृक् होऊन व 'झला जशोऽन्ते' सू. ८४ या सूत्रानें 'तृच्' यातील चकाराचा जकार होऊन 'तृज्वत्' हा शब्द सिद्ध झाला आहे) निमित्तातिदेश, व्यपदेशाति-
 चेन, तादात्म्यातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश व रूपातिदेश असे असे जरी सहा प्रकारचे अतिदेश आहेत तरी, रूपातिदेश प्रधान असल्यामुळें, प्रकृत सूत्रातील 'तृज्वत्' या शब्दानें रूपाचाच अतिदेश होतो (रूपातिदेश प्रधान आहे असे जें वर म्हटलें आहे त्याचे कारण 'सर्वेषां कार्याणां रूपनिष्पत्त्यर्थत्वात्' हे आहे व त्याचा अर्थ हा आहे की, इष्ट रूपें सिद्ध व्हावी याकरिताच पाणिनीय विधायक सूत्रात कार्ये होणे सांगितली असल्यामुळें, रूपातिदेश प्रधान ठरतो. मनोरमेत

जरी सहा प्रकारचें अतिदेश सांगितलें आहेत तरी, 'कार्यरूप-निमित्तार्थशास्त्रतादात्म्यशब्दिताः । व्यपदेशश्च सप्तैतानतिदेशान् प्रचक्षते' या तत्वबोधिनींत व बालमनोरमेंत दिलेल्या कारिकेंत सात प्रकारचे अतिदेश सांगितले आहेत.) प्रकृत सूत्रांत जो तृजन्त रूपाचा अतिदेश केला आहे तो 'पच्' इत्यादि वाटेल त्या धातूच्या तृजन्त रूपाचा अतिदेश नसून, प्रकृत सूत्रांतील 'क्रोष्टुः' या निर्देशांत 'कुश्' हाच धातु उपस्थित असल्यामुळें व 'कुश्' धातूच्या तृजन्त रूपांत व 'क्रोष्टु' शब्दांत अर्थसादृश्य असल्यामुळें, 'कुश्' धातूच्या तृजन्त रूपाचाच हा अतिदेश आहे हें स्पष्ट होतें. (प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत-सू. ७-१-९५-भाष्यकार म्हणतात-'एवमपि किंचिदेव तृजन्तं प्राप्नोति, इदमपि प्राप्नोति-पक्तेति । आन्तरतम्याच्च सिद्धम् । क्रोष्टोर्यदन्तरतमं तद्भविष्यति । किं पुनस्तत् ? । कुशोर्य-स्तृज्विहितस्तदन्तम् ।' या भाष्याला धरूनच मनोरमेंतील वरील पंक्ति लिहिली आहे. हा विषय परिभाषेन्दुशेखराच्या मराठी भाषां-तरांत पान ४८ मध्यें स्पष्ट केला आहे व तें विवरण वाचल्यास, वरील पंक्ति नीट ध्यानांत येईल.) हा आशय मनांत धरूनच प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत 'क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्यः' असें फलितरूपानें व्याख्यान केलें आहे.

शब्दरत्न-नियमार्थमिति । फलतः प्रयोगनियमार्थमित्यर्थः । तृतीयान्तादिति । तृजन्तेन तुल्यं रूपं लभत इत्यर्थः । निमित्तेत्यादि "पूर्ववत्सन" "आद्यन्तवत्" "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्" इत्याद्यत्रयस्योदाहरणं, तत्र तृजन्तत्वरूपनिमित्तस्य, तद्व्यवहारस्य वा अतिदेशो आहत्य = तृच्शब्दं समुच्चार्य विहितकार्यस्यैवापत्ती जति गुणावादेशयोस्तृजन्तोद्देश्यको "अप्तुन्" इति दीर्घ एव स्यात् । स्वोजसादियु चानङ्गुणी न स्याताम् । न चोत्तरसूत्रद्वयेन सामर्थ्यात् "अप्तुन्" इत्यत्र क्रोष्टुग्रहणेनैव सिद्धावाप्तेनापि सामर्थ्यात्कार्यमात्रप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । तत्सामर्थ्येन रूपाति-वेशस्यैव आपयितुं युक्तत्वात् । तादात्म्यातिवेशस्त्वसम्भवी, सह

प्रयोगाभावात् । शास्त्रकार्यातिदेशावपि न, तुन्नन्तस्याद्युदात्ततया तुज्वद्भावेनोकारस्य रेफरूपयणादेशोऽपि तस्योदात्तस्यानिकयणोऽभावेन “उदात्तयणो ह्रस्पूर्वात्” इति स्वरानापत्तेः । अर्थातिदेशस्त्वसम्भवी तयोर्द्वयस्य स्वत एव सत्वाच्च । षड्विधत्वेऽपीति । अर्थातिदेशासम्भव मत्वेदम् । युक्त्यन्तरमाह-प्राधान्यादिति । ह्रस्वमपि । तच्च ‘तुज्वत्’ इत्यत्र ऋकारस्योपस्थित्या तद्विशिष्टं क्रोष्टु इति । तच्च तुज्वदिति चकारोच्चारणसामर्थ्यान्तोदात्तस्वरविशिष्टमिति ऋकारस्योदात्तत्वात् ‘उदात्तयण’ इत्यादिस्वरसिद्धिरिति बोध्यम् ।

‘नियमार्थं त्रिसूत्री आरम्यते’ असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्यातील ‘नियमार्थम्’ या पदाचा ‘फलतः प्रयोगनियमार्थम्,’ म्हणजे अमुक प्रकारचा प्रत्यय पुढे आला असता किंवा अमुक लिङ्गात ‘क्रोष्टु’ व ‘कोष्ट’ या दोन शब्दांपैकी अमुकच विशिष्ट शब्दाचा प्रयोग करावा असा नियम घालून देण्याकरिता, असा नियामक, अर्थ फलित होतो ‘तृतीयान्तादिति’ असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचा ‘तृजन्तेन तुल्य रूप लभते,’ म्हणजे ‘क्रोष्टु’ शब्दाचे ‘क्रोष्ट’ या तृजन्त शब्दाच्या उपासारखे रूप होते, असा अर्थ आहे मनोरमंत जे सहा अतिदेश सांगितले आहेत त्यांपैकी पहिल्या तीन अतिदेशांची, म्हणजे निमित्तातिदेश, व्यपदेशातिदेश व तादात्म्यातिदेश यांची, ‘पूर्ववत्सन’ सू. २७३४, ‘आद्यन्तवदेकस्मिन्’ सू. ३४८ व ‘सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे’ सू. ३६५६ ही अनुक्रमे-उदाहरणे आहेत (‘पूर्ववत्सन’ या सूत्राचा असा अर्थ आहे की, ज्या घातूहून ‘सन्’ प्रत्यय केला जातो त्या मूळ घातूचे ज्या निमित्तामुळे आत्मनेपद होतें त्याच निमित्तामुळे सन्नन्त घातूचे देखील आत्मनेपद होणे घातूला जे आत्मनेपदाचे प्रत्यय होत असतात ते कोणत्या तरी निमित्तामुळेच होत असतात उदाहरणार्थ घातुपाठांत जो घातु ‘अनुदात्तेत्’ किंवा ‘डित्’ पठित आहे तथा घातूहून ‘अनुदात्तडित आत्मनेपदम्’ सू. २१५७ या सूत्रानें आत्मने-

पदी प्रत्ययः होणें सांगितलें आहे. तसेंच जो धातु-धातुपाठांत 'स्वरि-
 तेत्' किंवा 'वित्' पठित आहे तशा धातूहून, क्रियाफल कर्तृगामि
 असल्यास, स्वरितवितः' सू. २१५८ या सूत्रानें आत्मनेपदी प्रत्यय
 होणें सांगितलें आहे. त्याचप्रमाणें कौमुदींत दिलेल्या आत्मनेपद-
 प्रकरणांत जीं अनेक सूत्रें दिलीं आहेत तींहि आत्मनेपदिप्रत्यय
 होण्याचीं निमित्तें होत. 'एष वृद्धी' हा धातु धातुपाठांत अनुदात्तत्
 पठित असल्यामुळें 'अनुदात्तङितः' या सूत्रान्वयें तो आत्मनेपदी
 ठरतो व या धातूहून 'सन्' प्रत्यय केला असतां, 'पूर्ववत्सन्ः'
 या सूत्रान्वयें सन्नन्त धातूहून देखील आत्मनेपदी प्रत्यय होऊन
 'एदिधिपते' इत्यादि रूपें होतात. सारांश ज्या निमित्तामुळें मूळ
 धातूहून आत्मनेपदी प्रत्यय होतात त्याच निमित्तामुळें तशा धातूच्या
 सन्नन्ताहून आत्मनेपदिप्रत्यय होणें हा निमित्तातिदेश होय. 'आद्यन्त-
 वदेकस्मिन्' या सूत्राचा असा अर्थ आहे कीं, जो असहाये
 आहे, म्हणजे एकटाच आहे, त्याचे ठिकाणीं आदिवत् किंवा
 अन्तवत् असा व्यपदेश-व्यवहार-करतां येतो व हाच व्यपदेशाति-
 देश होय. 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' - परि. ३० - या परि-
 भाषेनें देखील हेंच सांगितलें आहे; व परिभाषेन्मुखेन खराच्या
 मराठी भाषान्तरांत केलेलें या परिभाषेचें विवरण वाचल्यास,
 व्यपदेशातिदेश कशाला म्हणतात व तो कोणाचे ठिकाणीं करतां
 येतो इत्यादि सर्व विषय नोट घ्यानांत येईल. 'सुत्रामन्त्रिते पराङ्ग-
 वत्स्वरे' या सूत्राचा असा अर्थ आहे कीं, 'सुवन्तापुढें संबोधनाचें रूप
 आल्यास, तीं दोन्ही पदें मिळून एकच पद आहे असें स्वरविधि
 करितांना मानावें. उदाहरणार्थ 'परशुना वृश्चन्' या स्थलीं 'पर-
 शुना' या सुवन्तापुढें 'वृश्चन्' हें आमन्त्रितसंज्ञक संबुद्धीचें पद
 आलें असल्यामुळें, स्वरविधि कर्तव्य असतां, 'परशुना' हें पद
 'वृश्चन्' या पदाचें अङ्ग मानल्यानें दोन्ही पदें मिळून एक पद
 आहे असें मानलें जातें आणि त्यामुळें 'परशुना' यांतील पकारापुढें
 असलेला अकार 'आमन्त्रितस्य च' सू. ३६५३ या सूत्रानें उदात्त होतो.

येथे सुवन्त पद स्वरविधि करतेवेळी आमन्त्रित पदाशी एकजीव होऊन त्याशी तादात्म्य पावत असल्यामुळे, हे तादात्म्यातिदेशाचे उदाहरण ठरते 'कालेभ्यो भववत्' सू १२३७ हे शास्त्रातिदेशाचे उदाहरण असून 'स्थानिवदादेश' सू ४९ हे कार्यातिदेशाचे उदाहरण आहे व प्रवृत्त सूत्र रूपातिदेशाचे उदाहरण आहे.) प्रवृत्त सूत्र निमित्तातिदेशाचे किंवा व्यपदेशातिदेशाचे सूत्र आहे (व रूपातिदेशाचे सूत्र नव्हे) असे मानले तर, ज्या ज्या सूत्रात 'तृच' या शब्दाचा उच्चार करून तृजन्ताला कार्ये होणे सांगितली आहेत तेवढीच कार्ये 'क्रोष्टु' शब्दाला होऊ शकतील त्यामुळे 'क्रोष्टु' शब्दापुढे 'जस्' प्रत्यय आला असता ('ऋतो डिसर्वनामस्थानयो.' सू २७५ या सूत्रात 'तृच' चा उच्चार करून कार्ये होणे सांगितले नसल्यामुळे, जरी 'जस्' हा सर्वनामस्थानप्रत्यय आहे तरी, ते सूत्र प्रवृत्त न होता, 'जसि च' सू २४१ हे सूत्र प्रवृत्त होऊन त्या सूत्राने) गुण व (नंतर 'एचोऽपवायाव' सू ६१ या सूत्राने) अवदेश ज्ञात्याने (क्रोष्टु जस् = क्रोष्टो अस् = क्रोष्टव' अशी स्थिति झाली असता, 'अप्तृन्तृच्' सू २७७ या सूत्राने 'तृच्' चा उच्चार करून तृजन्ताला उपधादीर्घकार्य होणे सांगितले असल्यामुळे) 'अप्तृन्' या सूत्राने उपधादीर्घकार्य होईल (न 'क्रोष्टाव' असे रूप होईल) गण ('ऋदुशानस' सू २७६ या सूत्राने) 'सु' प्रत्यय पुढे असताना होणारा 'अनङ्' आदेश व तसच 'सु, औ, जस्' इत्यादि सर्वनामस्थानप्रत्यय पुढे असताना ('ऋतो डिसर्वनामस्थानयो' या सूत्राने होणारे) गुणकार्य होऊ शकणार नाही; (कारण या दोन्ही सूत्रात 'तृच्' चा उच्चार करून कार्याचे विधान केले नाही त्यामुळे अनिष्ट रूपे होण्याची आपत्ति येईल. म्हणून प्रवृत्त सूत्र निमित्तातिदेशाचे किंवा व्यपदेशातिदेशाचे-व्यवहारातिदेशाचे-सूत्र आहे हे मानणे अयोग्य आहे असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे आता पुढील पंचमीत शकाकार अशी शका करतो की, दीक्षितानी मनोरमंत प्रवृत्त सूत्र रूपाति-

देशाचें सूत्र आहे असें जें म्हटलें आहे तें बरोबर नसून, वास्तविक तें कार्यसामान्यातिदेशाचें सूत्र आहे. जर पाणिनीचा असा हेतु असता कीं, 'तृच्' या प्रत्ययाचा उच्चार कळून 'अप्तृन्' सू. २७७ या सूत्रानें तृजन्ताला जें उपधादीर्घकार्य होणें सांगितलें आहे तेवढेंच कार्य 'क्रोष्टु' या शब्दाला व्हावें व ऋदन्ताला होणारीं इतर कार्ये 'क्रोष्टु' शब्दाला होऊं नयेत तर त्याने) 'अप्तृन्' या सूत्रांत 'क्रोष्टु' या शब्दाचें ग्रहण केल्यानंच त्याचा हेतु सिद्धीस गेला असता (व प्रकृत व त्यापुढील तृज्वद्भावाची दोन सूत्रें पठित करण्याची त्याला कांहींच गरज नव्हती आणि अशा रीतीनें हीं सूत्रत्रयी व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. पण पाणिनीनें ही सूत्रत्रयी मुद्दाम आरंभिली असल्यामुळें) या सूत्रत्रयीच्या आरंभसामर्थ्यानें हें सिद्ध होतें कीं, प्रकृत सूत्र कार्यसामान्यातिदेशाचें सूत्र आहे. (या शंकेवर शब्दरत्नकार असें उत्तर देतात कीं,) ही शंका बरोबर नाही; कारण प्रकृत सूत्र व त्यापुढील दोन सूत्रें यांच्या आरंभसामर्थ्यानें प्रकृत सूत्र रूपातिदेशाचें सूत्र आहे हें जापित होतें असेंच मानणें योग्य आहे. ('स्त्रियां च' सू. ३०५ व 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' सू. २७८ या, प्रकृत सूत्रापुढें पठित केलेल्या, दोन सूत्रांत तृजन्ताला उद्देशून कोणतेंहि कार्य होणें सांगितलें नसून जरी केवळ तृज्वद्भावाचें विधान केलें आहे तरी, हीं दोन सूत्रें सार्थक ठरावीं याकरितां हें मानणें आवश्यक आहे कीं, ज्याप्रमाणें ऋदन्त प्रातिपदिकान्या उद्देशून पाणिनीय शास्त्रांत जीं कार्ये होणें सांगितलीं आहेत तीं सर्व कार्ये 'क्रोष्टु' शब्दाहून केलीं जातात त्याचप्रमाणें प्रकृत सूत्रान्या आरंभसामर्थ्यानें तीं सर्व कार्ये 'क्रोष्टु' शब्दाहून देखील होतात. तसें मानल्यानें प्रकृत सूत्रत्रयी चरितार्थ ठरते व तसें न मानल्यानें ही सूत्रत्रयी व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते. सारांश नमुद्देश्यक व शब्दरत्नक सर्व कार्ये 'क्रोष्टु' शब्दाला त्याचीं कारितां बरीच सूत्रत्रयी मुद्दाम आरंभिली असल्यामुळें, प्रकृत

सूत्र कार्यसामान्यातिदेशाचे सूत्र ठरतें असा शकाकाराच्या म्हणण्याचा तात्पर्याय आहे या शकेवर शब्दरत्नकार असे उत्तर देतात की, पाणिनीने जो सूत्रत्रयी मुद्दाम आरभिली आहे ती रूपातिदेश मानल्याने देखील सुसङ्गत ठरत असल्यामुळे, प्रकृत सूत्र रूपातिदेशाचे सूत्र आहे हेच मानणे योग्य आहे, कारण पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे शब्दशास्त्रात-व्याकरणशास्त्रात-रूपातिदेश प्रधान असल्यामुळे, जेथे रूपातिदेश मानणे संभवत नाही तशा स्थली इतर प्रकारचा अतिदेश मानणे उचित आहे परंतु जेथे रूपातिदेश व तसेच इतर प्रकारचा देखील अतिदेश मानणे संभवते तशा स्थली, रूपातिदेश प्रधान असल्यामुळे, रूपातिदेश मानणेच योग्य आहे शकाकाराने वरील शका करिताना जें म्हटले आहे ते रूपातिदेशाचे देखील सारखेंच समर्थन करणारे असल्यामुळे, प्रकृत स्थली कार्यसामान्यातिदेश न मानता दीक्षितानी जसा रूपातिदेश मानला आहे तसेच मानणे उचित आहे असा शब्दरत्नकारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे सारांश प्रकृत सूत्रात 'तुज्वन्' असा जो निर्देश केला आहे त्या निर्देशातील तकार, गोतो णित्' सू २८४ या सूत्रात जसा गकार अविवक्षित मानला आहे तसा, अविवक्षित मानून व चकार देखील अविवक्षित मानून शकावार 'तृच्' या प्रकृत सूत्रातील निर्देशातील कवळ ऋकारच विवक्षित मानतो व अशा रीतीने प्रकृत सूत्र कार्यातिदेशाचे सूत्र ठरविण्याचा प्रयत्न करतो पण तसे करण्यापेक्षा, प्रकृत सूत्र रूपातिदेशाचे सूत्र आहे हे मानण्यातच लाघव आहे, कारण तसे मानल्याने 'तृच्' या निर्देशातील तकार व चकार अविवक्षित आहेत असे मानण्याची काही गरज पडत नाही व सूत्रत्रयीच्या आरभसामर्थ्याने तो निर्देश चरितार्थ ठरतो म्हणूनच भैरवीकार म्हणतात - 'सूत्रत्रयसामर्थ्यादुच्चारितस्य चकारस्याविवक्षाया कल्पनापेक्षया रूपातिदेशो न वस्यचिद्वर्धयर्थशङ्कोति भाव ।') तादात्म्यातिदेश तर येथे संभवतच नाही, कारण 'क्रोष्ट' व 'क्रोष्ट' (हे दोही शब्द 'कोल्हा' या एकाच अर्थाचे वाचक असल्यामुळे) या दोन शब्दांच्या

कोणत्याहि रूपांचा वाक्यांत एकेच वेळीं प्रयोग होऊं शकत नाहीं. (तादात्म्यातिदेश होण्याकरितां दोन भिन्न व्यक्तींची आवश्यकता आहे. दोन भिन्न व्यक्ति असल्या तरच एक व्यक्तीचा दुसरे व्यक्तीचे ठिकाणीं तादात्म्यातिदेश करतां येतो. 'परशुना वृश्चन्' या वर दिलेल्या उदाहरणांत दोन भिन्नार्थक स्वतंत्र पदांचा वाक्यांत प्रयोग केला असल्यामुळे, पूर्वपद उत्तरपदाशीं तादात्म्य पावून दोन्ही पदे एकजीव होतात व 'आमन्त्रितस्य च' या पाठ सूत्रानें संबोधनाला होणारें स्वरकार्य पूर्व पदाच्या आद्य अचाला होतें. पण त्रिसूत्री नियमार्थक मानली असल्यामुळे व 'क्रोष्टु' आणि 'क्रोष्टु' या समानार्थक शब्दांचा वाक्यांत एकेच वेळीं प्रयोग होणें संभवत नसल्यामुळे, प्रकृत सूत्र तादात्म्यातिदेशाचें सूत्र आहे असें मानतां येणें मुळींच शक्य नाहीं.) प्रकृत स्थलीं शास्त्रातिदेश किंवा कार्यातिदेश देखील मानतां येत नाहीं; कारण 'तुन्' प्रत्ययान्त 'क्रोष्टु' शब्द आद्युदात्त असल्यामुळे तृज्वद्भाव करून त्यांतील उकाराचे जागीं जरी रेफरूप यणादेश केला तरी, तो रेफरूप यण् उदात्ताचे जागीं होत नसल्यामुळे, 'उदात्त यणो हल्पूर्वात्' सू. ३७२० या सूत्रानें होणारा स्वर न होण्याची आपत्ति येते. ('क्रोष्टु आ' या स्थलीं शास्त्रातिदेश मानल्यास, 'आडो नाऽस्त्रियाम्' सू. २४४ हें विसंज्ञक शब्दाला लागू पडणारें शास्त्र प्रवृत्त न होतां, ऋदन्त शब्दापुढें 'टा = आ' हा प्रत्यय आला असतां तशा ठिकाणीं लागू पडणारें 'इको यणचि' सू. ४७ हें शास्त्र प्रवृत्त होईल. कार्यातिदेश मानल्यास, वरील उदाहरणांत 'आडो नाऽस्त्रियाम्' या सूत्रानें कार्य न करितां 'इको यणचि' या सूत्रानें कार्य करावें लागेल. आतां 'अिनत्यादिनित्यम्' सू. ३६८६ या सूत्रान्वयें तुन्प्रत्ययान्त 'क्रोष्टु' शब्द आद्युदात्त आहे; पण तृच्प्रत्ययान्त 'क्रोष्टु' शब्द 'चितः' सू. ३७१० या सूत्रान्वयें अन्तोदात्त आहे. वर जे दोन अतिदेश सांगितले आहेत त्यांपैकी कोणताहि अतिदेश मानला तरी, 'क्रोष्टु आ' या स्थलीं 'आ' प्रत्ययाचे जागीं नादेश न करितां, वर सांगितल्याप्रमाणें,

यणादेशरूप कार्य करावे लागेल व ते कार्य केल्याने व जे वकाररूप यणादेश कार्य पावले आहे ते न करिता तुज्वद्भाव करून रेफरूप यणादेश केल्याने 'क्रोष्ट्रा' असे रूप होईल हे खरे. पण येथे जो रेफरूप यणादेश होतो तो अनुदात्त उवाराचे जागी होत असून उदात्तस्थानिक नसल्यामुळे, ज्याप्रमाणे 'क्रोष्ट्र आ' या स्थली उदात्तस्थानिक यण् होत असल्यामुळे 'क्रोष्ट्रा' हा शब्द 'उदात्त-यणो हल्पूर्वात्' या सूत्रान्वये अन्तोदात्त होतो तसा, शास्त्रातिदेश किंवा कार्यातिदेश मानून सिद्ध केलेला 'क्रोष्ट्रा' हा शब्द अन्तोदात्त न होता, आद्युदात्त होईल आणि अशा रीतीने स्वरात फरक पडण्याची आपत्ति येईल म्हणून येथे शास्त्रातिदेश किंवा कार्यातिदेश मानता येत नाही असा शब्दरत्नकाराच्या म्हणण्याचा भावार्थ आहे) अर्थातिदेश तर या ठिकाणी संभवतच नाही, कारण 'क्रोष्ट्र' व 'क्रोष्ट्र' हे दोन्ही शब्द स्वतः. एकाच अर्थाचे वाचक आहेत. (मनोरमंत जरी सहाच प्रकारचे अतिदेश सांगितले आहेत तरी, 'कार्यरूपनिमित्तार्थशास्त्रतादात्म्यशब्दिता । ध्यपदेशश्च सप्ततानति-देशान् प्रचक्षते' या पूर्वी दिलेल्या कारिकेत अर्थातिदेश हा एक अधिक सातवा अतिदेश सांगितला आहे तो अतिदेश अशाच ठिकाणी होऊ शकतो की जेथे दोन शब्द भिन्न अर्थाचे वाचक असून एका शब्दाच्या अर्थाचा दुसऱ्या शब्दाच्या अर्थाचे ठिकाणी आरोप केला जातो प्रकृत स्थली 'क्रोष्ट्र' व 'क्रोष्ट्र' हे दोन्ही शब्द 'कोल्हा' या एकाच अर्थाचे वाचक असल्यामुळे, अर्थातिदेश होणे संभवतच नाही. 'स्त्री पुवच्च' सू ९३२ हे सूत्र अर्थातिदेशाचे उदाहरण आहे) मनोरमंत जे सहाच प्रकारचे अतिदेश सांगितले आहेत ते, प्रकृत स्थली अर्थातिदेश संभवतच नाही असे मानून, सांगितले आहेत. (सारांश वास्तविक अतिदेश सात प्रकारचे असून दीक्षितानी मनो-रमंत जे अतिदेशाचे सहाच प्रकार सांगितले आहेत त्याचे कारण हेच की, सातव्या प्रकारचा अतिदेश, म्हणजे अर्थातिदेश, प्रकृत सूत्राने होणे मुळीच संभवत नाही. प्रकृत स्थली रूपातिदेशच संभवतो याचे

इतर सहा अतिदेश येथें संभवत नसून तो सातवाच अतिदेश होऊं शकतो असे वरील शब्दरत्नांत जें कारण दिलें आहे त्या खेरीज रूपातिदेश मानण्यास दीक्षितांनीं मनोरमेंत) 'प्राधान्यात्' हें वेगळें कारण दिलें आहे (व याचें चिबरण पूर्वीं मनोरमेंत केलेंच आहे.) 'रूपमेवातिदिश्यते' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचें कारण हें कीं, प्रकृत सूत्रांतील 'तृज्वत्' या पदांत ऋकार उपस्थित असल्यामुळें, 'क्रोष्टु' शब्दाचे जागीं ऋकारविशिष्ट 'क्रोष्टृ' हें रूप अतिदेशानें होतें. 'तृज्वत्' यांतील 'तृच्' यांत चकाराचें उच्चारण केलें असल्यामुळें त्या उच्चारणसामर्थ्यानें, ज्या 'क्रोष्टृ' शब्दस्वरूपाचा अतिदेश होतो तें शब्दस्वरूप ('चितः' सू. ३७१० या सूत्रान्वयें होणारें) अन्तोदात्तस्वरविशिष्ट रूप होय, आणि या अतिदिष्ट रूपांतील अन्त्य ऋकार उदात्त असल्यामुळें, 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' सू. ३७२० इत्यादि सूत्रांनीं होणारें स्वर सिद्ध होण्यांत कांहीं अडचण येत नाही. (व 'क्रोष्ट्रा' इत्यादि रूपे अन्तोदात्त होतात.)

मनोरमा- नियमार्थमिति । अन्येषां संज्ञाशब्दानां मा भूदित्येतदर्थमित्यर्थः । क्रोष्टेति । अनङ् । हल्ङादिलोपात्परत्वादुपधादीर्घः । स च "सर्वनामस्थाने च" । इत्यनेन यद्यपि लभ्यते तथापि परत्वात् "अप्तृन्" इत्येव न्याय्यः । कृतेऽप्यनङि एकदेशविकृतस्यानन्यत्वेन तृज्वात् । अन्यथा गुणे कृतेऽपि दीर्घो न स्यादिति भावः ।

'अप्तृन्' सू. २७७ या सूत्रावरील कीमुदींत 'नष्वादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्' असें जें म्हटलें आहे त्याचा अर्थ हा आहे कीं, (उणादिनिष्पन्न तृन्तृजन्त संज्ञावाचक शब्दांना जर उपधादीर्घ-कार्य होणें असेल तर प्रकृत सूत्रांत निर्दिष्ट असलेल्या सात शब्दांनाच तें कार्य व्हावें) इतर संज्ञावाचक शब्दांना, म्हणजे उणादिनिष्पन्न 'पितृ, भ्रातृ' इत्यादि संज्ञावाचक शब्दांना, तें कार्य होऊं नये. 'क्रोष्टा = क्रोष्टृ सु' या स्थलीं ('ऋदुशनस्' सू. २७६ या सूत्रानें अन्त्य ऋकाराचे जागीं) अनङादेश होतो (व 'अनङ्' आदेश केल्यानें

‘क्रोष्टन् सु’ अशी स्थिति झाली असता) ‘हल्ङ्याङ्म्यः’ सू. २५२ या सूत्राच्या मानाने ‘अप्त्न्’ हे प्रकृत सूत्र परसूत्र असल्यामुळे, उपधादीर्घकार्यं प्रथम होऊन नंतर ‘सु’ प्रत्ययाचा लोप होता. जरी ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ सू. २५० या सूत्राने देखील वरील उदाहरणात उपधादीर्घकार्यं (‘क्रोष्टन्’ हा शब्द नान्त असल्यामुळे) होऊ शकते तरी, त्या सूत्राच्या मानाने ‘अप्त्न्’ हे प्रकृत सूत्र परसूत्र असल्यामुळे, ‘अप्त्न्’ या सूत्रान्वयेच उपधादीर्घकार्यं करणे न्याय्य आहे. ‘क्रोष्ट्’ शब्दातील अन्त्य ऋकाराचे जागी ‘अनङ्’ आदेश केला असता जरी ‘क्रोष्टन्’ असे रूप होते तरी, ‘एकदेश-विकृतमन्यवत्’-परि. ३७- या परिभाषान्वये ‘क्रोष्टन्’ हा एकदेशविकृत शब्द तूजन्त ‘क्रोष्ट्’ शब्दच आहे असे मानता येते. या स्थली एकदेशविकृतन्याय प्रवृत्त न केल्यास, [‘क्रोष्ट् ओ’ इत्यादि स्थली ‘ऋतो द्विसर्वनामस्थानयो.’ सू. २७५ या सूत्राने) गुण केला तरी, उपधादीर्घकार्यं होऊ शकणार नाही. (‘क्रोष्ट् ओ’ या स्थली गुण केल्यावर ‘क्रोष्टर् ओ’ अशी स्थिति झाली असता, ‘क्रोष्टर्’ हा शब्द तूजन्त ‘क्रोष्ट्’ शब्दच आहे असे एकदेशविकृत-न्यायाने न मानल्यास, उपधादीर्घकार्यं होऊ शकणार नाही व ‘क्रोष्टारी’ इत्यादि इष्ट रूपे सिद्ध होऊ शकणार नाहीत)

शब्दरत्न-सज्ञाशब्दानामिति । उणादिव्युत्पन्नानामिति शेषः । असौ धातुशब्दस्य दीर्घो भवत्येव । परत्वादिति । इदमपि च कार्येणैऽसम्भवाभावे विप्रतिषेध इत्यभिमानेन । यद्वा परत्वादुत्कृष्ट-त्वात् विशेषविहितत्वेन शोघोपस्थितिकत्वादित्यर्थः ।

मनोरमंतील ‘सज्ञाशब्दानाम्’ या पदापूर्वी ‘उणादि-व्युत्पन्नानाम्’ हे पद अध्याहृत आहे उणादिनिष्पन्न राजावाचक शब्दानाच ‘अप्त्न्’ या सूत्राने घालून दिलेला नियम लागू पडत असल्यामुळे (व ‘धातु’ हा सज्ञावाचक शब्द उणादिमूत्रान्वये सिद्ध झाला नसून, ‘धा’ धातूहून ‘ण्वल्तृषौ’ सू. २८१५ या पाणिनीय सूत्राने ‘तृप्’ प्रत्यय होऊन सिद्ध झाला असल्यामुळे,

प्रकृत सूत्रानें) 'घातृ' या शब्दाला उपधादीर्घकार्य होतेच. 'परत्वात् अप्तृन् इत्येव न्याय्यः' असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे व पुढें ('हे रमे' या रूपाची सिद्धि करितांना दीक्षितांनीं मनोरमेंत 'यथाश्रुतेऽपि एङ्हस्वात् इति लोपस्यैव परत्वेन न्याय्यत्वात्' असें) जें म्हटलें आहे तें असें मानून म्हटलें आहे कीं, जरी 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' व 'अप्तृन्' या दोन्ही सूत्रांत उपधादीर्घ होणें हेंच कार्य सांगितलें आहे व त्या दोन सूत्रांपैकीं कोणत्याहि सूत्रानें तें कार्य केल्यास कांहींच विरोध येत नाही तरी असंभवाचा अभाव असून देखील, त्या दोन सूत्रांत पूर्वपरभाव असल्यामुळें, विप्रतिषेध होतोच. (जेथें एखाद्या उदाहरणांत इतरत्र सावकाश व चरितार्थ असणान्या दोन तुल्यबल सूत्रांची युगपत् प्रवृत्ति होणें असंभवनीय आहे तशाच ठिकाणीं भाष्यकारांनीं विप्रतिषेध मानला आहे. म्हणून वास्तविक येथें वरील दोन सूत्रांत विप्रतिषेध मानतां येत नाही; कारण त्या दोन सूत्रांपैकीं कोणतेंहि सूत्र प्रथम प्रवृत्त केलें तरी उपधादीर्घकार्यच होणार आणि म्हणूनच शब्दरत्नकारांनीं प्रकृत पंक्तींत 'इत्यभिमानेन' हीं अरुचिप्रदर्शक पदे घातलीं आहेत. तथापि प्रकृत स्थलीं विप्रतिषेध नसून देखील एक पूर्व सूत्र व दुसरें पर सूत्र असल्यामुळें, 'पूर्वात्परं बलवत्' या न्यायान्वये दीक्षितांनीं येथें विप्रतिषेध मानला आहे.) अथवा मनोरमेंतील 'परत्वात्' या पदाचा 'उत्कृष्टत्वात्', म्हणजे 'विशेषविहितत्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात्' असा अर्थ करावा. ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' हें उपधादीर्घकार्याचें विधान करणारें सामान्य सूत्र असून, 'अप्तृन्' हें उपधादीर्घकार्याचें विधान करणारें विशेष सूत्र आहे; कारण या सूत्रांत 'तृन्' प्रत्ययाचा उच्चार कर्मन नृजन्ताला उपधादीर्घकार्य होणें सांगितलें आहे. म्हणून जेथें नृजन्म शब्दाला उपधादीर्घकार्य करणें आहे तेथें 'अप्तृन्' हें विशेष सूत्र एकदम प्रथम उपस्थित होतें व तें प्रतिपद्योग्य सूत्र जन्मन्त्यामुळें, विलंबोपस्थितिक 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' या सामान्य सूत्राचा याच कर्मन, स्वतःच प्रवृत्त होतें.)

मनोरमा-“रात्सस्य” ॥ इह तकारोऽपि प्रक्षिप्यत इति पक्षान्तरम् । तेन हल्ङ्घादिसूत्रस्याने ङ्घापः तोरिति निष्कर्षे अविभर्भवानित्यादि सिद्धयति । अजघत् इत्यत्र तु चत्वं स्यात्सिद्धत्वात् तलोपो न । ननु कीर्तयतेः क्विपि कीर्त् इह स्यादिति चेन्न । ‘ययालक्षणमप्रयुक्ते’ इति भाष्यम् । एतेनावर्त्तं इति व्याख्यातम् । परत्वादिति । न च नृणिरस्य इति वाच्यम्, तृज्वद्भावे कृते सन्निपातपरिभाषया नुटो दुर्लभत्वादिति भावः । ननुमचिरेति । ननु रेण स्वविषये प्राप्तं सर्वं बाध्यम् । बाध्यसामान्यचिन्ताधयणात् । तथा च वक्ष्यते । ‘गुणदीर्घात्वानामपवाद’ इति । एवं चाविदीर्घाद् नुङ्घ्यनेन बाध्यः । तत्कथं विप्रतिषेधः । उत्सर्गापवादयोस्तदयो-गादिति चेत्तत्स्थम् । अत एव तदंशे विप्रतिषेधं रूपयित्वा “न तिसृचतसृ” इति ज्ञापकाद् नुङिति भाष्यकृतोक्तमिति सन्तोष्यम् इत्युदन्ताः ॥

‘रात्सस्य’ सू. २८० या सूत्रात् तकार देखील प्रक्षिप्यत आहे असाहि एक पक्ष आहे व हा पक्ष मानल्यास, ‘हल्ङ्घादिसूत्रः’ सू. २५२ या सूत्राएवजी ‘ङ्घापः सोः’ एवढेंच सूत्र जरी पठित केले तरी, ‘अविभर्भवान्’ इत्यादि प्रयोग सिद्ध होऊ शकतात. (‘अ विभृ त्’ या स्थली ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ सू. २१६८ या सूत्रानें ‘विभृ’ यातील अन्त्य ऋकाराला गुण होऊन ‘अविभर् त्’ अशी स्थिति जाली असता, रकारापुढें तकार आला असल्यामुळें, तकाराचा प्रक्षेप करून ‘रात् सस्य’ असे सूत्र मानल्यानें, तकाराचा लोप होऊन ‘अविभर्’ असे रूप सिद्ध होऊ शकते. या विषयाचें विवरण मागे केलेच आहे) ‘अजघत्’ या स्थली चत्वं असिद्ध असल्यामुळें तकारलोप होत नाही. (‘गृधु अभिकाङ्क्षायाम्’ या धातूच्या यङ्लुकाच्या लडाचे प्रथमपुरुषाच्या एकवचनाचे ‘अजघत्’ हे रूप आहे. या उदाहरणात ‘सन्पडोः’ सू. २३९५ या सूत्रानें द्विवचन होऊन व ‘उरत्’ सू. २२४४ या सूत्रानें अम्यासातील ऋकाराचे जागीं अकार होऊन व ‘कुहोद्बुः’

सू. २२४५ या सूत्राने अभ्यासांतील गकाराचे जागीं जकार होऊन व 'रुग्रीकी च लुकि' सू. २६५२ या सूत्राने अभ्यासांलां 'रक् = र्' आगम होऊन व 'पुगन्तलबूपघस्य च' सू. २१८९ या सूत्राने 'गृधु' धातूतील उपधाऋकाराचा गुण होऊन 'अजर्गर्धत्' अशी स्थिति झाली असतां, 'हल्ङ्याढ्यः' हें यथापठित सूत्र न मानलें तरी 'संयोगान्तस्य लोपः' सू. ५४ या सूत्रानेच तकारलोप केल्यावर 'अजर्गर्ध्' असें रूप होतें. येथें 'गर्ध्' हा एकाच् पदान्तीं असल्यामुळे 'एकाचो वशो भप्' सू. ३२६ या सूत्राने 'गर्ध्' यांतील गकाराचा घकार होऊन व 'वाऽवसाने' सू. २०६ या सूत्राने अन्त्य घकाराचा तकार होऊन 'अजर्धत्' असें रूप होतें. या रूपांत रकारापुढें तकार असल्यामुळे, 'रात् त्सस्य' या सूत्राने त्या तकाराचा लोप पावला आहे. परंतु 'रात् त्सस्य' हें त्रैपादिक पूर्व सूत्र असून 'वाऽवसाने' हें त्रैपादिक परसूत्र असल्यामुळे, 'रात् त्सस्य' या सूत्राने तकारलोप करतेवेळीं 'वाऽवसाने' या परसूत्राने घकाराचे जागीं झालेला तकार, 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू. १२ या वचनान्वये, असिद्ध ठरतो, म्हणजे घकाराचे जागीं तकार झाला नसून घकारच विद्यमान आहे असें मानावें लागतें व त्यामुळे तकाराचा लोप होत नाही.) 'कृत संजघ्ने' या चुरादिगणांत पठित असलेल्या धातूहून निच् कृत्न विवप् प्रत्यय केल्यावर ('कृत् निच् विवप्' या स्थितीत 'उपधायाश्च' सू. २५७१ या सूत्राने उपधाभूत दीर्घऋकाराचे जागीं इकार होऊन व 'उरणपरः' सू. ७० या सूत्राने तो इकार रपर होऊन व 'उपधायां ष' सू. २२६५ या सूत्राने तो इकार दीर्घ होऊन व 'जेरनिटि' सू. २३१३ या सूत्राने निलोप होऊन आणि 'वेग्नृक्तस्य' सू. ३७५ या सूत्राने 'विवप् = व्' या अप्वन प्रत्ययाचा लोप होऊन) 'कीर्न्' अगें त्रे म्प होतें त्या म्पांत रकारापुढें तकार असल्यामुळे, 'रात् त्सस्य' अगें सूत्र मानल्यान, तकारलोप पावतो अगें कोणी म्हटल्यान, तें म्हणजे बरोबर नाही; कारण 'दधान्यशतमप्रपुत्रे' अगें भाष्यवचन आहे व त्या भाष्यवचनान्वये

‘अवर्धंतं’ या स्थली देखील (जरी रकारापुढें तकार आहे तरी त्या) तकाराचा लोप होत नाही. (‘यथालक्षणमप्रयुक्ते’ या भाष्यवचनाचे ‘लोके प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानमित्यप्रयुक्ते लक्षणामप्रवृत्तिलक्षणं लक्षणमित्यर्थः’ असे वीथटानें व्याख्यान केले आहे व या व्याख्यानाचा अर्थ असा आहे की, लौकिकप्रयोगात जे शब्द आढळतात त्यांचेच अन्वाख्यान करण्याकरितां पाणिनीय शास्त्र रचले असल्यामुळे, ज्या शब्दाचा भाषेंत प्रयोग आढळत नाही तशा शब्दाची सिद्धि करण्याकरितां पाणिनीय शास्त्राची प्रवृत्ति होत नाही. ‘कीर्त्तं’ व ‘अवर्धंतं’ हे प्रयोग भाषेंत आढळत नाहीत. म्हणून त्याचे ठिकाणीं ‘यथालक्षणमप्रयुक्ते’ या भाष्यवचनान्वये ‘रात् त्सस्य’ या सूत्राची प्रवृत्ति करता येत नाही असा दीक्षितांच्या म्हणण्याचा आशय आहे ‘अवर्धंतं’ हे ‘वृत्’ घातूच्या यङ्लुकाच्या लडाचे प्रथमपुरुषाचे एकवचन आहे. आता ‘क्रोष्टु आम्’ या स्थली ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ सू. २७८ या सूत्रानें तृज्वद्भावाची प्राप्ति आहे व तसेच ‘नृस्वनद्यापो नुट्’ सू. २०८ या सूत्रानें ‘आम्’ प्रत्ययाला नुडागमाची प्राप्ति आहे या दोन सूत्रांपैकी, तृज्वद्भावाचे सूत्र परसूत्र असल्यामुळे, तृज्वद्भाव प्रथम करून, म्हणजे ‘क्रोष्टु’ असे रूप प्रथम करून, नंतर ‘आम्’ प्रत्ययाला नुडागम केल्यास, ‘नामि’ सू. २०९ या सूत्रानें ऋकार दीर्घ होऊन ‘क्रोष्टूनाम्’ असे रूप होईल पण तसे रूप होणे इष्ट नसून ‘क्रोष्टूनाम्’ असेच रूप होणे इष्ट असल्यामुळे, वातिककारानें ‘नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन’ असे वातिक पठित केले आहे व त्या वातिकान्वये पूर्वविप्रतिषेधानें ‘आम्’ प्रत्ययाला प्रथम नुडागम होतो, म्हणजे ‘नाम्’ असा हलादि प्रत्यय होतो, व अशा रीतीने ‘क्रोष्टु’ शब्दापुढें अजादि विभक्तिप्रत्यय राहत नसल्यामुळे, तृज्वद्भाव होत नाही व ‘नामि’ या सूत्रानें ‘क्रोष्टु’ यांतील अन्त्य उकार दीर्घ होऊन ‘क्रोष्टूनाम्’ असे इष्ट रूप सिद्ध होते.) तुज्जप्पकपयं त्रित्थं आहे (व तें त्रित्थं असल्यामुळे, ”

‘पराश्रित्यं बलवत्’ या न्यायान्वयें तृज्वद्भावरूप परकार्याचा बाध करून तें आपोआपच प्रथम होईल आणि म्हणून पूर्वविप्रतिषेधाचें बरील वातिक असण्याची कांहीं गरज नाही) असें कोणी म्हटल्यास, तें म्हणणें बरोबर नाही; कारण सन्निपातपरिभाषा-परि. ८६-असल्यामुळे, परसूत्रानें तृज्वद्भाव प्रथम केल्यावर नुडागम मुळींच होऊं शकणार नाही. (‘क्रोष्टु आम्’ या स्थलीं तृज्वद्भाव प्रथम केला किंवा मागून केला तरी ‘ह्रस्वनद्यापो नुट्’ या सूत्रानें नुडागमाची अवश्यप्राप्ति आहे. म्हणून ‘कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्’ या वचनान्वयें नुडागमकार्यं नित्य ठरत असल्यामुळे, परसूत्रानें होणाऱ्या तृज्वद्भावाचा बाध करून तें ‘पराश्रित्यं बलवत्’ या न्यायान्वयें प्रथम होईलच. मग पूर्वविप्रतिषेधाचें बरील वातिक मानण्याची गरज काय असें शंकाकाराचें म्हणणें आहे. या शंकेवर दीक्षित असें उत्तर देतात कीं, ‘क्रोष्टु आम्’ या स्थलीं तृज्वद्भाव प्रथम केल्यास, म्हणजे ‘क्रोष्टु आम्’ अशी प्रथम स्थिति केल्यास, ज्या ‘आम्’ प्रत्ययाच्या अजादित्वामुळे तृज्वद्भाव झाला आहे तो ‘आम्’ प्रत्यय, सन्निपातपरिभाषान्वयें नुडागमकार्यं होऊं देणार नाही; कारण नुडागम केल्यास, ‘क्रोष्टु’ व ‘आम्’ या दोहोंत नुडागमाचें व्यवधान होऊन तो नुडागम त्या दोहोंच्या सन्निपाताचा नाश करील व अशा रीतीनें नुडागमकार्यं ‘कृताकृतप्रसङ्गि’ ठरत नसल्यामुळे, म्हणजे तृज्वद्भाव प्रथम केल्यास नंतर नुडागम होऊं शकत नसल्यामुळे, तें कार्यं नित्य मानतां येत नाही आणि म्हणून तें पूर्वसूत्रानें होणारें कार्यं असल्यामुळे परसूत्रानें होणाऱ्या तृज्वद्भावकार्याचा बाध तें करूं शकत नाही. तसा बाध व्हावा याकरितां पूर्वविप्रतिषेधाचें बरील वातिक असणें आवश्यक आहे.) आतां ‘नुमच्चिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन’ या पूर्वविप्रतिषेधाच्या वातिकासंबंधानें अशी शंका करण्यांत येते कीं, (‘अचि र ऋतः’ सू. २९९ या सूत्रानें होणारा) रेफादेश होतेवेळीं ज्या ज्या सूत्रांची प्राप्ति होत असेल त्या सर्व

सूत्रांचा, 'बाध्यसामान्यचिन्ता' या पक्षाचा आश्रय घेतल्याने, तो रेफादेश बाध करील आणि म्हणूनच तो रेफादेश ('ऋतो हि सर्वनामस्थानयो.' सू. २७९ या सूत्राने होणाऱ्या) गुणकार्याचा व ('प्रथमयो पूर्वसवर्णः' सू. १६४ या सूत्राने होणाऱ्या) सवर्णदीर्घ-कार्याचा आणि ('ऋत उत्' सू. २७९ या सूत्राने होणाऱ्या) उद्वकार्याचा अपवाद आहे असे ('अचि र ऋतः' सू. २९९ या सूत्रावरील कौमुदीत) सांगण्यात येणार आहे. अशा रीतीने हा रेफादेश ज्या ज्या सूत्राची प्राप्ति आहे त्या सर्व सूत्रानी होणाऱ्या कार्यांचा अवशिष्टेकरून बाधक ठरत असल्यामुळे, नुडागमाचा देखील बाध करीलच मग येथे विप्रतिषेध होणे कसे शक्य आहे, कारण (इतरत्र सावकाश व चरितार्थ होत असणाऱ्या दोन तुल्यबल शास्त्रातच विप्रतिषेध होत असल्यामुळे, ज्याच्यात बाध्यबाधकभाव आहे व त्यामुळे जे तुल्यबल नाहीत अशा) उत्सर्ग व अपवाद या दोन शास्त्रामध्ये विप्रतिषेध होऊ शकत नाही. (या शकेवर दीक्षित असे उत्तर देतात की,) ही शका यथार्थ आहे. म्हणूनच नुडागमाने 'अचि र ऋत' या सूत्राने होणाऱ्या रेफादेशाचा पूर्वविप्रतिषेधाने बाध केला पाहिजे असे जे वातिककाराने पूर्वविप्रतिषेधाच्या वरील वातिकात म्हटले आहे त्या अशाला दूषित ठरवून, 'न तिसूचतसु' सू. ३०० या ज्ञापकान्वये 'अचि र ऋत' या सूत्राने होणाऱ्या रेफादेशाचा बाध करून नुडागम होतो असे भाष्यकारानी म्हटले आहे आणि (अशा रीतीने ते भाष्य शकाकाराच्या शकेचे एक प्रकारे समर्थन करणारे आहे असे जाणून) त्याने सतोप मागावा ('तुज्यत् क्रोष्टु' सू. ७-१-९५ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात- 'तरमाद्भुद्विषये रादेशस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । न वक्तव्यः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न रादेशो नुट बाधत इति, यद्य न तिसूचतसु इति प्रतिषेध शारिण नामि दीर्घत्वस्य ।' या भाष्याचा भावार्थ हा आहे की, नुडागम रेफादेशाचा पूर्वविप्रतिषेधाने बाध करितो असे जे वरील वातिकात वातिककाराने म्हटले आहे तसे म्हणणे बरोबर

नाहीं; कारण 'तिसृ, चतसृ' या शब्दांपुढें 'नाम्' प्रत्यय आला असतां 'नामि' सू. २०९ या सूत्रानें पावलेलें. दीर्घकार्य करूं नये या अर्थाचें 'न तिसृचतसृ' हें निषेधक सूत्र आचार्य पाणिनीनें केलें असल्यामुळें त्यावरून हें ज्ञापित होतें कीं, रेफादेश नुडागमाचा बाध करित नाही. जर रेफादेशानें नुडागमाचा बाध व्हावा व 'तिसृ, चतसृ' या शब्दांपुढें 'आम्' प्रत्यय आला असतां त्या प्रत्ययाला नुडागम न होतां 'तिसृ, चतसृ' यांतील अन्त्य ऋकाराचे जागीं रेफादेश व्हावा असें पाणिनीला इष्ट असतें तर, त्याला बरील निषेधक सूत्र करण्याची कांहींच गरज नव्हती. या विषयाचें अधिक विवरण शब्दरत्नांत करण्यांत येईल.) येथें ऊदन्त प्रकरण संपलें.

शब्दरत्न-निष्कर्षेति । अस्य पूर्वपक्षिण इति शेषः । यथा-लक्षणमिति । अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्य योग्यतेत्यर्थः । बाध्यसामान्य-चिन्तेति । सा च तृज्वत्सूत्रे भाष्ये स्पष्टा । एवं च 'अचि र' इति सूत्रस्थं 'अचि रादेशे जस्युपसंख्यानं गुणपरत्वात्' इति वार्त्तिकं बाध्यविशेषचिन्ताभिमानेन प्रवृत्तमिति भावः । एतेन तद्वार्त्तिक-वलाज्जसोऽन्यत्र प्रियतिसरमित्यादौ गुणं कल्पयन्तः परास्ताः, तृज्वत्सू-त्रस्थभाष्यविरोधात् । "मपर्यन्तस्य" इति सूत्रस्थप्रियतिस्रावित्या-दिभाष्यविरोधाच्च, अनेन-रेण । विप्रतिषेध इति अचि रेणेत्यर्थः । दूषयित्वेति । यद्यपि "न तिसृ" इति ज्ञापकेन तदपवादत्वाभाव-कल्पनया विप्रतिषेध उपपद्यते । तथापि ज्ञापकानुसरणस्यावश्यक-त्वेनैव तं दूषयित्वेत्यर्थः । इदं तृज्वत्सूत्रे भाष्ये । सन्तोष्यमिति । अतिक्षोदस्तदंशे वार्त्तिके न कार्य इति भावः ॥

मनोरमेंतील 'निष्कर्षे' या पदापूर्वी 'पूर्वपक्षिणः' हें पद अध्याहृत आहे. ('हृड्यावभ्यः' सू. २५२ हें यथापठित सूत्र न मानतां 'ङ्यापः सोः' एवढेंच सूत्र मानावें हें वास्तविक दीक्षितांचें म्हणणें नसून पूर्वेपक्षीचें म्हणणें आहे असें शब्दरत्नकार म्हणतात व तें म्हणणें दूषित करून भाष्यकारांनीं हाच सिद्धान्त सांगितला

आहे की, 'इषापः सोः' असे सूत्र पठित केल्यास अनेक दोष उपस्थित होत असल्यामुळे, यथापठित सूत्रच असणे आवश्यक आहे. 'हल्ङ्याभ्यः' सू. ६-१-६८ या सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकार म्हणतात:- 'तस्मादशक्योऽप्युक्तलोपः सयोगान्तलोपो विज्ञातुम् । न चेद्विज्ञायते ? । द्विहलपृथक्प्रहणं तिस्रोश्च ग्रहणं कर्तव्यमेव ।' 'यपालक्षणमप्रयुक्ते' या भाष्यवचनाचा 'अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्य योग्यता' असा अर्थ आहे. (या विषयाचे विवरण मनोरमंत केलेच आहे) ज्या ज्या सूत्राची प्राप्ति होते त्या सर्व सूत्रांनी होणाऱ्या कार्याचा 'अचि र ऋतः' या सूत्राने होणारा रैकादेश बाधक ठरतो असे, बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष मानून, भाष्यकारांनी 'तृज्वत् श्रोष्टुः' सू. ७-१-९५ या सूत्रावरील भाष्यात म्हटले आहे. 'अचि र ऋतः' या सूत्राच्या विषयात भाष्यकारांनी बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष मानला असल्यामुळे, 'अचि रादेशे जस्युपसङ्ख्यानं गुणपरत्वात्' हे जे वातिक त्या सूत्रावर वातिककाराने केले आहे ते बाध्यविशेषचिन्तापक्ष मानून पठित केले आहे असे समजावे (पण बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष मानल्यास, त्या वातिकाची व त्या सूत्रावर जी इतर वातिके पठित केली आहेत त्याची काही गरज राहत नाही ही उघड आहे) 'अचि रादेशे जस्युपसङ्ख्यानम्' या वातिकाच्या आधारे ('प्रियतिसृ अम्' इत्यादि स्थली) 'जस्' प्रत्यय पुढे नसल्यामुळे जे ध्याकरण ('ऋतो ऽसर्वनामस्थानयो' सू. २७५ या सूत्राने) गुण करून 'प्रियतिसरम्' इत्यादि त्पे सिद्ध करतात ते त्याचे करणे बरील विवेचनावरून बूक ठरते; कारण ते म्हणणे 'तृज्वत् श्रोष्टुः' या सूत्रावरील भाष्याच्या विरुद्ध ठरते (भाष्यकारांनी बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष मानून ज्याअर्थी असे म्हटले आहे की, ज्या ज्या सूत्राची प्राप्ति होते त्या सर्व सूत्रांना बाध करून 'अचि र ऋतः' हे सूत्र प्रवृत्त होते त्याअर्थी हे स्पष्ट होते की, ते सूत्र 'ऋतो ऽसि' सू. २७५ या सूत्रांना देखील बाध करते त्यामुळे 'प्रियतिसृ अम्' या स्थली 'ऋतो ऽसि' या सूत्राने गुण न होता व तसेच 'असि पूर्वः'

सू. १९४ या सूत्रानें पूर्वरूप एकादेश न होतां, रेफादेश होऊन 'प्रियतिस्रम्' असेंच रूप सिद्ध होतें.) त्या वैयाकरणांचें म्हणणें बरोबर मानल्यास, 'मपर्यन्तस्य' ७-२-९१ या सूत्रावरील भाष्यांत 'प्रियतिस्रौ' इत्यादि जीं उदाहरणें भाष्यकारांनीं दिलीं आहेत त्यांशीं देखील विरोध येतो. (वास्तविक 'प्रियतिस्रौ' इत्यादि उदाहरणें 'मपर्यन्तस्य' या सूत्रावरील भाष्यांत दिलीं नसून 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सू. ७-२-९८ या सूत्रावरील भाष्यांत दिलीं आहेत. त्या भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात—'यद्यपि समासः पुंसि नपुंसके वा वर्तते त्रिचतुरौ च स्त्रियां वर्तते, भवत्येव तिसृचतसृभावः, प्रियास्तिस्रो ब्राह्मण्योऽस्य ब्राह्मणस्य, प्रियतिसा प्रियतिस्रौ प्रियतिस्रः । प्रियचतसा प्रियचतस्रौ प्रियचतस्रः ।' या भाष्यांतील उदाहरणांवरून हें स्पष्ट होतें कीं, 'अचि र ऋतः' हें 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' या सूत्राचें बाधक सूत्र आहे. तें तसें बाधक सूत्र नसतें तर, भाष्यकारांनीं गुण करून 'प्रियतिसरौ प्रियतिसरः' अशा प्रकारचीं रूपें दिलीं असतीं.) 'नुडप्यनेन बाध्यः' या मनोरमेच्या पंक्तींतील 'अनेन' या पदाचा 'रेण', म्हणजे 'अचि र ऋतः' या सूत्रानें होणाऱ्या रेफादेशानें, असा अर्थ आहे. 'तत्कथं विप्रतिषेधः' यां मनोरमेंतील पंक्तीचा 'अचि रेण कथं विप्रतिषेधः', म्हणजे 'अचि र ऋतः' व 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' सू. २०८ या दोन सूत्रांत बाध्यबाधकभाव असल्यामुळे व अशा रीतीनें तीं दोन सूत्रें तुल्यबल नसल्यामुळे त्यांच्यामध्ये विप्रतिषेध कसा संभवतो, असा अर्थ आहे. (याचें विवरण मनोरमेंत केलेच आहे.) 'न तिसृचतसृ' सू. ३०० हें ज्ञापकसूत्र मानलें असल्यामुळे, 'अचि र ऋतः' सू. २९९ हें सूत्र 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' या सूत्राचें अपवादक सूत्र ठरत नाही व त्यामुळे या दोन सूत्रांमध्ये विप्रतिषेध संभवतो हें जरी खरें आहे तरी, ('न तिसृचतसृ' हें सूत्र ज्ञापकसूत्र मानल्याशिवाय 'अचि र ऋतः' या सूत्राचें अपवादकत्व नष्ट होत नाही व अशा रीतीनें) ज्ञापकाच्या आधारेंच 'अचि र ऋतः'

हे सूत्र नुडागमाचे बाधक ठरत नसल्यामुळे नुडागम होतो असे सागून भाष्यकारानी 'नुड्विषये प्रतिषेधो वाच्यः' हा वातिकाश द्रुपित ठरविला आहे असा मनोरमेतील 'दूषयित्वा' या पदाना अर्थ आहे. भाष्यकारानी हा जो विप्रतिषेधपक्ष द्रुपित ठरविला आहे तो 'तृज्वत् क्रोष्टुः' ७-१-९५ या सूत्रावरील भाष्यात ठरविला आहे. (बाध्यतामान्यचिन्तापक्ष मानल्याने 'अचि र ऋतः' हे सूत्र ज्या ज्या सूत्राची प्राप्ति होते त्या सर्व सूत्राचा बाध करणारे सूत्र ठरून नुडागमाचा देखील बाध करीलच. पण त्या सूत्राने जर नुडागमाचा बाध केला तर, 'न तिसृचतसृ' हे सूत्र व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते; कारण त्या सूत्रात असे विधान केले आहे की, 'तिसृ, चतसृ' या शब्दापुढे 'नाम्' प्रत्यय आल्यास, 'नामि' सू २०९ या सूत्राने होणारे दीर्घकार्य होत नाही 'प्राप्तस्यैव निषेध' हा न्याय असल्यामुळे, 'न तिसृचतसृ' हा निषेध चरितार्थ ठरण्याकरिता हे मानणे आवश्यक आहे की, 'तिसृ, चतसृ' या शब्दापुढे 'नाम्' प्रत्यय येतो, म्हणजे नुडागम-सहित 'आम्' प्रत्यय येतो, व अशा रीतीने हे जापित होत की, नुडागम प्रथम होतो व 'अचि र ऋतः' हे सूत्र 'ह्रस्वनद्यापो नुड्' या सूत्राने होणाऱ्या नुडागमाचा बाध करीत नाही व त्याचे अपवादक सूत्र ठरत नाही म्हणून वरील जापकाच्या आधारे नुडागम प्रथम होतो हे सिद्ध होत असल्यामुळे, नुडागमाच्या विषयात पूर्वविप्रतिषेध मानण्याची काही गरज नाही असा भाष्यकाराच्या म्हणण्याचा आशय आहे व हे भाष्य मनोरमेच्या विवरणात दिलेच आहे) मनोरमेत 'सन्तोष्टव्यम्' असे जे म्हटले आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, पूर्वविप्रतिषेधाने नुडागम होतो असे जे वातिककाराने म्हटले आहे त्यासंबंधाने अधिक उदापोह करण्याची काही गरज नाही, म्हणजे भाष्यकाराच्या मताप्रमाणे जापकाधारे नुडागम केला किंवा वातिककाराच्या मताप्रमाणे पूर्वविप्रतिषेध मानून नुडागम केला तरी दोन्ही पक्षात इष्टरूपसिद्धि होत असल्या-

मुळें, वार्तिकासंबंधानें जास्त खल-चर्चा-करण्याची कांहीं आवश्यकता नाहीं.

मनोरमा-“हूहरिति” । अव्युत्पन्ना संज्ञेयम् । अतिचमूशब्दे त्विति । ‘प्रथमलिङ्गग्रहणं च’ इत्युक्तेः । तथा च एवमतिचम्वादय इति प्राचो ग्रन्थो भाष्यविरुद्ध इति भावः ॥

(कौमुदींत ‘रात्सस्य’ सू. २८० या सूत्रावरील वृत्तीनंतर दिलेल्या ऊदन्त प्रकरणांमध्ये) जो ‘हूहू’ शब्द दिला आहे तो अव्युत्पन्न प्रातिपदिक असून संज्ञावाचक शब्द आहे, म्हणजे तो शब्द गन्धर्वविशेषाची संज्ञा आहे. (या विषयीं ‘हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिविवीकसाम्’ हा अमरकोशांतील श्लोक प्रमाण आहे.) ‘अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः’ असें जें कौमुदींत ऊदन्त प्रकरणांत म्हटलें आहे तें ‘प्रथमलिङ्गग्रहणं च’ हें वार्तिक असल्यामुळें म्हटलें आहे. म्हणून ‘एवमतिचम्वादयः’ असें जें प्रक्रियाकौमुदीकारांनीं म्हटलें आहे तें भाष्यविरुद्ध ठरतें. (‘चमूमतिक्रान्तः अतिचमूः’ हा सामासिक शब्द जरी पुल्लिङ्गी आहे तरी, त्यांतील अन्त्यावयव ‘चमू’ हा ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिङ्गी शब्द ‘यूस्व्याख्या नदी’ सू. २६६ या सूत्रान्वये नदीसंज्ञक असल्यामुळें व ‘प्रथमलिङ्गग्रहणं च’ हें वार्तिक असल्यामुळें आणि भाष्यकारांनीं तें वार्तिक मानलें असल्यामुळें, ‘अतिचमू’ हा शब्द नदीसंज्ञक ठरतो व त्यामुळें त्याला नदीकार्ये होतात. म्हणून तो शब्द ‘हूहू’ शब्दासारखा चालतो हें प्रक्रिया-कौमुदीकारांचें म्हणणें भाष्यविरुद्ध ठरतें; कारण ‘हूहू’ हा पुल्लिङ्गी शब्द नदीसंज्ञक नसल्यामुळें त्याला नदीकार्ये होऊं शकत नाहीत. प्रसादकारांनीं आपल्या टीकेंत हें कवूल केलें आहे व असें म्हटलें आहे कीं, ‘अतिचमूशब्दो हूहूशब्दवदित्यर्थाचीनमतम् । भाष्य-कारमते तु नदीकार्यं स्यादिति ।’)

मनोरमा-“वर्षाभ्यश्च” ॥ वर्षाभूशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् स्त्रीलिङ्गप्रकरण एव एतत्सूत्रं वक्तुं युक्तम् । पुल्लिङ्गे तु

क्रियाशब्दाभिप्रायेण कथं विद्योज्यमिति व्याचष्टुः, तद्रभसात् ।
चदुरे हि पुल्लिङ्गोऽयम्—

भेके मण्डूकवर्षाभूशालूरलवददुराः ।

इत्यमरोक्तेः । भिन्नलिङ्गानां न द्वन्द्व इति तेन परिभाषितत्वात् ।

भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूर्ददुरे पुमान् ॥

इति यादवकोशाच्च । ददुरे णीति पाठान्तरम् । णीति-
पुल्लिङ्गस्य प्राचां संज्ञा । दृभतीति । दृभी ग्रन्थे तुदादिः । व्युत्पा-
दित इति । यद्यप्युज्ज्वलदत्तेन दृम्फूरिति पवर्गद्वितीयं पठित्वा
दृम्फेर्नलोपाभावो निपात्यते इति व्याख्यातं तथाऽपि वृत्त्यन्तरेषु
दृभी ग्रन्थे इत्यस्मात् कूप्रत्यये नुमागमो निपात्यत इत्युक्तम् । एतच्च
माधवग्रन्थे स्पष्टम् । दशपादोवृत्ती तु वर्भणं दृम्भूः । नुमागमोऽ-
नुस्वारश्च निपात्यते इत्युक्तम् । अयमूकारो न धातोरित्युवदोऽ-
प्रसङ्गात् “इको यणचि” इति यण् । स च “अमि पूर्वः”
प्रथमयो पूर्वसवर्णः” इत्याभ्यां वाच्यत इत्याशयेनोदाहरति-
दृम्भूमित्यादि । न चेह ‘दृन्फर’ इति यण् शङ्क्यः । तत्र अर्थवत्
एव ग्रहणात् । अस्य तु दृन्शब्दस्य भूशब्दस्य च अनर्थकत्वादिति
भावः । एवं चायं ह्रस्ववदिति फलितम् । श्रौपतिमतेनाह—दृन्निति ।
माधवस्तु — ‘अन्वूदृम्भू’ इत्यादिसूत्रेण दृदशब्दे उपपदे कूप्रत्ययः ।
उपपदस्य दृषादेशश्च निपात्यत इत्याह । दृम्भूरिति तरुः सर्पजाति-
भेद इति केचित् । कपिरित्यन्ये ।

‘वर्षाम्बश्च’ सू. २८२ या सूत्रात् निर्दिष्ट असलेला ‘वर्षाभू’
हा शब्द नित्यस्त्रीलिङ्गी असल्यामुळे हे सूत्र प्रक्रियाकौमुदीकारानी
वास्तविक स्त्रीलिङ्गप्रकरणात पठित करावयास पाहिजे होते, तथापि
तो शब्द क्रियाशब्द-योगिक शब्द-मानून, म्हणजे ‘वर्षासु भवति यः
स वर्षाभूः’ असा योगिक शब्द मानून, प्रकृत सूत्र पुल्लिङ्गप्रकरणात
पठित केले आहे. अशा रीतीने कसे तरी समाधान करावे असे जे
प्रकाशकारानी म्हटले आहे ते विचार न करिता म्हटले आहे, म्हणजे

तें म्हणणें चूक आहे. दर्दुर-वेडुक-या अर्थाचा वाचक 'वर्षाभू' हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे; कारण 'भेके मण्डूकवर्षाभूशालूरप्लव-दर्दुराः' असें अमरकोशांत म्हटलें आहे, व ज्या शब्दांचीं लिङ्गे भिन्न आहेत त्यांचा द्वन्द्वसमास केला जाणार नाही अशी त्या कोशाच्या प्रारंभीं परिभाषा-प्रतिज्ञा-केली आहे. ('भेदाख्यानाय न द्वन्दो नैक-शेषो न सङ्करः । कृतोऽत्र भिन्नलिङ्गानामनुक्तानां कमादृते ॥' ही ती परिभाषा-प्रतिज्ञा-होय.) 'भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूदर्दुरे पुमान्' या यादवकोशांतील श्लोकांत देखील 'वर्षाभू' हा शब्द 'दर्दुर' या अर्थामध्यें पुल्लिङ्गी आहे असें म्हटलें आहे. 'दर्दुरे पुमान्' या ऐवजीं 'दर्दुरे पणि' असें पाठान्तर आढळते. 'षण्' ही प्राचीन वैयाकरणांची पुल्लिङ्गाची संज्ञा आहे. 'दृभतीति दृम्भूः' हा (ऊदन्त प्रकरणांत कीमुदीत दिलेला) शब्द 'दृभी ग्रन्थे' या तुदादिगणांत पठित असलेल्या धातूहून 'अद्दृदृम्भू' उणादि सू. १३ या उणादि सूत्रानें 'कू' प्रत्यय करून व निपातनानें नुमागम करून साधला आहे. ('दृभी' धातु नं. १३२३ हा धातु इदित नसून ईदित् असल्यामुळे 'इदितो नुम्धातोः' सू. २२६२ या सूत्रानें होणाऱ्या नुमागाची त्याला प्राप्ति नाही. तथापि निपातनानें नुमागम करून व 'नश्चापदान्तस्य झलि' सू. १२३ या सूत्रानें त्या 'नुम् = न्' चा अनुस्वार करून आणि 'अनुस्वारस्य ययि परस-वर्णः' सू. १२४ या सूत्रानें त्या अनुस्वाराचा परसवर्ण मकार करून 'दृम्भू' हा शब्द साधला आहे.) जरी उज्ज्वलदत्तानें 'दम्फू' असा पवर्गद्वितीययुक्त, म्हणजे फकारयुक्त, शब्द पठित केला आहे व (त्यानें तो शब्द 'दम्फू उत्पलेशे' तुदादि धातु नं. १३१४ या धातूहून साधला आहे व) असें म्हटलें आहे कीं, या स्थलीं निपात-नानें नकारलोप झाला नाही तरी, इतर वृत्तिग्रन्थांत 'दृभी ग्रन्थे' या धातूहून ओणादिका 'कू = ऊ' प्रत्यय होऊन 'दृम्भू' हा शब्द निव्वळ झाला असून या स्थलीं निपातनानें नुमागम झाला आहे असें म्हटलें आहे व हें माधवाच्या ग्रन्थावरून स्पष्ट होतें. (उज्ज्वलदत्तानें

‘दृम्फ्’ धातूहून ‘कू’ हा औणादिक कित् प्रत्यय केला असल्यामुळे च तो धातु इदित् नसल्यामुळे, ‘अनिदिता हल उपाधाया’ सू ४१५ या सूत्रान्वये त्या धातूतील नकाराचा लोप पावला आहे. पण निपातनाने नकारलोप झाला नाही असे त्याचे म्हणणे आहे. परंतु इतर धातु वृत्तिग्रन्थात ‘दृभी ग्रन्थे’ या धातूहूनच ‘कू’ प्रत्यय होऊन व निपातनाने नुमागम होऊन ‘दृम्भू’ हा शब्द सिद्ध झाला आहे असे म्हटले आहे म्हणून या शब्दाची उज्वलदत्ताने जी व्युत्पत्ति दिली आहे ती बरोबर नसून प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत त्या शब्दाची जी व्युत्पत्ति दिली आहे तीच बरोबर आहे असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे आणि आपल्या म्हणण्याच्या समर्थनार्थ ते माधवाच्या ग्रन्थाचा आधार देतात. माधवाने आपल्या धातुवृत्तीत ‘भू’ धातूचे व्याख्यान करिताना ‘दृम्भू तस्य । सर्प-जातिभेद इति पुरुषकारे । अन्धूदृम्भूजम्भूकफेलूककंधूदिधिपू इति दृढशब्द उपपदं कूप्रत्ययान्तो निपातित । उपपदस्य च दृम्भावोऽस्मादेव निपातनात् । केचिदुपपदं नान्तं पठन्ति । अजादा-यस्य वगिति वर्षाभूप्रस्तावेऽवोचाम । ववचिदुणादिवृत्तो दृभी ग्रन्थ इत्यस्मात्कूप्रत्यये निपातनमित्युक्तम् । तत्राप्यममकारो न धातोरि-त्यवडोऽप्रसङ्गाद्यणवेति न रूपभेद ।’ या वरील उताऱ्यावरून देखील दीक्षिताचेच म्हणणं, म्हणजे ‘दृभी ग्रन्थे’ या धातूहूनच औणादिक ‘कू’ प्रत्यय होऊन व निपातनाने नुमागम होऊन ‘दृम्भू’ असा शब्द सिद्ध झाला आहे हेंच म्हणणे, योग्य ठरते. येथे हे सांगणे आवश्यक आहे की, मनोरमेच्या कित्येक छोपील प्रतीत ‘दूप्रत्यये’ असा जा पाठ आढळतो तो चूक असून ‘कूप्रत्यये’ असा पाठ मानणे योग्य आहे, कारण ‘दृम्’ धातूहून ‘दृ’ प्रत्यय केल्यास तो प्रत्यय इत् असल्यामुळे, ‘अमस्यापि टेलोपो इति’ या वचनान्वये त्या धातूतील ‘टि’ चा म्हणजे ‘कृम्’ चा लोप होण्याची आपत्ति येत जरी येथे निपातनाने नुमागम होणे सांगितले आहे तरी, त्याच्या सामर्थ्याने टिलोप टाळता येणे शक्य नाही. म्हणून ही आपत्ति टाळण्या-

करितां 'कू' प्रत्ययच मानणें योग्य आहे व माधवाच्या धातुवृत्तींतील उतारा जो वर दिला आहे त्यावरून देखील 'कू' प्रत्यय होणें सांगितलें आहे हेंच स्पष्ट होतें. हें खरें कीं, तो प्रत्यय कित् असल्यामुळें 'अनिदितां हल उपधायाः' सू. ४१५ या सूत्रानें नकारलोप पावतो. पण निपातनाने नुमागम होत असल्यामुळें त्या निपातनसामर्थ्यानें नकारलोप होत नाही. कदाचित् नलोपाची ही आपत्ति टाळण्याकरितांच मनोरमेच्या एका प्रतीत 'ऊप्रत्यये' असा पाठ दिला आहे. पण तो पाठ माधवाच्या धातुवृत्तींत जें म्हटलें आहे व ज्याचा दीक्षितांनीं आधार दिला आहे त्याविषय असल्यामुळें, तो पाठ स्वीकारला नाही.) दशपादीवृत्तींत 'दर्भणं दृम्भूः नुमागमोऽनुस्वारश्च, निपात्यते' असें म्हटलें आहे (तो ग्रन्थ येथें उपलब्ध नसल्यामुळें त्या ग्रन्थांत 'दृम्भू' धातूहून कोणता प्रत्यय होणें सांगितलें आहे हें सांगतां येत नाही.) 'दृम्भू' या शब्दांत जो अन्त्य ऊकार आहे तो धातूचा अवयव नसल्यामुळें (व तो औणादिक प्रत्ययाचा ऊकार असल्यामुळें, त्या शब्दापुढें अजादि विभक्तिप्रत्यय आला असतां 'अचि णु' सू. २७१ या सूत्रानें होणाऱ्या) उवडादेशाची प्राप्ति होत नाही व 'इको यणचि' सू. ४७ या सूत्रानें येथें यणादेशाची प्राप्ति आहे. ('ओः सुपि' सू. २८१ या सूत्रानें या स्थलीं यणादेश होऊं शकत नाही; कारण त्या सूत्रांत देखील धातूचा अवयव जो उवर्ण त्यालाच यणादेश होणें सांगितले आहे आणि तो यणादेश देखील तेव्हांच होऊं शकतो कीं, जेव्हां त्या उवर्णापूर्वी धात्ववयवसंयोग नाही. 'दृम्भू' या स्थलीं जो अन्त्य ऊकार आहे तो धातूचा अवयव नाही व त्याच्यापूर्वी धात्ववयवसंयोगहि आहे. म्हणून येथें 'ओः सुपि' या सूत्रानें यणादेश होऊं शकत नाही व 'इको यणचि' या सूत्रानेंच यणादेशाची प्राप्ति आहे.) परंतु 'अपि पूर्वः' सू. १९४ व 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सू. १६४ या परसूत्रांनीं 'इको यणचि' या पूर्वसूत्राचा बाध होऊन 'दृम्भू अम्' या स्थलीं यणादेश न होतां पूर्वरूप एकादेश होतो व हा आशय मनांत धरूनच 'दृम्भ' शब्दाची

‘दृम्भूम्’ इत्यादि रूपे कौमुदीत दिली आहेत ‘दृम्भू अम्’ या स्थली ‘दृन्करपुन पूर्वस्य भुवो यण् ववनव्य’—सू २८७ वरील वार्तिक—या वार्तिकाने यणादेश होऊ शकतो अशी शका मनात आणू नये, कारण त्या वार्तिकात अर्थवान् शब्दाचेच ग्रहण केले आहे परंतु ‘दृम्भू’ या शब्दात ‘दृन्’ व ‘भू’ हे दोन्ही शब्द अनर्थक आहेत (‘दृम्भू’ हा संपूर्ण शब्द अर्थवान् आहे पण या शब्दातील ‘दृन्’ हा अवयव असून स्वतंत्र अव्ययरूप ‘दृन्’ शब्द नसल्यामुळे अनर्थक आहे आणि तसेच त्यातील ‘भू’ हा अवयव ‘दृम्भू’ घातूचा भकार व ओणादिक ‘ऊ’ प्रत्यय मिळून झाला आहे आणि म्हणून तो देखील अनर्थक आहे व ‘अर्थवदग्रहणे नानर्थकस्य’—परि १४—ही परिभाषा असल्यामुळे, वरील वार्तिकातील अर्थवान् ‘दृन्’ व ‘भू’ या शब्दांनी ‘दृम्भू’ यातील अनर्थक ‘दृन्’ व ‘भू’ याचे ग्रहण करता येत नाही ‘दृन्’ हे नकारान्त हिंसायक अव्यय उपपद असता, ‘भू’ घातूहून विवप् प्रत्यय केल्याने ‘दृम्भू’ असा जो शब्द सिद्ध होतो त्यातील ‘दृन्’ व ‘भू’ हे शब्द अर्थवान आहेत व तथा ‘दृम्भू’ शब्दापुढे ‘अम्’ हा अजादि विभक्तिप्रत्यय आला असता वरील वार्तिकान्वये यणादेश होऊन ‘दृम्भ्वम्’ असे रूप सिद्ध होते) साराश ‘दृम्भू’ हा शब्द ‘हूह’ शब्दासारखाच चालतो हे कलित-सिद्ध-होने ‘दृन् इति नान्ते हिंसायेऽन्ये भुव विवप् । दृम्भू ।’ असे जे ‘वर्णम्वश्च’ या प्रकृत सूत्रावरील कौमुदीत म्हटले आहे ते श्रोपतीच्या मतानुसार म्हटले आहे परंतु माघवाचे असे म्हणणे आहे की, ‘दृढ’ हा शब्द उपपद असता ‘भू’ घातूहून ‘जम्भूदृम्भू’ उ सू १३ या सूत्राने ‘वू’ प्रत्यय झाला आहे व ‘दृढ’ या उपपदाचे जागी निघातनाने ‘दृन्’ आदेश झाला आहे (माघवाच्या घातुवृत्तीतून घर जो उतारा दिला आहे त्यावरून हे स्पष्ट होतें) ‘दृम्भू’ हा शब्द ‘वृश्’ या अर्थाचा वाचक आहे कित्येकांच्या मते तो सर्पजातिविशेषाचा वाचक आहे. इतरांच्या मते तो कपि — वार — या अर्थाचा वाचक आहे

मनोरमा- दृन्करेति । अत्र दृन्निति नान्तपाठो मुख्यः । नान्तपाठोऽपि केषांचित् । वक्तव्य इति । “वर्षांश्च” इति चकारोऽनुवृत्तसमुच्चयार्थः । अनुवृत्तं च भाष्यवार्तिकद्वलान्निर्णयमिति भावः । तथा च वर्षाभूपुनर्भवश्चेति वार्तिकं व्याख्याय भाष्यकार आह-अत्यल्पमिदमुच्यते, वर्षादृन्कारपुनःपूर्वस्य भुव इति वक्तव्यमिति । वामनेन तु दृन्शब्दो न पठित एव । एवं स्थिते यत्प्राचा दृक्कारेति पठितं, यच्च तत्पौत्रेण महाभाष्यकारवचनमर्थतोऽनुवदति इत्युक्तम् । यच्चान्यैर्वार्तिकेन पूरितमर्थमुदाहरतोऽप्यवतारितं, तत्सर्वं रभसकृतमेव । न च भाष्येऽपि दृगित्येव पाठ इति श्रमितव्यम् । अन्वूदृन्भू इति निपातित इति माधवग्रन्थेन, कैयटादिग्रन्थैश्च विरोधापत्तेरिति यत्किंचिदेतत् । दीर्घपाठे इति । अयं च भाष्य-वृत्त्यादिवहुग्रन्थसंमतः पाठः । अनुस्मृतौ तु ह्रस्वः पठ्यते । यत्तु तद्विवृतावुक्तम् । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् कारपूर्वस्यापि सिद्धमिति । तन्न । तथाप्यप्रत्ययविशिष्टस्यान्यत्वात् । न ह्यप्रत्ययोऽपि विकारः । तस्माद्ह्रस्वपाठे कारपूर्वकस्य उवङ्गेव । तथा दीर्घपाठे करपूर्वस्य उवङिति विवेकः । स्वयम्भूशब्दवदिति । प्राचा तु दृग्भू-काराभूशब्दौ वर्षाभूशब्दवदुदाहृतौ । तन्निर्मूलत्वादुपेक्ष्यमिति भावः ॥ इत्युदन्ताः ॥

‘दृन्कर’ या वार्तिकांत ‘दृन्’ असा नकारान्त पाठ प्रधान मानला आहे. कित्येकांच्या मतें त्या वार्तिकांत ‘दृम्’ असा मकारान्त पाठ देखील आहे. ‘वर्षांश्च’ या सूत्रांतील ‘च’ या पदानें त्या सूत्रांत निर्दिष्ट नसलेल्या शब्दांचें देखील ग्रहण व्हावें याकरितां तो ‘च’ शब्द त्या सूत्रांत घातला आहे. त्या सूत्रांत निर्दिष्ट नसलेल्या कोणत्या शब्दांचें ग्रहण व्हावें याचा भाष्यावरून व वार्तिकावरून निर्णय केला पाहिजे. प्रकृत, सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकारांनीं ‘वर्षाभूपुनर्भवश्च’ या वार्तिकाचें व्याख्यान करून पुढें असें म्हटलें आहे कीं, ‘अत्यल्पमिदमुच्यते, वर्षादृन्कारपुनःपूर्वस्य भुव इति वक्तव्यमिति’, म्हणजे प्रकृत सूत्रांत ‘पुनर्भू’ हा शब्द देखील पठित करावा असें जें

वातिककारानें म्हटले आहे ते फारच कमी म्हटले असून 'भू' शब्दापूर्वी 'वर्ण, दृन्, वार, पुनः' यापैकी कोणतेहि उपपद असता 'भू' यातील अन्त्य ऊकाराचे जागी अजादि विभक्तिप्रत्यय पुढें आल्यास यणादेश व्हावा असे म्हटले पाहिजे. वामनानें काशिकेत प्रकृत सूत्रावर जें वातिक पठित केले आहे त्यात 'दृन्' या शब्दाचा पाठ मुळीच केला नाही. अशी स्थिति असून देखील प्रक्रियाकोमुदीकारानी ('ओः सुपि' या सूत्रावरील वृत्तीत) 'दृक्कारापुनर्भव-त्थेति वक्तव्यम्' असे जें वातिक पठित केले आहे व त्याच्या पीत्रानें - प्रसादकारानी - हे वातिक महाभाष्यकाराच्या वचनाच्या अर्थाचा अनुवाद करणारे आहे असें जें म्हटले आहे आणि त्याच-प्रमाणे त्या वातिकात ज्या शब्दाचा निर्देश केला आहे त्याच्या अर्थाचे वाचक शब्द प्रक्रियाकोमुदीकारानी उदाहृत केले आहेत असे जें इतरानी - प्रकाशकारानी - म्हटले आहे ते सर्व त्या तिघानीहि विचार न करिता म्हटले आहे, म्हणजे चूक आहे. (प्रसादकारानी आपल्या टीकेत 'महाभाष्यकारवचनमर्थतो नूद्य तद्वचनवलादत्र यण् भवतीत्याह ।... दृग्भूशब्दस्य यण् न स्मात् काशिकादावदृष्ट-त्वादिति शका न कार्या, साक्षाद्भाष्ये उक्तत्वादिति । ' असे म्हटले आहे. वास्तविक प्रकृत सूत्रावरील भाष्यात भाष्यकारानी जें वातिक पठित केले आहे त्यात 'दृक्' हा शब्द पठित केला नसून 'दृन्' हा शब्द पठित केला आहे म्हणून प्रक्रियाकोमुदीकारादिकांचे म्हणणे चूक ठरते हें उघड आहे.) भाष्यांत देखील 'दृक्' असाच पाठ आहे असा चुकीचा ग्रह करून घेऊं नये. 'अनूदृन् इति निपातित.' असे जें माधवाच्या यातु-वृत्तीत म्हटले आहे त्याशी व तसेच कंयटादिकांच्या ग्रंथाशी, 'दृक्' असा पाठ मानल्याने, विरोध येण्याची आपत्ति येते आणि म्हणून तो पाठ चूक आहे असेच मानले पाहिजे वरील वातिकान 'वार' असा जो दीर्घ पाठ आढळतो तो भाष्यवार, काशिकावार इत्यादि अनेक ग्रंथवारांना सम्मत अगलेला पाठ आहे. परंतु अनुस्मृति-

नामक ग्रन्थांत 'कर' असा म्हस्व शब्द त्या वार्तिकांत पठित केला आहे. त्या ग्रन्थावरील टीकेंत, एकदेशविकृत 'कार' शब्द 'कर' शब्दच आहे असें मानतां येत असल्यामुळे 'कार' शब्दपूर्वक 'भू' धातूहून देखील यणादेशच होतो, म्हणजे 'कारभू' शब्दापुढें देखील अजादि विभक्तिप्रत्यय आल्यास त्यांतील अन्त्य ऊकाराचे जागीं यणादेश होतो, असें जें म्हटलें आहे तें म्हणणें बरोबर नाहीं; कारण अण्प्रत्ययविशिष्ट, म्हणजे अण् प्रत्यय करून सिद्ध झालेला, 'कार' शब्द 'कर' शब्दाहून भिन्न आहे. 'अण्' प्रत्यय देखील विकार आहे हें म्हणणें बरोबर नाहीं. (सारांश 'कार' व 'कर' हे भिन्नप्रत्ययान्त स्वतंत्र शब्द असल्यामुळे, 'कार' हा शब्द 'एकदेशविकृतमन्यवत्'—परि. ३७—या परिभाषान्वये 'कर' शब्दच आहे असें मानतां येऊं शकत नाहीं.) म्हणून वरील वार्तिकांत 'कर' असा म्हस्व पाठ मानल्यास, 'कार'पूर्वक 'भू' धातूतील ऊकाराचे जागीं (वरील वार्तिक लागू पडत नसल्यामुळे) यणादेश न होतां, 'अचि श्नु' सू. २७१ या सूत्रानें होणारा) 'उवङ्' आदेशच होतो. परंतु वरील वार्तिकांत 'कार' असा दीर्घ पाठ मानल्यास, 'कर'पूर्वक 'भू' धातूतील ऊकाराचे जागीं (यणादेश न होतां, 'अचि श्नु' या सूत्रानें होणारा) 'उवङ्' आदेश होतो आणि अशा रीतीनें दोन भिन्न पाठ मानल्यानें रूपांत फरक पडतो हें लक्षांत ठेवावें. 'दृग्भूकाराभूशब्दी स्वयम्भूवत्' असें प्रकृत सूत्रावरील कीमुदीत म्हटलें आहे. पण प्रक्रियाकीमुदी-कारांनीं 'दृग्भू, काराभू' हे शब्द 'वर्पाभू' शब्दासारखे चालतात असें म्हटलें आहे. परंतु या त्यांच्या म्हणण्याला कांहीं आधार नसल्यामुळे त्यांचें म्हणणें उपेक्षणीय ठरतें, म्हणजे बरोबर मानतां येत नाहीं (कारण 'दृक्' व 'कारा' हे शब्द वरील वार्तिकांत पठित नसल्यामुळे, 'दृग्भू, काराभू' या शब्दांना तें वार्तिक लागू पडत नाहीं व तशा शब्दांपुढें अजादि विभक्तिप्रत्यय आल्यास यणादेश न होतां 'उवङ्' आदेशच होतो.) येथें ऊदन्त प्रकरण संपेल.

शब्दरत्न-दशपादोक्ति । अत्राहचिबीजं तु नुम्निपातनं ध्येयम् ।
 न च परसवर्णाभावार्थमुभयनिपातनम् । नुम्येव निपात्येऽनुस्वार-
 निपातनसामर्थ्येनैव तदभावसिद्धेरिति । एव चायमूकारो न धातोरि-
 त्युबडोऽप्रसङ्गाद्यणा भाष्यमिति दृग्पूर्वकभूप्रकृतिकदम्भूशब्देन सह
 न रूपविशेष इति भाष्यवद्विचिन्त्यः । निपात्यत इति । एकादेशस्य
 पूर्वान्तत्वेन भूत्वमिति भावः । वाक्तिकमिति । एतेन भाष्ये पूर्वग्रहणं
 व्यवहितेऽपि प्रवृत्त्यर्थमिति वर्षोद्भूरित्यादावपि यणिति परास्तम् ।
 सूत्रवाक्तिकानुरोधेन पूर्वग्रहणस्य परिभाषाप्राप्तार्यानुवादत्वोचितत्वात् ।
 उपेक्ष्यमिति । काराभूरित्यत्र काराशब्दः करोतेष्वन्नाद्भिदाद्यडि
 निष्पन्नो बन्धनगृह्याचकस्तस्य टापा सहेकादेशस्य पूर्वान्तत्वेऽपि वाक्तिके
 ग्रहणं न, प्रसिद्धत्वेन ह्रस्वपाठकवाक्यतया च हस्तवाचकस्यैव ग्रहणा-
 दिति भावः ॥

‘दशपादोक्तौ तु’ या मनोरमेतील पवनीत ‘तु’ हा जो
 अहचिप्रदर्शक शब्द धातला आहे त्याचे कारण हे की, ‘दम्भू’ या
 स्थली निपातनाने नुमागम करणे ध्येय आहे. अनुस्वाराचा परसवर्ण
 न व्हावा याकरिता नुमागम व अनुस्वार हे दोन्ही निपातनाने
 होण्याचे विधान केले आहे हे म्हणणे बरोबर नाही, कारण नुमा-
 गमाच्या निपातनाचेच विधान न करिता त्या ऐवजी केवळ अनु-
 स्वाराच्या निपातनाचे विधान केल्याने त्या विधानसामर्थ्यानेच
 अनुस्वाराचा परसवर्ण झाला नमता (सारांज शब्दरत्नकाराच्या
 म्हणण्याचा आशय हा आहे की, नुमागमनिपातनाचे विधान न करिता
 केवळ अनुस्वारनिपातनाचे विधान केले असेल तरी, अनुस्वारनिपातन-
 सामर्थ्यामुळे, ‘अनुस्वारस्य यपि परसवर्णं’ सू १२४ या सूत्राने
 होणारा अनुस्वाराचा परसवर्ण न होतो तो अनुस्वार तमाच यायम
 राहू शकला अगता) मनोरमेत सांगितल्याप्रमाणे ‘दम्भू’ या
 शब्दातील धन्य ऊकार धातूचा ऊकार नमस्यामुळे, त्याचे जागी
 (‘अपि णु’ सू २३१ या सूत्राने होणारा ‘उद्’ आदेश पावत
 नाही व त्यामुळे) यणादेशाची प्राप्ति होते. (पण ‘अम्’ शब्दादि

प्रत्यय पुढें आले असतां यणादेश कां होत नाहीं याचें कारण मनोरमेंत दिलेंच आहे.) म्हणून 'दृन्' उपपदपूर्वक 'भू' शब्द व 'दृम्भू' शब्द या दोहोंचीं रूपें सारखींच होतात असें जें माधवानें म्हटलें आहे तें बरोबर नाहीं; (कारण 'दृन्' उपपदपूर्वक 'भू' शब्दाला वरील वातिक लागू पडत असून 'दृम्भू' धातूहून औणादिक 'कू' प्रत्यय करून व निपातनानें नृमागम करून सिद्ध झालेल्या 'दृम्भू' शब्दाला तें वातिक लागू पडत नाहीं व त्या शब्दांतील अन्त्य ऊकार धातूचा अवयव नसून तो धात्ववयवसंयोगपूर्वकहि आहे. म्हणून 'एतेकाचः' हें सूत्र त्या शब्दाला लागू पडत नसल्यामुळें, त्या दोन शब्दांचीं रूपें सारखीं न होतां भिन्न रूपें होतात व हें प्रकृत सूत्रावरील कौमुदींत व मनोरमेंत सांगितलेंच आहे.) 'उपपदस्य दृभ्रादेशश्च निपात्यते' असें जें माधवानें म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, एकादेशाचे ठिकाणीं पूर्वान्तवद्भावा केल्यानें 'दृम्भू' हा शब्द भूधात्वन्त आहे असें मानतां येतें. ('दृढ' उपपदपूर्वक 'भू' धातूहून 'कू=ऊ' हा औणादिक प्रत्यय केला असतां, 'दृढ' चे जागीं 'दृन्' असा आदेश निपातनानें होतो असें माधवानें म्हटलें आहे. 'भू' धातूहून 'कू=ऊ' प्रत्यय केल्यास 'भू+ऊ=भू' असें जें 'अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें सवर्णदीर्घ होऊन रूप होतें त्यांतील 'ऊ' हा एकादेश 'भू' धातूचा अन्तावयवच आहे असें पूर्वान्तवद्भावानें मानतां येत असल्यामुळें, 'दृम्भू' हा शब्द भूधात्वन्त आहे असें मानतां येऊं शकतें व त्यामुळें त्या शब्दाला 'दृन्कर' हें वरील वातिक लागू पडतें असा माधवाच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) भाष्यवचनांत 'पूर्व' या शब्दाचें ग्रहण अशा-करितां केलें आहे कीं, त्या भाष्यवचनांत पठित असलेले शब्द व 'भू' शब्द या दोन शब्दांमध्यें व्यवधान असलें तरी तें वचन प्रवृत्त व्हावें आणि त्यामुळें 'वर्षोदृभूः' इत्यादि स्वलीं देखील यणादेश होतो, असें जे कोणी म्हणतात तें त्यांचें म्हणणें, मनोरमेंत 'वातिकं व्याख्याय' इत्यादि जें विवेचन केलें आहे त्या विवेचनान्वयें, चूक ठरतें. प्रकृत

सूत्र व त्यावर पठित केलेले वार्तिक यांच्याकडे लक्ष दिले असता, त्यांच्या अनुरोधाने, भाष्यवचनात जे 'पूर्व' शब्दाचे ग्रहण केले आहे ते ('तस्मिन्निति निदिष्टे पूर्वस्य' या) परिभाषेतील 'पूर्व' शब्दाचा जो अर्थ होतो त्या अर्थाचेच, म्हणजे 'अव्यहितपूर्वस्य' या अर्थाचेच, अनुवादक-वाचक-आहे हे मानणे उचित आहे (प्रकृत सूत्रावर 'वर्षाभूपुनर्म्ब्वंश्च' असे जे भाष्यात वचन पठित केले आहे ते शब्दरत्नकारानी वार्तिक मानले असून 'वर्षाद्-कारपुनर् पूर्वस्य भुव' हे त्या भाष्यात पठित केलेले वचन वार्तिक न मानता भाष्यकाराची इष्टि, म्हणजे भाष्यकारवचन, मानली आहे असे वरील पक्तीवरून दिसून येते शकाकाराची शका अशी आहे की, 'वर्षाद्-कारपुनर्म्ब्वो भुव' असे वचन पठित न करता त्यात 'पूर्वस्य' हा अधिक शब्द घालून 'वर्षाद्-कारपुनर् पूर्वस्य भुव' असे वचन भाष्यकारानी पठित केले असल्यामुळे त्यावरून असे म्हणता येते की, त्या वचनात जे 'पूर्व' शब्दाचे ग्रहण केले आहे ते अशक्यता की, केवळ अव्यवहितपूर्वांचे ग्रहण न होता व्यवहित-पूर्वांचे देखील ग्रहण व्हावे त्यामुळे 'वर्षाद्भू' या उदाहरणात जरी 'भू' शब्दाच्या लगेच पूर्वी 'वर्षा' हा शब्द नसून दोहोमध्यें 'उन्' या शब्दाचे व्यवधान आहे तरी, त्या शब्दाला भाष्यवचन लागू पडते आणि तो शब्द देखील 'वर्षाभू' शब्दासारखाच चालविता येतो या शकेवर शब्दग्नकार अस उत्तर देतात की, ही शका बरोबर नाही, कारण प्रकृत सूत्रात 'वर्षाभू' हा जा शब्द पठित आहे व वार्तिकान 'पुनर्भू' या ज्या अधिक शब्दाचे ग्रहण केले आहे त्या दोन्ही शब्दात 'भू' शब्दाच्या लगेच पूर्वी 'वर्षा' व 'पुनर्' हे शब्द असल्यामुळे, भाष्यवचनाना जो उपाय पठित आहेत तो देखील 'भू' शब्दाच्या लगेच पूर्वी असलेला पाहिजेत असेच प्रकृत सूत्राच्या व वार्तिकाच्या अनुरोधाने मानण योग्य आहे व भाष्यवचनातील 'पूर्वस्य' या शब्दाचा 'तस्मिन्निति निदिष्टे पूर्वस्य' या परिभाषेतील 'पूर्वस्य' या पदाचा 'अव्यवहितपूर्वस्य' असा जा

अर्थ आहे तोच अर्थ आहे हें मानणें उचित आहे असा शब्दरत्न-कारांच्या म्हणण्याचा आशय आहे.) 'तन्निर्मूलत्वादुपेक्ष्यम्' असें जें मनोरमंत म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे की, 'काराभू' यांतील 'कारा' हा शब्द, 'कृ' घातून 'णिच्' प्रत्यय केला असतां व त्या णिजन्ताहून 'षिद्धिदाधिभ्योऽङ्' सू. ३२८१ या सूत्रानें 'अङ्' प्रत्यय केला असतां 'कार' असा जो 'कारागृह' या अर्थाचा वाचक शब्द सिद्ध होतो त्याहून ('अजा-द्यत्ताप्' सू. ४५४ या सूत्रानें) 'टाप् = आ' प्रत्यय केल्यास, सिद्ध होतो. 'कार+आ = कारा' या स्थलीं ('अकः सवर्णे दीर्घः' सू. ८५ या सूत्रानें) जो सवर्णदीर्घरूपा 'आ' असा एकादेश होतो, तो जरी पूर्वान्तिवद्भावांनं 'कार' या शब्दाचा अन्तावयव मानतां येतो तरी, वातिकांत 'कारा' या शब्दाचें ग्रहण केलें नाहीं. 'हस्त' या प्रसिद्ध अर्थाचा वाचक जो 'कर' हा ऱ्हस्व शब्द पठित आहे त्याशींच 'कार' या शब्दाची एकवाक्यता—जुळणी—होत असल्यामुळें, 'हस्त' या अर्थाच्याच वाचक 'कार' शब्दाचें वातिकांत ग्रहण केलें आहे हेंच मानणें योग्य आहे. (सारांश 'कारा' हा शब्द पूर्वान्तिवद्भावांनं 'कार'च असें जरी मानतां येतें तरी, वातिकांत 'कर' असा जो ऱ्हस्व पाठ मानला आहे तो 'हस्त' या अर्थाचा वाचक प्रसिद्ध असल्यामुळें, 'कार' हा दीर्घ पाठ देखील त्याच अर्थाचा वाचक आहे, म्हणजे 'करः एव कारः' अशा रीतीनें तो शब्द देखील 'हस्त' या अर्थाचाच वाचक आहे, हेंच मानणें उचित आहे व तसें मानलें असतां, दोन्ही शब्दांची एकार्थत्वांमुळें एकवाक्यता होते. म्हणून 'कारा' हा शब्द कारा-गृहाचा वाचक असून 'कार' हा शब्द 'हस्त' या अर्थाचा वाचक असल्यामुळें व अशा रीतीनें या दोन शब्दांच्या अर्थामध्यें अत्यन्त वैच्छेद्य असल्यामुळें, भाष्यवचनांतील 'कार' या शब्दानें 'कारा' या शब्दाचें ग्रहण करतां येत नाहीं व त्यामुळें 'काराभू' हा शब्द 'वर्णभू' या शब्दासारखा चालवितों

येत नाही असा दीक्षिताच्या म्हणण्याच्या आशय आहे असे शब्द-
रत्नकार म्हणतात.)

मनोरमा-“नृ च” । इह ‘छन्दस्युभयया’ इति सूत्रात्
‘उभयया’ इत्यनुवर्तते । ‘छन्दसि’ इति तु निवृत्तम् । तेन
‘चिन्ताजर्जरचेतसा बत नृणा का नाम शान्तेः कथा’ ‘नृणामेको
गम्यस्त्वमसि’ इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । केचित्तु ‘छन्दसि’
इत्यनुवर्तयन्ति । तदप्युक्तम् । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे ‘नृ च’ इति
सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेः । यदपि पूर्वसूत्रे ‘तिसृचतसृ’ इत्यनुवर्तयन्ति ।
तदप्युक्तम् । अवशिष्टेण विकल्पदर्शनात् तथा च धाता, धातूणा-
मिति मन्त्रे तैत्तिरीयेह्रस्वः पठ्यते । बह्वृचस्तु दीर्घ इति विकृ ॥
इत्युदन्ताः ॥

‘नृ च’ सू २८३ या सूत्रात् ‘छन्दस्युभयया’ या पूर्वं
सूत्रातून ‘उभयया’ हे पद अनुवृत्त होत अमून ‘छन्दसि’ हे पद
अनुवृत्त होत नाही. त्यामुळे ‘चिन्ताजर्जरचेतसा बत नृणा का नाम
शान्ते कथा, नृणामेको गम्यस्त्वमसि’ इत्यादि श्लोकातील
‘नृणाम्’ हा ऱ्हस्व पाठ मुसङ्गत-योग्य-ठरतो (प्रवृत्त सूत्रात
‘छन्दसि’ हे पद अनुवृत्त केले तर, जरी वेदात ‘नृणाम्, नृणाम्’
अशी पाक्षिक रूपे होतील तरी भाषेत, ‘नामि’ सू २०९ हें सूत्र
असल्यामुळे, ‘नृणाम्’ हे ऱ्हस्व रूप साधु ठरणार नाही.) कित्येक
वैय्याकरण प्रकृत सूत्रात ‘छन्दसि’ या पदाची देखील अनुवृत्ति
वरतात, पण तसे करणे बरोबर नाही, कारण ‘छन्दस्युभयया’
सू ३५४० या पूर्वं सूत्रानेंच ‘नृणाम्, नृणाम्’ ही दोन्ही पाक्षिक
रूपे वेदात सिद्ध होऊ शकत असल्यामुळे, ‘छन्दसि’ हें पद अनुवृत्त
वेल्यानं ‘नृ च’ हें प्रवृत्त सूत्र व्यर्थ ठरण्याची आपत्ति येते.
(सारांश वेदात जमा पूर्वं सूत्रानें विवक्षित मिद्ध होतो तगा भाषेत
देतील मिद्ध व्हावा यावरिता प्रवृत्त सूत्रात ‘छन्दसि’ या पदाची
अनुवृत्ति करणे अयोग्य आहे) इतर वैय्याकरण ‘छन्दस्युभयया’
या पूर्वं सूत्रात (त्याच्या पूर्वी असलेल्या ‘न निमृचतसृ’ या सूत्रातून)

‘तिसूचतसू’ या पदाची अनुवृत्ति करितात. पण तसें करणें देखील बरोबर नाही; कारण वेदांत अविशेषेकरून विकल्प आढळतो; म्हणजे ‘तिसू, चतसू’ या शब्दांच्याच षष्ठीच्या बहुवचनांत विकल्प आढळतो असें नसून इतर शब्दांच्या षष्ठीच्या बहुवचनाच्या रूपांत देखील तो विकल्प आढळतो. उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ‘धातूणाम्’ असा म्हस्व पाठ करितात, परंतु बहुवच ‘धातूणाम्’ असा दीर्घ पाठ करितात. (म्हणून ‘छन्दस्युभयथा’ या सर्वत्र वेदांत लागू पडणाऱ्या पूर्वसूत्राचा संकोच करणारी तशी अनुवृत्ति त्या सूत्रांत करणें योग्य नाही.) येथें ऋदन्त प्रकरण संपलें.

मनोरमा—“ओतो णिदिति वाच्यमिति” । गोत इत्यपहाय ओत इति वाच्यमित्यर्थः । तथा च गामित्यत्र परत्वाद्बृद्धौ सत्याभात्वं न स्यादित्याशङ्क्य निरवकाशतया आत्वेन वृद्धिर्वाध्यत इति “ओतोऽम्शसोः” इति सूत्रे भाष्यकृतोक्तम् । कथं यतोऽपि तत्रेत्यमाह—ओत इति सूत्रे पाठ्यम् । गोत इत्योकारोपलक्षणतया वा व्याख्येयमिति । वृत्त्यादिग्रन्थेष्वप्येवमेव स्थितम् । स्मृतोरिति । यत्त्वाद्गुः—गोशब्देन ओणादिकेन सादृश्याद् द्योशब्द एव लक्ष्यते । न त्योकारान्तमात्रम् । तेन स्मृतोः स्मृतवी स्मृतव इत्येव भवतीति । तद्भाष्यविरोधम् । गोद्योभ्यामेव परस्य णित्वाभ्युपगमे हि ‘ओतोऽम्शसोः’ इत्यात्वस्य स्मृतामित्याविरवकाशः स्यात् । तथा च गामित्यत्र परत्वाद्बृद्धेर्बुर्वारतया उदाहृतभाष्योक्तभात्वस्य वाचकत्वं निरवकाशत्वं च न सङ्गच्छेतेति दिक् ॥ इत्योदन्ताः ॥

(‘ओतोऽम्शसोः’ सू. २८५ या सूत्रावरील कौमुदींत) ‘ओतो णिदिति वाच्यम्’ असें जें वचन दिलें आहे त्याचा अर्थ असा आहे कीं, ‘गोतो णित्’ सू. २८४ या पूर्वं सूत्रांतील ‘गोतः’ हें पद काढून त्याच्या ऐवजीं ‘ओतः’ हें पद पठित करायें, म्हणजे ‘ओतो णित्’ असें तें सूत्र पठित करायें. ‘गो अम्’ या स्थलीं परसूत्रानें वृद्धि केल्यास आत्व होणार नाही अशी नंका प्रकृत

सूत्रावरील भाष्यात उपस्थित करून भाष्यकारानी त्या शकेवर अरो-
उत्तर दिले आहे की, निरवकाशत्वामुळे आत्वकार्य वृद्धीचे बाधक
ठरते. ('गो अम्' या स्थली 'गो' शब्दापुढे 'अम्' हा सर्व-
नामस्थानप्रत्यय असल्यामुळे, 'गोतो णित्' या परसूत्राने णिद्व-
त्कार्य-वृद्धिकार्य-पावले अगून, प्रकृत पूर्वं सूत्राने आत्व पावले आहे
य 'पूर्वात्पर बलवत्' हा न्याय असल्यामुळे, येथे प्रकृत पूर्वं सूत्राने
आत्व न होता 'गोतो णित्' या परसूत्राने वृद्धिकार्य झाले पाहिजे
अशी शकाकाराची शका आहे. या शकेवर भाष्यकार असे उत्तर
देतात की, 'गो अम्' या स्थली जर 'गोतो णित्' हे सूत्र प्रवृत्त केले
तर, 'अम्' या विभक्तिप्रत्ययाच्या विषयात प्रकृत सूत्र निरवकाश-
व्यर्थ-ठरण्याची आपत्ति येते पण अशा रीतीने ते सूत्र निरवकाश ठरत
असल्यामुळे, त्याच्या निरवकाशत्वामुळेच, 'येन नाप्राप्ते'-परि ५८-
या न्यायान्वये, ते 'सूत्र 'गोतो णित्' या सूत्राचे 'अम्' प्रत्ययाच्या
विषयांत बाधक ठरते व त्यामुळे वृद्धिकार्य न होता आत्व होऊन
'गाम्' असे इष्ट रूप सिद्ध होते प्रकृत सूत्रावरील भाष्यांत-
६-१-९३-'अमि परत गोशब्दे वृद्धिभावस्य उपसङ्ख्यानं वर्तव्यम्'
या अर्थाचे 'अम्युपसङ्ख्यानं वृद्धिवलीयस्त्वात्' हे वार्तिक पठित
करून भाष्यकार म्हणतात-'अम्युपसङ्ख्यानं वर्तव्यम् । गा पदय ।
किं पुनः वारणं न सिध्यति ? । वृद्धिवलीयस्त्वात् । परत्वात् वृद्धि-
प्राप्नोति । न वाऽनवकाशत्वात् । न वा वार्तव्यम् । किं वारणम् ? ।
अनवकाशत्वात् । अनवकाशमात्रं वृद्धि बाधित्वे ।') कंयटाने
देशीत त्या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तीत 'गोतो णित्' या सूत्रा-
तील 'गो' या पदाऐवजी 'ओ' हे पद पठित करावे, अथवा
त्या सूत्रातील 'गो' हा शब्द ओकारान्त शब्दाचे उपलक्षण आहे
असे मानून, त्या सूत्राचे व्याख्यान करावे असे म्हटले आहे. (वारण
'तारस्तारालम्' सू १५ या सूत्रान्वये वणं तपर केला जात अगून
वर्णममुदाय तपर केला जात नसतो. परंतु 'गोतो णित्' या
सूत्रांत 'गो' हा शब्द तपर केला जातल्यामुळे, वार्तव्य 'गो'

यांतील 'ओ' हा अच् तपर केला आहे असें मानून, 'गो' हा शब्द ओकारान्त शब्दाचें उपलक्षण आहे असें समजावें असा कैयटाच्या म्हणण्याचा आशय आहे. त्या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तींत 'ओतो णिदिति सूत्रं पठितव्यम्, गोत इत्योकारान्तोपलक्षणार्थं वा व्याख्येयम् । वर्णनिर्देशे हि तपरत्वं प्रसिद्धम्' असें कैयटानें म्हटलें आहे.) काशिका इत्यादि वृत्तिग्रन्थांत देखील असेंच म्हटलें आहे. (काशिकेंत 'केचिदोतो णिदिति पठन्ति । ओशब्दादपि विद्यते तदर्थम् । द्यौः द्यावी द्यावः । गोत इत्येव तपरकरणनिर्देशादोकारान्तोपलक्षणं द्रष्टव्यम् । वर्णनिर्देशेषु हि तपरकरणं प्रसिद्धम् ।' असें म्हटलें आहे.) प्रकृत सूत्रावरील कीमुदीत 'स्मृतीः' असें रूप दिलें आहे. परंतु प्रकाशकाराचें असें म्हणणें आहे कीं, 'गो' शब्दानें ओणादिक प्रत्ययाच्या सादृश्यामुळें 'यो' या शब्दाचेंच ग्रहण करतां येतें व कोणत्याहि ओकारान्त शब्दाचें ग्रहण करतां येत नाही. त्यामुळें 'स्मृतो' या ओकारान्त शब्दाचीं 'स्मृतोः स्मृतवो स्मृतवः' अशींच रूपें होतात. पण हें त्यांचें म्हणणें भाष्यविरुद्ध आहे. 'गो, यो' या दोन शब्दांपुढेंच

शब्दाने कोणत्याहि ओकारान्त शब्दाचे ग्रहण होत नसून केवळ 'घो' या ओकारान्त शब्दाचे औणादिकप्रत्ययसादृश्यामुळे ग्रहण होते, कारण ज्याप्रमाणे 'गमेडो' उ सू २२५ या सूत्राने 'गो' हा शब्द सिद्ध झाला आहे त्याचप्रमाणे 'घो' हा शब्द देखील 'घुत्' धातूहून औणादिक 'डो' प्रत्यय होऊन सिद्ध झाला आहे आणि 'गमेडो.' या सूत्रावरील कौमुदीत 'बाहुलकात् घुनेरपि डो.' असेच म्हटले आहे त्यामुळे 'स्मृतो' या ओकारान्त शब्दापुढे सर्वनामस्थान-प्रत्यय आला असता, 'गोतो णित्' या सूत्राने होणारे णिद्वत्कार्य - वृद्धिकार्य-होत नाही यावर दीक्षित असे म्हणतात की, प्रकाशकाराचे हे म्हणणे भाष्यविरुद्ध आहे; कारण भाष्यकारांनी प्रकृत सूत्राने होणारे आत्वकार्य 'गोतो णित्' या सूत्राने होणाऱ्या वृद्धिकार्याचे निरवकाशत्वा-मुळे बाधक ठरते असे म्हटले आहे परंतु 'गो, घो' या दोन शब्दा-पुढेच सर्वनामस्थानप्रत्यय आला असता वृद्धिकार्य होते असे मानले तर, 'औतोऽम्शसो' हे प्रकृत सूत्र 'अम्' प्रत्ययाच्या अशामध्ये 'स्मृतो अम् = स्मृताम्' इत्यादि ओकारान्त प्रातिपदिकाच्या विषयात सावकाश ठरेल व सावकाशत्वामुळे आत्वकार्य वृद्धिकार्याचे बाधक ठरणार नाही आणि त्यामुळे 'गो अम्' या स्थली 'गोतो णित्' या परसूत्राने पावलेले वृद्धिकार्य टाळता येणार नाही आणि 'भावम्' अमे अनिष्ट रूप होण्याची आपत्ति येईल. सारांश प्रकाशकाराचे म्हणणे भाष्यविरुद्ध ठरत असल्यामुळे स्वीकाराई नाही आणि 'स्मृतो' या शब्दाची कौमुदीत जी रूपे दिली आहेत तीच शुद्ध असून प्रकाशकारांनी त्या शब्दाची दिलेली रूपे अशुद्ध आहेत असा दीक्षिताच्या म्हणण्याचा आशय आहे) येथे ओदन्त प्रकरण संपले.

शब्दरत्न—इत्यपह्वायेति । एतद्वचनव्यकरणमपह्वायेत्यर्थः । इत्योकारोपलक्षणतयेति । तपरकरणेन गस्याधिवक्षितत्वाभादिति भावः । निरवकाशत्व चेति । चो हेतो । यतो निरवकाशत्वमतो याध्वत्वाप्रत्ययत्वं न सङ्गच्छेतेत्यर्थः ।

‘गोत इत्यपहाय’ असें जें मनोरमेंत म्हटलें आहे त्याचा ‘एतदवयवगकारमपहाय’, म्हणजे ‘गो’ शब्दांतील गकार हा अवयव गाळावा, असा अर्थ आहे. ‘गोत इत्योकारोपलक्षणतया वा व्याख्ये-यम्’ असें जें कैयटानें म्हटलें आहे त्याचा भावार्थ हा आहे कीं, ‘गोतः’ या स्थलीं तपरकरण केलें असल्यामुळें गकार विवक्षित नाहीं असें आपोआपच सिद्ध होतें. (याचें विवरण मनोरमेंत केलेंच आहे.) ‘बाधकत्वं निरवकाशत्वं च न सङ्गच्छेत’ या मनोरमेच्या पंक्तींतील ‘च’ हें पद ‘हेतु’ या अर्थाचें वाचक आहे आणि त्या पंक्तीचा ‘यतो निरवकाशत्वमतो बाधकत्वमित्युक्तं न सङ्गच्छेत’, म्हणजे आत्व निरवकाश असल्यामुळें वृद्धिकायाचें बाधक ठरतें असें जें भाष्यांत म्हटलें आहे तें असङ्गत-चूक-ठरण्याची आपत्ति येते, असा अर्थ आहे. (निरवकाशत्वामुळेंच सूत्र बाधक ठरतें. म्हणून निरवकाशत्व हा बाधकत्वाचा हेतु ठरतो व हे दोन स्वतंत्र अनन्वित पदार्थ नाहीत.)

मनोरमा-“रायो हलि” । ‘अर्थरैविभवा अपि’ इत्यमरा-त्पुंस्त्वम् । संराया भूयसासृजेत्यादिप्रयोगाच्च । ‘रा यि छान्दस’ इति भाष्यम् । तच्च क्यजन्तस्य रैशब्दस्य छान्दसत्वपरं न तु केवलस्यापीति ‘वान्तोयि’ इति सूत्रे कैयटः । केवलोऽपि छान्दस इति पक्षान्तरं स एवाह । इत्येदन्तः ॥

‘रायो हलि’ सू. २८६ या सूत्रांतील ‘रै’ हा शब्द अर्थ-रैविभवा अपि’ या अमरोक्तिप्रमाणें पुल्लिङ्गी आहे. ‘संराया भूयसा सृज’ इत्यादि प्रयोगांवरून देखील ‘रै’ हा शब्द पुल्लिङ्गी आहे हें सिद्ध होतें. ‘रा यि छान्दसः’ असें भाष्यवचन आहे. (‘वान्तो यि प्रत्यये’ सू. ६-१-७९ या सूत्रावरील भाष्यांत भाष्यकार म्हणतात-‘एवमपि रायमिच्छति रैयति-अत्रापि प्राप्नोति । रायिद्विछान्दसो, दृष्टानुविध्दिद्विछान्दसि भवति ।’) तें भाष्यवचन क्यजन्त ‘रै’ शब्द छान्दस आहे व केवळ ‘रै’ शब्द छान्दस नाही या अर्थानें वाचक

आहे असे कैयटानें 'वान्तो यि प्रत्यये' सू. ६-१-७९ या सूत्रावरील भाष्याच्या वृत्तीत म्हटले आहे केवळ 'रै' शब्द देखील छान्दस आहे, म्हणजे 'रै' शब्दाचा प्रयोग भाषेत होत नसून वेदातच हातो, असेहि पक्षान्तर त्या वृत्तीत कैयटानेंच सांगितले आहे. (त्या वृत्तीत कैयटानें 'एतद्भाष्यवशाद् भाषाया रै शब्दोऽसाधुरिति लक्ष्यते । अथवा वयच्परः रायि छान्दस इति व्याख्यायते ।' असे म्हटले आहे.) येथें ऐदन्त प्रकरण संपले.

शब्दरत्न-अमरात्पुंस्त्वमिति । भिन्नलिङ्गानां न द्वन्द्व इति परिभाषणादिति भावः । भाष्यमिति । स्थानेऽन्तरतमसूत्रे इति भावः । वयजन्तस्येति । राः = रंशब्दो यि = यकारादिप्रत्ययान्तद्वन्द्वस इति भाष्याक्षरार्थः । यकारेण यकारादिः प्रत्ययो लक्ष्यते । इकार उच्चारणार्थः । प्राप्तेन विसर्गंरहित एव पाठः । तदा यादौ प्रत्यय इत्यर्थ इति भावः । न त्विति । अत एव रायमिच्छतीति विग्रहप्रदर्शनपरभाष्यं सङ्गच्छते, न हि विग्रहश्छन्दः । अत एव रायि आशा राय्याशा इति "अचः परस्मिन्" इत्यत्र भाष्ये प्रयुक्तमिति भावः । पक्षान्तरमिति । अत्रारुचिमीजं स्पष्टमेव ॥

'अमरात्पुंस्त्वम्' असे जें मनोरमंत म्हटले आहे त्याचे कारण हे की, ज्या शब्दाची लिङ्गें भिन्न आहेत त्याचा द्वन्द्व केला जाणार नाही अशी परिभाषा अमरकारानी ग्रन्थारम्भी सांगितली आहे. (म्हणून 'अर्थरैविभवाः' या द्वन्द्वसमामातील 'अर्थ' व 'विभव' हे शब्द पुल्लिङ्गी असल्यामुळे 'रै' हा शब्द देखील पुल्लिङ्गी ठरतो.) 'रा यि छान्दस इति भाष्यम्' असे जें मनोरमंत म्हटले आहे ते 'स्थानेऽन्तरतम.' सू. १-१-५० या सूत्रावरील भाष्य होय ('वान्तो यि प्रत्यये' या सूत्रावरील भाष्यांत जें म्हटले आहे तेच या सूत्रावरील भाष्यात देखील म्हटले आहे.) 'रा यिद्वन्द्वस' या भाष्यवचनाचा अश-
रार्थ असा आहे की, 'रा.', म्हणजे 'रै' हा शब्द, 'यिः', म्हणजे यकारादिप्रत्ययान्त, 'छान्दसः', म्हणजे वेदांत आढळतो. 'यि'

यांतील यकाराने, यकार आहे आदि ज्याच्या असा प्रत्यय, लक्षणेने बोधित होतो. भाष्यवचनांतील 'यि' यांतील इकार उच्चारणार्थ आहे. भाष्याच्या प्रतीत 'यि' असा विसर्गरहित पाठ प्रायः आढळतो. (शब्दरत्नकारांनी 'यिः' असा विसर्गसहित पाठ मानून 'यिः' या पदाचा 'यकारादिप्रत्ययान्तः' असा वर अर्थ दिला आहे.) विसर्गरहित 'यि' असा पाठ मानल्यास ('यस्मिन्विधिस्तदादा-वत्प्रहणे'—परि. ३३-या परिभाषान्वये) 'यि' या पदाचा 'यादी प्रत्यये परे' असा अर्थ होतो. 'न तु केवलस्यापि' असें कैयटाने म्हटले असल्यामुळे 'रायमिच्छति रैयति' हे विग्रह दाखविणारे भाष्यांतील वाक्य सुसङ्गत ठरते. (त्या लौकिकविग्रहवाक्यांत 'रै' शब्दाचे 'रायम्' असें द्वितीयेच्या एकवचनाचे रूप दिले असल्यामुळे व ते विग्रहवाक्य वैदिकप्रयोग नसून लौकिकप्रयोग असल्यामुळे, त्याचरून हे स्पष्ट होते की, 'रै' शब्दाचा भाषेत प्रयोग होतो.) विग्रहवाक्य हे वेद नव्हे आणि म्हणूनच 'रायि आशा राय्याशा' असा प्रयोग 'अचः परस्मिन्' सू. १-१-५७ या नूत्रावरील भाष्यांत केला आहे. (त्या नूत्रावरील भाष्यांत

मनोरमा- 'ग्लोमृंगाङ्क कलानिधि' इत्यमरः । एव जनान-
वतीति जनोः । 'ज्वरत्वर' इत्यूट् । 'एत्येधति' इति वृद्धिः ।
जनावो जनाव इत्यादि ॥

॥ इत्यजन्ताः पुल्लिङ्गाः ॥

(कौमुदीत 'रायो हलि' सू २८६ या सूत्रान्तर दिलेल्या
ओदन्त प्रकृष्णात 'ग्लो' हा जो ओकारान्त शब्द दिला आहे त्या)
'ग्लो' शब्दाचा 'ग्लोमृंगाङ्क कलानिधि' या अमरवचनान्वये
'चन्द्र' असा अर्थ आहे 'ग्लो' या शब्दाप्रमाणेच 'जनानवतीति
जनो' हा ओकारान्त शब्द चालतो 'जनो' या स्त्री 'ज्वरत्वर'
सू २६५४ या सूत्रानें ('अव्' घातूतील अन्त्य वकार व उपधाभूत
अकार या दाहोने जागी) 'ऊट्' आदेश झाला आहे 'एत्येधत्यू-
ठसु' सू ७३ या सूत्रानें वृद्धि झाली आहे व 'जनावो, जनाव'
इत्यादि रूपे होतात ('जन अव क्विप्' या स्थली 'अव' चे
जागी 'ऊट् = ऊ' असा आदेश हाऊन व 'क्विप् = व' या
प्रत्ययाचा 'वरपूवनस्य' सू ३७५ या सूत्रानें लोप होऊन 'जन ऊ'
अशी स्थिति झाली असता 'एत्येधत्यूठसु' या सूत्रानें वृद्धिरूप
एकादश होऊन 'जनो' असे ओदन्त रूप होणे व या प्रातिपदिकाहून
'ओ, जस् = अस्' हे प्रत्यय केले असता, 'एनोश्चवायाव' सू
६१ या सूत्रानें 'जनो' यातील 'ओ' चे जागी 'आव्' आदेश
होऊन 'जनावो, जनाव' अशी रूपे सिद्ध होतात) येथे अजन्त
पुल्लिङ्ग प्रकरण संपले

॥ अजन्तपुल्लिङ्गप्रकरण समाप्तम् ।

भोंसला वेदशास्त्र महाविद्यालय

(संशोधन व प्रकाशन मंडळ)



अध्यक्ष:— १. महामहोपाध्याय साहित्याचार्य
वाळशास्त्री हरदास.

कार्यवाह:— २. कृ. मा. उपाख्य दादासाहेब चौरीकर.

सभासद:— ३. डॉ. ग. त्र्यं. उपाख्य नानासाहेब देशपांडे,
एम्. ए., डी. लिट्.

४. प्रा. श्री. भा. वर्णेकर, एम्. ए.

५. श्री. शं. गो. चट्टे, एम्. ए.

६. पं. शंकरशास्त्री आर्वीकर, प्राचार्य.



पत्रव्यवहाराचा पत्ता:—

श्री. कृ. मा. चौरीकर
कार्यवाह,

भोंसला वेदशास्त्र महाविद्यालय,
सर्कल ६, अयाचित रोड, नागपूर २

